
ॐ

नमः सिद्धेभ्य

अनुभव सञ्जीवनी

(पूज्य भाईश्रीके अगाध मंथनमेंसे प्रवाहित चिंतन कणिकाएं)

मई - १९८५

मुमुक्षुजीवको स्वयंका योग्यपना होवे, उसकी विचारणा करनी चाहिये । जिसका मुख्य साधन आत्मलक्ष्यपूर्वक सत्संग है । (१)

✽

समाधिमरण, समाधिजीवनके कारण होता है । जिसका समाधिमरण होता है उसको भवांतरमें समाधिजीवन प्राप्त होता है - यह निःशंक है । (२)

✽

ज्ञानरस / आत्मरसके अभावमें पुण्यका रस अथवा क्षयोपशमका रस तीव्र हुए बिना नहीं रहता; वैसे परिणाम पापानुबंधी परिणाम हैं । अतः ज्ञानी पुन्योदय / प्रशस्तभावों, (अनुकूलता) - क्षयोपशमादिके प्रति उदास है - और प्रतिकूलतामें पुरुषार्थको सहज बढ़ाते हैं / बढ़ता है । (३)

✽

देहात्मबुद्धि तीव्र होने पर चिंताके कारण जीव ज्योतिषादिके प्रति झुकावमें आता है, जो कि आत्मभावनासे विरुद्ध है । आत्मार्थीको देहादि संयोगकी ऐसी चिंता नहीं होती कि जिसके कारण आत्मभावनाका नाश हो । (४)

✽

आत्माके लिये अहितरूप भावोंके होने पर, घबराहट होना वह पात्रताका लक्षण है। (५)



जगतकी रचना देखते हुए जीवको (तत्त्वदृष्टिके अभावमें) उलझन, आकुलता व असमाधान हो अथवा असत्यका आग्रह हो - ऐसी है । (६)



अनंतकालसे स्वरूपका (स्वभावका) परिचय नहीं होनेसे विभाव सहज हो चुका है। अतः सुदीर्घकाल पर्यंत सत्संगमें रहकर 'बोध भूमिकाका' सेवन होने पर 'विभावकी साधारणता' छूटे ओर तब स्वरूपकी सावधानी प्राप्त होवे । (श्रीमद् राजचंद्रजी) (७)



किसी भी उदयप्रसंगमें तीव्र रसपूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो, अथवा अधिक चिंतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो, ऐसा करना या होना, वह ज्ञानीपुरुषके मार्गमें प्रवेश करनेका द्वार है । ऐसा तभी हो सकता है कि जब सर्व उदयप्रसंग 'आत्मासे सब हीन / भिन्न ही' ऐसे निश्चित हुए हो - और उसकी कीमत अभिप्रायमें से चली गई हो - वरना उदयभावका रस उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता; जो कि आत्मरसके लिये प्रतिबंधक है - विभावरस स्वभावरसको उत्पन्न होने नहीं देता । (८)



शास्त्रकी धारणारूप ज्ञानसे हित सधता नहीं (किन्तु) अनुभवज्ञानसे हित सधता है। (९)



(जब) तीव्र रसपूर्वक परमें स्व-पना हो जाता है तब 'पात्र जीवको' घबराहट सा उत्पन्न हो जाता है । जैसे बहुत बड़ा गुन्हा / नुकसान हो जाने पर घबराहट हो जाती है उस प्रकारसे । (१०)



ॐ

भेदज्ञानकी विधि :- पूर्वकर्मके अनुसार शुभा-शुभभाव व क्रमशः वैसे उदयप्रसंग है। उन सभीसे मैं ज्ञानमयरूप होनेके कारण भिन्न हूँ - इसप्रकारसे समभावसे 'स्वका वेदन ज्ञानरूपसे करना ।' क्षण-क्षणमें, प्रसंग-प्रसंग पर इस प्रकारका अभ्यास करने योग्य है। ज्ञानसे / स्वसे रागकी भिन्नताका अनुभव होनेमें, ज्ञानसे ज्ञानका (स्वका) एकत्व होना वह मुख्य बात है । ज्ञानमें स्व - अस्तित्वका ग्रहण - वेदन होनेसे सहजरूपसे चिद्रस उत्पन्न होता है। यह

चिद्रस परिणतिमें जाकर मिलता है । जहाँ ज्ञानगुण है वहाँ अनंतगुण हैं । जहाँ-जहाँ ज्ञानगुणकी पर्याय है वहाँ-वहाँ अनंतगुणकी पर्याय है । ज्ञानक्रियाके आधारसे ज्ञान रहा है । वहाँ 'मात्रज्ञानमें' 'मैं पनेके वेदनमें' विभावका अभाव लक्ष्यगत होता है । उक्त प्रकारसे रागादिसे ज्ञानकी - अपनी भिन्नताका अनुभव करनेका प्रयास / अभ्यास बारबार कर्तव्य है । (११)



'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसे भावसे अंतर सावधानी होती है । ऐसी सावधानी होने पर अन्यभाव सहज बन्द हो जाता है - ज्ञानचेतनामें - दशामें निरंतर ऐसी निर्विकल्प जागृति रहती है । ऐसी दशा होनेके लिये मुमुक्षुजीवको भी सविकल्प जागृति उत्पन्न होती है । संक्षेपमें यह जागृति जो है वही वास्तविक मुमुक्षुता है । सत्पुरुषके योगमें उसकी उत्पत्ति सहजरूपसे होने योग्य है । (१२)



उदय तथा उदयभावमें जीव एकमेक - तन्मय रहा करता है । अत्यंत ममत्व करता है । वहाँ जागृतिका अभाव वर्तता है । (१३)



मुमुक्षुजीवको इस कालमें संसारकी प्रतिकूल दशाओंका प्राप्त होना वह तो उसे संसारसे तिरनेके बराबर है । अनंतकालसे अभ्यासित ऐसे संसारके बारेमें स्पष्टरूपसे विचार करनेका वक्त प्रतिकूल प्रसंगमें विशेष होता है । - श्रीमद्जी

प्रतिकूलताके वक्त आत्महितके प्रति चित लगना, वह पात्रताका लक्षण है । (१४)



जिसको परिपूर्ण निर्दोष होना है - ऐसे मुमुक्षुजीवको व्यवहारमें - उदयप्रसंगोंमें भी, आरंभ - परिग्रह व अनीति इत्यादिसे दूर होनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना जरूरी है । जिससे कि बोधप्राप्तिको प्रतिबंधक रस वृद्धिगत नहीं हो । अर्थात् उपदेशादिका निष्फलपना नहीं हो । 'ज्ञानकी बीजभूत-भूमिकामें उदयके प्रति निरसभाव, सरलतादि उत्पन्न होते हैं; जिससे कि सिद्धांत ज्ञानका परिणमन संभवित हो ।' जागृतिके कारण उदय प्रसंगमें रस नहीं आये, यही इस भूमिकाके वैराग्य व उपशम हैं । और तब ही उदयप्रसंगमें रस नहीं आता जब अंतर सुविचारणाके कारण सांसारिक प्रसंगोंका माहत्म्य नहीं आता हो । (१५)



विभावरस ही चित्तको मलिन करता है कि जिसके कारण सत्पुरुषोंके वचनोंका यथायोग्य विचार नहीं हो सकता है । आत्मरस - चिद्रस उत्पन्न होने पर चितकी विशुद्धि है कि जिसके

कारण महापुरुषोंके वचनोंका भाव यथातथ्य भासित होता है। जिन वचनोंका आधार अनंतगुण निधान ऐसा परमसत् है, उन्हें नमस्कार हो !! (१६)



सम्यक्श्रद्धान वह निर्मल आत्मपरिणाम है जो कि संयमकी वृद्धिका कारण है। (श्रीमद्जी) (१७)



परम पवित्र परमात्माके अंतर अवलंबनमें शुद्ध आत्मस्थिति होती है - हो जाती है । ऐसे महात्माको बाह्य अवलंबनमें "पारमार्थिक श्रुत" और इन्द्रियजय / वृत्तिजयकी सुदृढपने उपासना होती है । (श्रीमद्जी) (१८)



परिणाममें मंद पुरुषार्थ हो तब, महापुरुषोंके अद्भुत आचरणको स्मरणमें लेना योग्य है - अतः सहज ही मंद परिणाम मिटे और वीर्योत्सास बढ़े । (१९)



निवृत्तिमें निजहितके उपयोग (सावधानी / लक्ष्य) पूर्वक सत् श्रुतके अध्ययनसे आत्मभावकी पुष्टि करना । (२०)



जीवको अनादिसे विषय - तृष्णाका रोग है - महारोग है । जिसे आत्माका सहजसुखका अनुभव / स्वसंवेदनरूप आस्वादन ही शांत कर सकता है । तीनोंकालमें यही एक इलाज है । (२१)



प्रतीतिके अनुसार उपयोगकी प्रवर्तना है । इसलिये जीवको चल-अनित्य पदार्थकी प्रतीति 'में पनेसे' होनेसे, उपयोग निरंतर चलरूप (चंचलतावाला) रहा करता है । अतः स्थिरत्व हो नहीं सकता; तद्उपरांत अचल (नित्य) पदार्थकी प्रतीति नहीं हो सकती । "अचल पदार्थकी सम्यक्प्रतीति उपयोगके स्थिरत्वका कारण है," जिससे वास्तविक शांति प्राप्त होती है । विपरीत प्रतीतिके कारण उपयोग भी भटकता रहता है । जो अशांति व दुःखका अनुभव कराता है । प्रतीति अनुसार ज्ञान व आचरण होता है; फिर भी वैसी सम्यक् प्रतीति होनेके लिये ज्ञान आराधनाके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः जीवको ज्ञान - आराधनाका प्रीतिपूर्वक आराधन कर्तव्य है । (२२)



स्वभावका परिचय ही आत्माकी पहचान, विश्वास, प्रतीति व अनुभवका कारण है ।

(२३)



यथार्थ सत्संगकी प्राप्ति सर्वकालमें दुर्लभ रही है । उसमें भी इस कालमें तो दुर्लभसे दुर्लभ है । ऐसा सत्संग प्राप्त होनेके बावजूद भी फलवान नहीं होता है - इसके कारणों निम्नरूपसे हैं :-

(१) पूर्वमें ग्रहण किया हुआ / निश्चय किया हुआ मिथ्याअभिप्रायका आग्रह (रहता हो, तो...)

(२) जीवको सत्समागम की उपासना अत्यंत गरजवान होकर करनी योग्य है । उस प्रकारके गरजभावका अभाव स्वच्छंदके सद्भावके कारण होता है ; इसलिये प्राप्त सत्संग फलवान नहीं होता ।

(३) सत्पुरुषोंका बोध असिधारा समान है । परन्तु दर्शनमोहके बलवानपनेके कारण सत्समागममें सुने हुए / धारणामें लिये हुए बोधका परिणामन नहीं होता, जिसको यहाँ प्रमाद (प्रमादकालमें सुननेको मिलता हुआ बोध निरस / निरुत्साहित भावसे श्रवण होता है । - अतः परम प्रसन्न चितसे सत्का श्रवण होने योग्य है) कहनेमें आता है । ऐसी परिस्थितिमें साधारण तत्त्व विचार और मंदकषायकी प्रवृत्तिमें समय व्यतीत हो जाता है किंतु सत्संगका फलवान होना उसमें नहीं बनता अर्थात् आत्मा बोधको प्राप्त नहीं होता ।

(४) इन्द्रिय विषयोंके प्रति सहज निरसता - सत्समागमके कालमें होनी चाहिये क्योंकि सत्समागम तो अतीन्द्रिय चैतन्य रस - निर्विकार स्वभावकी भावनाका आविर्भाव होनेका प्रसंग है फिर भी विषयोंकी उपेक्षा अगर नहीं होती (है तो) सुखबुद्धिसे तीव्र दर्शनमोह / आसक्ति चल रही है, जो कि सत्संगको सफल होने नहीं देती,

(५) सत्संगमें एकनिष्ठा व अपूर्व भक्तिका जितने अंशमें अभाव होता है उतने अंशमें सत्संगकी असफलता होती है । (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक : ६०९ पर आधारित) (२४)



जब मन संदेह - शंका युक्त हो तब द्रव्यानुयोगका विचार करने योग्य है । मन जब प्रमादी हो जाय तब चरणानुयोग, कषाययुक्त हो जाय तब कथानुयोग, और जड़ - सुस्त हो जाय तब करणानुयोगका विचार कर्तव्य है । इस प्रकार चारों अनुयोगका सद्उपयोग करें ।

(२५)



जगतमें मोहासक्तिके निमित्त, वैभव - विलासके स्थान जिनको अंतःकरणमें विशेष- विशेष वैराग्यके उत्पादक (निमित्त) होते हैं, अहो ! ऐसे वस्तुस्वरूपके ज्ञानवान सर्व महात्मा वंदनीय है । (२६)



ध्यान - वह आराधनाका उत्कृष्ट अंग है, ऐसा सर्व सम्मत है । परमपदका ध्यान परमपदकी प्राप्तिका अनन्य कारण है - ऐसा जो ध्यान है वह सत्पुरुषोंके चरणकमलकी विनयोपासनाके बिना हो नहीं सकता । - यह उत्कृष्ट रहस्यमय निर्ग्रथ वीतराग प्रवचन है। (२७)



इस संसारकी जंजाल विषम परिणामोंका निमित्त है, ऐसे इस संसारके प्रसंगोंमें, स्वरूपकी अपेक्षा अपनी भिन्नताका अवलोकन करते हुए / अनुभव करते हुए समता रहे, वही आत्मचिंतन है। (२८)



अनेकान्त - वस्तुको परसे असंग दिखाता है । और स्व-रूप 'सत्' दिखाता है। स्वतंत्र वस्तुके असंगपनेकी 'स्वतंत्र श्रद्धा' असंगपनेकी खिलवटका उपाय है । अर्थात् 'असंग स्व-तत्त्व' की श्रद्धा असंग पदको प्रगट करती है । असंगताके संपूर्ण विकासका मूल 'असंगतत्व' की श्रद्धा है । (२९)



महान संतमुनिश्वरोने अंतरमें प्रवाहित स्वभाव-अमृतको परमागमोंमें प्रवाहित किया है। शांत परिणामसे परिषहका वेदन करते हुए 'परम सत्' को जीवंत रखा है । पवित्र धर्म / मार्गको इस कालमें टिकाए रखनेमें आकाशके स्तंभ बनकर - गजब का कार्य किया है । अहो ! उनके कथनमें केवलज्ञानकी / पूर्णताकी भनक सुनाई देती है । पद - पदमें अत्यंत गंभीर रहस्य भरा है ! इसके संस्कार भी अपूर्व चीज है; पुरुषार्थ चलने लगे वह तो समीप मुक्ति-गामी है - अल्पकालमें उसका मोक्ष होता ही है। (३०)



आत्मार्थीको देह छूटनेके संबंधमें खेद नहीं होता । उसकी स्वभावकी रुचि इस खेदको दूर करती है अथवा वह अपने प्रयत्नमें (धूनसे) लगा हुआ है; वहाँ किसी भी प्रकारसे देहकी चिंताका अवकाश नहीं है । (३१)



'नयपक्षके विकल्प रहित, एकाकार मेरा स्वरूप है, ऐसा प्रथम दृढ़ रहना चाहिये' - निःशंक

रहना चाहिये; फिर विकल्प हो जाय, तो भी उसे तोड़कर (उक्त दृढतासे) स्वभावके प्रति जाना चाहिये । (३२)



लोभ : योग्यस्थानमें धनके व्ययका अभाव । माया :- (गुप्त पापरूप भाव) - पापको गुप्त रखनेका भाव । (३३)



'वर्तमानमें ही मैं शुद्ध परिपूर्ण चिदानंद हूँ-ऐसी प्रतीति, वह भवके नाशका कारण है । ऐसी प्रतीति होनेके बाद अल्प राग रहता है वह पररूपमें जाननेमें आता है' - पू. गुरुदेवश्री अज्ञानदशामें, आत्मा रागरहित पूर्ण चिदानंद होने पर भी - राग सहित भासित होता है (पुरुषार्थ सिद्धि उपाय) वह भवका बीज है । (३४)



स्वभावको भूलकर उदयभावमें 'मैं पना'का अनुभव करना - वह अज्ञान चेतना है। जो कि अनंत संसारका बीज है । व्यवहार मोक्षमार्ग - असद्भूतव्यवहारको इसलिये निश्चय मोक्षमार्गसे बाह्य गिननेमें आता है । स्वभावभूत ऐसी ज्ञानचेतनाको सदा ही भाने योग्य है। (३५)



प्रशस्त / अप्रशस्त-समस्त प्रकारके राग पराश्रित परिणाम हैं, फिर भी उसका ममत्व करनेसे श्रद्धाकी विपरीतता होती है । समस्त राग रहित-ऐसा आत्मस्वरूप है । जो कि अनंत महिमावंत है । जिसको जानते ही समस्त रागकी महिमा उड़ जाती है - ऐसी वस्तुस्थिति है, फिर भी जिसे प्रशस्त रागादिमें मोह होता है उसने आत्माको नहीं पहचाना । समस्त प्रकारके रागादि परिणाम मलिन / अशुद्ध / दुःखदायी है । इसलिये वे सभी शुद्धभाव - मोक्षमार्गरूप भावके घातक स्वभावी है । अतः परमागमोंमें मोक्षके हेतुका रक्षण करनेके लिये - उसका निषेध करनेमें आया है जो कि योग्य है । (चालू) (३६)



जून - १९८५

पुनः राग स्वयं दुःखरूप है । स्वरूपके आनंद अमृतके स्वादके आगे रागका स्वाद जहर जैसा है - ऐसे स्वाद भेदको जिस जीवने नहीं जाना है, उसको अनादि राग - वासित बुद्धि है । इसलिये रागका ममत्व करता है । फिर भी यदि मध्यस्थ होकर निजहितकी भावनासे न्यायको समझकर निजहितके लक्ष्यसे - स्वभावसन्मुख होकर रागका पक्ष छोड़नेमें आये तो ही रागके ममत्वका त्याग करनेका अवसर आता है । वास्तवमें तो विकल्पमात्रमें

(दुःखमय होनेसे) तीव्र दुःख लगे तब ही विकल्पसे हटकर निर्विकल्प स्वरूपमें निर्विकल्प हुआ जाता है । परन्तु रागके पक्षपातीको उसकी खबर भी नहीं होती । उसको सिर्फ रागकी कीमत है । वीतरागता / निर्विकल्पता अर्थात् धर्मकी कीमत उसको नहीं है । रागके पक्षपाती जीवने वीतरागताका स्वरूप जाना नहीं है, पहचाना नहीं है । (३७)



स्वभावके भासनसे सहज उत्पन्न स्वभाव प्रतिका झुकाव - तद्रूप पुरुषार्थके साथ 'सर्व उद्यम' 'पूरा प्रयास'का अभिप्राय होनेसे - पर्याय स्वभावाकाररूप हो जाती है - वह स्वभावकी प्राप्ति है । अर्थात् स्वभावरूप हुई अवस्थाका अनुभव है, वहाँ स्वभाव दृष्टि प्रगट होती है । (३८)



स्वभावदृष्टि माने क्या ? कि पर्यायमें विकार होने पर भी अपनेमें (स्वभावमें) उसका अभाव कहते हैं, अर्थात् देखते हैं - श्रद्धते हैं- प्रतीत करते हैं, और अविकारी स्वरूपकी मौजूदगीको देखते हैं - यह अंतरदृष्टिका लक्षण है । ऐसी स्वभाव दृष्टिकी बात वैसे दृष्टिवानको ही समझमें आती है। धारणावालेको उसमें विरोध भासित होता है। (३९)



ज्ञानमें परद्रव्य प्रतिभासित होने पर भी स्वरूप अवलोकनमें ज्ञानी निपुण (कुशल) है । अतः उनका ज्ञान विशुद्ध है । अर्थात् स्वरूप अस्तित्वका (परिणती द्वारा) वेदन करते - करते परका जानना होता है । वह ज्ञान पूर्णताके विकासके पंथ पर है । भवभ्रमणका अभाव करके ज्ञानी उसमें (जीवन) जीते हैं। पूर्णताका अनुभव करता हुआ - पूर्ण होकर जीता है। (४०)



रागका एकत्व छूटनेकी विधि : भिन्न ज्ञानस्वभावका वारंवार अभ्यास कर्तव्य है । अन्नत स्वभाव सामर्थ्यको लक्ष्यमें रखकर, अहंपनेसे स्वरूपको देखनेके पुरुषार्थसे रागका एकत्व छूटता है - यह भेदज्ञान है । (४१)



'में ज्ञायक मात्र' उसरूप धारा / परिणतिमें रागादि भाव परस्वरूप भासित होते हैं । ऐसा राग सम्बन्धित ज्ञान वह भूतार्थके आश्रयसे होता है । इसलिए स्वयं विकाररूप नहीं होता । ऐसा अनुभवमें आता है। ज्ञान कभी रागरूप नहीं होता, परन्तु स्वयंकी सावधानीका अभाव होनेसे, रागके प्रतिभासके कालमें अध्यासितरूपसे रागरूप होता हुआ अनुभवमें आता

है, जब कि हुआ नहीं है / यहाँ राग जाननेमें आते वक्त रागके प्रति सहज उदासीनता वर्तती है - ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है । (४२)



स्वरूप परिणति सहज होनेके पूर्व 'सर्व उद्यमसे' स्वरूपकी सावधानी तीव्ररूपसे आये तो ही परिणति सहज होती है । (४३)



विचारदशाके कालमें सत्यको समझनेकी जिज्ञासा व सत्यका स्वीकार करनेकी तैयारीवाली भूमिका होनी चाहिये । (४४)



अंतर्मुख चित्तकी विचारधारामें परिणमन करनेवाला ज्ञान (जब) स्वयं अपने आधारसे (लक्षणसे) स्वरूपका यथार्थ निर्णय करता है - (तब) वहाँ अनंत साम्थर्यवंत पूर्ण स्वरूपका अवभासन होता है । उसमें सदा "मैं ऐसा ही हूँ" -इसतरहसे "स्वरूपकी अपूर्व महिमाके उछाले आते रहते हैं" और परिणतिमें स्वरूपका घूटन हुआ करता है (अस्तिरूपसे) ऐसी स्वरूपकी लय होती है इसलिये (नास्तिमें) समस्त जगतके प्रति उदासीनता - निरसपना आ जाता है । पूर्वकर्मके उदयके कारण कहीं भी जुड़ना पड़े तो वह बोझरूप लगता है । अथवा अनुकूलतामें जुड़ना भी सुखरूप नहीं लगता, विकल्प मात्र दुःखरूप लगते हैं ।

यहाँ पर इस स्वरूपकी लय तीव्र होती है तब ध्येयभूत, लक्ष्यमें आये हुए स्वरूपमें अंतरसावधानी बढ़ जाती है । उसरूप सहज पुरुषार्थ वृद्धिगत होता हुआ परम सत् / प्रत्यक्ष सत्के दर्शनमें सफल होता है । भावभासनसे सन्मुखता होती है । दशाकी दिशा बदलना - वह अपूर्व है । (४५)



साधकको स्वरूपके अभेद वेदनकी जो परिणति है वह बाह्य संयोगोंमें प्रवृत्तिके कालमें भी भिन्नता रहनेका साक्षात् कारण है । उसमें स्वरूप रस / चैतन्य रसकी मुख्यता बहुत है, इसलिये परद्रव्य - भावमें अत्यंत नीरसपना सहजरूपसे हो जाता है (करना नहीं पडता) (४६)



गुणकी रुचि, निर्दोषताकी रुचि जिसको होती है उसको स्वभावकी रुचि प्रगट होती है क्योंकि स्वभाव गुणमय / गुण निधान है । आत्माका स्वाभाविक पुरुषार्थ ऐसी रुचिके कारण उत्पन्न होता है । करूँ-करूँ - ऐसा कृत्रिम भाव वह पुरुषार्थका स्वरूप नहीं है, और इसमें

अभी स्वभाव लक्षमें आया नहीं होनेसे अनन्य रुचि भी प्रगट नहीं है। स्वभावकी रुचिको मात्र स्वभाव ही रुचता है, अनन्य कुछ भी रुचता ही नहीं। इसलिये रुचिवंत (स्वभावको) प्राप्त कर लेता है, नहीं प्राप्त करें ऐसा कैसे बन सकता है ? (४७)



स्वरूपप्राप्तिके पहले, तद्अनुरूप विचारदशा होती है। इसलिये ही कहा है कि 'विचारदशाके बिना ज्ञानदशा नहीं होती।' 'ज्यां प्रगटे सुविचारणा त्यां प्रगटे निज-ज्ञान' (श्रीमद् राजचंद्रजी)। यह विचारदशा कैसी ? कि जिसके फलमें आत्मज्ञान प्रगट होता है ? उसका तो खयाल भी नहीं हो और ऊपर-ऊपरसे जीव शास्त्र पढ़कर / सुनकरके कल्पना करता है। परन्तु इसतरहसे आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। यथार्थ स्वरूपकी अंतर्मुखी - निजलक्षी विचारणा तो निजहितके प्रयोजनकी मुख्यतावाली होती है। जागृति उसका मुख्य लक्षण है। जिससे पर - प्रतिके रस - पररसमें कमी आती है और स्वरूप रस / आत्म रसका घूटन होता है - अगर कभी पररसमें तीव्रता हो जाय - तो भी उस वक्त क्षोभ उत्पन्न हो आता है, तो ही दिशा बदलनेका अवकाश है, इत्यादि प्रकारसे सुविचारणा होती है। उसमें आत्मार्थी जीवको जो कुछ भी करना है वह एकमात्र आत्मार्थके लिये ही करना है, ऐसा लक्ष उसे किसी भी उदयके कार्यमें फँसने नहीं देता बल्कि वह गहरी विचारणापूर्वक अंतर खोज करके प्रयत्नपूर्वक स्वरूपका निर्णय करता है।

स्वरूपप्राप्तिकी अंतरकी गहराईमें से उत्पन्न भावना; उस भावनाकी सफलता होनेके लिए सच्ची लगन, पूरी-पूरी छटपटाहट... इत्यादि सुविचारणाके मुख्य अंग हैं, कि जिसके कारण उपयोगमें स्वभावको पकड़नेकी सूक्ष्मता व तीक्ष्णता आती है।

अनुकूलताके पौद्गलिक सुख (?) में मोह वशात् अकुलानेवाला व प्रतिकूलतामें जोरसे पुरुषार्थ करनेवाला मुमुक्षु वर्तमान पात्र है। गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखका ध्येय होनेसे, जिसको भौतिक वैभव / विषयोंका महत्व न रहे, उसको ही स्वभावकी महिमा आती है। सत्पुरुषकी / सत्संगकी महिमा आती है। जगतकी महिमा नहीं आती।

'ज्ञायक'के लक्ष्यसे ही आगे बढ़ा जाता है। अतः तद्अनुसार प्रयत्न चालू रखता हो। पुनः सत्संग / सत्पुरुषके प्रति अर्पणता 'सर्वार्पणबुद्धि' से हो। जैसे कि सत्पुरुष ही प्रगट परमात्मा हो !! ऐसा प्रत्यक्ष-योगमें भक्ति-विनयका प्रकार हो, तब बोधबीज योग्य भूमिका आती है। अनंतकालमें सत्पुरुषका समागम होने पर भी, निष्फल जानेका कोई खास कारण है तो वह यही है कि जितनी मात्रामें सत्समागममें विनयान्वित होना चाहिये उसमें, (प्रयोजन यथार्थ रूपसे समझमें नहीं आया होनेसे,) क्षति रही है, अतः वह सत्पुरुषका बोध परिणमित नहीं

हो पाता । पू. श्री दीपचंदजीने 'अनुभव-प्रकाश' में गूढ़ भावमें लिखा है कि 'प्रतीतिपूर्वक विचार साधक है और निर्विकल्प अनुभव साध्य है ।' (४८)



जिनकी परिणति स्वरूपरससे भीगी हुई है, जिनको मात्र स्वरूपका ही ध्येय है; और वेदन प्रगट है, वैसे साधकको पूर्वकर्म / संस्कारके वशात् परद्रव्य सम्बन्धी विकल्प / प्रवृत्ति पररूप होनेसे, उसमें अत्यंत नीरसपना होता है । (४९)



जुलाई - १९८५

भेदज्ञान : रागकी तीव्र अरुचिरूप (अरुचिका कारण :- मलिनता विपरीतता, दुःख) भावसे व ज्ञान स्वभावकी सावधानी (महिमा) रूप झुकावसे भेदज्ञान हो सकता है । भेदज्ञान स्व-परकी विवेकरूप दशा है । जिसमें स्व - अनंत महिमावंतरूप स्थानको प्राप्त होनेसे, पर व राग निर्मूल्य व भिन्न भासित होते हैं, अतः सहज उपेक्षाभाव व निरसपना उत्पन्न होता है । अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभव दृष्टिसे ज्ञानवेदन स्व-पनेसे वेदनमें आता है तब रागादिसे भिन्नता होती है, वही ज्ञानसे, ज्ञानमें एकत्वरूप स्व-आश्रयरूप भाव है । चित परिणतिके प्रादुर्भावका मूल यहाँ है । अर्थात् स्वयं - आत्मा चैतन्य-रसमय - अनन्यभावसे सधता है । यही मोक्षकी कला है, साधन है ।

भेदज्ञान रागसे भिन्न ज्ञानकी प्रवृत्तिरूप है । जिसमें त्रिकाली ध्रुव स्व-रूप लक्ष्यके स्थानमें है । वह स्व-आश्रय है - यह सहज है । कृत्रिम विकल्प कार्यकारी नहीं है । निजकार्यमें रागादिसे भिन्नताकी प्रयोगप्रवृत्ति व 'लक्ष्य' में ध्रुवस्वभाव इसतरह दोनों यथास्थानमें क्रमशः गौण व मुख्य होते हैं । परन्तु शुद्ध पर्याय प्रगट हुए बिना, एक समयकी शुद्ध पर्यायसे भी 'मैं भिन्न हूँ' -ऐसा कृत्रिम विकल्प वह प्रयोग नहीं है । फिर भी उसको प्रयोग समझकर उसमें अटक जाये - तो वह भेदज्ञानकी विधि नहीं है । अतः वहाँ कार्य सिद्धि होनेके बजाय मिथ्यात्व (मार्गकी भूलके कारण) होता है । क्योंकि कृत्रिमता है वह उपाय नहीं है, विधि - साधन नहीं है । यथार्थतामें तो स्वभावका लक्ष्य होनेसे पर्यायका आश्रय नहीं होता । (५०)



अनंत परिपूर्ण सामर्थ्यवान गुणनिधि, अनंत महिमावंत आत्मवस्तु - स्वरूपसे प्रगट / प्रत्यक्ष है । ऐसा प्रतीतिभाव अनंतगुणकी निर्मलताका प्रगट कारण है । (५१)



ज्ञायकभाव टंकोत्किर्ण है । चैतन्य गुणके द्वारा निरंतर अनुभवमें आ रहा है । सदा

अंतरंगमें प्रकाशमान है, फिर भी परकी एकत्वबुद्धिरूप अज्ञानमें जीव उसको सर्वथा चुक जाता है । (समयसारजी गाथा : ४९) (५२)



स्वभावकी ओरके जोर बिना शास्त्रका जानपना - विभाव व परके प्रति जोरवाला होनेसे वह यथार्थ जानपना नहीं है । अतः उसके फलमें सम्यक् प्रतीति उत्पन्न नहीं होती ।

(५३)



स्व-तत्त्वका वास्तविक निर्णय स्व-सन्मुख ज्ञानमें होता है । स्वानुभवके प्रयत्नवान जीवको चलते हुए विकल्पका लक्ष्य छोड़कर स्वभावकी महिमापूर्वक स्वभावके लक्षमें उग्रता लाना वह (कर्तव्य) है । (पू. गुरुदेवश्री)

(५४)



प्रत्यक्ष प्रकाशमान, परम शुद्ध, निरावरण, ज्ञानानंदघन, ध्रुव, परमपद, परम महिमास्वरूपकी आत्मभावनासे उपादेयता होती है - उपासना होती है । और यही जिनेश्वरकी आज्ञा है ।

(५५)



अहो ! यह आत्मतत्त्व, अनंत आश्चर्यकारी महान अद्भुत गुणोंकी निधि (खजाना) है; कि जिसका लक्ष्य होने पर अन्य कुछ भी नहीं सुहाता । स्वभाव संबंधी विकल्पसे भी हटनेकी जिसकी तैयारी / योग्यता होती है, वह अत्यंत मंद कषायमें भी अटके बिना स्वभावके लक्ष्यसे आगे बढ़ता है ।

(५६)



अगस्त - १९८५

उच्च स्तरके व्यवहारिक परिणामनके प्रति भी उदास भावसे रहना योग्य है । अन्यथा उसका रस आये बिना रहेगा नहीं । व्यवहारकी मिठासका वेदन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है - यह मिठास ज़हर है । आनंद-अमृत स्वरूप आत्माकी मुख्यता- महिमा होनेमें / आनेमें अपूर्णता-व्यवहार सहज ही गौण हो जाता है ।

(५७)



स्वरूप ध्यानी कैसे होते हैं ? कि जिसको वस्तुका (१) यथार्थ स्वरूपज्ञान होता है। (२) जो सहज वैरागी होते हैं - अर्थात् दुःख लगनेसे रागसे विरक्त होते हैं । (३) इन्द्रिय - मन जिनके वशमें होता है । (४) अचंचल चित्त / उपयोगवाले होते हैं। (५) प्रमाद रहित

होते हैं । (६) धैर्यवान् होते हैं। (७) मुक्तिके इच्छुक अर्थात् उद्यमी होते हैं। (८) स्वभावकी जिनको अतिशय महिमा होती है। (९) जनपदका त्याग करके साधनामें मग्न रहते हैं। (५८)

प्रश्न :- (१) प्रज्ञाछेनी अंतरमें पटकनेके लिए ज्ञान और रागकी सूक्ष्म संधि कब अर्थात् कैसी भावभूमिकामें ज्ञात हो ? (२) किस प्रकारसे प्रज्ञाछेनी कार्य करती है ? (३) प्रज्ञाछेनीका स्वरूप क्या है ?

समाधान :- (१) 'स्वभावमें ही रस लगे' और अन्य सर्व नीरस लगे, तब ही अंतरकी सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है । अर्थात् जब स्वभावका रस उत्पन्न होता है तब ही विभाव व स्वभावके बीचका भेद / भिन्नत्व ज्ञात होता है । परन्तु ऐसा नहीं बनता कि परमें तीव्र रुचि / रस हो और उपयोग अंतरमें प्रज्ञाछेनीका कार्य करने लगे । यह वैज्ञानिक परिस्थिति है जो प्रत्यक्ष प्रयोगसे/अनुभवसे समझमें आये ऐसा है । (बहिनश्रीके वचनामृत - १९७)

(२) ज्ञान और राग साथ-साथ (एक समयमें) होने पर भी स्वभाव भेद मालूम होने पर वे भिन्न ज्ञान होते हैं । स्वभाव-विभावका भेद स्व-को (वेदनसे) ग्रहण करने पर जाननेमें आता है - इसके अलावा जाननेमें नहीं आते । निजमें निजको अवलोकनमें लेनेसे उपयोग शुद्ध होता है । इस वचनके अनुसार निज वेदनके अवलोकनसे - वेदनका माने सामान्य ज्ञानका आविर्भाव होकर प्रगट स्व-संवेदन रस उत्पन्न होता है ।

(३) प्रज्ञाछेनीका स्वरूप :- जो ज्ञान सूक्ष्म होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रिकाली ध्रुव स्वभावका ग्रहण करे वह प्रज्ञाछेनी है । अर्थात् अंतर्मुख होनेवाली ज्ञानकी पर्याय प्रज्ञाछेनीका कार्य करती है । (५९)



सितम्बर - १९८५

दृष्टि स्वरूपकी होने पर, दृष्टिका जोर और ज्ञानमें अभिप्रायका (ज्ञानका) बल ऐसा रहता है कि 'मैं तो सदा पूर्ण वीतराग स्वरूप हूँ' उस वक्त भी उत्पन्न होनेवाले रागादि उदयभाव ज्ञानमें भिन्न ज्ञात तो होते हैं परन्तु वे अपने पूर्ण वीतराग स्वरूपसे विरुद्ध जातिके भासित होते हैं । और उसके उत्पन्न होनेमें मेरा कर्तृत्वका भाव / कर्तापना, करवानेका भाव या अनुमोदन - कुछ भी नहीं है । क्योंकि उन-उन भावोंके होनेके समय भी मैं तो प्रत्यक्षरूपसे जैसा हूँ वैसा ही पूर्ण वीतराग रहता हूँ - थोड़ा भी इन भावोंके साथ मिल नहीं जाता ।

(६०)



परप्रवेशभाव जो है वह परमें निजका अवलोकन (अहंभाव) अर्थात् अनुभव है । जो

निजावलोकन होने नहीं देता । ज्ञानमें/स्वमें निजका अवलोकन - वेदन होनेसे उपयोग शुद्ध होता है ।

परमें / अनुकूलतामें; सुखबुद्धि/अनुभव वही परका स्व-पनेसे ग्रहण व पररस उत्पन्न होनेका मूल है । वही स्वभावका घातक भाव है - ज़हर है; जो कि भ्रांतिसे मीठा लगता है । कल्पनासे दुःखमें मीठासकी कल्पना की है । (६१)



मुमुक्षुजीवको भी 'स्वयं सत् परमानंदमय है' ऐसा दृढ नहीं रहे तो बाह्य शातामें ठीक लगता है; जो कि पुरुषार्थ उत्पन्न होनेमें अवरोधक कारण है - अटकनेका स्थान है - योग्यताको रोकता है । उदयमें सावधानी जो है वह स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देती । वह लक्ष्यमें (तीक्ष्णतासे) रहना चाहिये । (६२)



प्रत्यक्ष सत्-पुरुषसे विमुख रहना अथवा उपेक्षित रहना - वह प्रगट अनंतानुबंधीका कषाय है । (६३)



शुद्धात्मामें मग्नताका अभिलाषी जीव, असंगताको चाहता है - बाहरमें संगका राग असंगतत्वके लिये विसंगत है / अनुकूल नहीं है। 'अशुभयोगका रस' तो तीव्र मलिनताका उत्पादक होनेसे असंग स्वरूपका भासन होनेमें निश्चितरूपसे अवरोधक बनता है। (६४)



जो सुखस्वरूप नहीं है, जो अनित्य है और जो शरणभूत नहीं हो सकते हैं, ऐसे (अन्यत्वभावरूप) भिन्न पदार्थ जीवको, प्रीतिका कारण क्यों होते हैं ? - वह सतत अंतर खोजपूर्वक विचार करने योग्य है अर्थात् जाँच करने योग्य है । (६५)



जीव सर्वत्र अकेला ही है । भवांतर अकेलेका ही होता है, अर्थात् देहकी संयोगरूप जन्मावस्था, देहत्यागरूप मरणतुल्य दुःखावस्था आदिमें जीव अकेला ही दुःख भोगता है । सम्यक् पुरुषार्थ करके स्वभावको पाकर जीव अकेला ही मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त होता है । (६६)



अहो ! सारा जगत, भले ही विविधता सभर तो है फिर भी, अपने आपसे शून्य (खाली) ही देखनेमें आता हैं; फिर उसमें आकर्षण क्यों ? उसका आश्चर्य किस लिये ? कुतूहल किस

लिये ? अंतरमें महा आनंद सभर निज चैतन्य रत्न चमकता है; उसमें अंतर्मुख - केवल अंतर्मुख रहने योग्य है - स्थिर होने योग्य है । (६७)



वर्तमानमें 'दुर्लभयोग' जीवको प्राप्त हुआ है । तो अब इसमें थोड़ा प्रमाद करके - पुरुषार्थसे वंचित रहकर अमूल्य समय गँवाना उचित नहीं है । परमरस अर्थात् अमृतरसका शीघ्र आस्वाद लेने योग्य है । (६८)



निज भावना :- मैं सर्वसे, सर्व प्रकारसे सर्वदा भिन्न हूँ । एक केवल शुद्ध चैतन्य, प्रगट चैतन्य स्वरूप, अचिंत्य सुख स्वरूप, आनंदसागर, परम उत्कृष्ट शांत, एकांत शांत-परम शांत अभेद अनुभूतिमात्र निर्विकल्प हूँ । (६९)



निज पूर्ण भगवान, ज्ञान लक्षणसे लक्षित होने पर, सहज उसकी मुख्यता रहती है; (मुख्यता नहीं रहती है तो लक्ष हुआ ही नहीं) और वह अन्य सभीसे उपेक्षा होनेमें मूल कारण है । (७०)



आत्मस्वरूपसे विपरीत ऐसे शुभा-शुभ भावोंमें आना / परिणमन करना वह प्रमाद है । प्रमाद चोर है । वह छुपकरके आत्मगुणोंरूपी धनकी चोरी कर लेता है । सहज प्रत्यक्ष निज स्वरूपमें अनन्यरुचिसे अभेदभाव होना वह अप्रमाद अथवा पुरुषार्थ है । (७१)



अनंत महिमावंत आत्मस्वरूप, अचिंत्य दिव्य चैतन्य रत्न है । (अगर) उसकी अपूर्वतासे महिमा आई तो वह उसकी सँभाल (देख भाल) है । स्वरूपकी इस प्रकारसे सँभाल (देख भाल) नहीं करना और अप्रयोजनभूत, निरर्थक, अन्य पदार्थोंमें सावधानी रहना - वह महा मूर्खता है - अनंत क्लेशोदधिका कारण है । (७२)



'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसे स्वाकार - स्वरूपाकार परिणमनमें अन्यसर्व ज्ञेयमात्ररूप रह जाता है । सत् देव-शास्त्र-गुरुके प्रति लक्ष जाने पर, वे भी 'इस-'ज्ञानमात्र' को ही (मुझे ही) दिखा रहे है ऐसा जाननेमें आता है । (७३)



अज्ञानदशामें, पूर्वपुण्यके उदयसे संयोगरूप सामग्री क्षणिक/अनित्य होने पर भी - नित्यरूप

भासित होती हैं; जैसे कि 'यह सबकुछ' मेरे साथ हमेशा रहनेवाला है; अतः उसका तथारूप रस - परिणति बन जाती है; जबकि उससे विरुद्ध -

ज्ञानदशामें पुण्य-योगसे बाह्य-वैभवमें ज्ञानी होते हैं तो उसमें, खुदकी नित्यतापूर्वक - अनित्यताका भान उन्हें रहता है । अतः उनको इसमें रस नहीं आता, बल्कि ज्ञानपरिणति यथावत् रहती है । (७४)



अक्टूबर - १९८५

ज्ञानपनारूप ज्ञान सर्व जीवकी दशामें सामान्य है, फिर भी सर्वको विवेकबुद्धि एक सरीखी नहीं होती । परिग्रहबुद्धि अर्थात् परिग्रहका ममत्व जहाँ अभिप्रायपूर्वक होता है वहाँ अविवेककी परंपरा शुरू हो जाती है । अतः ज्ञानियोंने परिग्रहबुद्धिको 'अविवेककी खान' कही है, जिसमें से सर्वदोष पनपते हैं । (७५)



शुभाशुभ परिणामके कालमें बहिर्मुख भावोंमें वेग तीव्र होनेसे, एवं दर्शनमोहके कारण, जीव निज अवलोकनमें प्रवर्तित नहीं हो सकता, तब आत्मस्वरूप सम्बन्धित विकल्प भी बेकार जाते हैं और जीव पुण्य-पापमें सावधान होकर - रहकर क्लेशको प्राप्त होता है। परन्तु जागृत आत्मार्थीको दर्शनमोहका रस कम होनेसे वह अवलोकनमें आकर राग रसको तोड़ता है । (७६)



चैतन्य सामान्य अभंग अंग है । - 'अनुभव प्रकाश' [पर्याय (चैतन्य विशेष) भंग-अंग है] भंग अंगमें अहंबुद्धि दुःख / आकुलताको उत्पन्न करती है । (७७)



'स्वरूपसे पूर्ण हूँ' - जैसे ही यह अनुभव हुआ कि तब पर्यायका कर्तृत्व उड़ जाता है । तब पर्याय सहज शुद्ध होने लगती है, तब कहीं पर भी कर्ताबुद्धि नहीं होती - यही स्वभावबुद्धि है । (७८)



स्वरूपके विचारसे आगे बढ़कर, निज अखण्ड शुद्ध स्वरूपको देखनेसे, स्वयं ही त्रिकाल पूर्णानंदसे भरपूर निर्विकार दिखाई देता है कि जिसमें विकार कर सके / हो सके ऐसी कोई गुंजाइश ही नहीं है । अहो ! शुद्ध चैतन्यके सिवा कुछ भी अपनेरूपमें दिखाई नहीं देता । (७९)

अध्यात्म तत्त्वमें वास्तवमें जिसे रस आया हो उसे तत् सम्बन्धित बाह्य प्रतिष्ठा (धार्मिक जगतकी प्रतिष्ठा) की चाहना नहीं होती । मानकी रुचिवालेको आत्माकी रुचि नहीं होती। अध्यात्मका यथार्थ प्रकारका रस जिसे नहीं है, उसे संयोगोंकी रुचि है । (जगतमें धनके लालची होते हैं वैसे ।) (८०)



चैतन्यरस सर्वोपरी रस है - अमृतरस है, जिसका आविर्भाव होने पर सर्व प्रकारके विभावरस फीके पड़ जाते हैं, क्योंकि विभावरससे स्वभावरसमें अनंत शक्ति ज्यादा है। (८१)



जब अनंत (निर्विकार चैतन्य) सामर्थ्य स्वरूपके भासनमात्रमें विकारका वाष्पीकरण होने लगता है - विभावकी जड़ कटने लगती है; तो फिर साक्षात् अनुभवमें - वेदनमें मुक्ति अनन्यभावसे हो उसमें कौनसा आश्चर्य ? (८२)



निजपद आरामका धाम - विश्रामधाम है । उसे भूलकर - छोड़कर आराम कहाँसे मिले ? उसे भूलकर आहारसे तृप्ति कैसे हो ? सिर्फ आकुलता अनुभवमें आती है। - उसे भूलकर अन्य (मित्रादि) संगसे हूँफ कैसे मिले ? सिर्फ संयोगकी आकुलतामें भ्रांतिसे हूँफ माननेमें आती है । (८३)



मित्र - परिवार आदि संयोगोंकी मिठास ज्ञानीको उत्पन्न नहीं होती क्योंकि सम्यक्ज्ञानमें दूसरे जीव (द्रव्यदृष्टि होनेसे) मात्र चैतन्यमूर्ति दिखाई देते हैं । और उनके देहादि पुद्गल इतने गौण हो जाते हैं कि जैसे मानो दिखते ही नहीं । (८४)



साधककी पर्यायका विकारांश स्वरूपभानरूपी लगामके कारण अत्यंत मर्यादामें होता है। वह विभावअंश मर्यादामें उत्पन्न होकर वही का वही कमजोर होता हुआ व्ययको प्राप्त होता है; और ज्ञानबल बढ़ता जाता है । मुक्त भावकी मस्ती वास्तवमें अलौकिक है । दूसरेको इसका खयाल नहीं आता । (८५)



महा आनंदकंदसे - निज स्वरूपसे, दूसरा क्या अधिक है ? कि जिसको छोड़कर तू अन्यका ध्यावन करता है ? (अनुभव प्रकाश) (८६)



जीव व्यर्थ ही पर चीजको अपनी मान मानकर झूठी होंश करता है - पुद्गलका रस लेता है, परको मुख्य करता है । भ्रमणासे झूठी कल्पनामें रत होकर खुशी होता है । तब वहाँ स्वरूपकी सावधानीका अंश भी नहीं है । खुद तीनलोकका नाथ होने पर भी नीच पदमें स्व-पना मानकर व्याकुल हो रहा है । ऐसी स्थितिमें चैतन्यरस उत्पन्न नहीं हो सकता ।
(श्री अनुभव प्रकाश) (८७)



व्यवसाय आदिमें जुड़ना पड़ता हो, तब उसमें उत्साह / रस नहीं बढ़े ऐसी जागृति / सावधानी रहनी आवश्यक है । जिससे कि निवृत्तिकालमें उस उदयभावका रस आड़े नहीं आये । (८८)



आत्मार्थी जीवको जो कुछ भी करना है 'वह सबकुछ आत्मार्थके लिये ही करना है' - ऐसी बुद्धि (अभिप्राय) पूर्वक उसकी सब प्रवृत्ति होती है । उक्त अभिप्रायकी दृढताके कारण अंतरलक्षमें निजहितकी जागृति विशेषरूपसे उत्पन्न होती है । अतः परभावकी भिन्नताका कार्य सावधानीपूर्वक होनेमें यहाँ अंदरमें सुगमता होती है । ऐसी भावभूमिकामें संशोधक जीव 'स्वरूप निर्णय' करता है । संसारी जीव सभी उदयमें अनुकूलता- प्रतिकूलताको मुख्यता देकर वेदनमें उलझे हुए पड़े हैं। आत्मार्थी जीव उदयमें इष्ट-अनिष्टपनेसे निवर्तता हुआ अर्थात् निवर्तनके पुरुषार्थमें लगा हुआ है, निजहितकी अपूर्व लगनसे लगा हुआ है, उसका निजहित अवश्य होगा ही । (८९)



परपदार्थमें सुखके अनुभवको 'भ्रांति' जानना, उस भ्रांतिरूप दशाको रोग-महारोग जानना । (९०)



दुःख - वह कल्पनामेंसे उत्पन्न हुआ भाव है । वस्तुके स्वरूपज्ञानके आधारसे दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती, पुनः निज स्वरूपमें तो दुःख है ही नहीं - वह तो अनंत आनंदमय है । लेकिन जीव आनंदमय ऐसे स्वस्वरूपके विस्मरणके कारण, बेभानपनेके कारण - कोई न कोई प्रकारसे कल्पनामें घिरा हुआ दुःखका अनुभव करता है । अर्थात् भ्रमसे स्वयंको दुःखी मानकर दुःखका अनुभव करता है । (९१)



स्वभावसे मैं पूर्ण निर्दोष / परम पवित्र हूँ, अंशमात्र दोष होनेका अवकाश मेरेमें नहीं

है - इस प्रकारके निजावलोकनमें - पर्यायमें विकारांश होने पर भी (अंतर्मुखताके ध्येयमें) विकार करनेका या टालनेका अभिप्राय नहीं रहता । - फिर भी टलता हुआ विकार ज्ञानमें परज्ञेयरूप प्रतिभासित होता है । (९२)



अन्य जीव और पुद्गलकी चित्र-विचित्र अवस्थाका निमित्त पाकर जगतमें जीव राग-द्वेष / इष्ट-अनिष्ट भाव करते हैं । जब कि सम्यक्ज्ञानमें अंतर्मुखका ध्येय - द्रव्यदृष्टि वर्तती होनेसे, उन-उन परद्रव्यकी पर्याय मात्र ज्ञेयरूप प्रतिभासित होती है । ज्ञान तटस्थ - ज्ञाता भावसे रहता है । ध्येयकी अथात् ध्रुव स्वरूपकी मुख्यता रहती है, इसलिये अन्य ज्ञेय गौणरूपसे भासित होते हैं । यह वीतरागी ज्ञानकला है - अबंध परिणाम हैं, परिणाममें ऐसी चाल होना / ढलन होना-परिणमनशीलता होना, ऐसा ही जिसका मूल स्वभाव है। ऐसे गुण निधान महा पवित्र निज आत्मदेवको अभेद भक्तिसे नमस्कार !! (९३)



साधकदशामें 'स्वभाव अत्यंत (सर्वथा) उपादेय'- ऐसा भाव वर्तता है । त्रिकालीकी उपादेयतामें / मुख्यतामें पर्यायकी गौणता सहजरूपसे रहती है । अतः पर्यायमें विकारांश जो है (उसको टालना है फिर भी) उसकी आकुलता / मुख्यता नहीं होती - परन्तु अंतर्मुखके वेगमें विकार अपने आप टलता जाता है - ऐसा ज्ञान रहता है - इस प्रकारसे कार्यसिद्धि है। (९४)



स्वपदका परमेश्वररूप (अंतर्मुख होकर) अवलोकनमें लेनेसे वर्तमानमें ही स्वयं परमेश्वररूप है । अहो ! अवलोकनमात्रसे परमेश्वर (हुआ जाता है) होता है, ऐसी अवलोकना न करे तो, अपना निधान खुद ही लूटाकर - दरिद्री होकर भटकता है - और भव विपत्तिको मोल लेता है । (अनुभव प्रकाश)

स्वानुभवमें 'स्वयं शाश्वत परमात्मा है' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है । तब मैं राग और संयोगके आधारसे जीनेवाला हूँ - ऐसी भ्रान्ति मिट जाती है - भाव दरिद्रीपना मिट जाता है, चारों गतिमें भटकना - मिट जाता है । चारों गतिके दुःख / विपत्तियाँ सिर्फ अज्ञानभावसे मोल लेता था - वह छूट जाता है । (९५)



उदयमें सावधानी जीवको बहिर्मुख होनेका कारण है । - आत्मस्वभावकी सावधानी जीवको अंतर्मुख होनेका कारण है । - अर्थात् उदयमें सावधानी रहनेके कारण स्वमें एकत्व नहीं हो सकता और जो स्वमें सावधान है, उसको परमें एकत्व नहीं होता। (९६)

सत्श्रुत (श्रवण) होने पर भी अगर उदयकालमें सावधानीमें फर्क नहीं पड़ा - तो श्रवण हुआ ही नहीं है । भावपूर्वक श्रुत (श्रवण)से परकी सावधानीमें फर्क पड़ता ही है, सावधानी कम होती ही है - ऐसे भावसे श्रवण किये बिना आत्मभावका, स्वरूपलक्ष्यपूर्वक स्व-रससे घोलन नहीं होता, अतः मुमुक्षुजीवको आत्मप्राप्ति - सत्की प्राप्तिकी इच्छा होने पर भी सफल नहीं होती । यह वारंवार विचारने - अवगाहन करने योग्य है, जिससे आत्मार्थता उत्पन्न हो।

(९६ A)



आत्मार्थी जीवका जीवन / परिणमन 'आत्मलक्ष्य' पूर्वक होता है; अतः चलते परिणमनमें इष्ट - अनिष्टपना होनेसे उसमें (स्वयंका) विभावरस उत्पन्न होता है जिसका अवलोकन - सूक्ष्म अवलोकन उसको रहता है - इस अवलोकनके कारण कषायरसकी मात्रा बढ़ नहीं सकती, बल्कि घटती जाती है । अर्थात् कषायरस मंद होता जाता है। जब आत्मलक्ष्यसे विभावरस गलता है तब समकितकी पूर्व भूमिका तैयार होती है जिसमें दर्शनमोह मंद होता है । ज्ञान भी स्वरूपकी पहचान कर सके उतना निर्मल होता है, धीरा व गंभीर होता है, और स्वभावकी जागृति उत्पन्न होती है । तद्उपरांत अध्यात्मके सम्यक् न्यायमें रस / रुचि वृद्धिगत होते हैं । और अनंत नय (न्याय)के अधिष्ठाता ऐसे स्व-द्रव्यका ग्रहण सुलभ होता है ।

जो शास्त्रोंका पठन करने पर भी, आत्मार्थी नहीं है, उसको परिणमनमें विपरीतताका वेग बहुत है । उसका दर्शनमोह बलवान है । और ज्ञानका क्षयोपशम बहुत होनेके बावजूद भी उसका ज्ञान स्थूल है । अतः वह चलते हुए परिणमनमें कषायरसका अवलोकन करनेके लिये समर्थ नहीं है -जागृत भी नहीं है । जब कि मूलमें वहाँ आत्मलक्ष्य नहीं है ।

अतः ऐसा फलित होता है कि स्वरूपलक्षी यथार्थ पुरुषार्थमें विभावरस - अवरोधक तत्त्व होनेसे उसका जानना - अवलोकन होना आवश्यक है ।

यहाँ जागृति माने 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी अंतर सावधानी - ऐसा जानना-समझना । शब्दार्थकी समझ करनेके बजाय भावके अनुभवका अवलोकन करनेमें ज्ञानको गहराईमें ले जाकर समझना चाहिये ।

(९७)



पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत करनेवाले - जोरसे आरंभ करनेवाले जीवको चलते हुए प्रगट परिणाममें, ज्ञानक्रियामें, ज्ञानस्वभावका (गुणके गुणका) अवलोकनपूर्वक संशोधन चलने पर, उसमें कषायके अभाव स्वभावका भासन होता है अर्थात् (ज्ञान) 'मैं निराकूल सुखरूप सदाय हूँ' - ऐसा निर्णय होता है; उसमें अपने अनंत ज्ञान व अनंत सुखका प्रतिभास है । जिसके कारण

'ज्ञानमें' स्वरूपकी अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है और लक्ष्य वहाँसे खिसकता नहीं । ऐसे लक्ष्यपूर्वक स्वभावकी महिमा सहित चलता हुआ घोलन तीव्र आत्मरसको उत्पन्न करता है । वहाँ सूक्ष्म विकल्प है, फिर भी उसके पर लक्ष्य नहीं होता - उसकी उपेक्षा रहती है, वहाँ संयोगोंकी उपेक्षा तो सहज ही है । ध्येयभूत स्व-स्वरूपके ऊपर वारंवार 'यही मैं' - ऐसे उपयोगमें - जोरसे अवलंबन आता है । सहज आता है । इस तरह सहज पुरुषार्थ और सहज भेदज्ञानकी यहाँ से शुरुआत होकर वह स्वानुभवमें परिणमित हो जाती है । इस तरह स्वरूपकी सच्ची पहचान होने पर, जगतके पदार्थ व शुभभावकी महिमा (जो कि अनादिसे थी) वह मिटती है । अपूर्व अतीन्द्रिय सुखकी तुलनामें बाह्यभाव - द्रव्य दुःखके कारणरूप - निमित्तरूप लगते हैं - पुण्यका उदय तुच्छ भासित होता है । (९८)



आत्माकी पहचान सम्बन्धित :-

* आत्मा उपयोग लक्षणवंत है ।

लक्षण-लक्ष्य - स्वभावसे सदृश व वस्तुपनेसे अभेद है । उसकी प्रसिद्धि स्वसंवेदनसे है । पहचान होनेपर लक्ष्यकी मुख्यता और लक्षणकी गौणता सहज हो जाती है । लक्ष्यकी मुख्यतामें (प्रमाणके विषयभूत वस्तु) पूरी वस्तु (वैसी की वैसी) टिकती हुई, परिणमन करती हुई दिखती है । अतः द्रव्य, गुण, पर्यायका आभास / कल्पना नहीं होती । स्वभाव सन्मुखतामें आत्मस्वरूप निरावरण / प्रगट है, ऐसा ज्ञात होता है । 'यह मैं प्रत्यक्ष ऐसा - सिद्ध स्वरूपी हूँ' ऐसे भासनसे, आत्मवीर्यकी स्फुरणा हो जाती है । और (जैसे-जैसे) आत्मआश्रयका बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान स्वरूपको सुस्पष्टरूपसे ग्रहण करता है, साथ ही साथ आत्माके दूसरे गुण भी खिलने लगते हैं । जितना पुरुषार्थ उग्र - उतनी शुद्धि विशेष - और तेजीसे, ऐसा वस्तुका स्वरूप है । वस्तु स्वरूप महा आश्चर्यकारी, अनुपम व अद्भुत है । (९८-A)



केवलज्ञानमें विस्मयका अभाव है, क्योंकि प्रथम एक समयमें तीन काल - तीन लोक जाननेमें आ जाते हैं । इसलिये किसी भी द्रव्यकी कोई भी पर्यायके बारेमें ऐसा क्यों ? ऐसा विस्मयभाव उत्पन्न नहीं होता । ऐसे केवलज्ञान स्वभावको जिन्होंने वर्तमान श्रद्धा-ज्ञानमें लक्षगोचर किया है, वैसे सम्यक्दृष्टि जीवको भी श्रुतज्ञानमें विस्मयका अभाव होता है । भावश्रुतज्ञानमें भी तीन काल - तीन लोकको परोक्षरूपसे जाननेकी शक्ति है, अतः सम्यक्श्रुत भी स्वभावसे गंभीर व अचंचल है । दूसरे जीवोंकी व पुद्गलोंकी अनेक चित्र-विचित्र अवस्थाएं जानने, पर भी क्षोभ नहीं होनेके पीछे इस सिद्धांतका ग्रहण है । (९९)

यह सिद्धांत है कि 'जिसने आत्माको जाना' उसको दूसरे किसी भी आत्माके प्रति वैरबुद्धि नहीं होती; उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी नहीं, क्योंकि सम्यक्ज्ञानमें दूसरे अज्ञानी जीवका सामान्य स्वरूप मुख्य रहता है और उसकी दोषित अवस्था गौणरूपसे जाननेमें आती है । स्वयंके आत्माके जैसा ही सभी आत्माओंका स्वरूप - गुणधाम है । ऐसे ज्ञानमें गुण-सागरके प्रति वैरबुद्धि कैसे हो ? (१००)



जिस जीवको संयोगकी प्रतिकूलताका डर - भय है, वह जीव संयोगकी अनुकूलताका इच्छुक है । जिस जीवको अपमान / अपकीर्तिका भय है वह जगतकी आबरू / कीर्तिका कामी है । परमें इष्ट - अनिष्टपनेकी बुद्धिसे - जीव उदयमें सावधान रहा करता है, और इसलिये उदयभावसे निवृत्त नहीं हो सकता, फिर भी बाहरमें संयोग - वियोग तो पूर्वकर्मके उदय अनुसार है । जिसका कारण पूर्वमें किये हुए जीवके (अपने ही) शुभा-शुभ परिणाम हैं - जो कि परमार्थसे दुःखरूप है । विचारवान जीव तो अपने (शुभाशुभके) नाशका उपाय करता है, वह वास्तविक दीर्घ-दृष्टि है - अथवा सत्यदृष्टि है । टुंकी दृष्टिमें जीव, मात्र वर्तमान (उदयको फिरानेकी) प्रवृत्तिमें रत रहता है, इसलिये शाश्वत तत्त्वके प्रति उसका ध्यान नहीं जाता । (१०१)



वर्तमान पर्यायमें विकारीभाव वर्तता होनेके बावजूद भी "मैं वर्तमानमें ही परिपूर्ण शुद्ध हूँ" ऐसी अपूर्व दृष्टि मूल स्वरूपसत्ताका ग्रहण करे - वह स्वरूपदृष्टिका कार्य है । (१०१A)



पर्यायके लक्ष्यसे 'निर्विकल्प होना है' ऐसी इच्छासे निर्विकल्प हुआ नहीं जाता, परन्तु 'मैं स्वभावसे निर्विकल्प ही हूँ और स्वयं स्वसंवेदनरूपसे परिणमन करनेका ही मेरा स्वभाव है । स्वभावसे अन्यथा होना अशक्य है' - ऐसा स्व-आश्रय होने पर कार्य होवे, ऐसी वस्तुस्थिति है । (१०२)



स्वरूपके यथार्थ भावभासनमें, परिणमन पर बहुत गहरी असर होती है । :-
 लक्ष्य :- ज्ञानमें स्वरूपका लक्ष्य बंध जाता है - तबसे ज्ञान स्वरूपलक्ष्यी हो जाता है ।
 ज्ञानके लक्ष्यमेंसे स्वरूप छूटता नहीं और परलक्ष्य मिटता है ।
 रुचि :- रुचि अनन्यभावसे स्वरूपके प्रति जागृत हो जाती है । जो कि गुणकी रुचि है । विभाव / अवगुणके प्रति अरुचि हो जाती है ।

पुरुषार्थ :- चैतन्य वीर्यकी स्फूर्ण होती है - वारंवार स्वरूपका - स्वरूप प्रत्ययी वेग उत्पन्न हो जाता है । पुरुषार्थकी दिशा बदल जाती है जो कि अपूर्व है ।

स्वरस :- स्वरूपका अत्यंत रसपूर्वक घोलन रहा करता है और वह बढ़ता रहता है ।

महिमा :- असाधारण महिमावंत स्वरूपकी अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है और जगतकी महिमा उड़ जाती है । जगतके किसी भी पदार्थकी महिमा नहीं आती - नहीं रहती । स्वरूप सन्मुखताके परिणाम रहा करते हैं ।

अहो ! निज जिनपदसे अधिक दूसरा क्या हो सकता है ?

अनंत सुखका भंडार अपनेमें / अंतरमें है, वहाँ वृत्तिका झुकाव हो जाता है ।

गुणनिधि स्वरूपका पता लगनेसे अपूर्व...अपूर्व भावोंका प्रवाह / बहाव शुरू होवे ही न !

'लक्ष्यके कारणसे उत्पन्न ज्ञानमें आनंदके फुहारे छूटते हैं' - पू. गुरुदेवश्री

(परमागमसार - ५१६)

(१०३)



अतीन्द्रिय ऐसा आत्मस्वरूप, इन्द्रियज्ञानका विषय नहीं है । किसी भी प्रकारके मंदकषायरूप रागका विषय भी आत्मा बिलकुल नहीं है । आत्मस्वरूप, मनके विकल्प - चिंतनसे भी गम्य नहीं है । परन्तु मात्र अंतर्मुख ज्ञानमें ग्रहण हो सके ऐसा है; अतः केवल अंतर्मुख उपयोग कर्तव्य है । विकल्प - रागके सद्भावमें भी विकल्पकी आड़के बिना ज्ञान स्वरूपका - निजका ग्रहण करे - वह अंतर्मुखता है, उसमें आत्मा ज्ञानगोचर - वेदनगोचर होता है । (१०४)



'दंसण मूलो धम्मो'- श्रीमद् भगवान् कुंदकुंदाचार्यका यह गंभीर वचनमृत - सूत्र सिद्धांतरूप है । दर्शन अर्थात् श्रद्धान । आत्माके सभी अनंतगुणोंमें - यह सूत्र श्रद्धा गुणकी विशिष्टता का दर्शक है । उसमें बहुत गंभीरता है । वास्तविकरूपसे 'दर्शन' प्राप्त - अनुभवी महात्मा (ही) उसका यथातथ्य अनुभव करते हैं - क्योंकि उसमें वचन अगोचर बहुत कुछ है । जिस दर्शन शक्तिसे मोक्षमार्गका अंकुर फूटता है; सर्व गुणांश स्वयं सम्यक् होते हैं, जिसका इस प्रकारसे मूलअंगरूपमें परिणमन करने पर - वर्तन करने पर मोक्षमार्ग वृद्धिगत होकर संपूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष अनिवार्यरूपसे अवश्य होता ही है; जिसके कारण सिद्ध भगवंत सिद्ध पर्यायमें अनंतकाल टिकते हैं । ऐसा दंसण - मूल धर्म / कल्याणमूर्तिका सम्यक् प्रकारसे सेवन करने योग्य है । यह एक गुण ऐसा है कि जो शुरूसे अपनी पूरी - अनंत शक्तिसे परिणमन करता है । और अन्य समस्त गुणोंकी निर्मलता होनेमें / बढ़नेमें निमित्त होता है । (१०५)



आत्मानुभवी पुरुषोंके द्वारा प्रवाहित हुए वचन अर्थात् सत्शास्त्रों अनुभवरससे लिखे गये होनेसे उसमें अनुभवकी गहराई होती है । उन वचनोंका अनुभवके दृष्टिकोणको मुख्य रखते हुए अवगाहन करने योग्य है; वरना उनके भाव - वाच्य, ज्ञानगोचर नहीं हो सकते । अनुभवके दृष्टिकोणको लागू करनेसे भाव भासित होता है । शास्त्रवाचनकी रीत भी गहरी व रहस्ययुक्त है। परलक्ष्यी उघाड़वाला स्थूल ज्ञान, इसीलिये शास्त्रके मर्म तक नहीं पहुँच पाता है। पुनः परलक्ष्यी उघाड़में पंडिताई-विद्वताके साथ अभिमान, स्वच्छंद इत्यादि दोष सहज जन्म लेते हैं । इसलिये भी उससे गुण नहीं होता । आत्मार्थीका शब्दार्थ - भावार्थसे संतुष्ट होना नहीं बनता, बल्कि वह तो अनुभवकी कलाके लिये अत्यंत जिज्ञासु रहता है। (१०६)



नवम्बर - १९८५

बोधकला :- निज शुद्ध जीवास्तिकायमें अहंबुद्धि होना, अभेदभावसे लक्ष्य रहा करना। इस प्रकारसे परिणाम बलवान होने पर उपयोग शुद्ध होता है । (१०७)



प्रश्न :- ज्ञानीकी पहचान किसको होती है ?

उत्तर :- ज्ञानी, ज्ञानीको पहचान सकते हैं । अपने अनुभवसे, जिनकी वाणीमें अनुभवरस व्यक्त होता है; (एवं) दृष्टि, पुरुषार्थ, इत्यादि प्रकारसे भी साधकदशाकी पहचान होती है । ज्ञानीको अनेकविध अध्यात्मभावोंको पहचाननेकी निर्मलता होनेसे वे अन्य ज्ञानीको पहचान लेते हैं । सम्यक् श्रुतज्ञानमें बहुत सामर्थ्य है । इसके अलावा - "मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते है" - (श्रीमद् राजचंद्रजी)। इस वचनके अनुसार पात्र जीवको भी ज्ञानीकी दशाकी अंतर प्रतीति अवश्य आ सकती है । जैसे मरीज़ अपने रोगके निदान, इत्यादिके आधारसे वैद्यके ज्ञानको समझ सकता है वैसे मुमुक्षुजीव, (भवरोगके निदानादि ज्ञानके प्रकारसे) मार्गका खोजी जीव, मार्ग दिखलानेवालेके अनुभव ज्ञानकी सत्यताका निर्णय करके, पहचान सकता है । निःशंक हो सकता है । (१०८)



आत्मभावना :- सर्वोत्कृष्ट, परमशांतरसमय, समरस स्वभावी, अनंत सुखधाम, केवल अंतर्मुख, स्वयं अभेद अनुभवरूप हूँ । (अतः समस्त परमें उपेक्षा सहज है ।) (१०९)



'तू रुचता जगतनी रुचि आळसे सौ ।' जगतके समस्त पर पदार्थके प्रतिका आकर्षण छूट जाये व एकमात्र स्व स्वरूपका ही खिँचाव रहा करे, ऐसा परम अद्भुत, आश्चर्यकारी,

अनंत महिमावंत आत्मस्वरूप है । अरे ! पूर्ण केवलज्ञानादि पर्यायकी भी जिसे अपेक्षा नहीं, ऐसा परम निरपेक्ष आत्मस्वरूप है । ऐसे निज स्वरूपकी एकाकार भावनावानको भी अन्य कोई अपेक्षा नहीं रहती है । ऐसे निज स्वरूपकी दृष्टिके बिना, अन्य द्रव्य-भावमें मुख्यता होती है - स्वरूपदृष्टिमें तो स्वयं 'स्वरूपमात्र' - 'ज्ञायकमात्र' के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ।

(११०)



जिस स्वसन्मुख भावमें आत्मस्वरूप प्रगट - सहजप्रत्यक्षरूप है, उस भावमें प्रत्यक्षता सहित (के साथ) अभेदता सधती है; अतः उस भावमें परोक्षताका सहज अभाव होता है; अर्थात् वहाँ अद्वैतभावसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता वर्तती है; अतः भावमें निजरस - आत्मरस उत्पन्न होता है । अहो ! अनंत शांत सुधा सागरका परम आदरभाव - वही महा विवेक है - परमपदका विवेक / आदर होनेमें अन्य विकल्प कैसा ?

परमात्मपद प्रतिके उल्लसित वीर्यसे दर्शन शुद्धि है अथवा सर्व सिद्धि है । (१११)



कारण शुद्ध पर्यायका स्वरूप :-

(१) प्रत्येक वर्तमानमें कार्य-शुद्ध पर्यायके कारणरूपसे तैयार-मौजूद ऐसा अनंतगुणोंके अभेदभावका 'स्वाकार भावरूप' ध्रुवत्व, वह कारण शुद्ध पर्याय है । जो कि द्रव्यके अनंत सामर्थ्यको प्रसिद्ध करती है । वह इस तरह :-

जिस ध्रुवके वर्तमानका अवलंबन लेने पर यदि केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्धता प्रगट होवे तो द्रव्यका त्रिकाल सामर्थ्य कितना अनंत व गंभीर !!

(२) समुद्रके पानीमें ऊपरका तरंगवाली सपाटीका अस्थिर दल पूरा होनेके बाद नीचे स्थिर दल शुरू होता है । उस स्थिर दलकी ऊपरकी सपाटीके दृष्टांतसे, पर्यायके उत्पाद-व्ययसे पार गहराईमें - अंतरमें अन्वयरूप वर्तमान ध्रुवत्वका अवलोकन करना, अवलंबन लेना ।

(३) जीवके त्रिकाली स्वरूपमें केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्ध पर्यायोंके कारणरूप त्रिकाल रही हुई पर्यायपरिणमन शक्तिका वर्तमान - वह कारणशुद्ध पर्याय है ।

श्रीमद् पद्मप्रभमलधारी देवने उसे पूजित पंचमभाव परिणति कहा है / समादर किया है ।

(११२)



सविकल्पदशामें, जिस वक्त निज अभेद निर्विकल्प चैतन्य स्वरूपका 'यथार्थ निर्णय' होता है, तब निर्विकल्प स्वरूपकी अत्यंत मुख्यता वर्तती है इसलिये उस जीवका निर्विकल्पदशाका

काल पक गया है । क्योंकि अब वह जीव विकल्पमें अटकेगा नहीं, उसको विकल्पकी मुख्यता नहीं रहेगी; अब वह शीघ्र विकल्पका वमन कर देगा अथवा उसके विकल्पका अब शीघ्र वमन हो जायेगा । जिसने निर्विकल्प शुद्धात्माका भावनामें व ज्ञानलक्षणसे ज्ञानमें यथार्थ निर्णय किया, उसको निर्विकल्पताका अवसर आ चुका है। (११३)



विधि :- अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे देखनेसे, जीवको मात्र ज्ञानका-सामान्यका ही अनुभव है । वहाँ जोरसे स्वपना होनेसे अनेक ज्ञेयाकार व पर्यायत्व गौण हो जाते हैं; 'स्वभावका आश्रय' लक्ष्यके कारणसे हो जाता है। स्वभावके आश्रयमें द्रव्य-पर्यायके भेद सहज ही निरस्त हो जाते हैं; क्योंकि स्वभाव द्रव्य-पर्याय भेदसे निरपेक्ष है। स्वभाव अनुभव स्वरूप है ।

(११४)



प्रथम विभावसे / रागसे ज्ञानकी भिन्नताके प्रयोग द्वारा अंतरंगमें भेदज्ञान होना चाहिये; कि जिसमें ज्ञानकी मुख्यतासे ज्ञानसे ज्ञानका एकत्व होता है । एक समयकी प्रगट शुद्ध पर्याय - त्रिकाली स्वभावसे भिन्न होने पर भी, स्वयं स्वभावका अवलंबन लेती है; विभावकी तरह उस भावका भी क्षय करनेका प्रयोजन नहीं है । सिर्फ अवलंबनका (आश्रयका) स्थान वह शुद्ध पर्याय नहीं है - उतना ही प्रयोजन है, अतः रागका अवलंबन (स्वभावके अवलंबनपूर्वक) छूटनेका प्रथम कर्तव्य है । - यह विधिका क्रम है । विधि - क्रममें फर्क पड़नेसे मार्ग बदल जाता है अथवा मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है । मिथ्यादृष्टिको शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होनेसे, उसको उससे भिन्न पड़नेकी विधिका प्रारंभ करनेका प्रश्न नहीं रहता । (११५)



शास्त्रका परलक्ष्यी क्षयोपशमज्ञान भी प्रायः बाधक होता है । इस प्रकारके ज्ञानके विकासमें, आत्माकी शुद्धताका विकास मानना या आत्मज्ञानका विकास हुआ मानना, वह भ्रम है। स्वलक्षसे हुआ शास्त्र अध्ययन यथार्थ ज्ञानका कारण होता है । परलक्ष्यी ज्ञानमें शुष्कता अथवा अभिमान, अथवा स्वच्छंद आदि दोषोंकी (उत्पत्ति) की संभावना रहती है। (११६)



लौकिक समाजकी तो नहीं, बल्कि धार्मिक समाजमें भी 'प्रतिष्ठा - कीर्ति मिले तो ठीक' ऐसी अपेक्षा रखे, वैसा आत्मार्थी नहीं होता । प्रतिष्ठा - कीर्तिकी अपेक्षा होने पर आत्मार्थीपना नहीं रहता; 'आत्मा' वैसा नहीं है । वास्तवमें तो विकसित होती हुई अवस्थाकी भी स्वरूपमें (को) अपेक्षा नहीं है । जहाँ सर्वोत्कृष्ट द्रव्य पर दृष्टि है वहाँ शुद्ध पर्याय पर भी दृष्टि

नहीं होती - उसको (फिर) दूसरी कोई (दूसरे किसीकी) अपेक्षा कैसे हो सकती है !!
(११७)



वर्तमान पूरे भवके प्रति (तीव्र मुमुक्षु) ज्ञानी उदास है, एक मात्र आत्माकी ही अपेक्षितवृत्ति उत्पन्न होनेसे अन्य सर्व सहजरूपसे उपेक्षाका विषय हो जाता है । अतः ज्ञानी भव-उदासी है । सारे उदय प्रसंग तो भवके पेटाभेदमें आ जाते हैं; अतः उसमें तन्मयता नहीं होती । 'मनुष्यपना वह मेरा स्वरूप नहीं है, परवस्तु है, इसलिये हेय है' इसमें फिर उदयकी उपाधि उत्पन्न नहीं होती । उपाधि सहितपनेमें दुःख है और उपाधि रहितपनेमें सुख है, इसलिये ज्ञानी सुखी है; उन्हें अपना सुख स्वभाव भी 'अनुभव-प्रत्यक्ष' है, इसके कारण बाहरके खिँचावरूप आकुलता नहीं होती ।
(११८)



स्वसंवेद्यमान स्वरूप(के) 'अवलोकनमें' (अनुभवमें) अखण्ड रसधारा बरस रही है - वह शांतरस, अमृतरस - चैतन्य रसधारा है । अखूट आत्मरसका प्रवाह है । यह एक देश, जघन्य वेदन ऐसा है कि उस आंशिक आनंदके आगे इन्द्रादि संपदा दुःखका निमित्त - विकाररूप भासित होती हैं । (अ. प्र.)
(११९)



ज्ञानलक्षणपूर्वक स्वभावकी पहचान हुए बिना विभावकी भी पहचान नहीं होती और इसी वजहसे स्वरूपकी पहचान बिना अज्ञानभावसे किसी न किसी विभावमें ही स्वभावकी अर्थात् आत्माकी कल्पना होनेसे - विभावका सेवन नहीं छूटता । कषायकी मंदता अथवा ज्ञान-चारित्र आदि किसी भी गुणके परान्मुखी क्षयोपशममें स्वभावका भ्रम (पहचानके अभावसे) हो जाता है । और उसमें ही आगे बढ़नेकी अभिलाषासे उसका सेवन होता है ।
(१२०)



'स्वरूपकी सहज अंतर सावधानीरूप' (मैं ज्ञानमात्र हूँ) ऐसी वृत्तिका झुकाव, वह सन्मार्गकी एकमात्र मुख्य रीढ़ (आधार दंड) है । जिसके अभावमें अन्यभाव / अन्यद्रव्यकी सावधानी सहजरूपसे रहनेसे प्रमादका साम्राज्य प्रसरता है ।
(१२१)



सत्का प्रगट अनुभव-दशा जिन्हें वर्तती हो ऐसे पुरुषका समागम - वह सत्संग है । जो कि अति दुर्लभ है; फिर भी ऐसा सत्संग भी निष्फल जाये ऐसे कारणरूप परिणामोंका जब जीव सेवन करता है तब रत्न चिंतामणी जैसा मनुष्यभव गँवा देनेका - हार जानेका बनता

है । ऐसे सत्संगके निष्फल जानेके कारण निम्न प्रकारसे है :-

(१) मिथ्या आग्रह :- जीवने भूतकालमें अनादिसे मिथ्या अभिप्रायका सेवन किया है । उसका आग्रह सत्संग प्राप्त होनेके बावजूद भी नहीं छोड़ना - वह मिथ्या आग्रह है । संक्षेपमें उसका स्वरूप इस प्रकारसे है कि जिस आग्रहके वशात् 'मैं' मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसी अंतर सावधानी उत्पन्न नहीं होती, और परकी सावधानीरूप परिणामोंकी अधिकाई - वज़न रहा करता है । प्रशस्त क्रिया - परिणामोंका आग्रह भी चैतन्य स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देता, वह (भी) मिथ्याआग्रह है । सर्व प्रकारके मिथ्याआग्रह छूट जानेका निमित्त 'सत्संग' है । फिर भी अगर जीव वहाँ भी मिथ्याआग्रहको नहीं छोड़ता है, तो प्राप्त हुआ सत्संग भी निष्फल जाता है । फिर तो मिथ्याआग्रह छूटनेके लिये और कोई कारण-साधन नहीं रहता ।

(२) स्वच्छंदीपना :- दोषितभावोंके पक्षपातमें, दोषमें ममत्व होनेसे स्वच्छंद उत्पन्न होता है । यह स्थिति सत्संगको निष्फल करनेवाली है । दोषितभावके पक्षपातमें दोषकी रुचि काम करती है; अतः उसके अभावका प्रयत्न नहीं होता । इतना ही नहीं बल्कि स्वच्छंदी जीव दोषको गौण करता है अथवा अपेक्षावादके बहाने दोषका बचाव / रक्षा करता है । सर्व अन्यभाव दोषरूप होने पर भी उसमें उत्साहपूर्वक - सावधानीपूर्वक प्रवर्तन करना, यह भी स्वच्छंदका सूक्ष्म प्रकार है । 'मैं' ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वरूपकी सावधानीके अभावमें - उक्त प्रकारसे स्वच्छंदका जन्म होता है । यह दोष तीव्र होने पर मानप्रकृति ज़ोर करती है । तीव्र होने पर देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुष प्रति अविवेक भी होने लगता है । स्वच्छंदी जीवको गुण व गुणवानकी अरुचि होती है । उसकी चाहत उसे नहीं रहती ।

(३) प्रमाद :- 'मैं' ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी सतत जागृतिका अभाव व अन्य भावका रस होना - वह प्रमाद है । प्रमादभावमें कषायरस बहुत भरा है इसलिये सत्संगकी असर नहीं होती ।

(४) इन्द्रियविषयकी अपेक्षा : जड़की अवस्थामें सुखबुद्धि-रसबुद्धि - महिमावंतता होने पर उसकी अपेक्षा रहा करती है - तब जीव निज महिमाको, निज सुखको - स्वभावको भूलता है और स्वभावकी उपेक्षामें प्रवर्तता है । 'मैं' ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वयंकी जागृतिके वक्त - इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ सुख रहित भासित होते हैं इसके कारण भी व्यामोह नहीं होता । 'मैं' ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी जागृतिपूर्वक ज्ञानमें-स्वमें इन्द्रियविषयका अभाव भासित होनेसे उसकी अपेक्षावृत्ति-बुद्धि नहीं होती । इन्द्रियविषयकी अपेक्षामें (वासनासे) सत्संगमें प्राप्त बोध नहीं चढ़ता - क्योंकि इन्द्रियविषयके रसमें ज्ञानरसका अभाव है । और ज्ञानमें अर्थात् स्वकी जागृतिसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरसमें, इन्द्रियविषयका रस अभावको प्राप्त होता है । जो कि सत्संगका प्रत्यक्ष फल है । सत्पुरुषके प्रति 'अत्यंत भक्ति' विषयवृत्तिके रसको मंद करती है; और

‘अत्यंत भक्ति’ सहित समागम किया जाता है तो ही सत्पुरुषका बोध परिणमित होता है। और सत्समागममें भक्तिपूर्वक समर्पित होनेसे इन्द्रियों तरफकी वृत्ति शिथिल हो जाती है और तब निजहितका भाव बलवान होता है। इस प्रकार पर विषयका रस - जड़का रस, सत्संग सफल होनेमें प्रबल अवरोधक - प्रतिबंधक कारण है।

(५) अपूर्व भक्तिका अभाव :- सत्संगके दाता, ऐसे ज्ञानी - परमपुरुष - परमात्माके प्रति अपूर्व भक्तिके अभावके कारण ही आगे कहे हुए चारों प्रकारके दोष सहज उत्पन्न हो जाते हैं। जिसे अपूर्व भक्ति वर्तती है वह जीव संसार तिर जाता है। अतः ज्ञानीके योगको परम हितकारी जानते हुए, परमप्रेमसे, सर्वार्पणबुद्धिसे, सर्व संयोगोंको गौण करके उस योगकी उपासना कर्तव्य है। और तो ही ज्ञानीसे प्राप्त बोधका परिणमन होता है, अन्यथा परिणमन नहीं हो सकता (बल्कि) सिर्फ शुष्क धारणा रह जाती है, यह वस्तुस्थिति है। वास्तवमें तो ज्ञानीपुरुषकी पहचान होने पर पात्र जीवको इस प्रकारकी अपूर्व भक्ति जागृत हो ही जाती है, हुए बिना नहीं रहती। ऐसी भक्ति जो है वह सिर्फ प्रशस्त रागवृद्धिरूप नहीं है परन्तु प्रगट सत्का ही मूल्यांकन है, जिसके कारण दर्शनमोह दृढ हो ऐसे दोष उत्पन्न ही नहीं होते, बल्कि दर्शनमोह गल जाये, ऐसी परिणामकी परिस्थिति हो जाती है - यह सत्संगमें सन्निहित महान रहस्य है। इसीलिये तो सभी ज्ञानियोंने अपने अनुभवसे जगह-जगह सत्संगका महत्त्व प्रदर्शित किया है। जिसको विवादका विषय बनाकर खिँचना बिलकुल योग्य नहीं है।

(१२२)



पर विषयमें सुखका अनुभव होना वह कल्पित है, झूठ है। वहाँ वास्तवमें सुख अथवा आनंद नहीं होता फिर भी, आभास होता है। उसमें झूठा आनंद माना जाता है। यह सिद्धांत किसी भी कक्षाके कषायकी मंदतावाले परिणामको भी लागू होता है। निजहितके प्रयोजनके दृष्टिकोणवाले जीवको झूठे - कृत्रिम आनंदमें खुद धोखेमें नहीं आ जाये उसकी सतत जागृति - सावधानी प्रसंग-प्रसंग पर, कार्य-कार्यमें रहनी जरूरी है क्योंकि उसमें आध्यात्मिक नुकसान है।

(१२३)



सम्यक्ज्ञान महाविवेकको धारण करके, स्व-पर प्रकाशक परिणमनमें, स्वविषयमें और परविषयमें निम्न प्रकारसे परिणमन करता है।

स्वरूपको अभेद अनुभवरूप, महामहिमावंत जानकर सर्वोत्कृष्ट उपादेयरूप - चैतन्यरसरूप स्व-आश्रय भावसे सहज परिणमन करता है।

परपदार्थ व राग ज्ञानमें प्रतिबिंबित होने पर, भिन्नरूप, उपेक्षाभावसे, निर्मूल्य व नीरस, परिणामसे सहज जाननेमें आते हैं - (वैसे) परिणमन करता है । अतः वह परसे निवृत्त होता हुआ विज्ञानघन होता जाता है - यह सम्यक्ज्ञानका स्वरूप है । (१२४)



द्रव्यानुयोग आत्माके 'एकत्व-विभक्त' स्वरूपको दिखाता है । अभेद स्वभावका लक्ष्य करनेका परम गंभीर विषय द्रव्यानुयोगमें है । निश्चय अध्यात्मके उपदेशकी प्रधानतासे दया - दानादि परिणामोंका उसमें निषेध आता है, उसमें स्वभाव दृष्टि करानेका हेतु है । स्वभावकी अभेदताको साधनेके हेतुसे द्रव्यानुयोग अनुसार गुण-पर्यायके भेदोंका निरूपण है । (जो कि व्यवहारनयके विषयभूत समस्त सिद्धांत हैं) उस भेदको निरस्त करनेकी शैलीसे अध्यात्मकी प्रधानता कराई है, (जिससे) अभेदता सधती है । यथार्थतामें ऐसी दृष्टिकी प्रधानताके बारेमें संशय या अनादर भाव नहीं होता, बल्कि विशेष आदर - महिमाके भाव होते हैं । इसके बावजूद द्रव्य, गुण, पर्यायका भेदरूप निरूपण, जो कि आगम अनुसार है, वह भी उनके ज्ञानमें सप्रमाण रहता है । जरा सी भी अन्यथा कल्पना नहीं होती । ऐसा संतुलन रहना वह इस विषयकी गंभीरता है । अर्थात् सम्यक् एकांत व अनेकांत है ।

(१) इस विषयमें अयथार्थता उत्पन्न होती है तब किसीको द्रव्य, गुण पर्यायके भेद निरूपक सिद्धांतोंकी मुख्यताका एकांत वर्तता है । जो फिर अभेदता साधक वचनोंके प्रति गौणता अथवा अनादर उत्पन्न कराता है । वहाँ भेदका जानपना मुख्य करके अध्यात्म दृष्टिकी गौणता होती है । जो कि यथार्थ नहीं है ।

(२) जब कि कोई तो अध्यात्म प्रधान (ज्ञानी - आचार्योंके) विधानकी मुख्यता करते हैं, उसमें निहित आशयकी गंभीरताको ग्रहण नहीं करके (क्योंकि अध्यात्म तत्त्व ज्ञानमें भासित नहीं हुआ है) अभेदता साधनेके प्रयोजन एवं पुरुषार्थको प्राप्त नहीं करते हैं, बल्कि कल्पनासे द्रव्यका-पदार्थका स्वरूप अन्यथा ग्रहण करते हैं जिसके कारण गृहीत मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है । वे सिर्फ अध्यात्म कथनकी शैलीके रागमें रत रहते हैं, लेकिन (वे) अध्यात्मभावमें परिणमन नहीं करते, जो कि यथार्थ नहीं है ।

कथनशैलीका राग मुख्य होने पर - पुद्गलरस, विकल्पका रस बढ़ता है । उसमें अध्यात्मरस नहीं है । परन्तु अयथार्थता, अध्यात्मरस होनेकी भ्रांति होती है । उसमें द्रव्यानुयोगके सिद्धांत ज्ञानसे विरुद्ध मान्यता दृढ़ हो जाती है, फिर भी खुद अध्यात्मवादी है ऐसा मानता है । सिद्धांतज्ञान व अध्यात्मके भाव - ज्ञानके बीचमें संतुलन व अनेकांतिक वृत्तिका यथार्थरूपसे झुकाव रहना, वही इस मार्गकी सूक्ष्मता है । (१२५)

परिपूर्ण निर्दोषता (मोक्ष) का जिसको ध्येय है; वैसे सच्चे आत्मार्थीको सिर्फ निर्दोषताका प्रयोजन होनेसे, सारा परिणमन इस प्रयोजनके लक्ष्यपूर्वक चलता है । अतः प्रयोजन विरुद्ध किसी भी प्रकारकी अयथार्थता नहीं होती । समझनेमें (भी) सभी न्याय निर्दोषताके प्रयोजनके लक्ष्यसे समझनेकी पद्धति होनेसे वह ज्ञान आगे बढ़कर सम्यक्ज्ञानमें परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि समझ करनेके पीछे एकमात्र निर्दोषताका दृष्टिकोण होना चाहिये, वरना मात्र उघाड़ - क्षयोपशमज्ञानकी वृद्धि हेतु वांचन - श्रवणकी प्रवृत्ति होगी। उसमें साथमें अयथार्थताकी उत्पत्ति हो जाती है । इसलिये सिर्फ शास्त्रज्ञानके उघाड़के पीछे व्यामोहको प्राप्त होना उचित नहीं है - परन्तु शास्त्रज्ञानके पारमार्थिक दृष्टिकोणको समझकर मूल्यांकन करने योग्य है ।

(१२६)



जानपनारूप ज्ञान - जाननेकी कार्यमें हमेशा प्रवर्तता है । परन्तु ज्ञानके अनुसार अगर प्रतीति साथमें हो तो आचरण पैदा होता है; ज्ञानको अगर प्रतीतिका साथ नहीं मिले तो, अर्थात् अगर समझसे प्रतीति विरुद्ध वर्तती रहे तो समझ कार्यगत् नहीं होती। स्वभावके अंतर अभ्यासमें, सहजरूपसे - प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावके प्रत्यक्षपनेकी - प्रतीतिके बलसे वारंवार उग्रता होनेसे 'में ऐसा ही (ज्ञानमात्र) हूँ' - स्वसंवेदनका आविर्भाव होता है । इस प्रकारसे (मोक्षमार्गमें) श्रद्धा - ज्ञानकी मैत्री है ।

(१२७)



ज्ञानीको द्रव्यदृष्टिके कारण, सर्व जीव सिद्ध स्वरूपी दिखाई देते हैं । वे भले ही अज्ञान व पर्यायदृष्टिके कारण खुदको कैसे भी मानते हो, परन्तु ज्ञानी तो उन्हें सिद्ध स्वरूप ही देखते हैं । इसलिये शिरश्छेद करनेवाला अर्थात् तीव्र विरोध करनेवालेके प्रति भी ज्ञानीको व्यक्तिगत द्वेष नहीं होता, परन्तु (सिर्फ) उसकी विकारी दोषितवृत्तिका निषेध आता है । फिर भी द्रव्यकी मुख्यता छूटकर निषेध नहीं आता (द्वेष मुख्य नहीं होता) बल्कि द्रव्यकी मुख्यता सहित निषेध (दोष भावका) करुणाबुद्धिके कारण आता है - ऐसे अंतरंग परिणामोंको ज्ञानी ही समझते हैं, दूसरे नहीं समझ सकते।

(१२८)



त्रिकाली निज स्वभाव, जैसा सर्वज्ञ भगवानके केवलज्ञानमें आता है, ऐसे स्वरूपका भान होना - रहना वह प्रगट सम्यक्दशा है; जो कि अपूर्व निज चैतन्यरसके निर्विकल्प वेदन स्वरूप है । ऐसा भान शुद्धोपयोगपूर्वक उत्पन्न होता है ।

(१२९)



ज्ञानमयरूपसे निज अस्तित्वका सहज वेदन, वह (परसे) भेदज्ञान है, और (स्वसे) अभेदज्ञान है - अथवा आत्मज्ञान है। जो कि भवभ्रमणके रोगका परम (अमोघ) औषध है। (१३०)



निजके कल्याणकी शुरुआत यथार्थरूपसे - वास्तविकरूपसे किस प्रकार होती है, इस विषयमें सिद्धांतसूत्र 'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत वही वास्तविक शुरुआत है' अनुभवसिद्ध हुआ है। यहाँ पर पूर्णता - पूर्ण शुद्ध दशारूप ध्येयके स्थानमें है-साध्यके स्थानमें है। यह सूत्र ऐसा निर्देश करता है कि अगर ध्येय पूर्णताका नहीं निश्चित किया हो तो साध्यकी भूल रह जाती है, इसलिये उसकी शुरुआत यथार्थ प्रकारसे नहीं होती। अतः वह जीव धर्म सम्बन्धित जो कुछ भी करता है वह मार्गकी विधिके लिये शुरुआतरूप भी नहीं है। किसी भी जीवको (धर्ममें) प्रवेश करनेवालेको अपने परिणमनमें उक्त सूत्रका वाच्यभूत - तात्पर्यभूत साध्य निश्चित हुआ है कि नहीं? यह अवश्य मिलान करके / जाँच करके समझ लेना चाहिये। प्रायः जीव खुदकी मति-कल्पनासे धर्म-मार्गमें प्रवर्तता है। परन्तु शुरुआत अन्यथा प्रकारसे होनेसे धर्मका प्रारंभ तो नहीं होता, बल्कि अनादिभ्रमको तोड़नेके बजाय एक नये भ्रमका सेवन होता है। साध्यकी भूल रहनेसे साधन प्राप्त नहीं होता। (१३१)



यदि बुद्धिपूर्वक पदार्थका स्वरूप विपरीत या अन्यथा निश्चित किया हो, तो उसका यथार्थ विचारणासे ज्यों का त्यों द्रव्य, गुण, पर्यायसे अविपरीतरूपसे स्वीकार नहीं हो, तब तक पुरुषार्थ योग्य दिशामें शुरु नहीं हो सकता। दृष्टांतरूपसे किसी जीवकी वस्तुस्वरूपकी समझमें तो भूल हो, परन्तु अध्यात्मके विषयमें मुख्यता करता हो तो भी उसका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। अध्यात्मके भाव तो सहज होते हैं। स्वरूपकी विपरीत समझमें, प्रयत्न कृत्रिमताको धारण करता है। अर्थात् अध्यात्मका विषय परलक्ष्यी क्षयोपशममें बुद्धिगोचर होनेसे कृत्रिम मुख्यता होती है, उसमें खुद धोखा खा जाता है। खुदको अध्यात्मी मान लेनेकी यह बहुत बड़ी भूल हो जाती है। (१३२)



श्री 'समयसार' परमागममें आचार्य भगवंतोंने अस्ति-नास्तिसे - दोनों पहलूसे, अद्भुत शैलीसे निरूपण किया है।

अस्तिसे :- दृष्टिका विषयभूत ज्ञायक (द्रव्य) स्वभाव, द्रव्यदृष्टिका अनुभवपूर्ण निरूपण, व स्वभाव दृष्टिवंत - सम्यक्दृष्टिके दृष्टिके परिणमनकी मुख्यतावाले अनेक पहलूओंको तात्त्विक दृष्टिकोणसे, अद्भुत शैलीसे प्रकाशित किये हैं। सारे समयसारका यह हार्द है।

नास्तिसे :- अनादि अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरूप, उसका अभाव करनेकी विधिका अनेक भेदोंसे निरूपण है ।

इस तरह अस्ति-नास्तिसे सूक्ष्म आत्माका तत्त्व अर्थात् प्राप्तिकी रीत प्रकाशित की है। (१३३)



पुद्गल पर्याय प्रति जीवका रस-विभावरस जितनी मात्रामें प्रवर्तता है, वह पर्यायको बहिर्मुख रहनेमें - होनेमें कारणभूत है; और अंतर्मुखका पुरुषार्थ होनेमें बाधक अर्थात् अवरोधक - प्रतिबंधक है । विभावरससे अधिकमात्रामें स्वभावका - चैतन्यका रस उत्पन्न हुए बिना पर्याय अंतर्मुख नहीं हो सकती । इस तरह बाहरमें अटकनेमें कषायरस - रागरस मुख्य है । अतः परमागममें इस रसको ही 'बंध तत्त्व' बताया है । चलते परिणाममें उसका यथार्थ अवलोकन होनेसे वह रस मंद पड़ता है, वहाँ फिर स्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश होता है । (१३४)



शास्त्र वचन - वाचक है ; आत्मस्वभाव वाच्य है । ज्ञानमें ज्ञानरस उत्पन्न होनेसे वाच्यकी यथार्थता सिद्ध होती है । अगर वाच्य ज्ञानमें आये फिर भी ज्ञानरस - आत्मरस उत्पन्न नहीं हो, तो वह ज्ञान परलक्ष्यी उधाड़रूप है, जो कार्यकारी नहीं होता । वहाँ प्रायः अन्यथा कल्पना होती है । यथार्थतामें / स्वलक्ष्यमें चैतन्यरस उत्पन्न होता ही है, क्योंकि :-

'द्रव्यश्रुतके सम्यक् अवगाहनसे श्रद्धागुणज्ञता प्राप्त होती है, जिससे परमार्थ सधता है' अथवा 'द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन भावश्रुतको साधता है।' उपरोक्त सिद्धांत स्व. श्री दिपचंदजी कासलीवालके 'अनुभव प्रकाश' शास्त्रजीमें है । यह निमित्त-उपादानकी पारमार्थिक संधि है । (१३५)



ज्ञानपर्यायमें ज्ञानवेदन सदा प्रगटरूपसे रहा है । वेदन अपेक्षासे ज्ञानमें अन्य द्रव्य-भावका वेदन होना असंभव व अशक्य है; फिर भी 'परप्रवेशभावके कारण परभाव व परद्रव्यका वेदन खुदको हो रहा है ऐसे अध्यासके कारण' यह प्रगट वेदन तिरोभूत हो जाता है अर्थात् 'परज्ञेयके साथ ज्ञानकी एकता परप्रवेशभावके कारण होनेसे' स्वयंका वेदन ज्ञानमें मौजूद होने पर भी उस अनुभवको पकड़ सकता नहीं । अर्थात् वेदनका (उपयोगमें) ग्रहण नहीं हो सकता । वास्तवमें तो प्रगट वेदन ही स्वसंवेदन स्वरूप है - निज ज्ञानरूप है; परन्तु वह परप्रवेशभावका अभाव होनेपर, जो कि एकमात्र भेदज्ञानके अभ्याससे होता है, आविर्भूत होता है । तब (उपयोगमें) निजवेदनके वेदन उपरांत लक्ष्यभूत ज्ञानरूप वस्तुको अनंत सामर्थ्यरूप व अनंत महिमावंत जानता

है - स्व-स्वरूपरूप - अभेद अनुभूति स्वरूप अनुभव करता है । (१३६)



सदा उपयोगधारी, उपयोग स्वभावी, आनंदस्वरूप खुद स्वयमेव - यत्न बिना - ही है, है और है ही । खुदका काम खुदको - सहज स्वरूपको निहारना-इतना ही है । सिर्फ इतना कर्तव्य है; है उसको देखनेका है । जो है उसमें कुछ (नया) करना नहीं है; या कुछ नया बनाना नहीं है । परकी अपेक्षावृत्तिको पलटकर उपरोक्त स्वपदको पहचानकर, सन्मुख होकर, अनंत महिमाधारीको निजरससे देख !! (१३७)



निज अस्तित्वके ग्रहण हेतु, स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके सम्यक् वचनामृतकी अनुप्रेक्षा करने योग्य है :- 'मेरे दर्शन, ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है ।' अवलोकनसे - प्रयोगसे ऐसे देखो । सिर्फ शब्दार्थका विचार करके वाच्यको विचारकी मर्यादामें सीमित नहीं रखते हुए, निज सत्ताके ग्रहणका अभ्यास - प्रयत्न होना चाहिये । परसे विमुख होकर वारंवार ज्ञान-दर्शनमय निजपदका अवलोकन करते हुए स्वयं सुखी हो। (१३८)



जैसे ज़हर खानेसे (जाने-अनजानेमें) मृत्यु होता ही है, वैसे पररुचिभावपूर्वक परके सेवनके परिणामसे संसार दुःख अवश्य होता ही है । इसलिये अरस परिणामसे उदयमें प्रवृत्ति कर्तव्य है । (१३९)



स्वानुभवमें पूर्णज्ञान (आत्मा) की प्रतीति भावका वेदन होने पर ज्ञान निर्मल होता है । इस तरह ज्ञानकी निर्मलतामें उपरोक्त प्रतीतिभाव कारण है । यहाँपर ज्ञानने सर्वज्ञशक्तिका अपनेरूपमें अनुभव किया, इसलिये वह अनुभव सर्वरूप शक्तिको प्रगट करेगा। यह अनुभव सर्वज्ञ-शक्तिके आधारसे हुआ है । राग, विकल्प या निमित्तके आधारसे नहीं हुआ है। ज्ञानबलके साथ प्रतीतिका बल जुड़ते ही वहाँ आचरण - एकाग्रता हुई और आनंद उछला।

'गुण अनंत के रस सबैं, अनुभव रसके मांही', अतः अनुभव समस्त जिनशासन है ।

(१४०)



भावमें स्वभावका आविर्भाव करनेकी रीतके बारेमें स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके निम्न वचनामृत ('अनुभव-प्रकाश' में) अत्यंत प्रयोग पद्धतिको प्रकाशित करते हैं ।

१. 'ज्ञानका प्रत्यक्षरसका भावमें वेदन करना, वह अनुभव है।'

२. अपने परमेश्वरपदका दूर अवलोकन मत कर, स्वयंको ही प्रभु स्थापित कर ।
३. गुप्त चैतन्यशक्तिको व्यक्तरूपसे भानेसे वह व्यक्त होती है ।
१. आत्मस्वरूप सहज-प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप है । ज्ञानलक्षणमें भी वैसी सदृश्य प्रत्यक्षता प्रगट है । जो अनुभवरूप है । निजरससे / भावनासे उसका वेदन होना वह अनुभव है ।
२. अपने परमेश्वरपदकी भावमें दूरी नहीं रखो परन्तु उसे समीपतासे भाने पर अर्थात् सहजपदकी प्रत्यक्षताको मुख्य करके स्वरूपरूप अवलोकन करनेसे आत्मवीर्यकी स्फुरणा सतेज होती है - उग्र होती है; और परोक्षताका विलय होकर स्वरूपका साक्षात्कार सधता है ।
- (३) गुप्त अर्थात् शक्तिरूप चैतन्यस्वभावको, शुद्ध परिणमन स्वभावरूप देखनेसे / भानेसे शक्तिका व्यक्त शुद्ध परिणमन होने लगता है । परिणमनकी शुद्धताका यह विज्ञान है । स्वभावकी महत्तामें अन्य सर्व जगत सहज गौण है । गौण करनेकी कृत्रिमता उस वक्त नहीं करनी पड़ती ।

(१४१)



जैसे दर्पणमें मोरको (प्रतिबिंब) देखनेसे मोर ही जाननेमें आता है - दिखता है परन्तु प्रतिबिंबको गौण करके दर्पणको देखनेसे वह दर्पण ही है - ऐसा दिखता है । वैसे ही स्वयंके ज्ञानमें परपदार्थ प्रतिबिंबित होकर दिखते हैं । वहाँ (ज्ञानमें) स्वमें 'परकी ओर' - (परलक्षसे) देखनेसे 'सिर्फ-पर' - अकेला पर दिखता है, ज्ञानको चूक जाना होता है । अतः स्वको भूलकर परकी ओर के खिँचावसे दुःख उत्पन्न होता है । यह ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोषसे उत्पन्न होनेवाला दुःख व अज्ञान है । सम्यक्ज्ञानमें तो पर पदार्थ जाननेके आनेके बावजूद भी, निजमें परपदार्थ पर (भिन्न) रूप जाननेमें आता है क्योंकि उस (परको जाननेके) समय भी निजमें निजको देखनेकी दृष्टि - मुख्यता है, निजमें निजका वेदन - परिणति है, जो कि सुखको उत्पन्न करनेवाली है । अतः सम्यक्ज्ञान परको जाननेके वक्त भी विपरीतताको नहीं साधता (बल्कि) भिन्न भावरूप रहता है । स्व. श्री बनारसीदासजीने सत्य ही कहा है कि 'ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जग मांही सहज वैरागी ।'

(१४२)



साधकदशामें हेय - उपादेयका विवेक सम्यक् प्रकारसे होता है । उसमें हेय तत्त्वकी / परतत्त्वकी हेयता व निजस्वरूपकी उपादेयताका गाढ़पना होता जाता है । जिसके फल स्वरूप साधक निर्विकल्प निज अमृत रसको पीता है, कि जहाँ हेय-उपादेयका द्वंद्व नहीं है - विकल्प नहीं है । इस प्रकारसे प्रयोजनकी सिद्धि है । इसके लिये प्रयोजनके तीक्ष्ण - सूक्ष्म दृष्टिकोण से हेय-उपादेयके विषयको अलग-अलग छाँटना (करना) वह कारणरूप है ।

(१४३)

आत्मभावना - स्वरूपप्राप्तिकी भावनामें सन्मार्गका बीज है । - (जैसे सन्मार्गका मूल सम्यक्त्व है वैसे ।) अंतरकी सच्ची भावनावाले मुमुक्षुजीवसे ही भेदज्ञान हो सकता है, दूसरेसे नहीं। भावनावाला ही स्वरूपको पहचान सकता है । और इसलिये भावनामें तथारूप रस होनेसे, परिणति जन्म लेती है । परिणति हुए बिना स्वरूपका उपयोग कैसे हो ? परिणतिके बिना जीव स्वरूपमें उपयोग जोड़ना चाहे तो भी वैसा हो नहीं सकता। पुनः जिसको आत्माकी भावना नहीं है, उसको संसारकी (रागकी) भावना है । उसका पुरुषार्थ / परिणति बाह्य दिशामें लगा हुआ / लगी हुई है । वह अंतर्मुख कैसे हो ?

परिणति बिना अंतर्मुख होनेका विकल्प वह यथार्थरूपमें पुरुषार्थ नहीं है; बल्कि ऊपर-ऊपरकी इच्छा है । (१४४)



मिथ्यात्वके सद्भावमें मति-श्रुतज्ञानका क्षयोपशम पर रस - वेदन बढ़नेमें निमित्त बनता है; वही क्षयोपशम सम्यक्त्वके सद्भावमें, कषायरस तूटनेसे व अकषाय स्वरूपमें स्थिरता - रस बढ़ जानेसे, स्वसंवेदनरस / आत्मरस बढ़नेमें निमित्तभूत होता है । - यह स्वसंवेदन पूर्ण स्वसंवेदनका ही अंग है - अनंतसुखका मूल है । साधकदशामें निज परम पदमें सुस्थित आत्मवैभवको देखनेवाला मति - श्रुत है । (१४५)



परिणाम स्व-आश्रयभावसे स्वरूप निवास करता है । परिणाम वस्तुका (मेरा) वेदन करके स्वरूपलाभ लेता है । स्वरूप अस्तित्वको ग्रहण करना वह स्वरूप लाभ है । परिणामकी शुद्धि करनेमें इतना ही कार्य है । उपयोगस्वभावीका उपयोगसे अभेदभावसे ग्रहण होना वह स्वरूपाचरण - विश्राम है ।

‘उवओगमओ जीवो’ ईति वचनात् । (१४६)



अनंत-सर्वगुणोंमें ज्ञानगुण मुख्य है । ज्ञान बिना वस्तु स्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता। अतः ज्ञान प्रधान है - उर्ध्व है । वस्तुस्वभावका प्रसिद्ध - अविकृत साकाररूप, वेदनरूप, ‘अनुभवरूप लक्षण’ ज्ञान ही है इसीलिये ज्ञानकी प्रधानता अबाधित व अविसंवादीत है। ज्ञान निज वेदनका (ज्ञानकी वेदकताका) कभी त्याग नहीं करता; परवेदनके अध्यासकालमें भी वेदनका त्याग नहीं होता और इसीलिये अज्ञानभावसे भी परका वेदन / भोगना हो नहीं सकता । निजवेदनको नहीं छोड़ता हुआ ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वभावके कारण स्व-वेदनमें रहते हुए परको जानता है - अर्थात् परपदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हुए जाननेमें आते हैं । उसमें

स्वकी अपेक्षासे पर है अर्थात् स्व-परपना परस्पर अपेक्षित है; अपेक्षा रखकर - अपेक्षापूर्वक - विविक्षा होती है - उस विविक्षासे वस्तुसिद्धि है। और निज ज्ञानसे स्वरूपानुभव है। (१४७)



'मैं ज्ञानमात्र हूँ' - इस प्रकार 'ज्ञानमात्र' भावमें अंतर सावधानीपूर्वक ज्ञानसे निजप्रत्यक्ष ज्ञानमय अस्तित्वका ग्रहण होना - वह प्रयोग है। इस प्रकारका प्रयोगाभ्यास साधकको अंतरमें चलता रहता है; उसमें 'ज्ञानमात्र'का विकल्प अथवा रटन करते जाना, ऐसा प्रकार - (वह प्रयोग) नहीं है। विकल्पसे अस्तित्वका ग्रहण भी नहीं हो सकता, जब कि ज्ञानकी प्रत्यक्षतासे वेदकतासे ज्ञानमय सत्ताका अनुभव, सूक्ष्म अंतर अवलोकनसे सधता है। कुछ भी 'करना' ऐसा करूँ-करूँ का विकल्प तो उपाधिरूप है। पुरुषार्थमें बाधकरूप है। विकल्पसे निरपेक्ष अर्थात् विकल्पसे पर / आगे जाकर ऐसा अवलोकन होना वह प्रयोग है। प्रयोगमें पुरुषार्थ है। प्रयोग पुरुषार्थसे होता है। विकल्पसे - रागसे कार्यसिद्धि नहीं है। पुरुषार्थसे ही कार्यसिद्धि है। (१४८)



निर्विकल्प समाधिरूप धर्मध्यान होनेके लिये ज्ञेयरूप पदार्थोंमें 'इष्ट-अनिष्टबुद्धि' मिटनी आवश्यक है। स्वयं - आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप है, अन्य पदार्थ सिर्फ ज्ञेयरूप है, कोई भी पदार्थ ज्ञानके लिये इष्ट-अनिष्ट नहीं है, ऐसा वस्तु - स्वरूप है; इस प्रकार ज्ञान सिर्फ जानने तक सीमित रहकर और ज्ञेयको 'मात्र ज्ञेय' के स्थानमें जानने पर अन्य पदार्थ ज्ञानमें इष्ट - अनिष्टरूप भासित नहीं होते; इसके कारण 'इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक' के राग-द्वेष नहीं होते; और विकल्प जाल मिटती है। और विकल्परस मिटनेसे धर्मध्यान होता है; धर्मध्यान होने पर निजानंदकी उत्पत्ति होती है। वीतरागी ज्ञानभाव - ज्ञाता-दृष्टाभाव होने पर परका प्रतिबंध मिटनेसे, स्वरूपकी समाधि उत्पन्न होती है - स्वरूपमें लीनता होती है; निराकुलता उत्पन्न होती है; कि जिसकी बराबरीमें इन्द्रादि संपत्ति रोगवत् (उपाधि) भासित होती है। उदयमें जुड़नेसे तो दुःख होवे ही होवे। (१४९)



आकुलतारूप दुःखका मूल अनादि अज्ञानरूप भ्रमभाव है। इस भ्रमभावसे ही अनात्मा (देह व राग) का अपने रूपमें अनुभवका अभ्यास चल रहा है। ऐसे विपरीत अभ्यासके कारण स्वयंका गुणनिधान परमपदरूप स्थान दिखता नहीं; अर्थात् विपरीत अभ्यासका अभाव हो, तब खुदका गुणनिधान परमपदरूप स्थान दिखनेमें आये, और भववासनाका विलय हो; तब जगतके नव निधानरूप विध-विध भोग-उपभोग सम्बन्धित सुख झूठ भासित होवे - कल्पित

भासित होवे । निज परमपदरूप सहजपदको भानेसे 'आत्मभाव प्रकाशित होते हैं और आत्मशक्तिकी वृद्धि होती है ।' - निराकूल सुखामृतका आस्वादन आता है । (१५०)



शास्त्र वचनरूप - वाचक शब्द वह द्रव्यश्रुत है । उस शब्दके वाच्यभूत स्वभावभावको द्रव्यश्रुतके निमित्तसे भाना वह भावश्रुत है अथवा श्रुतज्ञानमें स्वरूपके 'अनुभवकरण' को भावश्रुत कहा है । वह इस प्रकारसे :-

'परमात्मा उपादेय है' ऐसे द्रव्यश्रुतका वाच्य अर्थात् उसरूप भाव वह भावश्रुतरस है, उसको पीओ । उससे स्वरूप समाधि होती है और अमरपद सधता है । (१५१)



पूर्वकर्म अनुसार प्राप्त संयोगोंमें, वह संयोग प्रगटरूपसे परद्रव्यस्वरूप होने पर भी, उसमें अपनत्व मानकर, जीव अपनेमें सुखकी कल्पना करता है - यह सर्वथा झूठ है - सबसे बड़ा झूठ है; जिसका दंड चारों गतिमें परिभ्रमण है - और जन्म-मरणादि दुःख है । सुख तो चैतन्यके विलासमें होता है - सुखभंडारमें से सुख उत्पन्न होता है । (१५२)



मोह वशात्, जो मनरंजक परिणामोंको जीव करता है, वह झूठे आनंदसे अपने आपको ठगता है । अगर जीव स्वरस परिणाम करे अर्थात् आत्मरसका सेवन करे तो परभावकी प्रीति बिलकुल न करे (क्योंकि आत्मरस निराकूल शांतरस है - परभावकी मिठासमें आकुलता होती है ।) अनंतमहिमा भंडार स्वरूपका ज्ञानचेतनामें अपने रूपमें अनुभव करे तो अवश्य तिर जाये । (१५३)



आत्मार्थीका स्वरूप अर्थात् सम्यक्की यथार्थ भूमिकाके लक्षण :-

(१) लक्ष : जिसको एकमात्र मार्गप्राप्तिका लक्ष हो ।

(२) जिज्ञासा : जिसको अनंत जन्म-मरणसे-परिभ्रमणसे मुक्त होनेकी अपूर्व जिज्ञासा वेदनापूर्वक उत्पन्न हुई हो ।

(३) पूर्णताका ध्येय : जीवनमें संयोगी पदार्थोंकी प्राप्तिका ध्येय नहीं हो, परन्तु परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशाकी प्राप्तिका ध्येय हो ।

(४) भावना : अंतरकी गहराईसे उत्पन्न स्वरूप प्राप्तिकी अपूर्व भावना - जिसकी उत्पत्तिके पीछे राग-द्वेषकी भूमिका नहीं हो ऐसी वीतरागी भाव-भूमिका (अभिप्राय)के आधारसे उत्पन्न भावना हो ।

- (५) लगन : पूर्णताके ध्येयके प्रति पूरी लगनसे लगनेवाला हो ।
- (६) उत्साह : पूरे उत्साहसे आगे बढ़नेवाला हो ।
- (७) प्रयोजनकी मुख्यता : पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत की होनेसे, निज प्रयोजनके विषयमें सहज सूक्ष्म व तीक्ष्ण दृष्टिपूर्वक प्रवर्तन करनेवाला हो ।
- (८) खटक : सम्यक्की पूर्व भूमिकामें स्वभावके लक्ष्यसे उच्च कक्षाके शुभ विकल्प होनेके बावजूद भी, अनुभूतिके अभावके कारण अंदरमें जिसको खटक रहा करती हो।
- (९) यथार्थता : परिणतिमें रागरसरूप रंजितपना घटनेसे, एवं दर्शनमोहका रस घटनेसे मुमुक्षुके योग्य भूमिकाका ज्ञान निर्मल होनेसे सत्पुरुषके वचन समझनेमें शास्त्र वचनोंकी यथार्थता, अध्यात्मतत्त्वका रस, रुचि इत्यादि हो ।
- (१०) छटपटाहट : स्वकार्यके लिये छटपटाहट हो ।
- (११) उदयभाव बोझरूप : उदयके कार्य बोझरूप लगे, प्रवृत्ति करनी पड़े उसमें त्रास-थकान लगे, तथा अरुचिके कारण उदय जनित परिणामोंका बल घटता जाता हो।
- (१२) प्रयोजनभूतका रस : सत्समागममें प्रयोजनभूत विषय आनेके वक्त रस वृद्धिगत हो जाता हो ।
- (१३) अंतर अवलोकनपूर्वक तत्त्व अभ्यास : तत्त्वज्ञानका अभ्यास अंतर संशोधनपूर्वक - अंतर अवलोकनपूर्वक हो ।
- (१४) एक आत्माके सिवाय कुछ नहीं चाहिए : जिसको इस जगतमेंसे कुछ भी नहीं चाहिये, सिर्फ एक आत्मा ही चाहिये, ऐसी दृढ़ वृत्तिवाला हो ।
- (१५) प्रयोगसे निर्णय : तत्त्वज्ञान - समझको शीघ्र प्रयोगकी कसौटी पर चढ़ाकर, समझकी यथार्थता करता हो ।
- (१६) उदयकी व्यर्थता : उदयके कार्योंमें (करने पड़े उसमें) व्यर्थ अमूल्य जीवन गँवाना पड़ता है ऐसा लगता हो, ऐसा जिसका अभिप्राय हो ।
- (१७) प्राप्त गुणदशाकी गौणता : चलते हुए परिणामनमें मार्गकी समीपता आदि विकास होनेके बावजूद भी, पूर्णताका लक्ष होनेसे जिसको संतोष नहीं होता परन्तु प्राप्त गुण गौण हो जाते हो, और उच्चदशाकी / पूर्णताकी अभिलाषा जिसको रहा करती हो ।
- (१८) गुण महिमा - मुख्यता : जिसको गुणकी महिमा व गुणकी मुख्यता रहा करती हो ।
- (१९) नीरस परिणाम गहरी जिज्ञासावश : सत् स्वरूपकी गहरी जिज्ञासाके कारण, सर्व उदयप्रसंगोंमें चित्त नहीं लगता हो और नीरसता आ गयी हो ।

(२०) तीव्र रुचि : तीव्र व गहरी रुचिपूर्वक प्रयोजनभूत विषयको सूक्ष्म उपयोग से पकड़ता हो ।

(२१) गहरा मंथन : मूल वस्तुस्वरूपको गहरे मंथनपूर्वक समझनेकी पद्धति हो, साथ ही साथ आत्मरुचिकी पुष्टि होती हो ।

(२२) सत्पुरुषकी अंतर पहचानपूर्वक महिमा : सत्पुरुषोंके वचनोंमें रही 'अनुभवकी' विधि की गंभीरताको 'गहन चिंतवन पूर्वक खोजता हो' और जिसके कारण सत्पुरुषोंके वचनोंमें रहे पारमार्थिक रहस्यको समझ सकता हो, अतः सत्पुरुषोंकी अंतर परिणतिकी पहचान होनेसे सत्पुरुषकी 'महिमा जिसको हृदयगत हुई हो ।'

(२३) सर्व उद्यमसे पुरुषार्थ : पूरी शक्तिसे (शक्तिको छिपाये बिना) समग्ररूपसे जोरसे उल्लासपूर्वक प्रयत्न - पुरुषार्थ करता हो ।

(२४) विकल्पमें दुःख - भेदज्ञानसे : भेदज्ञानका प्रयास करनेवाला हो और तब विकल्पमात्रमें दुःख अंदरसे लगता हो, और आत्मस्वभावके विकल्पसे भी अंदरसे हटनेकी वृत्ति हो, (ऐसी स्थिति अनुभवकी समीपतावाले जीवको होती है ।)

(२५) कहीं भी सुहाता नहीं हो : उदयभाव बोझरूप लगे, अतः उदय प्रसंगोंमें कहीं भी सुहाता नहीं हो ।

(२६) स्वकार्यकी शीघ्रता-वृत्ति : स्वकार्य 'बादमें करूँगा' ऐसा प्रकार परिणामनमें नहीं हो, परन्तु अगर अभी हो सकता हो तो बिना विलंब किये इसके लिये तत्पर हो । अर्थात् शीघ्रता / सावधानीमें 'बादमें करूँगा' उस प्रकारका अरुचि - सुचक प्रकार नहीं हो ।

(२७) प्रत्यक्ष सत्पुरुषके प्रति एकनिष्ठा, सर्वार्पणबुद्धि : प्रत्यक्ष-योगमें सत्पुरुषके सर्व विकल्पको अनुसरनेका भाव रहता हो, एकनिष्ठासे आज्ञाका आराधन करनेका भाव हो, अर्थात् सर्वार्पणबुद्धिसे वर्तता हो ।

(२८) गुण प्रमोद : स्वयंको गुण प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे, अन्य जीवमें गुण दिखे तब प्रमोदभाव सहज आता हो ।

(२९) अंतरसे निवृत्त होनेकी वृत्ति : अंतरमें निवृत्त होकर स्वकार्य करनेकी लगन हो ।

(३०) ब्रह्मचर्यकी चाहना : संकड़ो - हज़ारो विकल्पोंकी परंपराका मूल (सर्जक) ऐसे अब्रह्मचर्यको जानकर, विकल्प जालकी वृद्धिको अटकानेवाले ब्रह्मचर्यकी चाहना रखता हो ।

(३१) मध्यस्थभावसे निजदोष देखनेवाला : स्वयंके दोषको अपक्षपातरूपसे देखनेके पीछे, दोषको मिटानेका दृष्टिकोण हो, ज्ञानमें मध्यस्थता हो जिसके कारण स्वच्छंदकी उत्पत्ति नहीं हो ।

(३२) एकांत प्रिय : एकांत-प्रियता हो (अनेक अर्थात् बहुजन परिचय आत्मसाधनाको प्रतिकूल निमित्त है ।)

(३३) आहार-विहारमें वैराग्य / नियमितता : आहार, विहार व निहारमें नियमित हो, जिसके कारण देहाश्रित बाह्यभाव नियमित (मर्यादित) हो; जिसका रागरस मंद हुआ हो, उसको यह सहज साध्य है; उपरोक्त विषयमें रागरसके कारण अनियमितता सहजरूपसे प्रवर्तमान रहे, ऐसा प्रकार नहीं हो, क्योंकि आत्मार्थी सहज वैराग्यवान होता है ।

(३४) खुदकी गुरुताको दबानेवाला : आत्मार्थी जीव सामान्य मनुष्यसे विशेष योग्यतावान होनेके बावजूद भी मान-प्रसिद्धिसे दूर रहना चाहता है, अतः स्वयंकी महत्ताको छिपाता है और वह भी कृत्रिमता किये बिना छिपाता है ।

(३५) मुक्तपनेका मूल्यांकन : मोक्ष एवं मोक्षमार्गकी महत्ता वास्तविकरूपसे समझमें आयी होनेसे (चारोंगतिके सर्व दुःखका अभाव व अनंत समाधि सुखकी प्राप्ति व प्राप्तिके साधनकी कीमत (मूल्यांकन) समझकर आदरबुद्धि उत्पन्न हुई हो ।)

(३६) जागृतिपूर्वकके अवलोकनसे नीरसता : आत्मजागृति उत्पन्न हुई हो, अर्थात् जागृतिपूर्वक निजभावोंका अवलोकन सूक्ष्मरूपसे होनेसे पररस - रागरस कम हुआ हो ।

(३७) प्रयोजनके लक्षसे शास्त्र वचनोंका अवगाहन : शास्त्रमें आनेवाले सर्व प्रकारके न्याय व अनेक अपेक्षित कथन, एवं कथनकी विविध प्रकारकी विविक्षाओंको - उन सभीको आत्महितके प्रयोजनके लक्षपूर्वक समझनेकी पद्धति हो । (जिससे विपर्यासपना या अन्यथापना समझमें नहीं हो।)

(३८) उदय प्रसंगोंमें निरुत्साह (छटपटाहटके वशात्) : स्वकार्यके लिये छटपटाहट होनेके कारण, अन्य उदयमान प्रसंगोंमें निरुत्साही भावसे जुड़ता हो ।

(३९) गति निःशंकता : गति निःशंकता आई हो, अर्थात् आगामी भवोंमें नीच गति (नर्क या तिर्यच) होनेके संबंधमें शंका भी नहीं पड़ती हो, एवं स्वयंकी (मुक्ति-दशाकी) योग्यताके बारेमें जो निःशंक हो ।

(४०) सुखाभासका ज्ञान, आश्रयबुद्धि-वासनाके टलनेका कारण : अन्य द्रव्य-भावमें सुखकी कल्पनाका स्वरूप समझमें आया हो, अतः उसकी निवृत्ति हेतु (सावधान) प्रयत्नवान हो, कि जिसके कारण जगतके किसी भी पदार्थमें सूक्ष्मरूपसे भी सुखकी कल्पना (वासना) नहीं रहे, अथवा किसी भी इन्द्रियविषयकी अपेक्षा परिणतिमें नहीं रहा करे, एवं शुभ परिणामोंमें अथवा शांता वेदनीके उदयकालमें आश्रयबुद्धि रह नहीं जाये ।

(४१) स्वच्छंदका अभाव : स्वच्छंद महादोष है, जो आत्मार्थीकी भूमिकाका नाश करनेवाला

है, जिसके अनेक लक्षण - प्रकारोंको समझकर उसको मिटाना अथवा उसप्रकारके परिणाम जिसको नहीं हो; ऐसे कुछएक प्रकारोंका संक्षिप्त विवरण :-

(१) 'मैं समझता हूँ' - ऐसा अहंभाव : परलक्षी शास्त्रके उघाड़में 'मैं समझता हूँ' ऐसा अहंभाव; और वैसे अहंकारवश ज्ञानीके वचनकी तुलना अपने अनुसार करना ।

(२) खुदके-परके दोषका पक्षपात होना : खुदके 'दोषका पक्षपात होना'- बचाव होना, एवं जिसके प्रति राग-ममत्व हो ऐसे दूसरोंके 'दोषका पक्षपात होना' ।

(३) ज्ञानीके वचनमें शंका होना : सत्पुरुषके वचनमें शंका होना ।

(४) ज्ञानीके वचनमें भूल देखना : सत्पुरुषके वचनमें भूल देखनेका / खोजनेका परिणाम होना ।

(५) मानीपना - लोकसंज्ञा रहती हो : जहाँ-जहाँ मान मिले वहाँ आकर्षण रहे अथवा रुचे; मान मिलनेके हेतुसे मन-वचन-कायाकी प्रवृत्ति होना - समाजकी मुख्यता होकर आत्मसाधन गौण हो (जिसे शास्त्रमें लोकदृष्टि कही है ।) जहाँ बहुमान हुआ हो - होता हो, ऐसे समूहमें वह मान बना रहे - उस प्रकारका अभिप्राय अथवा परिणति रहे तद्अनुसार शुभ (?) की प्रवृत्ति करे अथवा स्वच्छंद तीव्र हो जाने पर अनैतिक अशुभ प्रवृत्ति भी करे ।

(६) सत्पुरुषके उपकार प्रति कृतघ्नी होना : सत्पुरुषके उपकार प्रति कृतघ्नी होना ।

(७) सत्पुरुषके वचन प्रति अप्रीति : सत्पुरुषके वचनमृत प्रति अचल प्रेमका अभाव ।

(८) सत्पुरुषके प्रति परम विनयकी ओछप : प्रत्यक्ष सत्पुरुषके प्रति परम विनय-अत्यंत भक्तिका अभाव । (सामान्य विनय होना, ऐसी कमी भी योग्य नहीं है ।)

(९) सत्पुरुषोंके उदयभाव-कार्यमें अपने अनुसार कल्पना रहनी ।

(१०) सत्पुरुषके आचरणमें रागकी - चारित्रमोहकी मुख्यतासे दोष देखना : सत्पुरुषके बाह्य आचरणमेंसे चारित्रमोहके दोषको मुख्य करना ।

(११) शास्त्रकी धारणाकी मुख्यतामें अध्यात्म गौण होना - मार्गकी सूझका अभाव : बाह्य ज्ञान - शास्त्रकी धारणा - पर झुकावके कारण, अंतरमें मार्गकी सूझ नहीं पड़ना, अध्यात्मकी गौणता होना ।

इत्यादि प्रकारके परिणाम स्वच्छंदकी तीव्रता अथवा मंदताकी विद्यमानताके द्योतक है ।

(४२) असरलता - हठाग्रहका अभाव : असरलता, हठाग्रह, जिद, - इस प्रकारके भाव नहीं हो, क्योंकि परम सरलतारूप ऐसा अंतर्मुखताके झुकावको यह असरलभाव अवरोधक है ।

(४३) क्षयोपशमकी महत्ताका अभाव : क्षयोपशमकी विशेषताके कारण बड़प्पनकी इच्छा -

भाव नहीं रहता हो ।

(४४) क्रियाकांड / परंपराके आग्रहका अभाव : परंपरा व क्रियाकांडका आग्रह नहीं रहता हो ।

(४५) ज्ञानीके वचनमें कल्पनाका अभाव : ज्ञानीके वचनका कल्पित अर्थघटन नहीं करता हो ।

(४६) सत्पुरुषसे विमुखताका अभाव : सत्पुरुषसे विमुख होनेका किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं करे । उसके लिये अपकीर्तिभय, समाजभयको गौण करता हो ।

(४७) प्रमादका अभाव : प्रमाद अर्थात् स्वकार्यमें उल्लासित वीर्यका अभाव रहता हो तो वैसे परिणाम ऊपर-ऊपरसे शांत (कषायकी मंदतावाले) दिखते हो तो भी वे कषायके भारसे प्रमादित हुए हैं - ऐसे परिणाम न हो ।

(४८) कुतर्क, शंकाशीलता, विभ्रमका अभाव, विकल्पवृद्धि हो ऐसी रीतका अभाव; अपरिपक्व विचारोंका अभाव; अधूरा निश्चयका अभाव; विचलितपनेका अभाव : शास्त्र अध्ययन, तत्त्व श्रवण, तत्त्वचर्चा आदिमें ऐसा प्रकार नहीं होता कि जिसके कारण विकल्पवृद्धि हो, अधूरा निश्चय, अपरिपक्व विचारदशा, शंकाशीलता और विभ्रम उत्पन्न हो, कुतर्क उत्पन्न हो व भावमें विचलितपना रहे, ऐसे सभी प्रकारका अभाव हो ।

(४९) लौकिक अभिनिवेशका अभाव; शास्त्रीय अभिनिवेश (प्रशस्त-अप्रशस्त) का अभाव : लौकिक अभिनिवेश व शास्त्रीय अभिनिवेश से दूर रहता हो, वह निम्न प्रकारसे :-

(अ-१) लोकमें जो-जो वस्तु व बातोंका महत्व गिना जाता है, उसकी महात्म्यबुद्धि होना वह लौकिक अभिनिवेश ।

(ब-१) आत्मार्थको छोड़कर शास्त्रकी मान्यता, व शास्त्रकी पढाई-धारणामें संतोष, अप्रयोजनभूत विषयमें जानकारीकी महत्ता, और इसके कारण आत्मार्थकी गौणता इत्यादि प्रकार जो होते हैं वह शास्त्रीय अभिनिवेश, और

(ब-२) प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमको गौण करके, उसकी बराबरीमें स्वयंके शास्त्र अध्ययनको गिनना अथवा शास्त्रको ऊँचे गुणस्थान स्थित पुरुषोंके वचन गिनकर उस पर ज्यादा जोर देना वह अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है । (यहाँ पर शास्त्रकी मुख्यता होने पर भी 'अप्रशस्त' - विशेषण लगाया है, वह गंभीर वचन / भाव है । इस प्रकारके भावमें चलनेवाले जीव - अवश्य कुछ न कुछ अप्रशस्त (लौकिक) प्रयोजन वश प्रवर्तमान होते हैं। ज्ञानीकी नज़रमें ऐसी गिनती (मर्यादाज्ञानका नियम) होती है, जो नियमबद्ध है।

(५०) संदिग्ध अवस्थाका अभाव, जिसके कारण सत्पुरुषके विषे संदेह हो - उसका

अभाव : संदिग्ध अवस्था नहीं हो, संदिग्ध अवस्थाके कारण (१) ज्ञानप्राप्तिके लिये अनेक ग्रंथोंका अध्ययन करने पर अनेक प्रकारके संदेहकी उत्पत्ति होना, जिसके कारण प्रयोजनभूत विषय पर लक्ष नहीं जाता । प्रायः अप्रयोजनभूत विषय पर वजन रहता है और उसमें अटकता है । (२) सत्पुरुषका प्रत्यक्ष समागम होनेके बावजूद भी पहचान नहीं हो, सूक्ष्मरूपसे सत्पुरुषके मन, वचन, कायाके उदय परिणामके प्रति संदेह रहना अथवा कहीं न कहीं अविश्वास - अप्रतीतिके योग्य बात लगना;

(५१) भेदकी रुचिका अभाव अथवा अभेद - परमार्थमें अरुचिका अभाव : ज्ञानके भेद-प्रभेदमें (गुणभेद, पर्यायभेद, अनेक प्रकारके न्याय, नयज्ञान, कर्मबंध - उदय- सत्ताके भेदोंमें) रुचि होनेसे अभेद परमार्थ विषयमें रस उत्पन्न नहीं हो - ऐसा नहीं होता ।

(५२) बाह्य ज्ञानको ज्ञान प्राप्ति (मानना) अथवा अतिपरिणामीपनेका अभाव : शास्त्रके बाह्यज्ञानमें ज्ञानप्राप्ति मान ले, अतः सम्यक् परिणमनके अभावमें भी अपना महंतपना मान लेना, कोई दूसरा माने तो अच्छा लगना - जिसको अति परिणामीपना कहते हैं, जानकारीका / ज्ञानका प्रदर्शन करनेका भाव इत्यादि प्रकार नहीं हो ।

(५३) क्षयोपशम होनेसे जिज्ञासा मिट जाये ऐसी स्थितिका अभाव : ज्ञानके क्षयोपशममें निश्चय - व्यवहार आदि समझमें आये, परन्तु फिर भी जब तक मार्गकी विधि पकड़में नहीं आये तब तक अथवा साक्षात् अनुभूति नहीं हो तब तक जिज्ञासाका अभाव नहीं हो ।

(५४) निंदा - प्रशंसा हेतु प्रवृत्तिका अभाव : शास्त्र संबंधी - (देव-गुरु-सत्पुरुष संबंधी) कोई भी प्रवृत्ति मानार्थ नहीं हो, तीर्थकी - शासनकी कोई भी प्रवृत्तिमें खुदके मानका लक्ष नहीं रहता हो - नहीं हो, दृष्टांत रूपसे श्रीमद्गीताका वचन - 'निंदा-प्रशंसा हेतु विचारवान जीव प्रवृत्ति नहीं करता।'

(५५) क्रिया द्वारा असत् अभिमानका अभाव : क्रिया संबंधी मिथ्या-आग्रह नहीं हो, कि जिसके कारण असत् अभिमान हो अर्थात् देहात्मबुद्धि दृढ़ हो और व्रत-संयमादिकी दैहिक क्रियामें आत्माकी क्रिया माननेसे असत्में सत् मानना हो अथवा मानार्थ बाह्यक्रिया नहीं हो ।

(५६) क्रिया द्वारा सिद्धिमोहका अभाव : बाह्य अनुकूलता (पुण्यके फलकी) अभिलाषासे अथवा सिद्धिमोहरूप निदानभावों सहित क्रिया नहीं करता हो ।

(५७) अध्यात्मका व्यामोह अथवा शुष्क अध्यात्मीपनेका अभाव : बाह्यलक्षसे जानकारी करनेके लिये अथवा अन्यथा प्रकारसे तत्त्वका ग्रहण होनेसे, अकेला अध्यात्म चिंतवन अर्थात् शुष्क अध्यात्मीपना (भावभासन बिना - ज्ञानरस बिना) हो जाने पर विकल्प व अध्यात्म भाषाका रस - वाणीका रस - जो कि पुद्गल रस है - वह अध्यात्मका व्यामोह है । ऐसा प्रकार नहीं

हो ।

(१५४)



दिसम्बर - १९८५

मुमुक्षुजीवको आत्मस्वरूपकी महिमाके भाव होना स्वाभाविक है। परन्तु स्वरूपकी पहचान बिना - सिर्फ ओघे-ओघे महिमा हो तो वह कार्यकारी नहीं है । पहचान - भावभासन रहित स्वरूप महिमाके कर्तव्यकी समझसे, कृत्रिमतावाले भावसे भी जो महिमा होती है वह भी कार्यकारी नहीं है । परन्तु स्वरूपके यथातथ्य प्रतिभासके कारण आत्माकी महिमा उत्पन्न होना स्वाभाविक है । वहाँ स्वरूपकी मुख्यता होने पर स्वरूप सम्बन्धी विकल्प / राग बढ़े - रहे, तब तक शुद्धनयका पक्ष है । यह नयपक्षका विकल्प अनादिसे चली आ रही एकत्वबुद्धिके सद्भावके कारण सम्यक् उत्पत्तिमें - निर्विकल्प होनेमें - बाधक है । अतः वैसे रागकी वृद्धि भी इच्छनीय नहीं है, परन्तु ज्ञानमें विकल्पकी आड़ बिना अवभासित होनेवाला महिमावंत स्वरूप, अपूर्व आत्मलक्षको उत्पन्न करता है । वहाँ शुद्धस्वरूपके लक्षसे ज्ञानबल वृद्धिगत होता है, विकल्पका बल टूटता जाता है । वह स्वरूपकी सच्ची महिमा है । अर्थात् सूक्ष्म विकल्प होने पर भी उस पर लक्ष नहीं होता । एक ज्ञानमात्रमयपनेसे - व्याप्य व्यापक भावसे - ज्ञानके बलसे स्वयंका रागरहित अनुभव होने पर बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागकी उत्पत्ति सहज बंध हो जाती है । अर्थात् वीतरागस्वरूपकी महिमाका विकल्प / राग उत्पन्न होनेके बावजूद भी और महिमा बढ़ने पर भी, राग बढ़ता नहीं है बल्कि टूटता है । क्योंकि रागसे भिन्नपनारूप भेदज्ञान वृद्धिगत होकर रागको मिटाता है । वीतरागस्वरूपके लक्षसे उत्पन्न पुरुषार्थसे राग मिटता है ।

(१५५)



विपरीतके परिहारपूर्वक अविपरीतपनेकी - यथार्थपनेकी - सिद्धि अर्थात् उपलब्धि है। नौ तत्त्वके श्रद्धानकी परिभाषामें यह प्रकार प्रसिद्ध है । वहाँ ऐसा स्पष्ट किया है कि :-

विपरित अभिनिवेश रहित नौ तत्त्वका श्रद्धान, वह यथार्थ श्रद्धान है, उसमें अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धि अथवा एक तत्त्वमें अन्य तत्त्वका अध्यास (अन्यथा भासित होना) वह मिथ्याश्रद्धा, विपरीत अभिनिवेशको प्रदर्शित करता है । वैसे ही शास्त्रज्ञानकी यथार्थता - आत्मलक्षपूर्वक शास्त्रका अध्ययन होता है उसमें है ।

ऐसा यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होने पर कुदेवमें देवबुद्धि, लाभबुद्धि नहीं होती और सर्वज्ञदेवके प्रति अनादर, अविवेक अथवा निषेध नहीं आता । कोई भी लौकिक कारणसे निषेध आनेसे गृहीत मिथ्यात्वका दोष उत्पन्न होता है ।

वैसे ही भावलिंगी गुरुके सिवा गुरुबुद्धि नहीं हो एवं द्रव्यलिंगी या लिंगाभासी - अन्य लिंगीके प्रति गुरु / पूज्य बुद्धिसे, धर्म बुद्धिसे-त्रियोगसे प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि उसमें विपरीत अभिनिवेश होता है।

वैसे ही सुशास्त्र व कुशास्त्रके बीच विवेक कर्तव्य है। कुशास्त्र माने अन्यमतके शास्त्र अथवा मिथ्यादृष्टिने रचे हुए शास्त्रोंके प्रति श्रद्धा - विनय रखकर, सत्शास्त्रोंको पढ़े - सुनाये तो उसमें लाभ नहीं होता।

वैसे ही, सत्पुरुषके प्रति श्रद्धा, विनय होनेके बावजूद भी, असत्पुरुषमें - उसके वचनमें श्रद्धा, विनय करनेसे अयथार्थता / विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न होता है। और प्रत्यक्षयोग- अयोगरूप हो जाता है।

उपरोक्त विषयका मुमुक्षुजीवको, विचारवान जीवको गंभीरतासे विचार करने योग्य है। (१५६)



पात्रता :

१. जिसे एकमात्र निजस्वरूपके सिवा जगतमेंसे कुछ भी नहीं चाहिए - यह विशिष्ट प्रकारकी पात्रता है।

२. सत्पुरुषके चरणोंका इच्छुक, एकनिष्ठासे सत्पुरुषकी आज्ञा शिरोधार्य करनेवाला वर्तमान पात्र है।

३. पात्र जीवको स्वरूप विचार, चिंतन आदि चलने पर भी स्वानुभवके अभावकी खटक रहा करे और असंतोष रहता है।

A-३. अनेक प्रकारके मोहासक्ति जन्य परिणाम होने पर उनमें उलझनका अनुभव होना, यह पात्रताका सूचक है।

४. गुणसे उत्पन्न सुखकी रुचिवाला और गुणग्राही।

५. उदयभावमें कहीं न रुचे, इसलिए उदयभावोंमें जोर-उत्साहका अभाव। पात्रतावश सहज ऐसा होता है।

६. क्षयोपशमज्ञानसे सम्मत किये बोधको शीघ्र प्रयोगमें लानेवाला भी वर्तमान पात्र है।

७. जिसको दर्शनमोह मंद (शिथिल) होनेसे पदार्थके यथार्थ निश्चय करनेकी क्षमता प्रगट हुई है। वह उत्तम पात्र है।

‘स्वरूप निर्णय वह पात्रता है।’ (पूज्य गुरुदेवश्री वचनामृत - १९)

८. शास्त्रवचनोंकी यथार्थ जानकारी सहित यथायोग्य स्तरके व्यवहार-परिणाम होने पर भी उसका / व्यवहारका रस न चढ़ जाये, ऐसी जागृति वर्तती हो।

९. जगतकी मान-सम्मानवाली वस्तुओं और बातों-प्रसंगोंकी महिमा जिसे न आती हो।
१०. 'स्वभाव' सुनते ही रुचिको पोषण मिले, वृद्धि होवे। स्वभावको प्राप्त किये बिना कहीं भी चैन न पड़े, सुख न लगे, उसे लेकर ही छोड़े - ऐसी वृत्तिवाला जीव वर्तमान पात्र है।
११. सूक्ष्म अंतर अवलोकनपूर्वक भेदज्ञानका पुरुषार्थ करनेवाला वर्तमान पात्र है।
१२. उपकारी सत्पुरुषके प्रति अत्यंत भक्तिवंतता।
१३. विषय-कषायके तीव्र-अहितरूप परिणाम होने पर जिसे घबराहट होती हो।
१४. प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषयोंका अन्तर समझनेकी क्षमतावाला।
१५. अप्रयोजनभूत विषयोंके प्रति उपेक्षा-उदासीनता वर्तती हो व प्रयोजनभूत विषयोंकी गहराईसे गवेषणा हेतु तत्परवृत्तिवन्त और निज प्रयोजनको सिद्ध करनेका पुरुषार्थी।
१६. प्रतिकूल प्रसंगमें जिसके परिणाम खराब - कुमार्गगामी न हो और सहज आत्महितमें जागृत रहे।
१७. निजहितकी जितनी गरज उतनी पात्रता विशेष। - यह पात्रताका नापधोरण है।
१८. भवभ्रमण-भीतिवन्त अर्थात् स्वयंके जन्म-मरणके दुःखकी जिसे दया (स्वदया) उत्पन्न हुयी हो।
१९. आत्म-लक्ष्यी परिणामवाला।
२०. भावना-प्रधान परिणमनवाला अर्थात् भीगा हुआ - सिक्त हृदयवन्त - स्वरूपकी अपूर्व भावनावाला।
२१. मध्यस्थ-निष्पक्ष ज्ञानका अभ्यासी व मात्र सत्यका आग्रही तथा अभिलाषी।
२२. स्वरूप-भावनापूर्वक अन्तरमें मार्गका शोधक - भवचक्रसे छूटनेके मार्गकी शोध करनेवाला।
२३. स्वयंकी गुरुताका गोपन करनेवाला।
२४. उदय प्रसंगोंमें अपना समय बरबाद न करनेवाला।
२५. परमार्थकी बात सुनते ही जिसे चोट - गहरी चोट लगे।
२६. निरन्तर सत्की शोधकवृत्तिवाला।
२७. स्वरूप प्राप्तिके अभावमें व्यतित हो रहे आयुष्यके प्रति खेदके परिणाम अर्थात् बहुत देर हो रही है, ऐसा लगा करे।
२८. भवकी शंका न हो - मोक्षके पात्र ही हूँ - ऐसी मोक्षकी भनक आती हो। कोई बाह्य क्रियाकांड या शास्त्र पठनसे जीव मार्गको प्राप्त नहीं कर सकता, सिर्फ पात्रतासे

ही जीव प्राप्त कर सकता है। अतः पात्रताका महत्त्व समझने योग्य है। (१५७)



जैसे लोकमें पराक्रमी पुरुषको नेताके स्थानमें स्थापित किया जाता है और लोग उनका अनुसरण करते हैं । जो स्वयंके पराक्रमसे खुद नेता हुआ है, वह दूसरोंके सहयोगसे नेता नहीं हुआ । दूसरे लोग तो उस पराक्रमी पुरुषका गौरवपूर्वक अभिवादन करते हैं, फिर भी (परन्तु) जगतमें उस प्रकारकी प्रसिद्धिको पुण्यकी अपेक्षा है ।

जब कि आत्माका अध्यात्ममार्ग तो लोगोंसे निरपेक्ष होकर स्वयंके अंतर पुरुषार्थसे अंदरमें विचरनेका है । उसमें लोकोत्तर पराक्रम है, जो कि जगतसे और पुण्यसे निरपेक्ष है । यह मोक्षमार्गका अलौकिक गौरव है । अगर मोक्षमार्गी जीवको (पूर्व पुण्यका उदय हो तो) भी सबलोग मानते हो, बहुमान करते हो, प्रशंसादि करते हो, तो भी खुद वैसे लोगोंका प्रेमसे - रागसे परिचय नहीं करता, (बल्कि) प्रशंसा आदिसे निरपेक्ष रहकर अंतरमें विचरता है। अगर खुद रागसे परिचय करता है, अथवा पहले हो गये परिचयमें वृद्धिका प्रयास करता है - अथवा खुद ऐसी अपेक्षा रखे तो खुदका ही पतन हो जाय - क्योंकि परकी अपेक्षाबुद्धि वही निर्बलता है । जो कि अंतर-पुरुषार्थ व निज अनंत सामर्थ्यसे विरुद्ध - विराधक भाव है । (१५८)



कोई महाभाग्य (!) - महापात्र जीवको छोड़कर प्रायः मनुष्य जीवने अनंतकालसे सत्पुरुषको नहीं पहचाना है । पहचाननेकी योग्यता भी प्राप्त नहीं हुई है । - इसलिये अनंतबार (भूतकालमें) सत्पुरुष मिलने पर भी जीवको प्रत्यक्ष सत्पुरुषका योग-अयोग समान ही रहा है; कि जिस योगमें जीव जन्म-मरणके चक्करसे छूट सकता है । इसे वास्तवमें ही 'विधि' की करुणता समझनी होगी ।

इस प्रकार अनंतकालके परिभ्रमणका नाश होनेका योग वृथा नहीं हो, इस हेतुसे निस्पृह भावसे व निष्कारण करुणा भावसे कोई प्रसिद्ध महात्मा - अन्य सत्पुरुषकी ओर अंगूली निर्देशन करते जाते हैं । वह उनका अनुपम व अनंत उपकार है। सत्पुरुषको पहचाननेकी क्षमता नहीं हो ऐसे जीव सामान्यतः पूर्वग्रहपूर्वक सत्संगकी उपासना करते हैं। वहाँ 'यह सत्पुरुष है' ऐसा पूर्वग्रह बांधकर - अंतरसे स्वीकार करके, अर्पणता पूर्वक समागम करनेसे, योग्यता प्राप्त होकर जीव निज कल्याण साधनेमें अग्रेसर होता है । ज्ञानीकी पहचान बिना, जब सत्समागम प्राप्त होता है तब - तत्त्वज्ञानके श्रवणकालमें 'कोई विद्वान तत्त्वचर्चा कर रहे हैं' - ऐसे पूर्वग्रहपूर्वक प्रायः सत्संगकी उपासना होती है । और इसलिये योग्यता रुक जाती है क्योंकि उसको

पूर्वग्रहके कारण यथायोग्य महिमा नहीं आती । इसलिये धर्मबुद्धिवान जीवको यानी कि आत्मार्थी जीवको - ज्ञानीका अन्यज्ञानीके प्रति निर्देश परम उपकारी हो जाता है । (१५९)



आत्माके गुणोंका परिणमनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है । यद्यपि प्रत्येक गुण स्वयं अनंत शक्तिमय है, परन्तु परस्पर निमित्त भी होते हैं । अथवा कोई-कोई गुणस्थानमें अविनाभावसे सुमेलपूर्वक परिणमन हो ऐसा वस्तुका स्वरूप है, उसमें द्रव्यकी अखंडता कारणभूत है ।

यद्यपि वस्तु स्वरूपसे, तीनोंकालमें सभी साधकजीवको धर्मका मूल - ऐसा सम्यक्दर्शन समान है, और दृष्टिका विषय भी सभीको एक सरीखा है, साथमें सम्यक् पुरुषार्थका परिणमन भी अविनाभावीरूपसे होता है, फिर भी पुरुषार्थ सबका एक सरीखा नहीं होता, ऐसा पुरुषार्थका परिणमन स्वतंत्र है । पुरुषार्थके अनुरूप सभी गुण खिलते हैं - अर्थात् सभी गुणका विकास होनेमें पुरुषार्थ निमित्त है, अतः पुरुषार्थके संबंधमें गहन गवेषणा कर्तव्य है । (१६०)



मुमुक्षुको पुरुषार्थकी मंदताके कारण अगर शुद्धोपयोगमें नहीं पहुँच सके तो शुभ परिणाम हो जाते हैं, परन्तु उस प्रकारसे उत्पन्न शुभका आग्रह नहीं होता, तथापि वैसे शुभभाव उच्चकक्षाके होनेके बावजूद भी उसमें रुकनेकी चाह भी नहीं होती । इस परिस्थितिमें भावना प्रधान परिणमन होनेसे, मुमुक्षुका हृदय भावनासे भीगा हुआ होता है । और वह पापसे भयभीत होता है इसलिये शुभसे हटनेके प्रयत्नमें, स्वच्छंदभावसे परिणमन नहीं करता । (१६१)



सत्पुरुषके वचनमें आत्महित होनेका पूरा निमित्तत्व होता है । लक्ष्य-स्वरूपका बोध होनेमें वह अचुक (अवश्य) निमित्तभूत होता है । अगर जीवकी तथारूप पात्रता अर्थात् योग्यता हो तो अवश्य कार्यसिद्धि होती है । अहो ! निजपूर्ण वीतराग स्वभावके प्रति जोशपूर्वक प्रगटित ऐसी वाणी !! ऐसी वाणी अमोघ - रामबाण ही होवे न ! वह निष्फल कैसे जाय ? उसकी सफलताके साथ कुदरत बंधी हुई है, अतः यह वाणी भी (व्यवहारसे) पूज्य है । (१६२)



सामान्यतः संयोगकी अनुकूलतामें जीव खुशी होता है और प्रतिकूलतामें दुःखी होता है - ये दोनों प्रकारके भाव - पापभाव है । अतः हर्ष-शोकको क्रमशः इष्ट-अनिष्ट मानकर जीव दुर्गतिमें जाता है, जो कि पापका फल है । (१६३)



अनादिसे जीव रागका आधार लेकर परिणमन कर रहा है । 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' - उस

प्रकारसे अगर ज्ञानका आधार लेनेमें आये तो ही रागसे भिन्न पड़ सकता है । रागसे भिन्न होनेमें इस प्रकारकी कार्यपद्धति अनिवार्य है । जिसे समयसारके निर्जरा अधिकारमें 'ज्ञानगुण' कहा गया है । इसके अलावा दूसरा कोई उपाय - मार्ग नहीं है । अन्य उपाय करनेसे रागादिकी उत्पत्ति होती है - यह विधिकी भूल है । क्योंकि जहाँ रागादिसे ही भिन्न होना है वहाँ रागका उत्पादक उपाय करते-करते भिन्नता कैसे होगी ? ज्ञानके आधारसे ज्ञानवेदनकी उत्पत्ति होती है । (१६४)



भेदज्ञान होनेमें ज्ञान और रुचिका सुमेल है । परम स्वभावकी अत्यंत रुचि और स्वभाव प्राप्तिकी अपूर्व भावनाके बिना भेदज्ञान हो नहीं सकता । स्वभावकी रुचि और रागसे भिन्न पड़नेवाला ज्ञान आगे बढ़कर स्वरूपग्रहण करके स्वसंवेदनभावरूप परिणमित होता है, तथापि श्रद्धा अभेद स्वरूपश्रद्धारूप परिणमित होती है कि वहाँ रागसे प्रत्यक्ष भिन्नता हो जाती है, राग-मलिनताकी अरुचि होती है । इस प्रकारसे ही स्वकार्यकी निष्पत्ति है; अर्थात् कोई जीव अकेले ज्ञानसे अथवा अकेली दृष्टिसे स्वकार्यकी प्राप्ति करना चाहे / कल्पना करे, तो वह विधिसे अनभिज्ञ है । कल्पना वास्तविकतासे बहुत दूर है । (१६५)



जगतवासी संसारीजीवकी विषयतृष्णा अनंत है, उसको व्यसनकी तरह तलप लगी ही रहती है - ऐसी स्थितिमें पूर्वकर्म अनुसार संयोगिक फेरफार होने पर जीव संयोगके रसमें चढ़ जाता है, अनुकूलतामें प्रायः (कर्ताबुद्धिके कारण) संयोगोंका रस विशेष चढ़ जाता है तो कभी प्रतिकूलतामें ज्यादा खेदखिन्न होकर रसको भोगता है (जब कि खुदके धारे अनुसार कार्य नहीं होता है तब ऐसे अनुभवका विचार करनेका वह अवसर / प्रसंग है, अगर विचारवान हो तो... जब कि अनुकूलतामें ऐसे विचारकी संभावना नहीं रहती) इस प्रकार पररसके जहरकी मात्रा बढ़ती जाती है । इसीलिये परिभ्रमण करनेवाला जीव क्रमशः अधोगतिको प्राप्त होता जाता है । ऐसी परिस्थितिमें एक सत्पुरुषका शरण ही उसे बचाता है; कि जो पुरुष आत्मशांतिके द्वारा विषय-दाहको शांत करनेके उपायमें जीवको प्रेरित करता है । (१६६)



जो जीव छूटनेके उपायकी / मार्गकी खोजमें होता है, उसे सत्पुरुषकी वाणीमें मार्ग प्रकाशकी तरह देखनेको मिलता है । सत्पुरुष - अनुभवी पुरुषकी वाणीमें ही मार्गप्राप्तिकी विधि आती है - अज्ञानीकी वाणीमें विधिका प्रकाशन नहीं हो सकता । अतः जिसको 'मार्ग' की खोज रहती है उसको निःसंदेहरूपसे सत्पुरुष द्वारा मार्ग मिलता है । उस जीवको सत्पुरुषकी पहचान

उनकी अंतरंग परिणतिसे होती है, उसको सत्पुरुषकी यथातथ्य महिमा आती है । अनादिकालके परिभ्रमणमें सत्पुरुषका योग होने पर भी जीवको उक्त प्रकारसे पहचान नहीं हो पायी । ओघे - ओघे 'यह ज्ञानी है' ऐसा माना है । बहुमान भी ओघे-ओघे किया है, परन्तु वह वास्तविक महिमा नहीं है । अगर पहचानपूर्वक बहुमान - महिमा आये तो जीव अवश्य तिर जाय । मार्गकी खोज होना वह खास प्रकारकी पात्रता है । ऐसी पात्रताके अभावमें ज्ञानी पहचाननेमें नहीं आते । (१६७)



आत्माका पदार्थज्ञान - द्रव्यानुयोग - आगम (स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ बिना प्रायः द्रव्यानुयोग निश्चयाभासका कारण होता है।) द्वारा द्रव्य, गुण, पर्यायसे, नय-प्रमाण द्वारा करनेमें आता है । उसमें वस्तु व्यवस्थाको समझनेका तो होता है, परन्तु अनादिसे भेदवासित बुद्धिवाला जीव प्रायः भेदकी प्रधानतामें अटकता है, नौ-तत्त्वके ज्ञानमें भी नौ-भेदमें रुकना होता है, परन्तु परमार्थके उपदेशक महापुरुषोंने नौ - तत्त्वमें छिपी अखण्ड-चैतन्य ज्योतिको भिन्न करके अनुभूति करनेका उपदेश दिया है । ठीक वैसे ही पर्याय और द्रव्यका व्यक्त एवं अव्यक्त अर्थात् गुप्त एवं प्रगट, वे सभी अवस्था (स्थिति)के भेद हैं, छद्मस्थको 'भेदमात्र' विकल्प / रागकी उत्पत्तिका कारण होता है, (भेदमात्र = भेदका अवलंबन) अतः उन दोनों अवस्थामें चैतन्य स्वरूप तो वैसा का वैसा एकरूप ही है, ऐसा श्रद्धाभाव कर्तव्य है - अर्थात् 'एकरूप - एकरस - अखण्ड चेतना मात्र स्वरूप में हूँ' वैसे चैतन्य सामान्यमें अस्तित्वका ग्रहण होना - वह प्राप्तिकी विधिका स्वरूप है । चैतन्य सामान्यको तो वास्तवमें द्रव्य पर्यायकी (भेदकी) अपेक्षा भी नहीं है - ऐसा परम निरपेक्ष निश्चय-तत्त्वका स्वरूप है । (१६८)



फरवरी - १९८६

जिनेन्द्रदेवकी स्वसंवेदनरूप वीतराग मुद्राको देखते हुए अपने स्वसंवेदनरूप स्वभावका अवलोकन करनेका हेतु, जिन प्रतिमाकी स्थापनामें है । वाणी - व्याख्यामें स्वसंवेदनरूप - स्वानुभव संकेत मात्ररूप दिखाया जा सकता है, जब कि जिन प्रतिमा अंतर्मुख परिणमनरूप स्वसंवेदनको व्यक्तरूपसे दिखाती है । अतः जिन-दर्शन, जिनेन्द्रकी स्थापना परमार्थ हेतुभूत है । अर्थात् आसन्न भव्य जीवके लिये सम्यक्दर्शनका कारण है । ज्ञानीको ध्यानका निमित्त है व आत्मार्थीको भावभासनका निमित्त है । (१६९)



परमतत्त्वका आश्रय - स्वभावके जोरमें आता है । स्वभाव पर जोर जाना, वही स्वरूपज्ञानकी

वास्तविकता है, अन्यथा द्रव्य, गुण, पर्याय सम्बन्धित क्षयोपशमवाला ज्ञान अनादि पर्यायमात्रके आश्रयको छुड़ानेके लिये समर्थ नहीं है - बल्कि स्वभावका जोर ही पर्याय आश्रितपना छुड़ाता है । लेकिन स्वभावके प्रति जोर देनेमें कृत्रिमता नहीं हो, यह ध्यानमें रखने योग्य है । वास्तविकरूपसे तो स्वभावकी पहचान (भावभासन / लक्ष्य) पूर्वक यदि स्वभावके प्रति जोर - (वीर्य) उछले तो कल्पना नहीं होती और उस प्रकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुका स्वरूपज्ञान और त्रिकाली स्वभाव प्रतिका जोर - दोनोंमें संतुलन बना रहता है ।

जिस जीवको वस्तुस्वरूपमें कल्पना होती है, उसको त्रिकालीके प्रति सहज वीर्य (पुरुषार्थ) नहीं उछलता । यदि वह कृत्रिम जोररूप, विकल्परूप / भाषारूप प्रवृत्ति करे तो भी वह स्वभावके समीप नहीं आता, और उसको उपर्युक्त स्वरूपज्ञान व त्रिकालीका जोर देनेके बीच संतुलन नहीं रह पाता परन्तु एकांत हो जाता है । (उसको ही एकांत अर्थात् आभास कहनेमें आता है ।)

वस्तुस्वरूपका निश्चय होनेमें कल्पना हो जानेका कारण :- जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, अथवा असत्संगकी प्रीतिरूप परिणाम होना - वह है । दुःख - वह कल्पनासे उत्पन्न होनेवाला भाव है - इस सत्यका विस्मरण करने योग्य नहीं है । इसलिये तत्त्व विचारणामें यथार्थ निश्चय होनेके लिये तथा कल्पना नहीं हो इसलिये, आत्माथीता समेत अंतर संशोधनपूर्वक निर्णयकी दिशामें प्रयत्न होना योग्य है, वरना कल्पना - यानी कि दुःखका कारण अवश्य उत्पन्न हो ही जायेगा ।

(१७०)



अप्रैल - १९८६

आत्मा अस्तित्वरूप है, एवं ज्ञायकरूप है, उसमें 'स्वका ज्ञायकरूपमें अभ्यास करनेसे स्वरूप अस्तित्वका ग्रहण होता है' - वह सम्यक् है । ज्ञायकरूप अभ्यास हुए बिना (स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करनेके लिये) कोई अगर दृष्टिका जोर विकल्पात्मक भूमिकामें कृत्रिमतासे उत्पन्न करना चाहता है तो वह विधि यथार्थ नहीं है । ज्ञायकताके अभ्यासमें अस्तित्व आ जाता है । यह सत्य ही कहा है कि: 'ज्ञानम् ज्ञान गुणम् विना प्राप्तुम् क्षमंते नहीं ।' (समयसार निर्जरा अधिकार) अथवा 'प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादि विधौचितः स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्त्परमं पदम्' ४०१ (पंचाध्यायी उत्तरार्ध)

(१७१)



मई - १९८६

ज्ञातादृष्टा (अकर्ता) स्वभावका अज्ञान राग-द्वेषका कर्तृत्व खड़ा करता है - यह सिद्धांत

है । परन्तु ज्ञान प्रगट होनेके पहले, यथार्थ भूमिकामें, और सम्यक्ज्ञान होनेके बाद भी, देव-गुरु-शास्त्रकी महिमा, स्वाध्याय आदि होते हैं, फिर भी उन-उन शुभरागके कर्तृत्वका स्वीकार न होना, उस प्रकारका संतुलन, प्रयोजनकी तीक्ष्ण दृष्टिवानको सहज रहता है; जब कि निश्चयाभासीको संतुलन नहीं रहनेसे देव-गुरु-शास्त्रादिके प्रति अविनय हो जाता है, और व्यवहाराभासीको शुभराग व बाह्यक्रियामें वजन / रस बढ़ते हुए कर्तृत्व हो जाता है । एवं उभयाभासीको दोनों दोष (क्रमशः) होते रहते हैं । (१७२)



आत्माके अनंतगुणोंमें, प्रधान गुण ज्ञान है, अथवा आत्मा ज्ञान प्रधान अनंतगुणमय है क्योंकि :-

(१) प्रथम स्वरूपकी पहचान ज्ञानसे होती है; तब दर्शनमोह अति मंद होनेका कारण बनता है ।

(२) ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावकी पहचानपूर्वक उत्पन्न भेदज्ञान ही एकमात्र स्वानुभूतिका कारण है, जिसमें रागसे भीन्न ज्ञानकी मुख्यतामें स्वभाव / अस्तित्वका ग्रहण (अनुभव) करनेका प्रयत्न - प्रयोग - अभ्यास चलता है ।

- इस प्रकार विधिके क्रममें ज्ञानसे ही शुरुआत है, यह सूचित करते हुए - श्री समयसारमें आचार्य भगवंतने 'ज्ञानमात्र' से आत्माको व 'प्राप्तिकी विधि' को दिखाया है । और अनेकान्त - स्याद्वादकी सिद्धि भी 'ज्ञानमात्र' से की है । (१७३)



दृष्टिका - श्रद्धाका परिणमन सूक्ष्म है, वह मिथ्यात्वकी दशामें समझमें नहीं आता - पकड़में नहीं आता, अतः 'विधिके क्रममें' ज्ञायकभावके अभ्यासकी उपेक्षा करके (जब कि ज्ञायक ध्रुव है) ध्रुवका जोर (पहचान बिना, ओघे-ओघे) दृष्टिको सम्यक् करनेके हेतुसे देना चाहे, तो उसमें ध्रुवके विकल्पका / रागका जोर बढ़ेगा, लेकिन दृष्टिका जोर उत्पन्न नहीं होगा । इसीलिये कहा है कि : ज्ञायकताका अभ्यास करनेसे ज्ञानमें दृष्टिका विषय ग्रहण होनेसे, दृष्टिका सम्यक् प्रकारसे जोर बढ़ता है । तत्पश्चात् दृष्टिके जोरमें आगे बढ़ना होता है ।

“सम्यक्त्वम् वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्,
तस्मात् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्”

- ४०० (पंचाध्यायी - उत्तरार्ध) (१७४)



अनुभूति होनेके बाद अनुभवी जीवको 'दृष्टिका जोर' परिणमनमें जितना ज्यादा रहे उतनी

उस जीवकी मुक्ति समीप है । अतः मोक्षमार्गीको 'ज्ञानप्रधान' परिणमनसे 'दृष्टिप्रधान' परिणमन इष्ट है । दृष्टिप्रधान परिणमनमें पुरुषार्थ उग्र रहता है क्योंकि दृष्टिको अभेद निजात्माके सिवा दूसरा विषय नहीं है । जब कि ज्ञानप्रधान परिणमनमें भेदादि दूसरे विषय ज्ञानमें रहते हैं - अतः पुरुषार्थ धर्म मंद रहता है, इसलिये विकल्प - रागकी उत्पत्ति हो जाती है ।

(१७५)



अगस्त - १९८६

प्रयोजनकी जागृति वही प्रयोजनकी सफलताकी चाबी है ।

(१७६)



निश्चयकी मुख्यता करनेमें दोषका बचाव नहीं हो जाय यह लक्ष्यमें रखने योग्य है । यथार्थता होती है उसमें तो दोषके त्यागका / अभावका लक्ष्य होता है, उसमें दोषका बचाव अथवा पक्ष कैसे हो ?

(१७६/A)



सितम्बर - १९८६

आत्मस्वरूपका ध्यान होनेके लिये : (ऐसा ध्यान किसको हो सकता है ?)

(१) जिसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान अर्थात् आगम अध्यात्मका सुमेल हो - वैसी समझ हो, अर्थात् वैचारिक भूमिकामें असमाधान नहीं हो । (असमाधानसे उपयोग चंचल रहता है) ।

(२) जिसे सहज वैराग्य - रागसे विरक्तता - रागमें दुःखका अनुभव हो, जिसके कारण नीरसता हो ।

(३) भेदज्ञानके प्रयासके कारण जिसको मन-इन्द्रियोंकी पराधीनता नहीं हो । पाँच इन्द्रियके विषयकी आसक्तिके / रसके परिणाम नहीं हो । इन्द्रियजय हुआ हो ।

(४) सहज प्रयत्न वशात् जिसका रूख स्वरूपमें झुकनेका हो, तथापि भय, कुतूहल, विस्मय आदिके अभावके कारण, उपयोगकी चंचलता कम हो गई हो । यानी कि जो अचंचल चित्तवाला हो ।

(५) जिसको त्वरासे निजकार्य करनेकी वृत्तिके कारण प्रमाद नहीं हो ।

(६) जो धैर्यवान हो - हड़बड़ीमें अथवा अधीरजसे कार्य करनेके लिये उत्सुक नहीं हो ।

(७) जो मुक्तिका इच्छुक अथवा उद्यमी हो - पूर्णताका लक्षवाला पुरुषार्थी हो ।

(८) जिसको निज परमपदका लक्ष्य होनेसे अत्यंत-अत्यंत स्वरूप-महिमा हो ।

(९) जिसे स्वक्षेत्रमें व्याप्य व्यापकभावसे अस्तित्वपनाका जोर हो - ऐसे महात्मा स्वरूपमें

स्थिर होनेके लिये समर्थ होते हैं - उन्हें भक्तिभावसे नमस्कार !!

(१०) जनपदके त्यागसे (मनमें) विक्षेप मिटता है । परमपदका ध्यान परमपदकी प्राप्तिका कारण है ।

इन सबमें आठवाँ सबसे मुख्य है । (१७७)



सत्श्रुतका स्वाध्याय स्थूल उपयोगसे एवं परलक्ष्यसे कर्त्तव्य नहीं है । उसमें शास्त्रजीका अविनय है । सूक्ष्म उपयोगसे वाच्यको लक्ष्यमें लेकर स्वाध्याय कर्त्तव्य है, कि जिससे विषयकी गहराईमें जा सके । (१७८)



अक्टूबर - १९८६

सहज स्वरूपके अवलंबनसे शुद्ध स्वसंवेदन प्रगट होता है । उसमें 'वेदन तो पर्यायमें पर्यायका है - त्रिकालीमें वेदन नहीं, ऐसा भेद सिर्फ जाननेका विषय है, जोर देनेका विषय नहीं है । जोर तो अवलंबनके साथ रहता है, जो सम्यक् है । 'मैं पनेसे' ध्रुवका अवलंबन वर्तता होनेसे तथा पर्यायमें स्वभावमय भाव होनेसे - स्वभावके आविर्भावके हेतुसे 'त्रिकाली स्वरूपका अभेद अनुभव होता है ।' ऐसा अध्यात्म पद्धतिमें कथन होता है । उसमें आगम अनुसार वस्तुव्यवस्थाका (बंधारणका) ज्ञान / संतुलन यथार्थ रहता है । (१७९)



नवम्बर - १९८६

✽ स्वलक्ष्यी ज्ञान प्रतीतिका उत्पादक होता है । परलक्ष्यी आगमज्ञान अनादि विपरीत श्रद्धाको पलटनेके लिये समर्थ नहीं है ।

✽ स्वलक्ष्यी ज्ञान स्वभाव / गुणको अर्थात् निर्मलताको साधता है । परलक्ष्यी ज्ञान दोषको / अवगुणको साधता है - विकल्पको साधता है ।

✽ स्वलक्ष्यी ज्ञान सूक्ष्म होकर अंतरकी गहराईमें जाता है । परलक्ष्यी ज्ञान स्थूलरूपसे ऊपर-ऊपर रहकर बाहरमें प्रवर्तता है ।

✽ स्वलक्ष्यी ज्ञानके साथ प्रतीति मिलती है तब स्वरूप स्थिरताका सामर्थ्य उत्पन्न होता है । - यह वस्तुविज्ञान है । परलक्ष्यी ज्ञान स्वरूप स्थिरताके लिये असमर्थ है । और अस्थिरता एवं विकल्प वृद्धिका कारण है ।

✽ स्वलक्ष्यी निर्णय पुरुषार्थको उत्पन्न करता है, जब कि परलक्ष्यी निर्णय क्षयोपशममें अटकता है । (१८०)

आत्माकी शक्तियाँ जो है वह सामर्थ्यरूप स्वभाव / स्वरूप है, उसे एकरूप अर्थात् द्रव्यरूप देखनेसे आत्मरस उत्पन्न होता है - आराधना होती है । भेदरूप - गुणभेदरूप देखनेसे आराधना नहीं होती - बल्कि विकल्प होता है, अध्यात्मका रस भंग होता है। (१८१)



दिसम्बर - १९८६

ज्ञानाभ्यास होनेके लिये, - (स्व) सन्मुख होनेके लिये, ज्ञानकी व्यापकता, स्वच्छता (साकारपणा), वेदकता, और प्रत्यक्षता द्वारा परसे / रागसे भिन्न व अपनेसे अभिन्न ज्ञानमय आत्माका निरंतर आश्रय / अभ्यास करना योग्य है, जिससे कि अंतर्मुख हुआ जाये। (१८२)



जनवरी - १९८७

निज परमस्वरूपकी प्राप्तिके अभावमें, वेदना सहितकी भावना हो तो मार्ग अवश्य मिलता ही है। (१८३)



जिस सम्यक्ज्ञानमें अपना स्वरूप परिपूर्ण आनंद एवं ज्ञानमय प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष अव्याबाधत्व है, वहाँ चिंता कैसी ? भय कैसा ? शंका कैसी ? असमाधान कैसा ? दुःख कैसा ? खुदसे बाह्य चेतन-अचेतन पदार्थ स्वकालकी योग्यता अनुसार परिणमन कर रहे हैं, उसमें निर्ममत्व होनेसे, उसकी चिंता कैसी ? 'मात्र ज्ञेय' होनेसे - इष्ट-अनिष्ट कल्पनाकी निवृत्ति सहज समाधानरूप है - पुनः उसका परिणमन बदलनेके लिये इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र, कोई भी समर्थ नहीं । कुदरतका ऐसा क्रम योग्य ही है । योग्य समय पर योग्य दशा ही होना वह कुदरतका क्रम है । किसी भी समय कोई भी पदार्थकी अयोग्यदशा होती ही नहीं । (१८४)



फरवरी - १९८७

जीवका स्वभाव अनुभव करनेका है, इसलिये अनुभवक्रिया प्रतिसमय सतत चालू ही रहती है। अनादिसे अकारणपने, निर्विकार सहजानंद एक सुख स्वभावके अनुभवसे शून्य होनेके कारण, जीव उदयमें आनेवाले अपने बांधे हुए कर्मका ही सततरूपसे प्रति समय स्व-रूपमें अनुभव कर रहा है, अथवा मान रहा है और फिर नये बंधनको प्राप्त होता है, इस तरह संसारचक्र चलता रहता है । ऐसेमें सत्पुरुषके समागम योगमें - 'अनुभूतिस्वरूप निज स्वरूपकी' पहचान करे तो कर्मोदयके अनुभवका / भ्रमका त्याग होकर निजानुभवमें रहना बने । (१८५)

पररुचिका पोषण होनेसे, अविवेकका जोर बढ़ता है अर्थात् विवेक निर्बल होता है। मिथ्या ज्वर आता है । अतः अगर निजहितके उपयोगसे स्वरूपको सँभाले (तो) विवेक सबल होवे, तो निज निधिका विलास होवे । (अनुभव प्रकाश) (१८६)



मोक्षमार्ग दर्शन-ज्ञान-चारित्रिका एकपद स्वरूप होनेसे मोक्षमार्गके प्रकरण सम्बन्धित, किसी एक गुणको सर्वथा भिन्न कार्यरूप नहीं देखना । सर्वथा एककी जुदाई करके, महत्व देनेसे अयथार्थता होती है - क्योंकि अनुभवमें वैसा है नहीं, सब साथमें है । अनुभवमें तो अभेदता, निर्विकल्पता अनुभवमें आती है । वस्तुस्थितिमें भी अभेदता ही है । (१८७)



मार्च - १९८७

आत्मामें रहे हुए अनंत सुख / अनंत आनंदको लक्ष्यमें लेने योग्य है, वारंवार लक्ष्यमें लेने योग्य है । वीतराग भावनासे शुद्धोपयोगको धारण करके उसमें लीन रहने योग्य है । 'ब्रह्मसरोवर आनंद सुधारससे पूर्ण है ।' (अनुभव प्रकाश) (१८८)



अध्यात्मदशा महिमावंत होनेसे सत् शास्त्रोंमें उसकी भी महिमा गायी है । परन्तु यह लक्ष्यमें रखने योग्य है कि, सन्मार्गमें स्थित महात्माओंने त्रिकाली ध्रुव स्वरूपके जोरमें उस महिमाको गाया है । इसलिये जब मुमुक्षुको अध्यात्मभावोंकी महिमा आये, तब पर्यायकी बातोंमें / विषयमें इस प्रकारसे रस नहीं आना चाहिये कि जिसके कारण त्रिकाली ऊपरका जोर छूट जाय अथवा रहे नहीं । जबकि त्रिकालीका जोर ढीला / मंद तो नहीं होना चाहिये परन्तु तीव्र होना चाहिये। यह इस विषयकी यथार्थता है । जिसको अध्यात्मदशाकी महिमा आती है परन्तु त्रिकालीका जोर नहीं आता, उसको अयथार्थरूपसे अध्यात्मकी महिमा आ रही है - जिसमेंसे व्यामोहकी उत्पत्ति होनेका संभव है - प्रायः (व्यामोह) हो जाता है, अथवा अनादिका दर्शनमोह नहीं टूटता। यथार्थतामें तो त्रिकालीके लक्ष्यसे त्रिकालीके जोरमें अध्यात्मदशाकी महिमा रहती है - होती है । (१८९)



प्रश्न :- ज्ञान प्रतीतिका कारण किस प्रकारसे है ?

समाधान :- जब तक ज्ञान परोक्ष प्रमाण आधारित रहता है तब तक निःशंकता उत्पन्न नहीं होती। परन्तु विचारसे आगे जाकर स्वभावका प्रत्यक्ष अवलोकन - अपनेमें / ज्ञानमें अपने स्वरूपका अवलोकन प्रतीतिका कारण होता है, और प्रतीति सहितका ज्ञान पुरुषार्थका उत्पादक -

ऐसे बलवान परिणमनवाला होनेसे स्थिरता होती है । (१९०)



अप्रैल - १९८७

विधि :- अवलोकनसे आगे बढ़कर स्व-स्वभावका ग्रहण - 'प्रत्यक्ष स्वभावका प्रत्यक्षभावसे ग्रहण' करनेमें वर्तमान पुरुषार्थको लगानेमें कार्यसिद्धि है । (१९१)



सत् श्रवण होने पर भी यथार्थतामें केवल श्रवणका अभिप्राय नहीं होता । अगर श्रुत हुए विषयका ग्रहण होनेका प्रयास होवे तो श्रवणका निमित्त है, अन्यथा निमित्तरूप नहीं । (१९२)



मई - १९८७

दर्शनमोह मंद होनेके अनेक कारण हैं, उसमें वीतरागी देव, गुरु, शास्त्र, सत्समागम आदि मुख्य निमित्त हैं । इन निमित्तोंके प्रतिके बहुमान - भक्ति आदिके परिणाम स्वयं ही मंदकषायरूप है, फिर भी साथ-साथ उसमें दर्शनमोह मंद होता है, (अन्यप्रकारसे कषाय मंद होनेमें दर्शनमोह मंद नहीं होता है ।) लेकिन ओघसंज्ञामें उपरोक्त सत् निमित्तोंके प्रति एवं तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें (शुरुआतमें) उत्साहित परिणाम एवं सद्भावना / हितभावनाके कारण दर्शनमोह मंद - अल्पमंद होता है परन्तु उस ओघसंज्ञामें (आगे) अटक जानेसे प्रायः दर्शनमोह तीव्र हो जाता है । अतः स्वलक्ष्यी तत्त्वाभ्यास / शास्त्र अध्ययन-श्रवण एवं सत्समागमपूर्वक यथार्थ सुविचारणा एवं स्वरूप निर्णय, अगर ज्ञान प्रधान पुरुषार्थसे हो तो दर्शनमोह अत्यंत मंद होकर उसके अभावकी (उपशम) ओर आगे बढ़ा जाता है । (१९३)



सत्-श्रवण तभी अटकनेका स्थान नहीं होता जब स्वरूपभावनासे त्रिकालीका अवलंबन लेनेका, प्रयास चालू करनेमें आया हो, वरना प्रायः 'मात्र श्रवण'का अभिप्राय जाने-अनजानेमें बन जाता है, जो अटकनेका निमित्त बनता है और दर्शनमोहको बढ़ाता है । (१९४)



समाजकी मुख्यता करके अपने आत्महितको गौण करनेवाला, अपनी वर्तमान हालतको समझ नहीं सका - इसलिये खुदकी सँभाल नहीं रखते हुए समाजकी चिंता करता है, जो अप्रशस्त अभिप्राय सहितका राग है । समुद्रके मध्ये डूबता हो तब समाजकी चिंता करने रुकेगा क्या ? तब तो समाजकी चिंता करनेको नहीं रुकेगा । (१९५)

जून - १९८७

श्री जिनेश्वरकी आज्ञा एवं श्रीगुरुका उपदेश (मुमुक्षुको) शुद्धात्माकी रुचि करनेका है । फिर भी उसकी अवहेलना (उपेक्षा) करके जीव रुचि नहीं करता है - यह महाअनर्थ है । 'अवहेलना' माने उदय प्रसंगोंकी मुख्यतामें रहकर, शुभाशुभके रसमें लीन रहकर, अंतर्मुख नहीं होना । (१९६)



ज्ञानमें सहज प्रत्यक्षता है, उसे प्रतीति भावसे वारंवार 'भावनापूर्वक भावमें लेकर' रस लेना - वेदन करना, यह स्वानुभवकी विधि है । (१९७)



जुलाई - १९८७

ज्ञानस्वभावी आत्मा सिर्फ ज्ञानसे ही ग्राह्य है / ग्रहण होने योग्य है / अनुभवमें आने योग्य है, इसके अलावा अन्य कारणसे - किसी भी प्रकारके शुभरागसे अथवा पराश्रित बाह्यज्ञानसे ग्रहण होने योग्य नहीं, इसलिये अन्यथा उपाय कर्तव्य नहीं है । अभिप्रायमें - इस विधिके बारेमें ज़रासा भी फ़र्क हो जाये तो वह विपरीत अभिनिवेश / गृहीत मिथ्यात्व हो जाता है । (१९८)



स्वानुभूति प्रगट होते ही पूरा जीवन पलट जाता है, समस्त संसारी भावोंका रस छूट जाता है, जैसे कोई नया अवतार हो गया हो वैसा हो जाता है । राग एवं कषायके वेदनका जो जीवन था वह मानो पूरा पलटकर शांति सुधामय हो गया और निज भगवान अतीन्द्रिय आनंदरूप वेदनमें आया / प्रगट हुआ । अहो ! यह दशा अद्भुत है ! वचनातीत है ! (१९९)



जो मुमुक्षु भव-भीरु है, पापसे भयभीत है वह रागसे खिसकनेके प्रयत्नके कालमें शुभका निषेध करते वक्त स्वच्छंदमें परिणमन नहीं करता । (२००)



अनादिसे जीवने वर्तमानमें वेदनमें आनेवाली पर्याय मात्रमें अपनत्व - मैं पना रखा हुआ है । परन्तु कोई भी पर्याय हो, सम्यक्सुखकी अल्प या पूर्ण पर्यायके कालमें एकत्व नहीं होता, पर्यायमें एकत्व होनेसे सुखका नाश होता है, चाहे अनंत सुखकी हो तो भी । अतः ध्रुवस्वभावमें ही मैं पना स्थापित रहना चाहिये, वरना पर्यायसे एकत्व नहीं छूटता । पर्यायका

एकत्व छूटने पर आत्मबोध है ।

(२०१)



अनेक प्रकारकी अपेक्षावाला ज्ञान, अनेक प्रकारसे असमाधानको दूर करता है, फिर भी इससे आगे जाकर त्रिकालीके जोरमें प्रेरित होनेमें वह निमित्त होना चाहिये, वरना उक्त असमाधान मिटनेका फल पर्याप्त नहीं है अथवा सफल नहीं है उलटा संतुष्ट होकर अटकनेका स्थान हो जाता है । वहाँ निश्चयसे समाधान नहीं हुआ।

(२०२)



अगस्त - १९८७

सिद्धांत और सूत्र :

सिद्धांतके मुख्य दो भेद है - आध्यात्मिक एवं आगमिक (करण, चरण, द्रव्यानुयोग)

(१) द्रव्यानुयोगके आगमके सिद्धांत वस्तुके स्वरूप अनुसार है, अथवा उसके द्वारा वस्तुका बंधारणीय स्वरूप प्रतिपादित होता है । इसलिये तीन कालमें उसमें फेरफार नहीं होता - यह वस्तुविज्ञान अचल है और जो मुख्यरूपसे द्रव्यानुयोगका अंग है; इसके अलावा जड़-चेतनकी पर्यायोंका विज्ञान करणानुयोगमें है । आचरणके सिद्धांत चरणानुयोगमें है ।

(२) अध्यात्मके सिद्धांत भी तीनों काल एकरूप रहते हैं । आत्माके त्रिकाली अचल स्वभावका अवलंबन लेते हुए / उपासना करते हुए अनुभवरूप हुई, तीनोंकालके ज्ञानी - अनुभूति संपन्न महात्माओंकी पवित्र दशाका - परम पदार्थका स्पर्श करके निकली हुई वह वाणी है । उसमें फर्क पड़नेका अवकाश नहीं । मुख्यरूपसे चरणानुयोग एवं करणानुयोगमें गुणस्थानक द्वारा इसका प्रकाशन है । चारों अनुयोगमें द्रव्यानुयोगका लक्ष्यार्थ अध्यात्मको प्रतिपादित करनेका है । इस तरह सत्श्रुत आगम-अध्यात्मके सिद्धांतोंको अविरोधरूपसे प्रकाशित करता है । एक अनुयोग व दूसरे अनुयोगके सिद्धांतमें अविरोध है । अतः किसी भी दो सिद्धांतोंके बीच विरोध नहीं है - फिर भी विरोध भासित होता हो, तो उसमें ज्ञानका विपर्यास है । जहाँ सिद्धांत टूटता है वहाँ अज्ञान और दर्शनमोह (मिथ्यात्व)का प्रभाव समझना ।

सूत्र :- ज्ञानीके वचनमें हमेशा उक्त सिद्धांतोंका संतुलन होता है । इसलिये कहीं भी एकांत नहीं होता । सिद्धांतको प्रदर्शित करनेवाले वचनप्रयोगको सूत्र कहनेमें आता है और उसकी अनेकविध शैली देखनेमें आती है । अतः किसी भी प्रकारकी कथनशैलीसे प्रतिपादित सिद्धांतोंको यथार्थताके कारण प्रमाणित करने योग्य है । कथनशैलीका आग्रह अथवा निषेध तत्त्वदृष्टिसे उचित नहीं है ।

कालके क्रममें भिन्न-भिन्न कालके ज्ञानी धर्मात्माकी शैलीमें विभिन्नता होने पर भी कहीं

भी सिद्धांत नहीं टूटता, अथवा विपर्यास नहीं होता, बल्कि वस्तुस्वरूपको व्यक्त करनेका उनका अद्भुत सामर्थ्य बहुमान / भक्ति होने - उत्पन्न होनेका कारण बनता है ।

कदाचित् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व विद्यमान जीवोंकी योग्यता विशेषके कारण शैलीमें फर्क दिखे तो भी ज्ञानीके वचनोंमें शंका करने योग्य नहीं है । (२०३)



साधकपना, पुण्य व उसके फलसे निरपेक्ष है । क्योंकि साधक उससे भिन्न पड़कर अंतरमें विचरते हैं। वह मार्ग निरालंब है, अतः उनके पूर्वकर्मके उदयकी बराबरी दूसरे संसारी जीवोंके उदयके साथ करना उचित नहीं है । अर्थात् उदयकी बराबरीका दृष्टिकोण भूलसे भरा हुआ - गलत रास्ते पर ले जानेवाला है । और वैसा दृष्टिकोण रहनेसे ज्ञानीकी निरपेक्ष - निस्पृहतापूर्ण अंतरदशाका परिणमन पहचाननेमें नहीं आ सकता ।

ज्ञानी उदयके आधारित नहीं है, बल्कि अंतर ध्रुवधामका उन्हें आधार है । अतः उस प्रकारको लक्ष्यमें रखते हुए मूल्यांकन करने योग्य है, नहीं कि पुण्य-पापके दृष्टिकोणसे । (२०४)



सितम्बर - १९८७

'सत्संगकी उपासना नित्य कर्तव्य है' - ऐसी जो सत्पुरुषकी सीख, जीवको अत्यंत हितकारी एवं गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाली है । वर्तमान दुष्कालमें असत्प्रसंगका घिराव विशेष है । जीव सहज मात्रमें कुसंगकी असरमें आ जाता है कि जिसके कारण दीर्घकाल पर्यंत सेवन किया हुआ सत्संग निष्फलताको प्राप्त होनेमें देर नहीं लगती। आराधनाके लिये तो अपूर्व पुरुषार्थ चाहिये । उसकी निरंतर लगन ही आवश्यक है। (२०५)



अक्टूबर - १९८७

मुमुक्षुजीव अगर तत्त्वज्ञानका अभ्यास करे उसमें वस्तु स्वरूपको समझकर स्वाभिमुख होनेका प्रयत्न, अंतर अवलोकन द्वारा, शुरू नहीं करें तो धारणा ज्ञानमें शुष्कता उत्पन्न हो जाती है और इसलिये हित नहीं सधता बल्कि प्रायः अहित होनेका बनता है - यह लक्ष्यमें लेने योग्य है । (२०६)



नवम्बर - १९८७

उदयमें जुड़ना वह बंधमार्ग और स्वभावमें जुड़ना वह मोक्षमार्ग - ऐसा बंधमार्ग तथा मोक्षमार्गका संक्षेप नियतरूपसे है । विवेकसे परमहित होता है और पुरुषार्थकी उत्पत्तिका कारण भी वही

है ।

(२०७)



वीतराग देव, गुरु, शास्त्र मिलनेके बावजूद भी, अगर जीव ओघसंज्ञामें प्रवृत्ति करे तो लोकसंज्ञा एवं असत्संगकी तरह वह दर्शनमोहकी वृद्धिमें आ जाता है । क्योंकि ओघसंज्ञा से प्रवर्तनमें निज परमात्मपदकी प्राप्तिकी उपेक्षा हुई, इसलिये यथार्थ निर्णयकी दिशामें प्रयत्न होना चाहिये जिसके कारण ओघसंज्ञाकी निवृत्ति हो एवं स्वभाव सन्मुख / समीप जा सके । ओघसंज्ञाकी निवृत्तिके लिये तीव्र लगन / दरकार होनी चाहिये । (२०८)



स्व-पनेसे वेदन करनेका ज्ञानका - ज्ञान स्वभाव है । जब तक ऐसे अंतर अवलोकनसे निजज्ञानका स्वरूप जाननेमें नहीं आये, तब तक उस दृष्टिसे देखनेका / खोजनेका प्रयास होना चाहिये । इसीलिये परमागममें 'ज्ञानमात्र' की प्राप्ति ज्ञानगुण / ज्ञानस्वभाव के द्वारा कही है । जो निजावलंबनरूप है; तथा रागके अवलंबनसे भिन्न पड़कर समुत्पन्न है । (२०९)



श्रीगुरु आत्माका अनुभव करनेका उपदेश देते हैं, परन्तु जिसको आत्मरुचि नहीं है, ऐसा जीव स्वानुभवका पुरुषार्थ करनेके बजाय अनेक प्रकारसे (शुभकी रुचिके कारण) शुभक्रियामें धर्म सम्बन्धित प्रयत्नका आडंबर करता है जो कि कपटका खेल है ।

(अनुभव प्रकाश) (२१०)



आत्मामें आनंद है उसकी श्रद्धा एवं विश्वासके बिना जगतके पदार्थोंकी आशा एवं महत्वाकांक्षा कम नहीं होती बल्कि बढ़ती ही जाती है । जैसे बीजमें से वृक्ष होता है वैसे । और इसके कारण जीव इधर-उधर व्यर्थ प्रयत्न करता है यानी कि भवका अभाव करनेके लिये जो भव मिला है उसमें भववृद्धिका सेवन किया जिसके कारण आत्महित नहीं सुझता । ज़हर पीते-पीते जीवनकी इच्छा रखता है, लेकिन आनंदकंद भगवान अमृतसरोवर अंदर है वहाँ नहीं जाता । श्रीगुरु ऐसा कहकर अमृत पिलाते हैं, उसे क्या उपमा दे सकते हैं ? (अनुभव प्रकाश) (२११)



सत्शास्त्रका वांचन करनेके बावजूद भी जो स्वभावका पुरुषार्थ नहीं करते हैं, वे अध्यात्मज्ञानसे शून्य रहते हैं । उनकी अध्यात्म - विषय संबंधी धारणा जो होती है वह ज्ञान नहीं बल्कि एक कल्पनामात्र होती है । (२१२)

अभेद चैतन्यके अनुभवमें आनेवाला धर्मी व्यवहारसे मुक्त है क्योंकि वीतराग स्वभावका सद्भाव होनेसे विभाव स्वयं अभाव होकर मर्यादित रह गया है । इसलिये व्यवहारका भाव होना ही चाहिये ऐसा धर्मीको नहीं होता । अर्थात् व्यवहारका बंधन धर्मीको लागू नहीं होता । प्रायः उनका व्यवहार यथायोग्य होता है । गुणस्थान अनुसार मर्यादामें व्यवहार सहज होता है । (२१३)



'स्वरूपकी भावना' - वह कल्याणका मूल है । जीवको अनंतकालमें सच्ची भावना उत्पन्न नहीं हुई, इसका सबूत यह है कि अनंतबार सत्यका मार्ग दिखानेवाले मिलने पर भी, उसने तत्सम्बन्धित - तथारूप पुरुषार्थ नहीं किया बल्कि विविध शुभभाव करके संतुष्ट हुआ है । इस तरह विधिकी भूल हुई अथवा सच्ची विधि हाथ नहीं लगी । तद्उपरांत सच्ची भावनाके अभावके कारण विराधक भावोंका निषेध नहीं आया, और भेदज्ञानका पुरुषार्थ जागृत नहीं हुआ । अतः ऐसा फलित होता है कि मुमुक्षुकी भूमिकामें इस भावनाका बहुत ही महत्व है । (२१४)



दिसम्बर - १९८७

आत्मकल्याणकी तक मनुष्यभव है । तक माने 'थोडा काल' । अनंतकालमें मुश्किलसे ऐसा थोड़ा काल मिलता है । उसको दूसरे कार्यमें खोया जाय तो कल्याणका काल चला जाता है, इसलिये पात्र मुमुक्षुको आत्मकल्याणके सिवा कालक्षेप होना पोसाता नहीं । (२१५)



अगर कोई जीव ध्यान करता है, परन्तु आनंद नहीं आता है तो वह जीव अनात्मभावमें यानी कि पुण्य-पापके रागमें मूर्छित हो गया है । अगर मूर्छित नहीं हुआ हो तो ध्यान करें और आनंद नहीं आये ऐसा कैसे बन सकता है ? आनंद आयेगा ही । आगम-अध्यात्मकी सही समझके बाद, उपरोक्त नियम आनंद आनेके लिये अफर है । जिसकी समझमें भूल हो अथवा विधिमें भूल हो उसको तो ध्यानकी सफलता होनेका प्रश्न ही नहीं । क्योंकि वह बहुत दूर है, परन्तु पुरुषार्थ कहाँ जाता है ? वह भी स्वतंत्र - गहन खोजका विषय है । (२१६)



मुमुक्षुओंको तत्त्वका निर्णय, आपसमें साधर्मी भाई जैसी भावनाको मुख्य रखकर, शांतिसे,

समभावसे चर्चा करके, करना चाहिये । एक दूसरेको झूठा ठहरानेकी बात (हेतु) नहीं होनी चाहिये, इसमें तो कषायरस बढ़ता है । किसीकी भूल हो तो, उसे समझाकर कहनेकी रीत होनी चाहिये । विरोधीरूपमें कल्पना करके द्वेषबुद्धिसे प्रवर्तन करनेमें तो सज्जनता भी नहीं रहती है, तो मुमुक्षुता तो कैसे उत्पन्न हो ? न्यायसे सत्यको ग्रहण करनेका - स्वीकार करनेका अभिप्राय रखकर तत्त्वनिर्णयके लिये परस्पर विचारोंका आदान-प्रदान हो वही योग्य है । (पू. गुरुदेवश्री)

(२१७)



“मंत्र कणिका / सूत्र कणिका” - ‘अनुभव प्रकाश’

फरवरी-१९८७

(१) “परपदमें अपनत्व मानकर परभाव किये, इसलिये जन्मादि दुःख सहन करता है - ऐसी दुःख परिपाटी अपने अशुद्ध चिंतनसे हुई है ।”

(२) “जो यह (ज्ञान) परमें अपनेको जानता है, वह ज्ञान ही निज बानगी है । इस निजज्ञान बानगीको पहचान - पहचानकर बहुतसे संत अजर-अमर हुए । उसे कथनमात्र ग्रहण न करे, (उसे मात्र कहने जितना ही न रखे) परन्तु चित्तको चेतनामें (स्वभाव) लीन करे ।”

(३) “निरन्तर अपने स्वरूपकी भावनामें मग्न रहे, दर्शन - ज्ञानचेतनाके प्रकाशको (वेदनको) (अपने) उपयोग द्वारमें दृढ़तासे भाये (चिंतन करे) तो चिदपरिणतिसे स्वस्वरूपरस (चिद्रस) (उत्पन्न) होता है ।”

(४) “जब परप्रवेशका अभावभाव हुआ, तब स्वसंवेदनरूप निजज्ञान होवे” अर्थात् परप्रवेशभाव स्वसंवेदनको रोकता है ।

(५) “उपयोगमें ज्ञानरूप (स्व)वस्तुको जाने ।”

(६) “ज्ञानरूप वस्तु” माने ज्ञानस्वभाव - मेरा स्वरूप अनंत महिमावंत - अविचार, अपार शक्तिसे मण्डित है, - ऐसा भाव प्रतीति द्वारा करके, ध्यान धरनेपर निश्चलता - स्थिरता होगी ।

२३-२-१९८७

(७) “सदा उपयोगधारी (उपयोग स्वभावी) आनन्दरूप स्वयं स्वयमेव ही यत्न बिना (सहज) बना है” अर्थात् है, ... है... और है । “अतः निजको (निजमें) निहारनेका ही कार्य (कर्तव्य) है ।”

(८) स्वरूप निश्चय - ‘अनंत चैतन्य चिह्न सहित अखण्डित गुणपुंजके और पर्यायके धारक द्रव्यका - ज्ञानादिगुणपरिणतिरूप और पर्याय-अवस्थारूप वस्तुका निश्चय हुआ ।’

(९) जघन्यज्ञानी “सिर्फ ज्ञानमात्र वस्तुकी प्रतीति प्रत्यक्ष कर-करके स्वसंवेदन बढ़ाता है ।

(१०) वह इस प्रकारसे - "मेरे दर्शनज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है।" (प्रत्यक्षता) / वेदनसे अवलोकनसे ज्ञानप्रकाश, माने ज्ञान वेदन करके पूर्णकी प्रतीति करने पर निर्विकल्प आनन्द हो - वह सुख है। ज्ञानवेदनसे प्रत्यक्षताको बारंबार प्रतीतिमें लेनेसे पुरुषार्थ प्रगट होकर स्वसंवेदन आविर्भूत होता है।

(११) 'मैं हूँ' ऐसी परिणति द्वारा आत्मा प्रकट होता है। 'मैं हूँ' पनेकी मान्यता स्वपदका साधन है। 'मैं-मैं' परिणामोंने स्वपदकी आस्तिक्यता की।"

(१२) "चित्परिणति चिद्में रमनेपर आत्मानन्द उत्पन्न होता है।"

२४-२-१९८७

(१३) "निजपदका आस्तिक्य होनेपर अनुपमपदमें लीनता हुई।"

(१४) "मोहके विकारसे (परमें सुखकी भ्रांतिसे) अपना पद सुझता नहीं है।"

दर्शनमोहके कारण परमें सुखकी भ्रांति होनेसे निजसुख दिखता नहीं है। सत्पुरुषके चरणसेवनसे जब दर्शनमोह जाता है, तब निज परमात्मपदको पाये, अनुभव करे - ऐसा भक्तिका प्रताप है; जगतमें यह ज्ञान गुप्त रहा है, फिर भी जिसको समझमें आता है - वह प्रत्यक्ष अमृतको पीकर अमर हो जाता है।

(१५) खास विधि संक्षेपमें : "मेरा ज्ञान (वही) मैं हूँ। पर विकार (परके अनुसरणसे होनेवाला भाव) पर है। जहाँ-जहाँ जानपना वहाँ-वहाँ 'मैं' ऐसा दृढभाव सम्यक्त्व है। वह सुगम है।"

(१६) "जो स्वरूपरस (आत्मरस) अपने स्वभावमें है उस स्वभावको निज उपयोगमें योग्य स्थानरूप करे।" अर्थात् उपयोग द्वारा 'उपयोगमें रहे, स्वभावमें' मैं-पना हो - वह अभेदभावरूप योग्य स्थान है, जिससे आत्मरस उत्पन्न होता है।

(१७) "अपने अवलोकनमें अखण्ड रसधारा बरसती है।"

स्वानुभवमें अमृतरस-चैतन्यरस-आनंदरस बरसता है। अखण्ड स्वभावके आश्रयसे स्वभावरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं।

२५-२-१९८७

(१८) "लोकालोकको जाननेकी शक्ति ज्ञानकी है, उसमें जितना स्वसंवेदन हुआ, (उतना) स्वज्ञानकी विशुद्धताका अंश होनेसे हुआ। उस ज्ञानने सर्वज्ञशक्तिमें अनुभव किया। (उस ज्ञानने सर्वज्ञपनेका अपनेरूपमें अनुभव किया) जितना ज्ञान शुद्ध हुआ, उतना अनुभवमें सर्व ज्ञानके प्रतीतिभावके वेदनसे ऐसा (शुद्ध) हुआ। सर्व ज्ञानके प्रतीतिभावमें आनन्द बढ़ा। ज्ञानकी विशुद्धताको ज्ञानके बलका प्रतीतिभाव कारण है। 'एकदेश स्वसंवेदन सर्व स्वसंवेदनका अंग है (वह) साक्षात्

मोक्षमार्ग है। उस स्वसंवेदनको ज्ञानी ही जानते हैं।' (दूसरे नहीं जानते)।

(१९) "जितना स्वरूपका निश्चय यथार्थ भाए (चिंतवन करे) उतना स्वसंवेदन अडिग (अचल) रहता है; (और) जितना स्वरूपाचरण हो, उतना स्वसंवेदन बराबर होता है। एक होनेपर तीनोंकी सिद्धि है।"

स्वरूपका निश्चय यथार्थ भाना माने सहज प्रत्यक्ष स्वरूपको ज्ञानमें जितना हो सके उतना सुस्पष्टरूपसे ज्ञानशक्तिसे अभेदभावसे ग्रहण करना / पकड़ना - कि जिससे स्वसंवेदनका आविर्भाव हो। ज्ञानशक्तिके परिणमनके अनुपातमें तारतम्यता-उग्रता बढ़े - स्थिरता, आनंद बढ़े।

(२०) "अनन्त सुखनिधानकी स्वरूपभावना करते ही अविनाशी रस उत्पन्न होता है, उस रसका सन्त सेवन करते आए हैं... अपने (निज) परमेश्वरपदका दूर अवलोकन न कर; अपनेको ही प्रभु स्थाप।"

"आत्मभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे" - श्रीमद्जी

अनंत सुखकी शाश्वत विद्यमानताके लक्षसे स्वरूप भाना जिससे कि आत्मरस उत्पन्न हो। निज परमपदको / परमेश्वरपदको वर्तमानमें ही प्रत्यक्षभावसे अवलोकनमें लेना - श्रद्धा द्वारा स्थापित करना। उससे क्या अधिक है कि तू उसको छोड़कर अन्यको अधिकाई देता है? स्वरूपसुखकी हयातीका / विद्यमानताका रहस्य पाकर, स्वरूपकी भावना होनेमें अविनाशीरस / अमृतरसका चुआ चूता है।

(२१) 'एकदेशमात्र निजावलोकन ऐसा है कि इन्द्रादिकी सम्पदा विकाररूप भासती है' चतुर्थ गुणस्थानमें आनंदका निर्विकारी अनुभव ऐसा है कि उसके आगे देवलोककी उच्च सम्पत्ति भी विकार - रागका निमित्त भासती है। सम्यक्दृष्टि इन्द्रको ऐसा ही लगता है।

(२२) "चिदानन्द ! अपनी गुप्त शुद्धशक्तिको व्यक्तरूपसे भाओ, जिससे वह व्यक्त हो। अव्यक्त शक्तिको शुद्ध व्यक्त (प्रत्यक्ष) परिणमन स्वभावसे, निजरूप देखनेसे / भानेसे शक्तिका शुद्ध परिणमन होने लगता है। परिणामकी शुद्धताका - यह विज्ञान है।

(२३) "गुप्त और प्रकट ये अवस्थाभेद हैं; दोनों अवस्थाओंमें स्वरूप ज्यों का त्यों है; ऐसा श्रद्धाभाव सुखका मूल है।"

स्वभाव / स्वरूप द्रव्य, गुण, पर्याय अवस्थाभेदोंसे निरपेक्ष है। स्वभावकी यही वास्तविकता है। उक्त अवस्थात्रयसे स्वभावका भेद नहीं हो सकता, ऐसा अभेद है। उसको जैसा है वैसा श्रद्धामें लेना, जानना, अनुभव करना - जिससे कि सुख हो।

(२४) "परमें पर भासित होता है, निजकी ओर देखे तो पर भासित नहीं होता, निज ही है। (इससे) सुखकारी निजदृष्टि छोड़कर दुःखरूप परमें दृष्टि नहीं देना।"

परमें तन्मयभावसे परको देखनेसे सिर्फ पर भासित होता है - ज्ञान छूट जाता है; देखनेवाला ज्ञान निजकी ओर तन्मयभावसे देखे - ज्ञान, ज्ञानको देखे तो (पर अत्यंत गौण होकर भासित नहीं होता है) स्वयं ज्ञानमय ही है ऐसा भासित होता है। इसलिये ज्ञानमें 'स्व'को देखनेके उद्देश्यसे ज्ञानको देखे, तो स्वयं ज्ञानमय भासित होगा। निजमें निज अस्तित्वका ग्रहण करनेवाली दृष्टि सुखकारी है। परमें निज अस्तित्व स्थापित करनेवाली दृष्टि दुःखकारी है, ऐसा जानकर यथास्थानरूप दृष्टि-उपयोग कर्तव्य है।

(२५) "ज्ञानके प्रत्यक्षरसका भावमें वेदन करना वह अनुभव है।"

स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञानमय है, ऐसे ज्ञानरसका वेदन करना वही स्वानुभव है। "स्व-पने वेदनमें आता ज्ञान - वही आत्मा है।" - पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी। ऐसा प्रतीतिरूप विचार साधक है, व अनुभवका भाव साध्य है।

२-३-१९८७

(२६) "ज्ञानशक्तिसे केवलज्ञानरूप, गुप्त, निजरूप उसे प्रतीतिमें व्यक्त करे, तब परिणतिने केवलज्ञानकी प्रतीति-रुचि-श्रद्धाभाव करके निश्चय किया। गुप्तके व्यक्त (प्रत्यक्ष) श्रद्धानसे (वह) व्यक्त हो जाता है।"

व्यक्त ज्ञानमें स्वभाव अंश द्वारा अनंत ज्ञान सामर्थ्य / केवलज्ञानरूप अपने स्वरूपको प्रतीतिमें ले, तो परिणतिमें रुचिपूर्वकका निश्चय हो - उसका संक्षेप यह कि - गुप्त यानी कि सामर्थ्यरूप स्वरूप, श्रद्धाज्ञानमें (विषय) व्यक्त होते ही - उसका व्यक्त परिणमन होने लगता है।

(२७) "स्वसंवेदनमें जातिरूपसे अपना स्वरूप केवलज्ञानमें बराबर जाना।"

प्रथम स्वसंवेदन होने पर, स्वसंवेदन (अनुभव)की, प्रत्यक्षताकी जातिसे पूर्ण स्वसंवेदनरूप / केवलज्ञानरूप अपना स्वरूप बराबर जाननेमें आया / प्रतीत हुआ।

(२८) "निश्चयनय परमात्मा है।"

शुद्ध उपयोगमें निज परमात्मपदका अपने स्वरूपमें अनुभव हुआ। अतः अनुभवमें लेते ही स्वयं परमात्मारूप अनुभवमें आया।

४-३-१९८७

(२९) "शब्द साधक है, अर्थ साध्य है। अर्थ साधक है, ज्ञानरस साध्य है।"

शब्द द्वारा अर्थ यानी कि पदार्थका भाव समझमें आता है। आत्मपदार्थका स्वरूपरूप भावभासन होने पर, ज्ञानरस / आत्मरस सहज उत्पन्न होता है। यथार्थतामें इस तरह शब्दके निमित्तसे आत्मरसकी सिद्धि है। अयथार्थ प्रकार हो वहाँ ऐसा नहीं होता।

(३०) "द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन साधक है, भावश्रुत साध्य है। भावश्रुत साधक है, केवलज्ञान साध्य है।"

परमागमरूपी द्रव्यश्रुतका सम्यक् माने आत्मलक्ष्यी अवगाहन अर्थात् गहरा अवलोकन होनेसे भावश्रुत प्रगट होता है। दृष्टांतरूपपसे 'ज्ञान वह आत्मा'- इस निर्ग्रथ प्रवचनका सम्यक् अवगाहन यानी कि ज्ञान स्वसन्मुख होकर निजमें निजका अवलोकन करे, अस्तित्वका ग्रहण करे - वहाँ भावश्रुत होता है। ऐसा भावश्रुत 'ज्ञानकी सर्वशक्ति' के अवलंबनसे प्रगट हुआ है इसलिये - आगे जाकर केवलज्ञान - सर्वज्ञानमें परिणमित होगा।

(३१) "शास्त्रका सम्यक् अवगाहन साधक है, श्रद्धागुणज्ञता साध्य है।

(अगर) आत्मलक्ष्यी परिणामोंके द्वारा विविक्षित आत्मस्वरूपका यथार्थ अवगाहन (आश्रय) होवे तो आत्मश्रद्धान प्रगट होगा। इस तरह ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होता है।

६-३-१९८७

(३२) "सम्यक् प्रकारसे हेय-उपादेयको जानना साधक है, निर्विकल्प निजरस पीना वह साध्य है।"

आत्मसन्मुखतामें आत्मा सर्वस्वरूपसे उपादेय जाननेमें आता है, वहाँ अन्य समस्त द्रव्य-भावोंसे सहज उपेक्षित होनेका बनता है। निर्विकल्प स्वरूप महिमा वृद्धिगत होने पर, निर्विकल्प स्वसंवेदन रस-पान होने लगता है। तृप्तिका अनुभव होता है।

९-६-१९८७

(३३) "परिणाम वस्तुको वेदकर स्वरूपलाभ लेता है - वस्तुमें लीन होता है। स्वरूपनिवास परिणाम ही करता है।"

परिणाम निजस्वरूपका (मेरा) अवलंबन लेकर आनंदका लाभ लेते हैं और मेरेमें लीन रहते हैं - होते हैं। मेरेमें मेरा निवास है - ऐसा प्रगट मेरेपनेका भाव भी परिणाम करते हैं। यद्यपि जब परिणाम ऐसे भाव नहीं करते थे तब भी मेरा निवास तो मेरेमें ही था, और है और रहेगा। परन्तु प्रगट परिणाम द्वारा स्वरूपनिवासका भाव हुआ तब सर्व शुद्धता हुई, इसके पहले परिणाम स्वयं अशुद्ध रहते थे। और उसमें एकत्वकी भूल होती थी -अतः स्वरूपनिधान (विद्यमान) मौजूद होने पर भी नहीं होनेके बराबर था।

(३४) "(देवकी) स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्राको देखकर स्वसंवेदन भावरूप अपने स्वरूपका विचार करे (भाए)"

- यह जिनेन्द्रदेवके दर्शन करते वक्त अंतरंग स्वरूप अवलोकन करनेके सम्बन्धित विधान है। किस विधिसे जिनेन्द्र दर्शन करने योग्य है ? - उसका सुंदर आध्यात्मिक दिग्दर्शन यहाँ

पर मिलता है।

वीतराग जिनदेवकी मुद्रामें अंतर्मुखी स्वसंवेदन भावके दर्शन करनेसे, निज स्वसंवेदनरूप अपने स्वरूपकी भावना उत्पन्न होती है। इसीलिये लोकमें जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम शाश्वत एवं कृत्रिम (प्रतिमाकी) स्थापनाकी परंपरा अनादिसे है। उसमें उपर्युक्त पारमार्थिक रहस्य रहा है।

(३५) "इस स्थापनाके निमित्तसे तीन काल, तीन लोकमें भव्यजीव धर्म साधते हैं, इससे स्थापना परम पूज्य है। 'द्रव्यजिन' द्रव्यजीव (है) वह भी भावपूज्य हैं। इससे भावीनयसे पूज्य हैं।"

(३६) "अनंत गुणात्मक वस्तु तथापि ज्ञानमात्र ही है।"

आत्मा-वस्तुमें अनंत गुण होनेके बावजूद भी आत्मा 'ज्ञानमात्र' ही है। ऐसा कहनेमें गूढ़ रहस्य रहा है। समयसारजी आदि अनेक ग्रंथोंमें आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहा है।

"इत्यादि अनंतशक्ति सुनिर्भरोपि, 'ज्ञानमात्र' नयतां न जगति भावमू।"

(समयसार-कलश-२६४)

उक्तप्रकारसे कहा है क्योंकि :-

(A) ज्ञानलक्षणसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है, और स्वरूपनिश्चय होने पर आत्मसन्मुखता होती है। और ज्ञान द्वारा अस्तित्व ग्रहण होता है, परसे व रागसे भिन्नता होती है।

(B) ज्ञान द्वारा स्वसंवेदनरूप स्वानुभव ज्ञानमें ही होता है। एवं परिणतिमें भी ज्ञानवेदन प्रधान है और द्रव्यकी प्रतीतिका कारण बनता है।

(C) ज्ञानके सिवा दूसरे किसी भी गुणके परिणमनको लक्षणके स्थानमें रखकर स्वरूपकी पहचान नहीं हो सकती। क्योंकि अज्ञान अवस्थामें वस्तु-स्वभावका प्रसिद्ध, अविकृत, साकाररूप, वेदनरूप परिणमन दूसरे किसी भी गुणका नहीं होता है।

(D) पुनः सर्व गुणोंके परिणमनमें ज्ञानकी उर्ध्वता है। अतः ज्ञानकी प्रधानता अबाधित है।

(E) अंतर सावधानीरूप पुरुषार्थके परिणमनमें भी "ज्ञानमात्र" से निजका अवलंबन मोक्षमार्गमें रहे साधक जीव पलकमें लेते हैं - अतः साधन है।

१२-३-१९८७

(३७) "अपने स्वरूपको प्राप्त करनेका उपाय, अपना उपयोग है।"

यहाँ पर भी ज्ञान साधन है, ऐसा कहा है। आत्मा उपयोग स्वभावी है। वह वर्तमान उपयोगसे स्वभावमें आनेसे शुद्धता होती है। - रागादिमलका नाश होता है। जैसे-जैसे उपयोगकी शुद्धि विशेष हो, वैसे-वैसे मोक्षमार्गमें वृद्धि होकर ऊपर चढ़ता जाय-यह जिनेन्द्र परमात्माका

निराबाध उपदेश है।

(३८) "इससे जो जीव समाधि-वाँछक हैं वे इष्ट-अनिष्टका समागम मिटाकर, राग-द्वेषको छोड़कर, (अन्य) चिंता मिटाकर, ध्यानमें मन धरकर, चित्स्वरूपमें समाधि लगाकर निजानन्दको भेटो।" स्वरूपमें वीतरागतासे ज्ञानभाव हो तब समाधि उत्पन्न होती है।

जिसको उपाधिसे परिमुक्त होना है, वह संयोगमें (परद्रव्यमें) इष्ट-अनिष्टकी बुद्धिको मिटा (त्याग) दे तो राग-द्वेष मिट सकते हैं। कोई भी पर पदार्थ अच्छे या बुरे नहीं हैं - फिर भी व्यामोह / भ्रमसे जिस जीवको उसमें इष्ट-अनिष्ट अभिप्राय रहा है - वह सकल राग-द्वेषका मूल है - सर्व चिंताका मूल है। अगर ज्ञानमें कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा भासित नहीं होता हो तो फिर चिंता होनेका कारण भी नहीं रहता। जिसको चिंता नहीं है, वही चिंता निरोधरूप ध्यानदशामें आरूढ़ हो सकते हैं अथवा चिंता बिनाके जीवका ही उपयोग निवृत्त होकर चैतन्य स्वरूपमें लगता है; क्योंकि निर्विकल्प समाधि भावके लिए उपाधि / चिंता बाधक है। उसके जानेसे शिवपंथरूप समाधि सुगम होती है।

त्रिकाल निरूपाधि स्वरूप, निज स्वरूपमें जब उपयोग बाह्य उपाधिसे मुक्त होकर आये - स्वरूपाकार हो तब निजानन्द उत्पन्न होता है। स्वरूपमें भी समभाव, वह समाधि है। वही कल्याण है, निजधर्म है।

(३९) "भावश्रुत, श्रुतमें स्वरूपानुभव-करणको कहा। (दृष्टांत) परमात्माको उपादेय कहा। उसीरूप भाव सो भावश्रुतरस, उसे पी।"

श्रुतमें स्वरूप अर्थात् स्वभावका अनुभव करना उसे भावश्रुत कहना।

द्रव्यश्रुतके वाच्यका अनुभव करना, अर्थात् 'परमात्मा उपादेय है' - ऐसे द्रव्यश्रुत द्वारा निज परमात्माकी उपादेयता - साक्षात् उपादेयता भावमें होना वह भावश्रुत है। (निज परमेश्वरपदका साक्षात् अनुभव वही सम्यक् उपादेयता है अथवा स्वानुभवके कालमें परमपद उपादेय होता है।) अर्थात् श्रुतज्ञानमें अभेद स्वरूपका (स्वभावका) अनुभव करना-वह भावश्रुत है। ज्ञानमें ज्ञानका स्वपने वेदन करना, वह भावश्रुत है; वह निजरस है। उसका रुचिसे, परमप्रेमसे आस्वादन करने योग्य है।

(४०) "एकदेश उपयोग शुद्ध करके स्वरूपशक्तिको ज्ञानद्वारमें जाननलक्षण द्वारा (ज्ञानलक्षण द्वारा) जानना।"

यह स्वरूपको जाननेकी विधिका विधान है। दर्शनमोहका रस घटनेसे, आत्मार्थीजीवको भूमिकाकी ज्ञानमें निर्मलता (ज्ञानमें भूमिकाकी निर्मलता - समकितकी पूर्व भूमिका - एक देश उपयोगकी शुद्धता) होनेसे, निज उपयोग द्वारमें स्वरूपशक्तिको जानन लक्षण द्वारा जाने, तब

लक्ष्य-लक्षण अभेदरूपसे वेदनमें आते हैं, और स्वरूपशक्ति व्यक्त - प्रगट होती है।

१४-३-१९८७

(४१) "जो-जो उपयोग उठता है सौ मैं हूँ" उपयोग मेरे प्रदेश - क्षेत्रमेंसे स्वयं / सहज हुआ करता है। इन्द्रियके आधार बिना एवं विकल्प किये बिना । - ऐसा निश्चय भावोंमें करेगा वह तरेगा ही तरेगा।"

उपरोक्त वचनमें ज्ञान द्वारा स्वरूपमें अपनत्वका भाव कैसे करना - उसका प्रयोग पद्धतिसे विधान है। ऐसा इन्द्रिय रहित ज्ञानभाव वह मैं हूँ - ऐसी स्वरूपभावना तिरनेका उपाय है। आत्मभावनापूर्वक ज्ञानोपयोगको अनुसरते हुए, अस्तित्वको दृढतासे और भावनासे, मैं-मैं परिणाम द्वारा भानेसे आत्मरस वृद्धिगत होता है, अन्य रस टूटता है। यही तिरनेका उपाय है। यही स्वानुभवका उपाय है। सकल संत, महंत, भगवंत अनुभवमें लगे हुए हैं। स्वानुभवसे परमात्मा हुआ जाता है, अनंत कल्याण सधता है अतः उसकी अनंत महिमा है।

इति - अनुभवप्रकाश.....



दिसम्बर - १९८७

विधि :- ज्ञान द्वारा स्वयंकी (पूर्ण सामर्थ्यकी) प्रत्यक्षताका अवलोकन होते ही, उसमें 'मैं हूँ' - ऐसे निजपदका आस्तिक्य होनेसे, अर्थात् निज सत्ताके अवलंबनकी भींस (जोरसे अवलम्बित होना) आनेसे - उस रूप पुरुषार्थ द्वारा अनुपम पदकी लीनता होती है। (इसमें ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होनेसे पुरुषार्थ द्वारा स्थिरता (चारित्र) हुआ) सब साथमें ही है। (२१८)



प्रश्न :- ज्ञानकी विशुद्धता कैसे हो ?

समाधान :- स्वसंवेदनसे ज्ञानकी विशुद्धता होती है।

प्रश्न :- स्वसंवेदन कैसे हो ?

समाधान : निज अनंतज्ञानकी प्रतीति होनेसे (स्वसंवेदन) होता है। (परमें - रागमें मैं पनेकी प्रतीतिसे ज्ञान मलिन होता है।) (एकदेश) आंशिक स्वसंवेदन सर्व-पूर्ण संवेदनका अंग है - कारण है (अतः) वह मोक्षमार्ग है।

अपनेमें सर्वज्ञपनेका / सर्वज्ञशक्तिका अनुभव-प्रतीति सहित होनेसे स्वसंवेदन उत्पन्न होता है। (२१९)



आत्मस्वभाव सामर्थ्यरूप होनेसे गुप्ततत्त्व है। इसलिये ज्ञानमें ग्रहण होना कठिन है, परन्तु

असंभव नहीं । पुनः इस स्वभाव सामर्थ्यकी विशेषता यह है कि 'शुद्ध स्वरूपरूप व्यक्त होना' ऐसा (ही) अपना स्वभाव है। इसे अगर व्यक्तरूपसे भानेमें आये तो - वह (परिणामरूपसे) व्यक्त होवे - अथवा स्वभावकी 'व्यक्तपने' भावनारूप परिणामकी तन्मयता - तदाकारता - वही सहज स्वभावकी अभिव्यक्ति है। (२२०)



अंतर ज्ञानाभ्यासमें (ज्ञान सो में) ऐसे ज्ञानरसके प्रत्यक्ष वेदनसे, स्वानुभवकी उत्पत्ति होती है - यह विधि है। (२२१)



अंतरमें निज प्रयोजन सधे, उस कारणसे यदि प्रश्न उठे, तो वह योग्य जिज्ञासा है। इससे प्राप्त समाधानसे लाभ होता है। परन्तु परलक्ष्यी (प्रयोजन बिनाके) तर्क-वितर्कसे प्रश्न होना-वह सच्चा जिज्ञासापन नहीं है। ऐसे तर्कका समाधान प्रायः खुदको लाभकर्ता नहीं होता। (२२२)



धर्मी अंतरमें बहुत गहराईमें निर्विकल्प ज्ञानरसमें विचरते हैं, आत्मरसमें सराबोर होते हैं। रागरसवालेको उसकी कल्पना होना भी संभवित नहीं है। (२२३)



जिस मनुष्यभवका सद्उपयोग सिद्धपदकी प्राप्तिके लिये हो सकता है, उसका मूल्य - महिमा कैसे हो सकता है ? ऐसे मनुष्यपनेका मात्र देहार्थमें ही व्यतीत करनेमें आये तो यह कोई सामान्य अविचारीपना तो नहीं है बल्कि वह सर्वाधिक अविचारीपना है। (२२४)



जनवरी - १९८८

'आत्मभावना' - वह अध्यात्मकी नीवकी चीज है। क्योंकि अनात्मरस तोड़नेमें इसके अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है; अथवा 'आत्मभावना'- वह आत्मरस उत्पन्न होनेका स्वयं साधन है; जो कि अनादिके विभावरसको शांत करता है - तोड़ता है। अतः सर्व ज्ञानियोंने इसका महत्त्व दर्शाया है। (२२५)



कोई भी पर्याय दूसरी पर्यायका कार्य करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि दोनोंके बीच व्यतिरेक है - भिन्नता है। अतः परिणतिको अंदरकी ओर मोड़नेका भाव-विकल्प भी अंतर्मुख होनेका कारण-उपाय नहीं हो सकता। (विकल्पमें स्वरूपका अनुभव करनेकी शक्ति भी नहीं है) परन्तु

‘पर्यायमात्र मैं नहीं हूँ, मैं तो ध्रुव परमस्वभाव हूँ’ - ऐसे अंतर तत्त्वके ऊपर जोर जाते ही पर्याय सहजरूपसे अंदरकी ओर ढल जाती है - यह विधिका रहस्य है। (२२६)



सत्-श्रुतमें जगह-जगह पर, जीवके दोष टालनेके प्रयोजनसे व गुण प्रकट करनेके प्रयोजनसे बोध-वचन विधि-निषेधरूपमें कहे हैं; परन्तु सर्व कषायादि दोषोंसे बड़ा दोष ‘पर्यायमें एकत्व’ अर्थात् मिथ्यात्वरूप पर्यायबुद्धि है। उन सभी दोषोंका अभाव होनेका प्रयोजन - सिद्ध होनेके लिये, परिणामके अभाव स्वभावमें - त्रिकाली ध्रुवमें मैं-पनेसे स्थापन होना चाहिये, द्रव्य स्वभावकी दृष्टि होनी चाहिये, कि जिसमें विधि-निषेधके विकल्पका विलय हो जाय और परिणाममात्रका कर्तृत्व नाश हो, परिणाम प्रतिका रस मिटे, एकत्व मिटे। उस प्रकार द्रव्यभावसे विधि-निषेधके द्वंद्वका अभाव होकर ज्ञाता-दृष्टा भावसे स्थिरत्व सहज हो, वह है। (२२७)



फरवरी - १९८८

पर्यायमें संतुष्टपना पर्यायबुद्धि / दर्शनमोहको तीव्र करता है, इसलिये ‘किसी भी प्रकारसे’ ऐसा नहीं होना चाहिये। अथवा मुमुक्षुजीवको इसके प्रति जागृत रहना आवश्यक है। क्योंकि कोई भी पर्यायमें अटकना नहीं है - ऐसी सत्पुरुषकी सिख है - आज्ञा है। जब तक पर्यायमें ठीकपना रहता है तब तक स्वभावका अवलंबन नहीं आ सकता।

मुमुक्षुजीवको तत्त्वविचारकी भूमिकामें भी - उदयके कालमें, पर्यायार्थिक नय-विचारसे सिर्फ विकल्पसे समाधान होनेसे यदि संतुष्टपना रहता हो, और मंद कषाय होनेसे पर्यायमें संतुष्टपना आ जाता हो तो अटकन खड़ी होकर दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। अतः वैसे प्रकारमें (विचारसे) समाधान होने पर - स्वभाव-लक्ष्यी प्रयत्न होना आवश्यक है, जिससे पुरुषार्थ धर्म प्रगट हो। उक्त समाधान अथवा तत्त्व विचारणाके किसी भी प्रकारके समय ‘स्वभाव प्रत्ययी प्रयास’ अथवा स्वभावका लक्ष्य चालू ही रहना चाहिये, वरना प्रयास/लक्ष्य रहित परिणमनको साधन माननेकी भूल होनेकी संभावना बहुत है। जहाँ साधनकी भूल होती है वहाँ इष्ट साध्य सधता ही नहीं। यह सर्वकालमें अफर सिद्धांत है। (२२८)



मार्च - १९८८

तत्त्व-विचारवाले मुमुक्षुजीवको, महत्वपूर्ण विधिदर्शक, इस बातका ध्यान खिंचने जैसा है कि :- सिर्फ विचार करते रहनेसे स्वरूपकी जागृति नहीं आती, बल्कि स्वरूपको मैं पनेसे ग्रहण करनेसे जागृति रहती है - आती है। क्योंकि विचारमें वस्तु परोक्ष रहती है, जबकि ग्रहण

करनेमें प्रत्यक्ष तोरसे स्वरूपका ग्रहण करनेमें आता है, अतः निज अस्तित्वको- मौजूदगीको वेदनेका अर्थात् वेदनसे ग्रहण करनेका प्रयास शुरू होना चाहिये। (द्रव्यदृष्टि प्रकाश - ४५४ परसे) (२२९)



जब तक रागमें दुःख न लगे, तब तक ज्ञानमें सुख नहीं लगता - यह नियम है। इसीलिये जीव रागकी मैत्री (एकत्व) छोड़ नहीं सकता अथवा रागसे हट नहीं सकता। जैसे अपनी इच्छा-विरुद्ध प्रसंगमें जीवको आकुलता होती ही है वैसे यदि रागके सद्भावमें जीवको दुःख नहीं हुआ, तो उस रागका होना जीवको सुहाता है, रुचता है, सम्मत है (और) इच्छा विरुद्ध नहीं है। यहाँ इसमें रागकी अनुमोदनाका (सूक्ष्म) दोष (भी) होनेसे मिथ्यात्व मिटता नहीं, और रागका एकत्व तो वहाँ है ही। (२३०)



तत्त्वका श्रवण - धारणा, आत्मरुचिकी उत्पत्तिका कारण होते है अगर यथार्थभावसे, स्वलक्ष्यसे होते हो तो। यदि आत्मरुचि नहीं हुई / तीव्र नहीं हुई तो वह अयथार्थभावसे / परलक्ष्यसे हुई धारणा प्रायः नुकसान करती है। रुचि अंतरमें परिणमनका कारण होती है। गुणकी रुचिवाला जीव अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अवगणना/उपेक्षा करके स्वभावको साधता है। रुचि बिनाका धारणाज्ञान शुष्क है, अनर्थकारक है। (२३१)



अप्रैल - १९८८

समझकी यथार्थताका लक्षण वह है कि 'परम सत्की' अपूर्वता भासित हो अथवा चोंट लगे और (अंतर्मुख होनेका) सहज प्रयास शुरू हो। (२३२)



परिणाममें उत्पन्न रस - वह परिणामकी व्यक्त शक्ति है। स्वभावका रस स्वभावशक्तिको वृद्धिगत करता है। विभावरस विभावभावोंकी (शक्तिको) वृद्धिगत करता है। यह ध्यानमें / लक्ष्यमें लेने योग्य है। (२३३)



मई - १९८८

आत्मस्वरूपकी परम पवित्रता, शुद्धता, सामर्थ्यकी शाश्वत अनंतता, ध्रुवता, अखंडता ही समाधि व ध्यानका कारण है, निःचंचलताका कारण है। आत्मस्वरूप स्वयं परम प्रयोजनभूत है, उसके सिवा अन्य द्रव्य-भाव निष्प्रयोजनभूत है। (फिर भी) अप्रयोजनभूत विषयके प्रति प्रवर्तित

परिणाम चंचलताके उत्पादक है, चंचलता मलिनताकी उत्पादक है। स्वरूपध्यानी यह अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये असंगताको चाहते हैं। असंग निजतत्त्वकी दृष्टि असंगपनेकी साधक है। जनपदत्याग-ध्यानका अंग है। (२३४)



प्रशस्तराग भक्तिका बहिरंग है, 'सत्'का ज्ञान भक्तिका अंतरंग है, जिससे जगत अनजान है। - यह रहस्य सारभूत है, राग हेय है और उक्त ज्ञान उपादेय है, जो मुमुक्षुको समकितका कारण है; एवं सर्व साधकको विशेषरूपसे वर्तता है। (- कृपालुदेव) (२३५)



जब सत्पुरुषकी पहचान होती है तब मुमुक्षुजीवके ज्ञाननेत्रको उनके हृदयमें बिराजमान परमात्माके दर्शन होते हैं। जिससे अंतरंग भक्ति प्रगट होती है - इस कारणसे निज परमात्माके दर्शनके योग्य भूमिकाकी प्राप्ति होती है। इसप्रकारसे 'सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि' सहज उत्पन्न होती है। जो अध्यात्ममार्गका मूल रहस्य है (और) नियमसे सत्प्राप्तिका एकमात्र कारण है। (२३६)



दुःख इच्छाके प्रमाणमें है; इच्छाका मूल परमें सुखबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। दुःख प्रतिकूल संयोग अनुसार नहीं है। शाश्वत चैतन्यरूप स्वयंके अनुभवपूर्वक पर्यायको स्वांग समान जाने तो मरण तकका भय/दुःख न रहे, वही मुक्तभाव है। (२३७)



कुल-क्रमसे धर्म नहीं होता। संप्रदायबुद्धि पापकी जनक है। वीतरागका मार्ग अनंत विशाल है। 'सर्व जीवमें समबुद्धि' स्थापित करने योग्य है। अंतरमें झुकनेसे पहले सर्व विपर्यास छूट जाने चाहिये। किसीके भी प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं होती ! दुष्टवृत्तिमात्र निषेध है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति तो एक 'आत्मा' है, जो परमार्थसे, स्वरूपसे परमात्मा है। (२३८)



हयाति (अस्तित्व) को आधारबुद्धिके साथ संबंध है। आत्मस्वरूपमें रहा हुआ अनंत सुख, उसकी मौजूदगी प्रतीतमें आते ही, जीवको खुदके सुखके लिये दूसरेका आधार लेना मिट जाता है। ज्ञानवेदनसे स्वभावकी अनंतता-बेहदताका अस्तित्व ग्रहण होनेसे, सर्व प्रकारकी दीनता छूट जाती है और चिदरस उत्पन्न होता है। (२३९)



विपरीत श्रद्धानसे जीवको परमें, सुख नहीं होनेके बावजूद भी, सुखका विश्वास / प्रतीत

है। इसलिये पर विषयको सुखबुद्धिसे भोगनेसे सुखका (आभासरूप) अनुभव होता है। परन्तु वास्तविकतामें वहाँ सुख नहीं होनेसे किसीको भी तृप्ति नहीं होती। आत्मिकसुखकी गटागटीसे (अनुभवसे) प्रतीत होते ही पूरा जीवन बदल जाता है। वह जीव परमें कहीं भी सुखके कारण धोखा नहीं खाता। (२४०)



समस्त अन्यमत, अभिनिवेशमेंसे उत्पन्न हुए हैं; जो दर्शनमोहकी तीव्रताके द्योतक है। अतः मुमुक्षुजीवको अभिनिवेशको सर्वाधिक पाखंड समझकर, सावधान होकर दूर रहना योग्य है। (१) लौकिक अभिनिवेश और (२) शास्त्रीय अभिनिवेश - दोनोंका फल एक है। 'अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश' सबसे भयंकर अनिष्ट है। (२४१)



२५, मई - १९८८

उदयकालमें जीव पाँच इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका वेदन (भोगवटा) जितने रसके अनुपातमें करता है; उतने रसके अनुपातमें असाता वेदनीयका बंध पड़ता है। अगर उस अशाताके उदयके पहले भेदज्ञानकी शक्ति साध्य नहीं की हो तो वेदनाकालमें तन्मय होकर असाताका दुःख भोगना ही पड़े, और उतने अंशमें परसे भिन्न ज्ञानवेदन करनेकी शक्ति क्षीण होती है। अतः शारीरिक असाता वेदनाको उदयकालमें परवशपनेसे भोगनी ही पड़ती है। जब कि भेदज्ञानके अभ्याससे भिन्न ज्ञानवेदनको घड़नेसे और वेदनाके कालमें तीव्र पुरुषार्थ (उठानेसे) स्फुरीत होनेसे पुरुषार्थके अनुपातमें जीव वेदनासे मुक्त रह सकता है। (२४२)



मुमुक्षुजीव तत्त्वज्ञानका अभ्यास - वांचन - विचार (तो) करे, परन्तु उदयमें पूर्ववत् रुचिपूर्वक उदयका वेदन करे, तो भेदज्ञानका पुरुषार्थ करनेकी शक्ति क्षीण हो जानेसे, उसको इच्छा होनेके बावजूद भी भेदज्ञान नहीं हो सकता बल्कि उसको भेदज्ञान करनेकी समस्या खड़ी हो जाती है। इसलिये यदि जागृतिपूर्वक उदयकालमें मंद परिणामसे उदय-वेदन हो, (भेदज्ञानके प्रयोगके कारण) तो आगे बढ़ा जाय।

वांचन-विचार बाह्य क्रिया है, वह भावनाकी वृद्धिके प्रयोजनसे होने चाहिये। (जब कि) भेदज्ञान अंतर क्रिया है। बाह्य क्रिया उदय आधिन होती है। अंतरक्रिया पुरुषार्थ आधिन होती है। इसलिये अंतरक्रिया किसी भी प्रकारके बाह्य साधनके बिना सतत हो सकती है। अतः बाह्यदृष्टि छोड़कर अंतरक्रियामें प्रवर्तन करना - वही हितावह है।

बाह्यकार्योंकी गिनती करनेमें बाह्यदृष्टि रहती है जो अहितकर है, अथवा अंतर क्रियाको

अवरोधक है। सच्ची आत्मभावना हो तो उसमें गिनती नहीं होती। (२४३)



व्यवहार परत्वे किसी भी तरह, किसीके संबंधसे (धार्मिक क्षेत्रमें) लाभ लेनेका स्वप्नमें भी इच्छनीय नहीं है। (वह दर्शनमोहके आवरणका कारण है।)

मुमुक्षुके पुरुषार्थका Back ground (पार्श्वभूमि) तो यह है कि, थोड़े कालका एक जन्म (भव) प्रारब्ध अनुसार पसार कर लेना; उसमें दीनता करनी उचित नहीं है - ऐसा दृढ़ निश्चय रखने योग्य है। अन्यथा पुरुषार्थ उठेगा ही नहीं। सर्व प्रसंगमें सहज भावसे प्रवर्तन करनेका अभ्यास हो, तो निवृत्ति रहे, अन्यथा प्रवृत्ति / उपाधि मोल लेनी पड़े। इस प्रकारकी दशाके लिये बार-बार प्रयत्न करे तो भव-उदासीपना सिद्ध हो। (२४४)



लोकसंज्ञा एवं ओघसंज्ञाकी वृद्धि होने पर, परमार्थके विषयमें जीवको कल्पना होने लगती है। ऐसी कल्पना वास्तविक वस्तुस्वरूपसे विपर्यासरूप है, भवके कारणरूप है। अतः ओघसंज्ञाकी निवृत्तिके लिये जागृत रहकर पुरुषार्थ कर्तव्य है। प्रमादमें ओघसंज्ञा चालू रहे - वह हानिकारक है। लोकसंज्ञा तो प्रत्यक्ष जहर ही है। (२४५)



जून - १९८८

ज्ञानीका उपजीवन अर्थात् देहादिक संबंधी बाह्यप्रवृत्ति पूर्वकर्म अनुसार होती है। ज्ञानको (स्वरूपको) प्रतिबद्धता हो, ऐसा कुछ भी वे नहीं करते - करनेके प्रसंगकी इच्छा भी नहीं है। स्वरूप-अप्रतिबद्धताके लिये जो भी पूर्वकर्म अनुसार उदय हो वह उन्हें सम्मत है। ऐसा दृढ़ निश्चय जिन्हें स्वरूपआश्रित हुआ है उन्हें नमस्कार हो ! (२४६)



जिसका दर्शनमोह बलवान होकर वर्तता है और इस कारणसे जो प्रत्यक्ष ज्ञानी - सत्पुरुषसे विमुख वर्तते हैं, ऐसे जीवोंको सत्पुरुषकी अवज्ञा बोलनेका निमित्त हमारे कारणसे नहीं हो, इतना उपयोग (सावधानी) रखकर प्रवर्तन करना योग्य है, बेसावधानीको (इस विषयमें रखना) दोष जानना।

सत्पुरुषका अवर्णवाद करना, उसमें उत्साहित होना, वह जीवके अनंत संसार बढ जानेका कारण है। जब कि सत्पुरुषके गुणग्राम करना, उसमें उत्साहित होना, उनकी आज्ञा पर 'सरल परिणामसे' उपयोगपूर्वक चलना - वह अनंत संसारके नाशका कारण है। - यह अनंत तीर्थकरोंने कही हुई बात है। (कृपालुदेव) (२४७)

मुमुक्षुजीवको सिद्धांत और अध्यात्म सम्बन्धित ज़रा सा भी विपर्यास नहीं हो जाये उसकी अत्यंत सावधानी रखनी जरूरी है वरना मिथ्या आग्रहपूर्वक कहनेसे / दूसरोंको प्रेरणा देनेसे, खुदको बोध होनेकी योग्यताको आवरण आता है; ऐसा जानकर निरावरण होनेके लक्ष्यसे भी दोषित प्रवृत्तिसे अटकना / जागृत रहना हितावह है। भवभीरु जीव जागृत रहकर ऐसे दोषसे बचता है। खास करके अध्यात्मरससे विमुखता नहीं हो, वह गंभीरतासे लक्ष्यमें लेने योग्य है।

(२४८)



समर्थ ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहे हुए (दर्शाते हुए) वचन भी जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा एवं असत्संगकी रुचिके वशात्, निज स्वरूपका विचार / निश्चय करनेके बलकी उत्पत्तिमें सफल नहीं होते हैं। उक्त अवरोधक कारणको साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको स्वस्वरूपका निश्चय होना - भावभासन होना अत्यंत दुर्लभ है।

(२४९)



वेदनीय आदि कर्मके उदयको भोगे बिना छूटनेकी इच्छा ज्ञानीपुरुष नहीं करते हैं, अगर करते हैं तो वह ज्ञानी नहीं बल्कि देहाध्यासी अज्ञानी है। देहाध्यासी अज्ञानी ही ऐसी इच्छा रखते हैं, ज्ञानीको तो भेदज्ञान वर्तता होनेसे वेदनाका भय नहीं होता, परंतु वेदनाके उदयकालमें ज्ञानी विशेष पुरुषार्थ परायण सहज ही रहते हैं। सर्वकालमें होने योग्य ही होता है। अतः ऐसे सम्यक् समाधानपूर्वक आकुलता करने योग्य नहीं है। जो कोई भी आकुलता करता है वह अपराधी होता है, फिर भी जो होना होता है वही होता है - इसलिये ज्ञानपूर्वक अपराधको छोड़ने योग्य है।

(२५०)



आत्माको मूल ज्ञानसे च्युत कर दे ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय ऐसा विकट प्रारब्धोदय अथवा गिरनेके भयंकर स्थानक - प्रसंगोंमें जागृत रहकर, सावधान रहकर, जिन्होंने तथारूप पुरुषार्थ करके आत्मसिद्धिको हासिल की है, उन सत्पुरुषोंके पुरुषार्थको स्मरणमें लेते ही रोमांचित आश्चर्य होता है - यथावत् भक्ति उत्पन्न होती है। "अहो ! ज्ञानीपुरुषकी आशय गंभीरता, धीरज और उपशम ! अहो ! अहो ! वारंवार अहो !"

- श्रीमद् राजचंद्रजी

(२५१)



दुष्कर ऐसी तृष्णाका यथार्थ पराभव होनेके लिये परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने मुमुक्षुको बोधमें दिये हुए उपदेशके मुद्दे :-

१. आत्महितकी तीव्र जिज्ञासाके वशात् भोगादिके प्रति नीरसता, मंदरस होना।
२. लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि अर्थात् लोकसंज्ञाको कम करनेसे (तृष्णाका पराभव हो सकता है।)
३. लौकिक विशेषतामें कुछ भी सारभूतपना नहीं है ऐसे निश्चयसे - ऐसी समझसे लोकसंज्ञाको तोड़ना ।
४. सिर्फ आजीविकाके अलावा विशेषका कोई प्रयोजन भासित नहीं होना, अतः मंद(रस) परिणामसे व्यवसायमें प्रवृत्ति करना - इससे जो आमदानी हो उसमें संतुष्ट रहना ।
५. सत्पुरुषके प्रति 'अनन्य आश्रयभक्तिसे' प्रवर्तन होना।
६. पूर्वकर्म अनुसार समाधिभावसे प्रारब्धको भोगनेमें दीनता नहीं करना और आयुष्यका शेष अल्पकाल होनेसे आत्महितकी मुख्यता रखना। (२५२)



एक भवके शेष कालको पूर्वकर्म अनुसार भोग लेना, उसके लिये भविष्यकी चिंताके वश, नये कुकर्म नहीं बाँधना है, ऐसा मुमुक्षुजीवका अभिप्राय एवं निश्चय होता है; इसलिये (पालन-पोषण) उपजीवन जितना ही मिले तो भी उसमें भी संतुष्ट होता है, क्योंकि विशेषका कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये मुमुक्षुजीव मुख्यरूपसे आत्महितका ही विचार व उद्यम करता है। देह एवं देह संबंधी कुटुम्बकी महत्ताके हेतुसे परिग्रह और प्रवृत्ति बढ़ानेका स्मरण भी नहीं होने देता। वरना तो आत्महितका अवसर ही नहीं रहे, ऐसा यह काल है। इसमें शिथिलता कर्तव्य नहीं है। (२५३)



जुलाई - १९८८

केवल अंतर्मुख होनेका बोध श्री तीर्थकरादि महत् पुरुषोंने फरमाया है, जो कि सर्व दुःखके क्षयका उपाय है। विशुद्धमतिसे और तीव्र पुरुषार्थसे अंतर्मुख होनेका प्रयास होना जरूरी है। मनुष्य पर्याय उसके लिये उत्कृष्ट अवसर है; उसमें प्रमाद होता है, वह खेददायक है। (२५४)



तिर्यच अवस्थामें भी, यदि आत्मा तीव्र पुरुषार्थसे पंचम गुणस्थानके योग्य स्वभाव स्थिरतामें पहुँच सकता है, पहुँचता है, तो क्या मनुष्य चतुर्थ गुणस्थानके योग्य चैतन्य वीर्यकी स्फुरणाके लिये भी निष्फल जायेगा (!), अथवा प्रमाद करता है ? - वह आत्मजागृतिकी अत्यंत क्षति अथवा अभावको सूचित करता है। अतः सावधान होकर, सावधान रहकर, अप्रमत्तभावसे पुरुषार्थ

प्रगट होना योग्य है।

(२५५)



परम निर्दोषता, पवित्रता, परमशांतरस प्रतिपादक, आत्मभाव आविर्भूत हो, ऐसे वीतराग वचनोंकी / वीतरागश्रुतकी अनुप्रेक्षा वारंवार कर्तव्य है। चित्त स्थैर्यके लिये वह परम औषध है।

(२५६)



आत्मानंद जो कि स्वरूप आश्रयसे प्रगट होता है, और जो अपूर्व होने पर भी मुख्य नहीं होता है (गौण रहता है।) सिर्फ वही सम्यक् निर्भ्रात स्थिति है। अन्यथा मंदकषायमें 'वृत्ति शांत की है' ऐसा अहंपना जीवको स्फुरित होनेसे, उस प्रकारके धोखेमें भटक जाता है - अथवा परिणामकी मुख्यता होने पर, परिणाम हलकी कक्षाको प्राप्त होते हैं।

(२५७)



जो भी पात्र जीव सत्पुरुषको पहचानकर, परमदैन्यवृत्तिसे उस भगवानरूप सत्पुरुषके चरणमें रहनेका इच्छुक है, तो उसके यथार्थ प्रकारको निमित्ताधिन वृत्ति / दृष्टिपना गिनने योग्य नहीं है, क्योंकि उस जीवका उपादान निजहितार्थमें जागृत हो ही गया है, इसमें निमित्ताधिन दृष्टिकी शंका करना, वह कुतर्क है। कुतर्क मनका रोग है। कार्य उपादानसे होता है, ऐसा सीखना - समझना उस जीवको बाकी नहीं है। विवेकी जीव उसके उपादानको देखकर प्रमुदित / प्रसन्न होते हैं, (जब कि) वक्रदृष्टिवाले उसको निमित्ताधिन वृत्ति गिनते हैं।

(२५८)



स्वयंके क्रम (पुरुषार्थके लिये अति उत्साह) को दृढ करने योग्य - होने योग्य है, जागृति होवे तो ही चारों तरफसे निवृत्ति रह सकती है, वरना बाह्य निवृत्तिका पुण्ययोग भी कषायकी मंदतामें व्यतीत होगा - पूरा होगा।

(२५९)



संयम कब प्राप्त हो अथवा वर्धमान हो ? कि जब तीक्ष्ण परिणतिसे ब्रह्मरस - निर्विकार चिद्रसमें स्थिरत्व उत्पन्न हो तब। संयम = विषयके प्रति परिणाम नहीं होना।

(२६०)



अगस्त - १९८८

जिस प्रकार सभी जीव (स्वभाव होनेके कारण) सर्वत्र, सर्वदा सुख चाहते हैं; वैसे स्वरूपसे सर्वोत्कृष्ट होनेसे, सभी जीव अपनी महानता (प्राप्त) हो ऐसा चाहते हैं। परन्तु स्वरूपबोधके अभावके कारण, परपदमें सुख एवं बड़प्पन (महानताको) देखते हैं, इसलिये परपदमेंसे मान

एवं सुख जुटानेका मिथ्या-वृथा प्रयत्न करते हैं और वैसे परिणाम स्वगुणके घातक होनेसे, दुर्गुण होनेसे, दुःख - आकुलताके उत्पादक हैं। मानका परिहार करनेके लिये सत्पुरुषके प्रति सर्व समर्पणबुद्धि - परम दैन्यत्व वह अति सुंदर एवं सुगम उपाय है। सहजमात्रमें उपरोक्त दोनों प्रकारके महादोषका अभाव करके परमसुख स्वभाव ग्रहण होनेकी योग्यताका रहस्य इसमें है। (२६१)



रागमें दुःख नहीं लगनेमें - एक न्यायसे ठीकपनेसे रागकी अनुमोदना वर्तती है। (अतः) उसमें रागका कर्तृत्व सिद्ध होता है। - ऐसा प्रकार स्वरूपके प्रति पुरुषार्थके अभावके कारण, 'ज्ञानमात्र' की वृत्तिका झुकाव / जागृति नहीं होनेके कारण, मुमुक्षुको रहता है, जो कि योग्य नहीं है। (२६२)



आत्मद्रव्य मेचक - अमेचक स्वरूप है। उसमें मेचकता उपादेय नहीं है। मेचकको अमेचक उपादेय है; कि जिससे मेचकभाव शुद्ध - सम्यक्तत्वको, शांतताको प्राप्त होता है। मेचक अंग चलित परिणामरूप है, उसको अमेचक अंगका अवलंबन ही इष्ट है, अन्यथा उसमें अशांति, मलिनताकी उत्पत्ति रोकी नहीं जा सकती। (२६३)



परमार्थकी वास्तविक इच्छा - भावनाका लक्षण यह है कि जीव सभी उदय प्रसंगसे उदास हो जाय, अगर ऐसा नहीं हो तो, आत्महितकी सच्ची, अंतरकी भावना ही नहीं है - यह वास्तविकतामें आये बिना कभी कल्याण हो जाय ऐसा बन ही नहीं सकता। (२६४)



सितम्बर - १९८८

त्रिकाल निरावरण निज परमात्मतत्त्वका ध्यान, वही भगवान अर्हत परमेश्वरके मुखारविंदसे प्रवाहित दिव्यध्वनिका सार है, तथापि उस दिव्यध्वनिके परिज्ञानमें कुशल ऐसे चार ज्ञानधारी गणधरदेव रचित सकल श्रुत - सिद्धांतके अर्थसमूहरूप सर्वस्व सार अथवा रहस्य है। (२६५)



स्वानुभवके लिये अनुभवश्रेणीकी कार्यपद्धति ही अनुकूल है, अथवा साधन है जो कि अंतरक्रिया है, जब कि वांचन-विचार आदि बाह्यक्रिया है। इस कार्यपद्धतिका प्रकार 'निजावलोकन'

है, जो कि विचारसे अधिक है। इसलिये अगर वांचन-विचारकी मर्यादासे आगे ऐसा 'निजावलोकन' शुरू नहीं हुआ, तो वह जीव वांचनादि बाह्यक्रियामें ही अटक जाता है। विचारमें परोक्षता रहती है जबकि वस्तु एवं अनुभव तो प्रत्यक्ष है। अतः सिर्फ विचारश्रेणीकी पद्धति 'अपर्याप्त' है। केवल तर्क और विचारमें कल्पना होनेकी संभावना है। (२६६)



'जीव करना नहीं चाहता है, इसलिये स्वकार्य नहीं होता है।' - (पू. बहिनश्री चंपाबेन) यह वचन परम सत्य है। उक्त वचनमें भावना एवं निश्चयका जोर है। जिसके कारण परकी अधिकाई छूटती है, और पर प्रति अटकना बंध-होकर स्वकार्यमें जुड़ता है। परसे उदास हुए बिना स्वकी ओर जानेका अवकाश नहीं होता है। (२६७)



निरुपाधिक स्वभावदृष्टिमें विकल्प मात्र बोझारूप लगता है। ज्ञानके ज्ञार्तृत्वको रागके कर्तृत्वमें अनंत बोझा एवं दुःख है। नेत्रके पास वज्र उठवानेके बराबर है। अवलोकनमें जब राग उपाधिरूप लगता है, और जब 'ज्ञान'के साथ उसका मिलान होता है तब ज्ञानका रूप निरुपाधिक लगता है। तब (उपाधिसे हटनेके भावरूप) भेदज्ञान शुरू होता है। (२६८)



जिस मुमुक्षुजीवको स्वकार्य शीघ्रतासे करनेका तीव्र भाव-वेग वर्तता है, वह स्वसन्मुख होनेके सहज प्रयासमें वर्तता है। उसमें उसको प्रमाद नहीं होता। स्वसन्मुखताके प्रयासमें दर्शनमोहका रस एकदम कम होता है। ऐसा प्रयास वह स्वानुभवका मूल / अनन्य कारण है। (२६९)



अक्टूबर - १९८८

ज्ञान ही मोह क्षय कारणम्। वा ज्ञानात् मोह प्रणश्यति।

ज्ञानम् हि मोक्षहेतुः (समयसार १५१ - ५२)

ज्ञान मोहका नाश करता है अथवा ज्ञान होने पर मोह उत्पन्न नहीं होता; वह ज्ञान कैसा ?

पर पदार्थसे भिन्नताका ज्ञान, (अनुभव), परकी जड़ताका ज्ञान, अथवा परमें सुख-दुःख रहितपनाका ज्ञान, सहज परसे उदास होकर, परसे विमुख होकर, स्व-सन्मुख होता है। वहाँ ज्ञान ज्ञानका - स्वयंका वेदन करता है। समभावमें, स्व-सुखमय होकर, 'मात्रज्ञान' पनेसे अथवा 'ज्ञानमात्र' पनेसे रहने पर मोह विलय होता है। (नियमसार-२३४)

इत्थं बुद्धा जिनेन्द्रस्य मार्ग निर्वाणकारणम्।

निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥ (नियमसार-२४९) (२७०)



निर्भ्रातदशामें सारा जगत तृणवत् भासित होता है। जो कि विकल्पोंके विरामका कारण है। असंगवृत्तिका बलवानपना, अनंत आनंदमय स्वसंगकी रमणताका निमित्त है। स्वशक्तिसे स्थित रहकर परमपद आराध्य है, आराध्य है। (२७१)



आत्माकी कोई भी शक्तिको / गुणको शक्तिके भेदसे नहीं देखना है, परन्तु द्रव्यरूपमें - एकरूपमें द्रव्यसे अभेद, द्रव्यकी विशिष्टतासे देखना है, इस प्रकारसे देखना-वह यथार्थ है, वरना भेद विकल्प नहीं छूटते। अगर भेदका रस बढ़ जाये तो अभेदका रस उत्पन्न नहीं होता, यह बड़ा नुकसान है। द्रव्यानुयोगके अभ्यासके कालमें यह ध्यानमें रखने योग्य है। (२७२)



स्वलक्ष्य - वह यथार्थ लक्ष्य है, उसमें निजहितकी जागृति सहज वर्तती है। स्वलक्ष्य माने स्वरूपलक्ष्य अथवा आत्मलक्ष्य। ऐसा आत्मलक्ष्य अगर ज्ञानचक्रका / ज्ञानके परिणमनका धुरा बने, तो ज्ञान कहीं पर भी नहीं फँसता अथवा अयथार्थताको प्राप्त नहीं होता। जब तक 'स्वलक्ष्य' उत्पन्न नहीं होता है तब तक ज्ञानकी प्रवृत्ति परलक्ष्यपूर्वक ही होती है। जो कि अनेक दोष, मूल दोष (अज्ञान-मिथ्यात्व) को निर्मूल करनेमें असमर्थ है। जब कि 'परलक्ष्य' तीव्र होने पर दोषका उत्पादक होता है। परलक्ष्यीज्ञान अयथार्थ ज्ञान है। (२७३)



अगर स्वरूपप्राप्तिकी भावना तीव्र-अपूर्वभावपूर्वक उत्पन्न हो, तो वह सतत वर्तती रहती है। ऐसी परिस्थितिमें निजस्वरूपकी प्राप्तिका अवकाश उत्पन्न होता है। तब उपयोगमें दैदीप्यमान चैतन्यशक्तिको 'स्वरूप-रूपमें' अवलोकनमें लेनेसे - भानेसे चिदरस - आत्मरस उत्पन्न होता है और परिणति होती है। (वह) बलवान दृढ परिणति शुद्धोपयोगका कारण होती है अथवा शुद्धिविशेषकी कारणभूत होती है। यह सर्वका मूल भावना है। मात्र युक्तिपूर्वक शास्त्रके चिंतन-मननसे सदगुणोंकी प्राप्ति नहीं होती। (२७४)



सम्यक् 'मार्गकी सूक्ष्मताके' विषयमें विभिन्न प्रकारके भावोंमें संतुलन बना रहे और विपर्यास नहीं होनेमें कारणभूत सम्यक्त्व - स्वरूपकी उपादेयता है। जैसे कि :-

(१) निश्चय-व्यवहार (२) द्रव्य-पर्याय (३) श्रद्धा-ज्ञान (४) उपादान-निमित्त (५) भेद-अभेद

(६) चारित्रमोह-दर्शनमोह (७) आगम-अध्यात्म (८) उत्सर्ग-अपवाद (९) ज्ञान-पुरुषार्थ (१०) पर्यायकी भिन्नता - अभिन्नता (देखिये - २८६)

(१) निश्चय-व्यवहार : आगममें प्रयोजनवश निश्चयकी मुख्यता स्थापित की है, परन्तु निश्चयाभास नहीं हो जाये, और कहीं जगह प्रयोजनवश व्यवहारकी मुख्यतासे भी निरूपण है फिर भी व्यवहाराभास नहीं हो जाये और उभयाभास भी नहीं होवे - ऐसा इस विषयमें संतुलन रहनेसे निश्चय-व्यवहारकी अविरोधता सधती है।

(२) द्रव्य-पर्याय : द्रव्यका अवलंबन, द्रव्यके प्रति उत्पन्न जोरसे लिया जाता है। फिर भी वेदन पर्यायका होता है। जो आनंद पर्यायमें आता है वह अपूर्व है, फिर भी पर्यायकी मुख्यता अथवा आश्रय नहीं होता। दोनों प्रयोजनके साथ संलग्न होने पर भी यथास्थानमें रहते है वह संतुलनके कारणसे, मोक्षपदकी भावनाके कालमें भी....

(३) श्रद्धा-ज्ञान : सम्यक्श्रद्धा सिर्फ स्वस्वरूपका ही स्वीकार करती है। ज्ञान स्वरूपको / स्वयंको एवं श्रद्धा, पुरुषार्थ, आनंद आदि पर्याय, गुणभेद, निमित्त इत्यादिका, स्वीकार करता है, फिर भी मुख्यता / लक्ष्य श्रद्धाके विषयकी करता है - उसमें श्रद्धा-ज्ञानमें अविरोधपना रहे, वह इस विषयका संतुलन है।

(४) उपादान-निमित्त : आगममें वीतरागी देव, शास्त्र, गुरुको सच्चे निमित्तरूप स्थापित किये हैं, देशनालब्धिका सिद्धांत भी तदनुसार प्रसिद्ध है। अतः विद्यमान प्रत्यक्ष योगरूप सत्समागमकी महिमा भी आगममें प्रसिद्ध है, और यथार्थ भूमिकामें वह समुत्पन्न होता है, फिर भी संतुलन गवाँये बिना साधक मुख्यरूपसे उपादानके पुरुषार्थमें संलग्न रहता है।

(५) भेद-अभेद : अनादिसे अभेदस्वरूपसे अनजान ऐसे जीवको भेद बिना अभेद स्वरूप समझाना अशक्य है। और वस्तु-स्वरूप भी कथंचित् भेदरूप है। अतः भेदको स्वरूपज्ञान उत्पन्न होनेका अंग कहा है। स्वरूपज्ञान होनेके बाद भी वस्तुकी महिमा, उसमें रहे अनेक गुण-वैभवसे करनेमें आती है, फिर भी अभेदका अनुभव साध्य करनेका उसमें हेतु होनेसे, अभेद तत्त्वकी ही मुख्यता रहती है, ऐसा संतुलन सम्यक्मार्गमें होता है।

(६) चारित्रमोह-दर्शनमोह : चारित्रमोहके वश, मोक्षमार्गी जीवको भी राग-द्वेष होते हैं, फिर भी दर्शनमोह सहित हो, ऐसे रागादि नहीं होते, ऐसा संतुलन सम्यक्मार्गमें होता है। अर्थात् निजस्वरूपके भानमें रागादि होने पर भी उसमें तन्मय नहीं होते हुए, भिन्न रहनेके संतुलनमें रहते हैं। (क्योंकि स्वरूपका एकत्व नहीं छूटता।)

(७) आगम-अध्यात्म : अध्यात्मका विषय एवं सिद्धांत, चारों अनुयोगके सिद्धांतोंसे पर

है - उत्कृष्ट है, (जबकि) चारों अनुयोगका आशय अध्यात्मका निरूपण करनेका - स्थापित करनेका है। अतः इस हेतुके वश रहकर, आगमका अवगाहन कर्तव्य है। इसलिये अध्यात्मकी सिद्धिके लिये आगमज्ञान यथावत् रहकर, गौण होकर निरूपित करना - वह सम्यक् है। दृष्टांत : त्रिकालीध्रुवकी उपादेयतामें - अहंबुद्धि होनेके हेतुसे, सर्व पर्यायको (प्रमत्त - अप्रमत्त) परद्रव्य, परभाव कहनेमें द्रव्यानुयोगका सिद्धांत - पर्याय स्वद्रव्यका अंश है - यथावत् रहते हुए ज्ञानमें गौण है, - इसतरह आगम-अध्यात्मका संतुलन रहना वह सम्यक्मार्गकी सूक्ष्मता है। राग, जीव-विकार भाव होने पर भी उसके निषेधकालमें, रागको पुद्गल कहते वक्त भी ज्ञानीको संतुलन रहता है।

(८) उत्सर्ग-अपवाद : साधकका परिणमन उत्सर्ग-अपवादकी मैत्रीरूप होता है। सिर्फ वीतरागता ही उपादेय होनेसे उसकी सिद्धिके हेतु सिद्धांत / उत्सर्ग है, फिर भी शुद्धिके मंद पुरुषार्थके कारण साधकको विकल्प हो जाता है, जो अपवाद मार्ग है। उसमें अशुभसे बचनेके लिये शुभरागरूप प्रवर्तन भी होता है। इस तरह परिणामका संतुलन गवाँये बिना, साधक उग्र पुरुषार्थमें प्रवर्तते हुए शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प दशामें आरुढ़ होकर मोक्षमार्गमें आगे बढ़ते हैं।

(९) ज्ञान-पुरुषार्थ : परमतत्त्वका आश्रय - स्वभावके जोरमें आता है। स्वभाव पर जोर जाना, वही स्वरूपज्ञानकी वास्तविकता है, अन्यथा द्रव्य, गुण, पर्याय सम्बन्धित क्षयोपशमवाला ज्ञान अनादि पर्यायमात्रके आश्रयको छुड़ानेके लिये समर्थ नहीं है - बल्कि स्वभावका जोर ही पर्याय आश्रितपना छुड़ाता है। लेकिन स्वभावके प्रति जोर देनेमें कृत्रिमता नहीं हो, यह ध्यानमें रखने योग्य है। वास्तविकरूपसे तो स्वभावकी पहचान (भावभासन / लक्ष्य) पूर्वक यदि स्वभावके प्रति जोर - (वीर्य) उछले तो कल्पना नहीं होती और उस प्रकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुका स्वरूपज्ञान और त्रिकाली स्वभाव प्रतिका जोर - दोनोंमें संतुलन बना रहता है।

जिस जीवको वस्तुस्वरूपमें कल्पना होती है, उसको त्रिकालीके प्रति सहज वीर्य (पुरुषार्थ) नहीं उछलता। यदि वह कृत्रिम जोररूप, विकल्परूप / भाषारूप प्रवृत्ति करे तो भी वह स्वभावके समीप नहीं आता, और उसको उपर्युक्त स्वरूपज्ञान व त्रिकालीका जोर देनेके बीच संतुलन नहीं रह पाता परन्तु एकांत हो जाता है। (उसको ही एकांत अर्थात् आभास कहनेमें आता है।)

वस्तुस्वरूपका निश्चय होनेमें कल्पना हो जानेका कारण :- जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, अथवा असत्संगकी प्रीतिरूप परिणाम होना - वह है। दुःख - वह कल्पनासे उत्पन्न होनेवाला

भाव है - इस सत्यका विस्मरण करने योग्य नहीं है । इसलिये तत्त्व विचारणामें यथार्थ निश्चय होनेके लिये तथा कल्पना नहीं हो इसलिये, आत्मार्थीता समेत अंतर संशोधनपूर्वक निर्णयकी दिशामें प्रयत्न होना योग्य है, वरना कल्पना - यानी कि दुःखका कारण अवश्य उत्पन्न हो ही जायेगा ।

(१०) पर्यायकी भिन्नता-अभिन्नता : जीवकी पर्याय कथंचित् भिन्न होनेसे उसकी स्वतंत्रता दिखाते हुए, प्रत्यक्ष संसार अवस्थासे वह स्वतंत्रता सिद्ध होती है। मूल स्वभाव संसारसे सर्वथा रहित, सदाय एकरूप सिद्ध समान होने पर भी, अनादिसे पर्याय स्वतंत्ररूपसे संसाररूप, अनेकरूप हो रही है। जब स्वभावके स्वभावरूप परिणमन करनेके सामर्थ्यके आधिन भी संसार अवस्था नहीं होती है (तो परके आधिन होनेकी अथवा परका खुदके आधिन होनेकी पर्याय-अपेक्षित बात तो बहुत दूर की है।) इस प्रकार पर्यायकी स्वतंत्रता जाननेसे...

(१) पराधिनताके अज्ञान-अभिप्रायसे होनेवाले राग-द्वेष मिटते हैं,

(२) जो पर्यायकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, वह द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, ऐसा प्रतिबंधक अभिप्रायका दोष मिटता है।

(३) पर्यायकी गौणता होकर, मैं पनेसे त्रिकाली स्वभावकी मुख्यता पर्याय - उपेक्षितपनेसे हो सकती है। - यह पर्यायमें हो रहे एकत्वको मिटानेके लिये महत्त्वपूर्ण न्याय है।

इस तरह अध्यात्मके प्रयोजन वश, अक्रिय स्वरूपदृष्टिमें परिणाम स्वयं अपने षट्कारकसे परिणमन करते हुए जाननेमें आते हैं। पर्यायके स्वतंत्रता धर्मको अच्छी तरह दिखानेके लिये पर्यायके षट्कारकरूपी धर्म भी कहनेमें आते हैं, वहाँ कथंचित् अभिन्नतारूप वस्तुके बंधारणका संतुलन ज्ञानमें बना रहे कि जिससे एकांत नहीं हो, वह प्रकार यथार्थ है। प्रमाणके पक्षवालेको पर्यायका कर्तृत्व मिट नहीं सकता।

(२७५)



नवम्बर - १९८८

प्रायः सभी जीव परिणामका विवेक शुभाशुभके दृष्टिकोण (मुख्यता) से करते हैं, परन्तु वास्तवमें तो आराधकभाव और विराधकभावके दृष्टिकोणसे उसका 'विवेक' कर्तव्य है। मुमुक्षुकी भूमिकामें खास करके दर्शनमोहकी विराधकताको मिटानेकी मुख्यतावाला दृष्टिकोण होना चाहिये वरना आराधकभावमें प्रवेश होना संभवित नहीं है और विराधकभावोंका खयाल भी नहीं रहेगा। यहाँ अजागृत दशामें अहित हो जाये तो भी खबर नहीं रहती। अतः इस प्रकारके विवेकका महत्त्व समझने योग्य है। जहाँ-जहाँ दर्शनमोह वहाँ-वहाँ विपर्यास - (दर्शनमोह-विपर्याससे दृश्यमान् है / दृष्टव्य है) होता है।

(२७६)

ज्ञानके परिणमनमें ज्ञानत्वजाति (ज्ञानगुण) का कभी उल्लंघन नहीं होता । अवलोकनसे जातिकी अनुभवांशसे परख आने पर स्वभावकी पहचान होती है, जिसमें स्वभाव निजरूप, सुखरूप, सामान्य सदृश, बेहद सामर्थ्यवान होनेसे, निर्विकल्प भावसे प्रतीत होता है और 'विभावजाति' के भाव भिन्नरूप, पररूप, आकुलतारूप, मलिनरूप भास्यमान होते हैं। इसप्रकारसे भेदज्ञान कर्तव्य है अथवा होने योग्य है। (२७७)



दिसम्बर - १९८८

मुमुक्षुजीवको सहज पुरुषार्थ उत्पन्न होनेके कारणभूत, ऐसी पुरुषार्थ करनेकी भावना - तीव्र भावना अवश्य होती है, जैसे ज्ञानप्राप्तिके लिये पूर्वभूमिकामें जिज्ञासा अवश्य होती है, वैसे एक न्यायसे ऐसे यथार्थ कारणमें कार्यका उपचार भी करनेमें आता है, जो कि पूर्व-उत्तर परिणामकी संधिरूप है। इस प्रकारसे ही स्वरूपप्राप्तिकी अंतरकी भावना, स्वानुभवरूपमें फलती है - फिर भी उसमें विकल्प - परलक्ष नहीं है ऐसा जानना। (२७८)



ज्ञानकी यथार्थता सम्यक्ज्ञान होनेमें कारण है। अयथार्थज्ञान मिथ्याज्ञानरूप परिणमता है। अतः मुमुक्षुजीवको समझकी भूमिकामें यथार्थ-अयथार्थताके दृष्टिकोणपूर्वक ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति करना योग्य है। (२७९)



निर्विकल्प सूक्ष्म आत्मस्वरूप और उसका निर्विकल्प अनुभव अवक्तव्य होनेसे, एवं सिर्फ अनुभवगम्य होनेसे, उसका उपदेश महान अनुभवी गुरु-ज्ञानी द्वारा ही मिल सकता है। उनकी वाणीमें भी संकेतरूपसे सूक्ष्मभाव प्रकाशित होते हैं। दूसरेकी वाणीमें अनुभव रहितपनेके कारण वैसी सूक्ष्मताका प्रकाशित होना संभवित नहीं है, क्योंकि वे उससे अनजान है। उसका विचार - विकल्पात्मकज्ञान भी स्थूल है, स्वभावकी सूक्ष्मतासे दूर है ऐसा समझने योग्य है। (२८०)



जिस तरह पररुचि - अनात्मरुचि अविवेकरूप ज्वर को उत्पन्न करती है, वैसे स्वसन्मुख होनेकी शक्तिको निःसत्व - हीनसत्व करती है। अतः संज्ञी होनेके बावजूद भी, तथा परलक्ष्यी ज्ञानमें खयाल (अंतर्मुख होनेसे आत्मोपलब्धि होगी, बहिर्मुखभावमें नहीं होगी, ऐसा खयाल) आने पर भी पररुचिके कारण जीव स्वरूपसन्मुख नहीं हो सकता । जब कि स्वभावकी रुचिमें सहज स्वसन्मुखता प्राप्त होने योग्य है। (२८१)



वर्तमान पंचमकाल होने पर भी, इसी भवमें पूर्णताकी प्राप्तिके लिये सहजरूपसे जिनके पुरुषार्थमें जोर उछलता हो - वैसे महात्मा प्रायः एकावतारी होनेका संभव है। कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी तथा पुरुषार्थमूर्ति पू. निहालचंद्रजी सोगानीजीको इस प्रकारके दृष्टांत स्वरूप गिन सकते हैं। दोनों धर्मात्माओंके वचन आज भी उक्त लक्षणकी प्रतीति कराते हैं, वह सभी आत्माथींओंको पुरुषार्थकी प्रेरणाका कारण है। (२८२)



जो भेदज्ञानका प्रयोग करनेके लिये उत्सुक है वैसे जीवको उदयप्रसंगमें, उपयोगमें ज्ञानकी व्यापकताका अवलोकन करना - जाँच करना, जिससे रागादिसे भिन्न व्याप्त ज्ञानरूप स्वयं (जाननेमें आयेगा) भासित होगा। इस प्रकारका अभ्यास बढ़नेसे 'ज्ञानमात्र' में ज्ञानवेदन ग्रहण होगा अथवा भास्यमान होगा, अतः सहजस्वरूप अत्यंत प्रत्यक्ष है - ऐसा भावभासन, स्वसन्मुखके पुरुषार्थको उत्पन्न करके और परोक्षताका अभाव करके, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अवस्थारूप स्थिरभावका अवधारण करेगा - इसप्रकार 'अवलोकन'से कार्य सधता है। (२८३)



निश्चय - व्यवहारका संक्षेप :- अनादिकालसे मिथ्यात्व आदि अशुद्ध अवस्थामें, अशुद्ध अवस्थामात्ररूप अपना अनुभव कर रहे जीवको, अशुद्धताका परिज्ञान कराये बिना ही, शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान करा नहीं सकते। इसलिये जिनशासनमें व्यवहार कथन द्वारा निश्चय स्वरूपको स्थापित किया गया है। व्यवहारनय अशुद्ध अर्थका द्योतक होनेसे, (अशुद्धताके नाशका हेतु (प्रयोजन) होनेसे) - उस नयका अनुसरण करने योग्य नहीं है। (२८४)



जनवरी - १९८९

समकितका अनुकंपा लक्षण सर्वजीवोंके प्रति शल्य रहित निर्वैरभाव है। मिथ्याज्ञानसे ही वैरभावका शल्य रहता है, क्योंकि पर्यायबुद्धिसे सामनेवाले जीवको (सिर्फ) पर्यायमात्ररूपमें अवधारण करके परिणमन होता है। द्रव्यदृष्टिमें माध्यस्थवृत्ति, मैत्रीभावरूप अनुकंपा सहज रहती है। किसी भी जीवको खुदके कारणसे दुःख नहीं हो ऐसी भावना सदा रहती है। ऐसा होनेमें दर्शनमोहका अन-उदय है; इसीलिये मुमुक्षुकी भूमिकामें उक्त भावनाका उदय होता है, जो दर्शनमोहके रसको मंद करता है। (२८५)



जीवकी पर्याय कथंचित् भिन्न होनेसे उसकी स्वतंत्रता दिखाते हुए, प्रत्यक्ष संसार अवस्थासे वह स्वतंत्रता सिद्ध होती है। मूल स्वभाव संसारसे सर्वथा रहित, सदाय एकरूप सिद्ध समान

होने पर भी, अनादिसे पर्याय स्वतंत्ररूपसे संसाररूप, अनेकरूप हो रही है। जब स्वभावके स्वभावरूप परिणमन करनेके सामर्थ्यके आधिन भी संसार अवस्था नहीं होती है (तो परके आधिन होनेकी अथवा परका खुदके आधिन होनेकी पर्याय-अपेक्षित बात तो बहुत दूर की है।) इस प्रकार पर्यायकी स्वतंत्रता जाननेसे...

(१) पराधिनताके अज्ञान-अभिप्रायसे होनेवाले राग-द्वेष मिटते हैं,

(२) जो पर्यायकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, वह द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, ऐसा प्रतिबंधक अभिप्रायका दोष मिटता है।

(३) पर्यायकी गौणता होकर, मैं पनेसे त्रिकाली स्वभावकी मुख्यता पर्याय - उपेक्षितपनेसे हो सकती है। - यह पर्यायमें हो रहे एकत्वको मिटानेके लिये महत्त्वपूर्ण न्याय है।

इसतरह अध्यात्मके प्रयोजन वश, अक्रिय स्वरूपदृष्टिमें परिणाम स्वयं अपने षट्कारकसे परिणमन करते हुए जाननेमें आते हैं। पर्यायके स्वतंत्रता धर्मको अच्छी तरह दिखानेके लिये पर्यायके षट्कारकरूपी धर्म भी कहनेमें आते हैं, वहाँ कथंचित् अभिन्नतारूप वस्तुके बंधारणका संतुलन ज्ञानमें बना रहे कि जिससे एकांत नहीं हो, वह प्रकार यथार्थ है। प्रमाणके पक्षवालेको पर्यायका कर्तृत्व मिट नहीं सकता। (२७५में लिया है) (२८६)



ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानवेदनमें त्रिकाली शुद्ध-ध्रुवका अवलंबन सहज रहता है। दोनों संलग्न है। वही स्वसंवेदनकी वास्तविकता है। ज्ञानस्वभावके अवलंबनसे स्वसंवेदनका आविर्भाव हो जाता है, तब आत्मा ही ज्ञानवेदनामें वेदनमें आता है। वास्तवमें तो ज्ञानवेदन द्वारा स्वभाव प्रत्यक्ष होकर, भावसे (स्वरूप) अभेदता सधती है - ऐसा अध्यात्म-विधिका रहस्य सिर्फ स्वानुभव गोचर है। विकल्प - विचारसे - तर्कसे अगोचर है। (२८७)



पू. गुरुदेवश्रीने 'क्रमबद्धपर्याय' के सिद्धांतकी स्थापना ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यसे की। ज्ञायक स्वरूपके लक्ष्य बिना - इस सिद्धांतका ग्रहण यथार्थरूपसे नहीं होता। कर्ताबुद्धिरूप मिथ्यात्वके नाशके लिये यह अलौकिक न्याय-सिद्धांत है, जो सर्वज्ञताका स्वीकार, पर्याय मात्रकी उपेक्षा, (पर्यायका लक्ष्य / महत्त्व छुड़ानेका प्रयोजन है।) इत्यादि अनेक प्रयोजनभूत विषयके स्वीकारसे संलग्न है। सातिशय श्रुत-समुद्रमेंसे अनेक सम्यक् न्यायोंका प्रतिपादन पू. गुरुदेवश्रीने इस सिद्धांतकी पुष्टि हेतु किया है, जो वंदनीय है। (२८८)



निजस्वरूपके अनुभव-ज्ञानको 'ज्ञानचेतना' कहते हैं। परन्तु शुद्धोपयोगसे संक्रांतिको पाया

हुआ ज्ञान, स्वानुभवसे पलटकर अन्य ज्ञेयके प्रति प्रवर्तता है तब सम्यक्दृष्टिको 'ज्ञानचेतनाका' अभाव नहीं हो जाता। अगर ज्ञानचेतनाका अभाव हो जाये तो, 'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व' - वह सिद्धांत टूटता है अथवा ज्ञानचेतनाका अभाव हो जाये तो वह साधक मिटकर अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि बन जाये। इसीलिये परपदार्थको विषय करते वक्त उपयोग मात्र एक परपदार्थको प्रकाशित करता है, फिर भी लब्धज्ञान द्वारा स्वरूपानुसंधान रहता है और उस वक्त 'ज्ञानचेतना' का सद्भाव रहता है। जो कि युक्ति, आगम एवं अनुभवसे प्रसिद्ध है। (२८९)



अंतर्मुख होनेकी विधि, पर्यायकी अपेक्षासे प्रयोजनभूत विषय होने पर भी, आश्रयभूत त्रिकालीकी तरह (उतनी) प्रयोजनभूत नहीं है। पुनः उसका जानपना (धारणा) हो जानेसे (आश्रय) कर सकते है - ऐसा भी नहीं है - परन्तु त्रिकाली स्वभावके लक्ष्यसे पुरुषार्थकी उत्पत्ति होनेसे सहज आश्रय होता है। अतः विधि विषयक जानकारी नहीं की हो ऐसे जीवको भी स्वभाव लक्ष्यगत् होते ही जो महिमा उत्पन्न हुई वही उसका विधिरूप परिणमन चालू हो गया; जो स्वभावकी मुख्यतामें गौण रह जाता है। इसलिये ऐसा फलित होता है कि सर्व प्रथम मुमुक्षुजीवको स्वभावका लक्ष्य होना आवश्यक है। (२९०)



निश्चयनयका विषय निश्चय स्व-स्वरूप, प्रतीतिका / आश्रयका स्थान है; व्यवहारनयका विषय गुणभेद, पर्यायादि मात्र जाननेका स्थान है, उसे भूतार्थ आश्रित जानना न्याय संगत है। फिर भी निश्चयस्वरूपकी प्रतीति / आश्रय भवनाशका कारण है - ऐसा सर्वोत्कृष्ट न्याय जानना हितावह है, - अगर ऐसा व्यवहार व्यवहारके स्थानमें नहीं रहा तो निश्चय आश्रयके लिये वह अधिकारी नहीं है। (२९१)



(१) परकी आधारबुद्धि (२) परमें सुखबुद्धि (३) परका ममत्वभावसे रस (४) कर्ताबुद्धि आदि मिथ्यात्वके द्योतकभाव हैं, जो ज्ञानको परप्रवेशभावका, परवेदनका अनुभव कराते हुए अध्यवसित करते हैं, जिससे ज्ञान-वेदनका आविर्भाव / अवलोकन नहीं हो सकता। उपरोक्त प्रकारसे परका 'स्व' रूपसे ग्रहण होनेसे ज्ञानमें / निजमें निजका ग्रहण नहीं होता। - 'निजमें निजका ग्रहण होनेसे उपयोग शुद्ध होता है' अर्थात् स्वानुभव होता है। इति वचनात्। (अनुभव प्रकाश) (२९२)



स्वरूपनिर्णयकी पूर्वभूमिका - यथार्थ भूमिका :-

उदयमान सर्व प्रवृत्ति कालमें 'आत्मार्थका लक्ष्य' दृढ अभिप्रायपूर्वक (मोक्षेच्छा) होनेके कारण इससे उत्पन्न निजहितकी विशेष (असाधारण) जागृति, - इस जागृतिकालमें रागादि विभावसे भिन्न ज्ञानका प्रयोग, स्वरूपनिर्णयके (लक्ष्यसे) हेतुसे अंतर संशोधनपूर्वक करनेवालेको सुगमतासे स्वरूप निश्चय होता है। (२९३)



भेदज्ञान - वह चलते हुए विभावका निषेधपूर्वक प्रगट स्वभावका आदर है अर्थात् विभावमें हो रहे अहंपनेके निषेधपूर्वक ज्ञानस्वभावी 'स्व'में अस्तित्वग्रहणका पुरुषार्थ / विधि है। अतः ऐसा भेदज्ञान 'परमार्थमार्गके प्रयत्नवान जीवको' सहज ही होता है।

मुमुक्षुजीव भी मोक्ष - पूर्ण शुद्धताका अभिलाषी होनेसे, स्वयं 'ज्ञानमात्र' है - ऐसी जागृतिपूर्वक, चलते हुए रागादि भावके सामने अरुचिभावसे / निषेधभावसे वर्तता है - परिणमता है। वर्तमान योग्यता अनुसार इसप्रकारसे उसको भेदज्ञानका उद्यम / प्रयास वर्तता है। मुमुक्षुजीवको ऐसे प्रयासपूर्वक (तत्त्वज्ञानका) - सत्श्रुतका परिचय-अध्ययन होना चाहिये, अन्यथा प्रकारसे नहीं होना चाहिये क्योंकि बाह्य क्षयोपशम बढनेसे पर्यायबुद्धिवानको उघाड़में अहंभावको रोकना असंभवित है। जो अहंभाव बढता हुआ आगे स्वच्छंदादि भयंकर महादोषकी उत्पत्तिका कारण बनता है। (२९४)



प्रश्न :- (मुमुक्षुको) रागमें दुःख क्यों नहीं लगता ?

समाधान :- मंदकषायकी शातामें, एवं वर्तमान उघाड़रूप ज्ञानमें संतुष्ट हो जानेसे, दर्शनमोहेके कारण रागमें दुःख नहीं लगता। दुःख लगे तो सुखको खोजे बिना रह नहीं सके, किन्तु दुःख नहीं लगनेसे सहज सुखको खोजनेका प्रयास नहीं होता अथवा रागसे छूटनेका पुरुषार्थ शुरु नहीं होता । जिसको रागमें दुःख लगता है उसको यदि तीव्र दुःख लगे तो शीघ्र मार्ग प्राप्त हो जाये; कम दुःख लगे तो देर लगती है। (२९५)



भेदज्ञानके अभ्यास द्वारा रागसे भिन्न ज्ञानवेदनरूप ज्ञाताधारा-दशा तैयार होती है, परिणति मजबूत होती है। अतः अशाताके उदयकालमें भी दुःखका वेदन गौण होकर स्वभावकी अधिकता होकर शांतिका वेदन रहता है। अशाता तीव्र हो तो भी, अरे ! प्राण छूट जाये तो भी स्वभावकी अधिकता नहीं छूटती । ऐसी दशा सहज बन चुकी होनेसे भवांतरमें वह परिणति चालू रह जाती है। अत्यंत आत्मरसके कारण भवांतरमें परिणति लेकर साधक जाता है - यह आत्माकी सहज शक्ति है। अतः मुमुक्षुजीवको प्रतिकूलताके लक्ष्यसे / कारणसे, या उदयकी

मुख्यतामें रहकर 'भेदज्ञान' अथवा 'जागृति'का प्रयास छोड़ना नहीं चाहिये बल्कि उत्साहित वीर्यसे प्रयास करना चाहिये। (२९६)



रस लेनेका निषेध :- संयोगकी अनुकूलतामें अनुकूलताका, पाँच इन्द्रियोंके मनोरम्य विषयका, प्रतिकूलतामें खेदका, प्रशस्त प्रसंगमें रागादिका, क्रोधादि उदयमें द्वेषका, अवलोकन, विवेक शुद्धिका लाभ, शांति इत्यादिकी चर्चा - विचारणाके वक्त पर्यायका, - ये सभी प्रकारके पर्यायरस निषिद्ध है, एकमात्र परम स्वभाव ही रसका विषय होना चाहिये, जो कि स्वरूपदृष्टि एवं स्वरूपलक्ष्यके वशात् सहज उत्पन्न होता है। (२९७)



फरवरी - १९८९

मोक्षमार्गकी हानि-वृद्धिरूप पर्याय भी जहाँ गौण है वहाँ अन्य द्रव्य भावकी मुख्यताको कहाँ स्थान है ? 'मैं वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ' - ऐसी द्रव्यदृष्टि / सम्यक्दृष्टिका यह सर्वोत्तम प्रभाव है। जो कि अद्भुत - आश्चर्यकारी है, अजोड़ है। यह सम्यक्दृष्टिकी खास प्रकारकी विलक्षणता है। ज्ञानमें मुख्यता - गौणता तो उपर्युक्त प्रकारसे द्रव्यदृष्टिके अनुरूप होती है। दृष्टि तो द्रव्यमें फैल जाने पर पर्याय दिखती ही कहाँ है ? (२९८)



सत्पुरुषके श्रीमुखसे परमार्थकी बात सुनते वक्त मुमुक्षुजीवको सहज प्रसन्नता - प्रमोदभाव होता है, फिर भी उस भावमें 'ठीक-पना' हो जाये - रह जाये - 'श्रवणका लाभ मिला' ऐसा मानकर प्रसन्नता अगर 'ठीकपने'के साथ हो जाये तो उसमें जाने-अनजानेमें संतुष्टी हो जाती है। अतः वहाँ अटकना होता है। अंदर जानेके बजाय 'मानो कि जरूरियातकी पूर्ति' हो गई हो - ऐसी स्थितिमें जीव वर्तता है। वहाँ मूल स्वभावकी रुचि नहीं होती - सिर्फ श्रवणकी रुचि-रागमें बदल जाती है। ऐसा होता है तब दर्शनमोहका अनुभाग घटना बंध हो जाता है, अतः जीव आगे नहीं बढ़ सकता, उसकी योग्यता रूक जाती है। (२९९)



शास्त्रोंमें बाह्यसाधन अथवा व्यवहारसाधनके बारेमें निरूपण प्रयोजन वश किया गया है। वहाँ एक तो 'व्यवहार विषयक मर्यादाका' प्रयोजन है, दूसरा पर्यायक्रमका नियम / सिद्धांतका ज्ञान करानेका प्रयोजन है। ऐसे साधन - देव, गुरु, शास्त्र, श्रवण, विचार, वांचन, मनन, उघाड / धारणा एवं पूर्व-उत्तर पर्याय, इत्यादि जो-जो कहे गये हैं, वे निश्चयसे साधन नहीं है, (उसमें अटकता है वहाँ तक निश्चयसे बाधक है।) ऐसा जाननेवाला द्रव्यस्वभावके प्रति झुक सकता

है। परन्तु व्यवहार साधन / बाह्य साधन पर तत्सम्बन्धित रसके कारण जोर (महत्व) देनेवालेको द्रव्यस्वभावका जोर (महत्व) नहीं आता, अंतर स्वभावका रस उत्पन्न नहीं होता। यह मुमुक्षुजीवको खास लक्ष्यमें रखने योग्य है। (द्रव्यदृष्टिप्रकाश - १४७) (३००)



एक समय-वर्तमान समयकी पर्याय / भावके पीछे अनंतर क्षेत्रमें वस्तु-स्वभावका दल प्रत्यक्ष मौजूद है, साक्षात् है, अतः सिर्फ उसका विकल्प नहीं करते हुए असंख्य प्रदेशमें व्याप्य-व्यापक भावसे तन्मय होकर, तद्रूप होकर, उत्साहित वीर्यसे स्वानुभव कर्तव्य है।

(द्रव्यदृष्टिप्रकाश - २३२) (३०१)



ध्रुव स्वभावकी जागृतिमें, शरीरसे लेकर सारा जगत स्वप्न जैसा लगता है। अनंतज्ञान व अनंतसुखसे सदा मैं भरपूर हूँ - फिर क्या चाहिये ? चिंता कैसी ? भय कैसा ? विकल्प किसका !! स्वप्नवत् जगतका मूल्य कितना ? (३०२)



'द्रव्य स्वभाव - निजस्वरूप' समस्त निर्ग्रन्थ प्रवचनका रहस्य है, धर्मध्यानसे लेकर शुक्लध्यान पर्यंत अनन्य कारण है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे वह स्व-रूप प्रतिभासित होता है। समस्त प्रकारकी विविक्षाओंमें - यह परमतत्त्वकी मुख्यता अपेक्षित है। और तो ही विभिन्न विविक्षाएं यथार्थ है। ज्ञानीके सर्वकथनका यह (आंतर)ध्वनि (Under Tone) होता है। विद्वतामें जैसे ही इस मूल बातका वजन - अपेक्षाको लेकर कम होता है कि विपर्यास उत्पन्न होता है।

(३०३)



मुमुक्षुजीवके लिये 'सत्संग' वह अमृत है; जिससे मुमुक्षुकी आत्मरुचि अथवा गुणरुचिको पोषण मिलता है। वर्तमान कालमें असत्संग प्रसंगका घिराव बहुत है, ऐसी परिस्थितिमें अर्चित्य जिसका महत्व है, ऐसे सत्संगका मूल्य किसी भी तरह नहीं हो सके - ऐसा है। प्रतिपक्षमें कुसंग मुमुक्षुके लिये ज़हर है। अगर इससे बचनेमें नहीं आये तो सद्विचारबलका नाश होकर अनेक दोषोंकी परंपरा खड़ी हो जाये। विपरीत रुचिको प्रसिद्ध करनेवाला, कुसंग करनेका भाव कृत-कारित अनुमोदनासे नहीं हो जाये उसकी अत्यंत सावधानी रखनी चाहिये - इस दृष्टिसे किसीका भी संग विचार करके करना चाहिये। इस विषयमें अगंभीरतासे, अविचारीपनेसे प्रवृत्ति बिलकुल होनी नहीं चाहिये।

(३०४)



मूलमें, यदि स्वभावकी रुचि हो तो स्वभावके लक्ष्यसे पुरुषार्थका प्रवाह फटफर उछाला खाकर पुरुषार्थका प्रवाह चले, और स्वभावमें जम जाना हो जाये। 'द्रव्य ही ऐसा है' बहुत गंभीर द्रव्य है, कि जहाँ दूसरा कुछ रुचे ही नहीं - उदय वश अन्य प्रसंग आ पड़े तो अरुचि होती है - उपेक्षा होती है और उस प्रसंगसे उपेक्षित होकर अपना स्वकार्य आगे बढ़ता है। परन्तु उक्त रुचिके अभावमें जीव उलझ जाता हुआ बाह्यप्रसंगोंमें जुड़ता है, और रागी-द्वेषी होता है और अमूल्य जीवन खो बैठता है।

(द्रव्यदृष्टि प्रकाश - ४१०) (३०५)



मैं निर्विकल्प 'बिब' हूँ। फिर मुझे विकल्पकी जरूरत क्यों ? फिर भी बिना जरूरत होवे तो उसके साथ मेरा संबंध क्या ? उसमें मुझे क्या है ? मैं तो मेरेमें जैसाका तैसा (सिद्धस्वरूप) हूँ।

(३०६)



स्वभावके बेभानपनेके कारण अथवा लक्ष्यके अभावके कारण, जीव सहज उदयभावोंमें एकत्वबुद्धिसे परिणमन करता है। यही पर्यायबुद्धि है। जब कि शुद्ध सम्यक् परिणमन 'स्वभावमें एकत्व' के कारण उपलब्ध होनेसे, उस कालमें उदयभावके अंशमें अथवा शुद्धांशमें एकत्व होनेका नहीं बनता। अतः 'खुद स्थिर तत्त्व - अपरिणामी' है, ऐसा अनुभव / भान छूटे बिना परिणाम-प्रवाहको जानता है कि मेरे आश्रयभावसे 'परिणाम-स्वरूप निवास' करते हैं - अनुभव करते हैं। मुझे वेदकर स्वरूप लाभ - परिणाम लेते हैं। अर्थात् अस्तित्वको ग्रहण करते हैं अथवा मेरा ध्यान करते हैं। खुद परिणाम-प्रवाहके साथ प्रवाहित नहीं होता। 'मैं यूँ का यूँ ही रहता हूँ' - ऐसा भान रहना वह पारमार्थिक अलिप्तता है, परम निर्लेपता है। जिससे पर्यायमें उदयभाव होते हुए भी लेपायमान होना नहीं बनता। 'स्वभावमें एकत्व' स्वभावकी उत्कृष्ट महिमाके फल स्वरूप रहता है।

(३०७)



'ज्ञान बंधका कारण नहीं है' - यह सिद्धांत है। उसमें (स्व-पर प्रकाशक) स्वभाव बतलाना है। परपदार्थका प्रतिबिंब ज्ञानमें आनेसे कर्मबंध होवे - ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है; लेकिन अनादिसे मिथ्याज्ञानमें परपदार्थ प्रतिबिंबित होता है तब 'पर' पररूप जाननेमें नहीं आता, परमें स्व-पनेका अध्यास होता है, भ्रम होता है, एकत्वबुद्धि होती है - वह ज्ञानका विभाव / दोष है, जो कि अवश्य बंधका कारण है। तात्पर्य यह है कि विभाव-स्वभावके बीचके भेदको सूक्ष्मरूपसे जानकर स्वभावको मुख्य करना अर्थात् 'मात्रज्ञान' रूपसे रहना - रहनेका पुरुषार्थ करना।

‘ज्ञानमात्र’ से स्वभावको साधना है । ‘ज्ञानमात्र’ रूप जागृति - यह प्रयोग सर्वकालके लिये सुलभ है। उस प्रकार साधन बतलाकर ‘ज्ञान बंधका कारण नहीं है’ - ऐसा कहा है।

(३०८)



मार्च - १९८९

ज्ञान ‘स्व-पर प्रकाशक’ है। अतः ज्ञानमें परका प्रतिबिंब सहज उठता है। अनादिसे स्वको भूला हुआ जीव परमें सावधान है। अतः ‘परमें पर भासित होता है, मात्र पर ही भासित होता है’ - परकी ओर देखता है इसलिए पर भासित होता है, लेकिन ‘पर’ पररूप भासित नहीं होता। परन्तु यदि ज्ञानमें स्वको देखनेका उद्देश रखा जाये अर्थात् अपनी ओर देखे, परकी ओर न देखे तो स्व ही भासित होता है, पर नहीं भासित होता।

“ज्ञानमें पर जाननेमें नहीं आता, परन्तु ज्ञानमें (ज्ञानाकारसे पर संबंधी उठी हुई) - ज्ञानकी पर्याय जाननेमें आती है” (पू. गुरुदेवश्री) इस वचनमें ज्ञानमें अपनी ओर देखनेका संकेत है, कि जिससे ज्ञान स्व-पनेसे जाननेमें आये अथवा अनुभवमें आये - आशय बहुत गंभीर है। अर्थात् ‘ज्ञानमें स्वयंको देख’ - ऐसा कहते हैं। स्वयंको देखनेसे ज्ञान स्व-रूपसे अनुभवमें आयेगा, वही ज्ञानानुभव है, अर्थात् आत्मानुभव है।

(३०९)



द्रव्य, गुण, पर्यायके भेद वस्तुका निर्णय करनेके लिये है, उसमें भी प्रत्येक भेद वस्तुभूत है, वस्तुके अंगभूत होनेके कारण निर्णय होनेके बाद आगे बढ़कर प्रत्यक्ष अनुभवके प्रयासके कालमें भेद-विकल्प बाधक होते हैं। क्योंकि अनुभव निर्विकल्प है। अतः दोनों परस्पर विरुद्ध है। जैसे वीतरागताके लिये विरुद्ध ऐसा शुभराग विरुद्ध स्वभावी होनेसे प्रतिकूल है वैसे निर्विकल्प स्वानुभवके लिये भेद विकल्प प्रतिकूल है - शुभरागरूप भी है। अतः उपयोगमें ‘ज्ञानरूप स्व’ को देखना - परन्तु उस वक्त उपयोग तो पर्याय है, ऐसा भेदरूप विक्षेप प्रयासमें खड़ा नहीं करना।

(३१०)



‘न जातु ज्ञानीनः कर्मबंध’ अर्थात् ज्ञानी सम्यक्दृष्टिको बंध नहीं होता - इसका कारण यह है कि दर्शनमोहके अभावमें, सिर्फ चारित्रमोहके उदयमें हो रहे रागादि परिणाममें रस / शक्ति नहीं होती । अतः उसके निमित्तसे होता हुआ बंध शक्तिहीन होनेसे बंध नहीं कहलाता। पुनः ज्ञानीके शुद्ध परिणाममें आत्मरस गाढ़ होनेसे शुद्धत्व शक्ति बहुत है, इसलिये वे जो मुक्त कहलाते हैं, वह यथार्थ ही है। उसका यथार्थ मूल्यांकन करनेवालेको अवश्य बहुमान -

भक्तिके परिणाम उत्पन्न होते हैं। ग्रंथ-ग्रंथोंमें सम्यक्दृष्टिकी ऐसी महिमा प्रसिद्ध है।

(३११)



मुमुक्षुजीवको असंग आत्मस्वरूपके समीप जानेके लिये असंगभावकी उपासना कर्तव्य है, इसलिये परिग्रह भाव उक्त असंगतत्वकी भावनासे प्रतिकूल है - यह लक्ष्यमें लेने योग्य है। वास्तवमें परिग्रह प्रतिका रस अविवेककी खान है, जो कि ज्ञानीको ज्ञान दशामें नहीं होता। परमें सुखबुद्धिसे परिग्रहरसकी उत्पत्ति होती है; वह उपशमरसका घातक है, उसमें अनंत आकुलता है, भ्रमसे सुखकी कल्पना हुई है जो कि आराधनामें महान प्रतिबंधरूप है, ऐसा जानकर उदय कालमें अत्यंत जागृत रहना योग्य है।

(३१२)



अंतरंगमें अगर ज्ञानसामान्यको - अनुभवदृष्टिसे देखनेमें - अवलोकन करनेमें आये, तो वह (स्वयं) स्वभाव स्वरूप ज्ञाताभावरूप-साक्षीभावरूप कायम है ऐसा मालूम पड़ता है, अविच्छिन्न धारासे ऐसा लक्ष्यगोचर होने पर सामान्यका आविर्भाव होकर प्रगटरूपसे ज्ञान अनुभवगोचर होता है और उदयभावोंसे भिन्नता होती है; उपाधि मिटती है (और कहीं भी) असमाधान नहीं रहता।

(३१३)



स्वरूपकी अबोधदशामें ही जीवको कर्म - उदय प्रसंगमें अपनत्व होकर अभिलाषारूप चिकने परिणाम होते हैं। - ऐसी अभिलाषा वही मिथ्यात्व - परिणाम है; जब कि बोधदशामें तो स्वयं महान वीतरागी परमात्मा होनेसे, कर्म-उदयरजकी भीख, दीन होकर कैसे माँगे ? सहज ज्ञाता रहनेके स्वभावका त्याग क्यों करें ? पुनः दीन होकर भी परमें तो खुद कुछ कर नहीं सकता है ! ऐसे भानमें अगर रागांश उठे तो भी उसमें चिकनापन (रस) उत्पन्न नहीं हो सकता; दीनता उत्पन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार स्व-पर वस्तुस्वरूपका ज्ञान करके, सम्यक्त्वको प्राप्त करना।

(३१४)



पुरुषार्थ - विरुद्ध - प्रमाद :- जो मुमुक्षुजीव अनेक प्रकारके विकल्पसे संयुक्त है, उसका कारण अनुभव-कार्यमें शिथिलता है। अथवा अनुभवमें शिथिलताके कारण वह विकल्पमें अटकता है और शुद्धोपयोगमें आ नहीं सकता - ऐसी स्थिति रहनेका अंतरंग कारण यह भी है कि अशुद्ध परिणतिके उदयकी तीव्रताके कारण विकल्प नहीं मिटते। ऐसा विकल्पपना - शिथिलपना अशुद्धपनाका मूल है, यह लक्ष्यमें लेने योग्य है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्गमें पुरुषार्थकी

प्रधानता है इसलिये प्रमादको छोड़ना चाहिये।

(३१५)



द्रव्यदृष्टि अर्थात् सम्यक्दर्शनका महत्व परमार्थ-अध्यात्ममार्गमें सर्वाधिक निरूपित हुआ है; ऐसा स्पष्टतया: अध्यात्मशास्त्रोंकी शैलीसे मालूम पड़ता है। ये परिणाम सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मस्वभावमात्रको स्वयंकी विशिष्ट कार्य पद्धतिसे विषय करते हैं - अवलंबते हैं, जैसे मानो अनंतगुण समृद्ध खजाने पर कब्जा करते हो। यह वचनातीत, विकल्पातीत परिणाम बहुत सूक्ष्म है, अतः आचार्योंने एवं सत्पुरुषोंने ज्ञानकी प्रधानतासे उसको बतलानेका-समझानेका प्रयास किया है। तद् उपरांत द्रव्यदृष्टिको प्रदर्शित करनेवाले विशिष्टशैलीके विधान भी इस परिणामके रहस्यका निर्देश करते हैं। ऐसा जानकर सत् शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ 'दृष्टिप्रधान-शैली' से वचन प्रयोग हुए हो, वहाँ-वहाँ अंतरगर्भित रहस्यरूप अध्यात्मतत्त्वकी गहराईमें जानेका प्रयास करना चाहिये। अनुभव पद्धतिसे जीवके परिणाममें रहा हुआ दृष्टिका 'वक्कर' जो है वह समझने योग्य है; कि जिससे धर्मात्माका अंतरंग पहचाना जाये - दृष्टिको समझ सके।

रागादि विभाव परिणामसे जीव व्याप्य-व्यापकभावसे परिणामन कर रहा है, फिर भी दृष्टिकी अपेक्षासे वे पुद्गलके परिणाम कहे जाते हैं क्योंकि सम्यक्दृष्टिको उसका स्वामित्वभावसे स्वीकार नहीं है अथवा सम्यक्दृष्टिको रागादिभाव नहीं है, इसलिये बंध नहीं है इत्यादि जो प्रसिद्ध बातें हैं उसमें दृष्टिका परिणामन दिखानेका उद्देश्य है अर्थात् दृष्टि सम्यक् होते ही 'स्वभावसे रागादि किये नहीं जा सकते, ऐसे स्वयंके अकर्तापनेका स्वीकार व अनुभवसे, खुद रागादिमें प्रसरता नहीं है - ऐसा परिणामन वर्तता है। स्वभावकी सर्वस्वपनेसे ऐसी पकड़ जो विशिष्ट प्रकारसे दृष्टिमें होती है उसका उक्त प्रकारके कथनोंमें संकेत होता है। (३१६)



रागादि विभाव आत्मभाव नहीं है बल्कि अन्यभाव है, फिर भी मोहके कारण आत्मभावरूप वेदनमें आता है, ऐसा प्रकार छोड़कर, ज्ञानका स्व-रूपमें अनुभव करनेसे मोह (राग वह मैं - ऐसा मिथ्या अनुभव) उत्पन्न नहीं होता, बल्कि अपूर्व आत्म-सुख उत्पन्न होता है। श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि, "यावत् ज्ञानम् ज्ञानम् न भवति, तावत् रागद्वेषम् द्वयम् उदयते। (समयसार कलश - २१७)

(३१७)



किसी भी विभावका ग्रहण नहीं करनेका ज्ञानका अविचल स्वभाव है। ऐसा ज्ञान अंतरंगमें स्वभावसे ही महिमावंत है, जिसका मिथ्यात्व - दर्शनमोहके कारण जीव अवलोकन नहीं करता है; अगर जीव सम्यक् अवलोकन करे अर्थात् ज्ञान स्वयंको जैसा है वैसा देखे, तो दर्शनमोहका

नाश होता है। दर्शनमोहका नाश होनेसे भिन्न ज्ञानका- शुद्ध ज्ञानका ज्ञानमात्ररूप अनुभव होता है।

मैं त्रिकाल करनीसो न्यारा, चिद्विलास पद जग उजियारा
राग विरोध मोह मम नाहि, मेरो अवलंबन मुझमांही ॥१००॥

(समयसार नाटक सर्वविशुद्ध) (३१८)



जगतमें - तीनोंलोकमें दर्शनमोह महान योद्धा है। जिसको शुद्ध चैतन्य स्वरूपके अनुभवसे जीता जा सकता है। स्वयं अनुभूति स्वरूप ही है। रागादि विभावसे सदा भिन्न ही है, रहित ही है। जो ज्ञानलक्षणसे लक्षित होता हुआ सदा अनुभवमें आ रहा है, ऐसे चैतन्यके - परमात्माके भजनमें सर्वकर्म - कर्मफलका सन्यास है; और आत्मासे उत्पन्न सुखकी तृप्ति है; इतना ही परमार्थ है। अति वचन विस्तारसे बस हो ! (३१९)



पर्यायबुद्धिके कारण ज्ञेयसे ज्ञानका होना माननेमें आता है, उसमें परसे (ज्ञेयसे) अपना अस्तित्व माना जाता है। ज्ञानको ज्ञेयके आधारित माननेसे, स्वयं पर्यायमात्ररूप अवधारित होता है - अनुभवमें आता है, जो कि मिथ्या है। उसमें शुद्ध सत्ताका नाश होता है - अभाव सधता है। भेदज्ञानके अभावमें ऐसा प्रकार बनता है, जिसमेंसे संसार पनपता है। यह पर्यायबुद्धि ही सभी प्रकारके दोषकी उत्पत्तिका मूल है। परन्तु ज्ञेयसे भिन्न - निर्विकल्प सहज प्रगट ज्ञानमात्र वस्तुरूप अपना अनुभव करे तो अनादिकी पर्यायबुद्धि मिटती है - वस्तु सधती है। इस तरह 'ज्ञानमात्र' जीवस्वरूपको अनेकांतपना होता है। (३२०)



अप्रैल - १९८९

स्वरूप-अस्तित्व निर्भेद - निर्विकल्प है। उसका अनुभव व प्रतीति भी निर्विकल्प है। उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेद सिर्फ पहचाननेके लिये, वस्तुव्यवस्थाको दिखलानेके लिये है। अनुभवके प्रयोजनकी दृष्टिसे ऐसी भेद कल्पना साधक तो नहीं बल्कि बाधक है। निर्विकल्प स्वानुभवमें स्वद्रव्य माने निर्विकल्प मात्र वस्तु, स्वक्षेत्र माने आधारमात्र प्रदेश, स्वभाव माने मूल सहज सामर्थ्य, स्वकाल माने वस्तुकी मूल स्थिति (जो कि अनादि अनंत एकरूप ध्रुव रहती है।) यह चतुष्टय अगर निर्विकल्प एक वस्तुमात्ररूप आये तो स्व चतुष्टय है, परन्तु बुद्धिगोचररूपसे चार भेद होने पर वे ही पर चतुष्टय हैं, क्योंकि इससे (भेद कल्पनासे) वस्तु नहीं सधती। (समयसार कलश - २५२) (३२१)

अनादिसे जीव कषायादि विभाव कर रहा है फिर भी, कभी कषायादिरूप हुआ नहीं और नाही कभी होगा-ऐसा आश्चर्यकारी महान जीवका स्वरूप है - कि जिसके प्रति कोई विचक्षण पुरुषका ध्यान जाता है, उस भव्यजीवके विभाव विरामको प्राप्त होते हैं, उसका कारण यह है कि सकल श्रुतके तात्पर्यभूत ऐसा परमसत् जो कि स्वयंका ही स्वरूप है, उसके प्रति उनका लक्ष्य हुआ। (३२२)



हे जीव ! तु क्यों दुःखी होता है !! तेरा स्वरूप तो सदा ही सहज परमानंदरूपी पीयूषके पुरमें डुबा हुआ है ! उसे सँभालकर तु आनंदमें लीन हो जा ! अगणित संपत्तिवान, दीन होकर याचना करे - भीख माँगे, यह क्या ज़रा भी उचित है ? स्वयंके परमानंदमयी स्वरूपको देखते ही, जगतकी विस्मृति होना सहज है। (३२३)



ज्ञानके बिना अन्य साधनसे जो जीव आत्माको खोजता है, वह बिना प्रकाश सूर्यको खोजना चाहता है। (३२४)



जिस जीवको श्रीगुरुके वचनसे बोधस्वरूप बोधकी प्राप्ति होकर दर्शनमोह व अनंतानुबंधीका उपशम हुआ, वह जीव पूर्ण मोक्षदशाका साधक हुआ, उसे सर्वांग ऊपरके गुणस्थान चढ़नेकी शक्ति प्रगट हो गई । ऐसी समकितकी कला सुहावनी है, इसलिये ऐसा कौन आत्मार्थी होगा जिसको इसकी प्राप्तिकी भावना न हो !! नहीं होगी !! (३२५)



शब्दशास्त्रका विस्तार बहुत है, जिसके आगे आयु-समय बहुत अल्प है; पुनः शब्द शास्त्रसे कुछ लाभ (मुक्ति) नहीं होता, अतः समयका व्यय (खर्च) 'प्रयोजनभूत' तत्त्वमें परिणाम लगे उस तरह होना योग्य है (परमागम चिंतामनी - २८८) अर्थात् शास्त्र अध्ययनकी मुख्यतामें परमतत्त्वकी गौणता नहीं हो जाये, यह खास (जो मुमुक्षु शास्त्र अध्ययन करते हो) लक्ष्यमें रखना चाहिये। (३२६)



अनेकविध प्रकारसे उपदेशबोधका विस्तार है। अतः मोक्षके अभिलाषी जीवको उपदेश ग्रहण करनेमें स्वयंका विवेक होना, वह मार्गके विषयमें अति महत्वका विषय है। पुनः एक ही जीवकी परिणामकी योग्यता समय-समयकी भिन्न-भिन्न होती है । इस वजहसे भी विभिन्न समयमें तद्योग्य उपदेशको अंगीकार करनेके लिये सुयोग्य विचारणापूर्वक विचारवान जीव यथायोग्य

समझपूर्वक, यथार्थरूपसे यदि प्रवर्तन करे तो ही आत्महित होता है। ऐसी परिस्थिति होनेसे मार्गदृष्टा सत्पुरुषरूप सद्गुरु अगर मिले तो उसको परमयोग जानकर उनके चरणमें सुगमतासे आत्महित साधा जा सकता है अन्यथा हित साधना कठिन है, धारणा होना (उपदेश वचनोंकी) आसान है। अतः जिसको सत्संगका मूल्य समझमें आता है उसको सत्संगकी गरज पैदा होती है, तब वहाँ आत्महित होनेकी संभावना है। (३२७)



धर्मीजीव अन्य धर्मात्माके दोषोंको प्रगट नहीं करते। उसमें दोषको बढ़ावा देनेका हेतु या दोषका बचाव-रक्षण करनेका हेतु नहीं होता परन्तु एकका दोष देखकर समस्त धर्म या सर्व धर्मात्माओंके प्रति निंदाका - अनास्थाका कारण नहीं हो जाये, यह देखनेका प्रधान हेतु रहता है, क्योंकि धर्म-धर्मात्माके प्रति प्रीति-अनुराग है, और वह सम्यक्दृष्टिका उपगुहन नामका अंग है। जैसे मिथ्यादृष्टि हमेशा दोषका (अभिप्रायपूर्वक) पक्षपात - बचाव करता है, वैसा यहाँ पर नहीं होता। (३२८)



शरीरादि पुद्गल-अन्य विषय सब इन्द्रियज्ञानसे जाननेमें आते हैं, जब कि आत्मा स्वयं स्वसंवेदन ज्ञानसे जाननेमें आता है, अतः ऐसा समझना चाहिये कि :- स्वसंवेदन ज्ञानके सिवा दूसरी पद्धतिसे आत्माको (खुदको) जाननेका प्रयत्न करना नहीं चाहिये -(शास्त्रज्ञानके अभ्याससे आत्माको जाननेका प्रयास करना नहीं चाहिये) । इसतरह विधिकी भूल न रह जाये, यह लक्ष्यमें लेने योग्य है, एवं आगमज्ञान और स्वसंवेदनज्ञानके बीचमें अंतरको समझने योग्य है; चारों अनुयोगके आगम, मूलमें स्व-संवेदन करानेके हेतुसे, स्वसंवेदनका एवं स्वसंवेदनवंत धर्मात्माकी महिमा प्रसिद्धरूपसे करते हैं। इसीलिये इस विषयका - अध्यात्मका रहस्य, ग्रहण करने योग्य - प्रगट होता है। (३२९)



अहो ! देव, गुरु, धर्म तो जगतमें सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, इनसे तो धर्म-शासन प्रवर्तता है। लौकिक कारण वश जीव इसमें शिथिलता रखें अथवा (उसे) गौण करे या अभिप्रायमें विपरीतता ग्रहण करे, तो वह जीव अत्यंत हीनसत्व हुआ होनेसे, आत्मधर्मका अधिकारी नहीं है। उसे आत्मधर्म प्रगट नहीं हो सकता । प्रायः ऐसी योग्यतावाला जीव गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाता है, जो फिर अधःपतन करवाता है। (३३०)



(राग और ज्ञानके बीच) भेदज्ञान करते वक्त ज्ञान द्वारा रागका निषेध करनेमें आता

है, जिसमें रागरस टूटता जाता है। इस प्रकार रागरस घटने पर अविनाभावीरूपसे दर्शनमोहका रस भी गलता है। जैसे-जैसे मिथ्यात्व परिणामकी शक्ति हीन होती है, वैसे-वैसे ज्ञानबल वृद्धिगत् होता है, आत्मरस बढ़ता है और इसके फलस्वरूप दर्शनमोह निर्बल होकर दबने योग्य यानी कि उपशम होने योग्य स्थिति पर पहुँचता है तब शुद्धोपयोग होता है और शुद्धात्म स्वरूपके प्रत्यक्ष अनुभवमें स्वरूपकी प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन होता है। (३३१)



श्रीगुरु वारंवार परम करुणासे कहते हैं, क्योंकि जीव अनादिसे अज्ञान-भ्रममें फँसा हुआ है, दर्शनमोहकी अत्यंत निबिड़ गाँठ पड़ी है, इसलिए स्वपदकी भूल हुई है, अर्थात् स्वरूप सूझता नहीं है। परपद - देहपदमें निजपद भासित हो रहा है, ऐसी परिस्थितिमें भेदज्ञान ही एकमात्र उपाय है। भेदज्ञानसे अगर अमृतरस पिया जाये तो अनंत गुणनिधानकी अनंतशक्तिकी महिमा प्रगट अनुभवगोचर होवे। श्रीगुरुके सर्व कथनका मूल यह है। (३३२)



मई - १९८९

प्रश्न :- अज्ञान कब तक रहता है ?

उत्तर :- जीव जब तक स्वयंको 'ज्ञानमात्र' स्वरूप नहीं देखता है, तब तक अज्ञान वर्तता है अर्थात् जब तक ज्ञानमय भावसे स्वयंको नहीं देखता है तब तक जीव दग्धचित्तसे संकल्प-विकल्पमय होकर अज्ञानरूप प्रवर्तता है। जब कि भिन्न ज्ञानमय भावमें, कोई भी विकल्प रहित खुद प्रत्यक्ष रहता है, पवित्र सम्यक्ज्ञान ऐसे प्रवर्तता है। (३३३)



शब्दार्थका भाव भासित हुए बिना कथनका अभिप्राय पकड़में नहीं आता - अथवा (उसकी) पहचान नहीं होती। केवल शब्दार्थ या भावार्थसे 'मैं' जिनवचन अनुसार मानता हूँ' ऐसा समझ लेना नहीं चाहिये क्योंकि भाव भासित हुए बिना ज्ञानमें अन्यथापना हो जाता है। अतः भावभासनके लिये हेय-उपादेय तत्त्वोंकी चलते हुए परिणमनमें, प्रयोग करके परीक्षा या जाँच करनी चाहिये - इस पद्धतिको प्रयोगपद्धति अथवा अनुभवपद्धति कहनेमें आती है। (३३४)



जून - १९८९

अनंत गुणनिधान प्रभु - स्वमें एकत्वभावसे रहना, और एक समयकी वर्तमान पर्याय, राग व परमें एकत्व नहीं करना - यह सर्व उपदेश / बोधका संक्षेप (सारांश) है। तदर्थ पुरुषार्थ अपेक्षित है। (पुरुषार्थीको पुरुषार्थ-पर्यायमें अहंभाव नहीं होता, वजन / जोर नहीं होता)। किसी

भी स्थानमें / भावमें एकत्वभावसे वर्तन करनेका स्वभाव है उसे यथायोग्य स्थानरूप करना (चाहिये)। (३३५)



त्रिकाल शुद्धस्वरूप परमात्मा 'मैं', एक समयकी चलती हुई संसार पर्यायरूप नहीं हुआ - नहीं होता - ऐसा होने पर भी, निजपदको भूलकर चलती हुई पर्यायमें ध्रुवत्व-नित्यत्वकी कल्पना करके मैं-पना होना वही मूल विपर्यास है; निज परमपदका अनादर है, जिसका फल संसारके सर्व प्रकारके दुःख है। (३३६)



परलक्ष्यी ज्ञान 'गुण साधक' नहीं है, जड़ है, अवगुणका कारण है; ऐसा जानकर बहिर्मुख वलण (झुकाव) छोड़कर, उसमें साधनकी अपेक्षाका त्याग करके, अंतर्मुख झुकाव अपनावनेकी प्रेरणा ग्रहण करने योग्य है। जो कि सिर्फ अंतर अवलोकनसे, अंतरखोज द्वारा ही पलटता है; स्व-पर पदार्थकी भिन्नता, स्वभाव-विभावकी भिन्नता भी बहिर्मुख वलणको छुड़ाती है, इसके अतिरिक्त महा आश्चर्यकारी स्व-सामर्थ्यरूप अंतःतत्त्व स्वरूप परमात्मा स्वयं ही अंतर्मुख होनेमें (परिणामके लिये) सर्वोत्कृष्ट आकर्षणरूप है। (३३७)



स्वरूपके यथार्थ निर्णयके - अपूर्व निर्णयके फलमें स्वानुभव होता है, केवलज्ञान होता है। ऐसा निर्णय करनेमें रागका अंशतः अभाव होता है, अर्थात् अंशतः रागसे मुक्त होकर, वर्तमानमें प्रवर्तित चलते हुए ज्ञानमें - वर्तते हुए ज्ञानमें, ज्ञानसे ज्ञानस्वभावरूप 'स्व'का ज्ञानकी अधिकाईमें निर्णय होते ही, रागकी अधिकाई वहाँ छूटती है - जो कि अपूर्व है। निर्विकल्प स्वरूपका निर्णय, निर्विकल्प दशाके लिये बल(रस) / पुरुषार्थको उत्पन्न करता है, (अतः) इस प्रकार कारण-कार्यकी संधि है। कारणके साथ कार्य प्रतिबद्ध है। (३३८)



अनंतगुणका एकरूप - द्रव्य स्वभावको, चलती हुई विकारी पर्याय, अपूर्ण पर्यायकी अपेक्षा बिना - पर्यायमात्रकी अपेक्षा बिना सर्वस्वरूपसे ग्रहण करना - वह द्रव्यदृष्टि है, वही यथार्थ दृष्टि है, ऐसी दृष्टिपूर्वक मतिश्रुतज्ञानादि पर्याय अंतर्मुख होती है। उस पर्यायमें साधक-साध्यके भंग पड़ते हैं, परन्तु दृष्टिमें व दृष्टिके विषयमें कोई भंग नहीं पड़ता। (३३९)



जिसका स्वसंवेदन ज्ञान ही एकमात्र रस है, जो आत्मरस अचिंत्य व अपूर्व है, ऐसा समयसाररूप आत्मस्वभाव धीर, अचंचल (निश्चल), व आत्मलीन पुरुषों द्वारा ही आस्वाद्यमान

है; अर्थात् अनुभवमें आने योग्य है, अन्य से नहीं। इस अनुभवमें सर्वपद, सर्वगुण सन्निहित है। नमस्कार हो प्रत्यक्ष स्व समयसारको ! (३४०)



'यह अनुभूति है वही मैं हूँ' - यह अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे प्रयत्नपूर्वक ज्ञान-सामान्यमें निजको देखनेका प्रयोग है। स्वभाव लक्ष्यसे यह प्रयोग वारंवार अप्रमादरूपसे कर्तव्य है। इसीको संक्षेपमें 'ज्ञानमात्र' कहनेमें आया है। धर्मात्माकी यह आत्मज्ञानरूप मुख्यवृत्ति है / जीवन है। 'अनुभव' ज्ञानसामान्यके अलावा अन्य कहीं भी नहीं है, फिर भी दूसरे - परमें अनुभव हो रहा है वह मिथ्याभ्रम है; जो कि स्थूल उपयोगके साथ अविनाभावी है, इसलिये ज्ञान-सामान्यरूप-अनुभूति - सूक्ष्म अनुभवसे ही ग्रहण होती है। (३४१)



स्वरूप निश्चय होने पर स्वरूप-लक्ष्य होता है। अतः स्वरूप लक्ष्यमेंसे खिसकता नहीं है - सभी शास्त्रोंका बोध यह लक्ष्य होनेके हेतुसे कहनेमें आया है, क्योंकि लक्ष्यके कारणसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें स्वसंवेदन व अतीन्द्रिय आनंदके फुहारे फूटते (छूटते) हैं।

लक्ष्यके कारणसे ही - ज्ञानमें 'ज्ञानके वेदनरूप ज्ञान सामान्यके अनुभवरूप-अनुभूति' (जो) है, 'वही मैं हूँ' - ऐसा स्वआश्रयरूप जोर आनेसे स्वभावका आश्रय होता है। (३४२)



मुमुक्षु - आत्मार्थीको शास्त्र स्वाध्याय स्वरूपलक्ष्य होनेके उद्देश्यसे करने योग्य है - जिससे अनादि विपर्यासरूप निर्णय बदल जाये अथवा देहार्थका लक्ष्य छूटे। स्वरूपलक्ष्य होते ही निज अनंत ज्ञान एवं सुखरूप सामर्थ्य लक्ष्यगोचर होता है - 'देह वही मैं' - ऐसा लक्ष्य मिटता है, पर्यायभाव सब गौण होते हैं, स्वरूप महिमा व चैतन्य वीर्य उछलता है। (३४३)



अनंतकालसे निरंतर बहिर्भावमें प्रवर्तित जीवको, परलक्ष्यी ज्ञानमें अंतरकी दिशा नहीं सूझती। अतः अंतर्मुख नहीं हो सकता। बाह्यक्रियारूप परलक्ष्यी ज्ञान अंतर्मुख होनेका साधन भी नहीं है (फिर भी साधन मानना वह भ्रम है।) अंतर्मुख होना वह कला है, जो सिर्फ निज अवलोकनसे ही सधती है। जब ज्ञान, अपनेमें स्वभावके / वेदनके आधारसे निर्णय करता है तब अंतरकी दिशा-सूझ आती है, अंतरंगमें अनुभव-दृष्टिकी सूक्ष्मतापूर्वक स्वरसभावसे 'स्व'-पना हो, तब स्वभाव आविर्भूत होता है। (३४४)



शासन / समाजको मुख्य करके आत्मा एवं आत्मकार्यको गौण किया नहीं जा सकता।

आत्माकी मुख्यता रखकर (आत्मलक्ष्य छोड़े बिना) गौणरूपसे शासनका कार्य करना पड़ता हो, तो धीरज व सावधानीपूर्वक करने योग्य है; वरना स्तुति - निंदाके प्रयत्न हेतु देहादिकी प्रवृत्ति हो जायेगी; तथापि नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेके प्रयत्नमें, आत्माको आवरण आयेगा। यह अविचारीपना है। (३४५)



परमार्थके लक्ष्यसे होनेवाले व्यवहारमें परमार्थका निमित्तत्व है, ऐसा यथार्थ व्यवहार ही यथास्थानमें होने योग्य है। जब कि परमार्थके लक्ष्य बगैर होनेवाले व्यवहारमें व्यवहारकी मान्यता हो जानेसे व्यवहार संबंधित अभिनिवेश होता है। ऐसे प्रकारके निषेधार्थ शास्त्र एवं सत्पुरुष शुभक्रिया आदिका निषेध करते हैं, अथवा निश्चय स्वरूपके अवलंबनका बल प्रगट करनेके हेतुसे (भी), उर्ध्वभूमिकामें आरूढ़ होनेके लिये भी ऐसा निषेधात्मक उपदेश / भाव होना चाहिए। (३४६)



अनंत लाभ - स्वरूपके लक्ष्यसे अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टि द्वारा वारंवार - सतत देखना, यह अंतरमें स्वरूप सन्मुख होनेका प्रयत्न है, जिससे दर्शनमोहका रस एकदम घटता जाता है। यह सम्यक्त्व होनेका मूल कारण / उपाय है। यह अभ्यास भेदज्ञानका अभ्यास है। परलक्ष्य छोड़नेका पुरुषार्थ है। पर्यायका लक्ष्य भी छोड़कर 'वर्तमानमें मैं यही हूँ' - ऐसी द्रव्यकी प्रतीति / भाव जोरसे आने पर स्व-आश्रय भाव उत्पन्न होता है। उपरोक्त सहज प्रयत्न मूल कारणरूप है। (३४७)



अगर एक चैतन्य-स्वभावके अलावा दूसरे कहीं पर भी मिठास अर्थात् रस / महिमा रह गयी होगी, तो वह चैतन्यरसकी उत्पत्ति होने नहीं देगा, चैतन्यरसकी उत्पत्तिमें वह मिठास विघ्न करेगी; इस बातको तीक्ष्णतासे लक्ष्यमें रखने योग्य है। परमें रह गई मिठास - वह परिणति है, जो उदयके (उस प्रकारके विषयक) वक्त उपयोगरूप होती है और इस तरह पुष्ट होती है। स्व-सन्मुखताके प्रयासमें यह प्रकार मुख्यरूपसे बाधक है; अतः आत्मार्थीको इसे बहुत बड़ा नुकसान समझकर - जागृत हो जाना और चेत जाना। (३४८)



भगवान आत्माके अनंतवे भागरूप (जघन्य) आनंदकी एक क्षणकी लज्जतमें, उस अमृतरसकी मिठासके आगे तीन लोकके सुख विष समान लगे, तुच्छ लगे, ऐसा (महान) स्वयं (ही) है। उसका अंतरंगसे उल्लास उछलना चाहिये; उसकी प्राप्तिके लिये पागल होना चाहिये,

परमात्मस्वरूपकी अगर धून चड़े, तो स्वरूप प्रगट हुए बिना नहीं रहता, वरना इसके (ऐसी धून) बिना प्रगट नहीं होता। (३४९)



जुलाई - १९८९

आत्मस्वरूप-स्वभाव अनंत गंभीर है; स्व-वस्तु जितनी अनंत गंभीर है, उतनी भासित हुए बिना यथार्थ सहज महिमा नहीं आती - परन्तु (सविकल्पज्ञानमें) स्वयंके स्वभावकी गंभीरता भासित होने पर ही ऐसी महिमा आती है कि वह महिमा वृद्धिगत होकर विकल्पका उल्लंघन कर देती है। विकल्पको आते हुए रोकना नहीं पड़ता, बल्कि विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसे निर्विकल्प भावका आविर्भाव होता है तब सहज अतीन्द्रिय आनंदका स्वानुभव होता है। (३५०)



मोहभावका अनुभव करनेवाले संसारी जीवको ऐसा लगता है कि, उसका नाश करना आसान नहीं है। संसारके इस रोगका नाश करनेका उपाय भी ज्ञानी-गुरुके सिवा और कहीं नहीं है। अतः लोकप्रसिद्ध मान्यता ऐसी है कि यह असाध्य रोग है, इसलिए बहुभाग जीव इसको मिटानेका उपाय है ही नहीं - ऐसे पूर्वग्रहमें रहते हुए - इसके उपायसे दूर रहते हैं, अनजान रहते हैं। कुछएक जीव इसका उपाय करने जैसा है - ऐसा सोचते हैं, उसमेंसे कोई वीरल जीव मोहका नाश करता है, फिर भी श्रीगुरुने अनंत कृपा करके मोहका तत्काल (शीघ्र) नाश करनेका उपाय यहाँ ऐसा बताया है कि :- यह आत्मा प्रत्यक्ष है - स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है; उसे देख ! उसे देखते ही आत्मसिद्धि है, अर्थात् तत्काल मोहका अभाव हो जायेगा; निश्चित (ही हो जायेगा)। अतः प्रमाद छोड़कर स्वसन्मुख होनेका सतत पुरुषार्थ कर ! निर्वाणका कारणभूत ऐसा उपायरूप जिनेन्द्रका जो मार्ग है, उस मार्ग-संपत्तिको प्राप्त ऐसे संतोंको पुनः पुनः वंदन हो। "भाई। तेरा तत्व हाजरा हजूर है, उसका लक्ष्य कर !" (पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी) (३५१)



ज्ञानमें रहे हुए ज्ञान-वेदनको सूक्ष्मतासे 'अनुभवके दृष्टिकोणसे अपने रूप देखना' - सर्वकालमें, सर्वप्रसंगमें इस प्रकारके ज्ञानको, जो कि उर्ध्व (मुख्य) है, उसे उर्ध्व ही रखना (गौण होने नहीं देना।) ज्ञान उर्ध्व होने पर भी (ज्ञेयकी मुख्यताके कारण) गौण होता है वहीं से विपर्यास व मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। (३५२)



शास्त्रसे हुआ ज्ञान, शब्दार्थ, भावार्थ, मतार्थ, नयार्थ इत्यादि प्रकारमें प्रवर्तित उपयोग स्थूल उपयोग है, उससे आत्मा जाननेमें नहीं आता। आत्माको जाननेके लिये उपयोग सूक्ष्म अनुभव - दृष्टिकोणवाला हो तो ज्ञान-वेदन परसे सूक्ष्म-अनुभूतिस्वरूप द्रव्यस्वभावको जान सके, वरना ग्यारह अंगका ज्ञान हो जाये तो भी उपयोग स्थूल है, सूक्ष्म नहीं। (३५३)



अपने अंदर ही 'आनंदका सागर' भरा है, फिर भी इस आनंद सागरको भूलकर बाहरसे आनंद जुटानेके लिये (बेभान होनेसे) व्यर्थ प्रयत्न करता है, इसलिये दुःख - आकुलता उत्पन्न होते हैं; परन्तु यदि सम्यक्ज्ञानकी तीक्ष्णबुद्धिसे 'आनंद सागर'को पकड़ ले तो परिभ्रमण टल जाये। जिसके (आनन्द सागरके) एक समयके अनुभवके आगे तीन खंडका राज्य तुच्छ है। (३५४)



धारणामें यथार्थ जानपना होनेके बावजूद भी अगर अंदरमें अयथार्थ प्रयोजन हो (दृष्टांतरूपसे : अंदरमें सूक्ष्मरूपसे परकी ओरके झुकावमें कहीं भी मिटास आती हो :- परसत्ता अवलंबी ज्ञानमें कहीं न कहीं विशेषता लगे, दूसरेको समझाते वक्त सामनेवाला राजी हो - तो सुहाना, इत्यादि) तो सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता अथवा अंतर्मुख नहीं हो सकते। (३५५)



मुमुक्षुजीवकी पूर्वभूमिकाका प्रकार ऐसा होता है कि जैसे किसीका मृत्यु होते ही सर्व उदयके साथ उसका संबंध पूरा हो जाता है, वैसे खुदकी मौजूदगी होने पर भी एक बार परके लिये मर जाना चाहिये, चारों ओरसे उपयोगको समेटकर अंतर्मुख होनेके - स्वभाव सन्मुख होनेके प्रयत्नमें लग जाना चाहिये। सर्व संयोगोंमेंसे अपना अधिकार अंतरसे उठा लेना चाहिये। अगर बिना उपयोग दिये परेच्छानुचारी होकर उदयमें प्रवर्तन किया जाये तो भाव प्रतिबंध टल जाये, और मार्गकी सुगमता होवे। (३५६)



परमात्मतत्त्वरूप स्वभावको लक्षमें रखना, कि जिससे किसी भी गुणके परिणाम मर्यादामें रहेंगे, स्वभावके लक्ष्यसे स्वभावका संग (अर्थात्) शुद्धोपयोग होगा, जिसका फल प्रगट परमात्मपना है। अतः स्वभावका लक्ष्य छोड़ने जैसा नहीं है। (३५७)



प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार होना चाहिये। द्रव्यकी स्वतंत्रताके स्वीकारके साथ प्रत्येक गुण-पर्यायोंकी स्वतंत्रताका स्वीकार होता है। - इस स्वतंत्रताका स्वीकार कैसे करना ?

कि स्वयंमें उत्पन्न हो रहे ज्ञानके अवलोकनसे ज्ञानकी स्वतंत्रताका अनुभव प्रत्यक्ष होता है; अर्थात् किसी भी ज्ञेयसे ज्ञान नहीं होता, ऐसे ज्ञेय निरपेक्ष ज्ञानके अनुभवसे विश्वके सभी पदार्थोंकी स्वतंत्रताका ज्ञान अपनेआप हो जाता है। जो वीतरागताका - निजावलंबनका कारण है, और साथ ही परसे भिन्नता होनेका भी कारण है। (३५८)



आगम अनुसार एवं वस्तु-स्वरूपके भावभासन अनुसार जो लोग वस्तुका रचनात्मक स्वरूप द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक समझे हैं, वे भी आगमके भेद - प्रभेदको गौण करके, निश्चय अभेद स्वरूपकी मुख्यता करते हैं, उसका कारण जीवका (खुदका) प्रयोजन सिद्ध करना वह है। अतः इस दृष्टिकोणसे मोक्षमार्गमें व्यवहारकी हमेशा गौणता है। मोक्षमार्गका इसमें रहस्य है। आत्मचिंतनमें गुणभेद गौण हो जाने चाहिये। (३५९)



जैनधर्म तो अध्यात्मरसमय है, जिसको अध्यात्मरससे - आत्माके शांतरससे अपने स्वरूप - स्वभावका सम्यक् अनुभव नहीं हुआ हो, वह वीतराग दिगम्बर जैनमार्गके रहस्यको जानता नहीं बल्कि मार्गसे अनजान है, मार्गके मर्मसे अनजान है, अतः वैसा वक्ता सिर्फ पद्धतिको सिखकर वक्ता तो हो जाता है परन्तु शास्त्रमेंसे मर्मको खोल नहीं सकता। कमसे कम अध्यात्मतत्त्वकी रुचिरूप योग्यताके अभावमें वक्ता हो जाये, वह इच्छनीय नहीं है। सर्व प्रथम देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धाकी दृढ़ता तो होनी ही चाहिये। (३६०)



ज्ञानक्रिया सहज, स्वाभाविकरूपसे हो ही रही है, ठीक वैसे ही वीर्यगुणका कार्य भी चालू ही है। दोनों कार्यको करना पड़े - ऐसी कोई समस्या नहीं है, परन्तु यदि ये कार्य यथायोग्य स्थानमें नहीं हुआ, तो सहजरूपसे दुःख, आकुलता होना अनिवार्य है, जो कि स्वभावसे विरुद्ध है, इसलिये ज्ञान अगर स्वयंका अनुभव करके जम जाये और वीर्य इसके साथ जुड़े तो सहज सुखशांति बनी रहे। ऐसा ज्ञान व वीर्यादिके सामर्थ्यका, बेहद सामर्थ्यका पिड़ खुद ही है, ऐसी प्रतीति सर्व सुखका मूल है। (३६१)



ज्ञानदशामें किसी भी पर्यायकी कर्ताबुद्धि नहीं होती। परद्रव्यमें तो स्वयंकी व्याप्तिका अभाव प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है, इसलिये परद्रव्यकी पर्यायको करनेका भ्रम तो नहीं होता, परन्तु अशुभको पलटकर शुभ करुं 'ऐसा अभिप्राय' (ऐसा अभिप्राय भ्रमबुद्धि है) (भी) नहीं होता, बल्कि परिणाम सहज ज्ञाताभावरूप रहे, वैसा अभिप्राय होता है। ऐसे निर्णयके अभावमें अगर कोई साधन

करनेमें आये, तो वह कर्ताबुद्धिसे होता है, उसमें मोक्षका कुछ भी साधन नहीं होता, परन्तु बंध होता है। (३६२)



मुमुक्षु जीव यदि प्रयोजनभूत तत्त्वकी धारणा तो करे, परन्तु अंतर्मुख दृष्टि और स्वरूप लक्ष्य न करे, तो उसने 'प्रयोजनभूत'को अप्रयोजनभूतरूपमें ही जाना है। ऐसा होनेका कारण दर्शनमोहका प्राबल्य है, क्योंकि जिस प्रयोजनभूत तत्त्वको जाननेसे अर्थात् प्रयोजनभूतरूपसे लक्ष्यमें लेनेसे, दर्शनमोह गलता है, अवश्य गलता ही है, उसको ही, सिर्फ धारणाकी बंध तिजोरीमें रख लिया !! अगर स्वरूप प्राप्तिकी यथार्थ भावना हो तो ऐसा प्रकार नहीं बनता। अकेली कोरी धारणा प्रायः अभिमानको उत्पन्न करती है। (३६३)



परिभ्रमण करते हुए जीवको अनंतकाल बीत गया। अगर वर्तमानमें भी जीवको सांसारिक उपाधिका बोझ बहुत हो तो वह निरूपाधिक आत्मतत्त्वका विचार भी नहीं कर सकता, इसलिये मुमुक्षुजीवको वैराग्यपूर्वक आत्मरुचि सहित उपयोगको (बोझसे) निवृत्त करके स्वलक्ष्यपूर्वक स्व-तत्त्वका चिंतन आदि कर्तव्य है, कि जिससे अपूर्वता प्रगट हो। (३६४)



स्व-परका जानना - वह विकारका कारण नहीं है, उपाधि नहीं है। अज्ञानदशामें (राग करनेका अभिप्राय होनेसे, परको जाननेके कालमें) परको जानते ही रागादिकी उत्पत्ति होती है - ऐसा भासित होता है, वहाँ स्व-पर प्रकाशक ज्ञानकी स्वच्छताको नहीं जानता है - वह भूल है। इसलिये अज्ञानके कारण जीव पर संबंधित अपने ज्ञानका निषेध करता है कि मुझे परको जानना नहीं है, मैं तो केवल स्वको जानना चाहता हूँ, परन्तु वैसा होना असंभवित है। ज्ञानी तो सम्यक्ज्ञानकी स्वच्छतासे स्वपरको जानते हैं, उसमें रागका अभिप्राय नहीं होता इसलिये ज्ञाताभावसे जानते हैं, उतनी वीतरागता है। थोड़े रागका कारण स्वरूप स्थिरताकी अपूर्णता है - परन्तु ज्ञान-ज्ञेय रागके कारण नहीं हैं। (३६५)



अर्थ या पदार्थका भाव भासित हुए बिना सत्पुरुष / शास्त्रके वचनका अभिप्राय पकड़में नहीं आता, इसलिये सिर्फ शब्दार्थ / भावार्थ समझकर खुद ऐसा मान लेवे कि 'मेरी मान्यता जिन वचन अनुसार है' लेकिन भावभासन बिना अन्यथापना हो जाता है, अतः हेय - उपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा अवलोकनपूर्वक - अनुभवपद्धतिसे अवश्य करनी चाहिये; जैसे कि राग दुःखरूप है, इसलिये हेय है - तो जब तक रागमें दुःख न लगे (भासित हो) तब तक अंतर अवलोकन

करना चाहिये और ऐसे ही 'ज्ञान' सुखरूप है, उसमें सुख न लगे (भासित हो) तब तक 'मात्रज्ञान'का प्रयत्नपूर्वक अनुभव करना चाहिये। इसी पद्धतिसे ज्ञानके आधारसे ज्ञानस्वभावी आत्माका भावभासन - पहचान करके, द्रव्य-गुण-पर्यायादि पदार्थोंको पहचानना होगा।

(३६६)



जिस तरह दर्पणमें, दर्पणको नहीं देखते हुए अपने मुखको - रूपको खुद देखता है, वैसे वीतराग जिनेन्द्रदेवकी वीतरागी मुद्राको देखते हुए - 'ऐसा मैं स्वयं ही हूँ'- इस प्रकार निःसंदेहरूपसे जो अपने निश्चय स्वरूपको देखता है, वह जिनदर्शनके वक्त यथार्थ निज दर्शन करता है। मोक्षमार्गमें विचरनेवाले धर्मात्मा इस प्रकारके पारमार्थिक आशयसे जिन-प्रतिमाकी स्थापना करते हैं।

(३६७)



चैतन्य स्वभावका तेज बेहद है; जो विकल्प अत्यंत चंचल है, संख्यामें बहुत ज्यादा है, और जिसके आड़े महान चैतन्य सूर्य-तेजका पुंज अनादिसे आच्छादित हो गया है; और जिसकी इन्द्रजालरूप भूल-भूलैयाँमें जीव दिङ्मूढ होकर भ्रमित हो रहा है, ऐसे विकल्परूप तरंग भी जिसकी स्फुरणा मात्रसे भाग जाते हैं, तत्क्षण लुप्त हो जाते हैं; ऐसे तेजके पुंजकी - स्वयंकी महानता कितनी ? अद्भुत से भी अद्भुत !! यह स्फुरणा तो सिर्फ चैतन्य-वीर्यका अंकुर है ! मूल वस्तु स्वयं तो अनंत शक्तिओंका कंद है ! अमाप है, फिर भी ज्ञानमें उसका नाप आता है !

(३६८)



अगस्त - १९८९

ग्रंथीभेद होनेके लिये अपूर्व पुरुषार्थ अपेक्षित है। उसमें अध्यात्मतत्त्वकी मुख्यता व प्रधानता होती है। जो लोग केवल शब्दके गुणदोषमें अटकते हैं, वे अध्यात्मतत्त्वको नहीं समझ सकते। पुनः जो लोग शास्त्रका केवल युक्तिपूर्वक ही विचार करके-समझ करके संतुष्ट होते हैं, वे भी सदगुणको प्रगट नहीं कर सकते; किन्तु आत्मभावनासे परिणति होने पर प्राप्ति होना सुगम है, ऐसे भावनावानको अध्यात्म प्रधान वचन, भावनावृद्धिके निमित्तभूत होते हैं, जिसके कारण अंतरभेद होता है।

(३६९)



जगतमें मृत्युको सर्वाधिक दुःखदायक प्रसंग जानकर, उसका अति दुःखमयरूपसे अनुभव किया जाता है; परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा तो ऐसा जानते हैं, कि ये प्रसंग विशेषरूपसे आत्महित

साधनेका प्रसंग है; यदि एकबार भी मृत्युकालके उदयका समभावपूर्वक वेदन किया जाये तो निर्वाण विशेष समीप हो जाता है। अतः मृत्युकालमें सहज उत्पन्न स्वरूप-भावनाको विशेष लाभदायक जानकर मुमुक्षुजीवको अभिप्रायमें पहलेसे ही तैयार रहना चाहिये। चैतन्यकी चमत्कारिक शक्तिका लाभ लेनेके इस मौकेको विचक्षण पुरुष नहीं गँवाता। (३७०)



‘अंतरंग शुद्धिके बिना बाह्याचरणकी शुद्धि विश्वास करने योग्य नहीं है’ - यह सिद्धांत कहीं पर भी विश्वास रखनेके पहले लक्ष्यमें रखना चाहिये। स्वयंके विकासके हेतु भी बाह्यशुद्धि पर जोर नहीं देकरके अंतरशुद्धिको ही मुख्य करना योग्य है। (३७१)



मात्र युक्ति आदिसे जो आगमके सिद्धांतोंको समझता है, किन्तु आत्मभावना रहित है, उसको अध्यात्मतत्त्वकी अरुचि होती है, तब वह जीव धर्मात्माके अध्यात्मशैलीके वचन जो कि पात्र जीवको भावनावृद्धिके निमित्तभूत होते हैं, उसमें शब्दके गुण-दोषको देखता है। (अतः) जो आत्महितका निमित्त है वह दर्शनमोह वृद्धिका कारण होता है। इसलिये अध्यात्मके विज्ञान - सिद्धांत व रहस्यसे वह दूर रह जाता है, और स्व-तत्त्वको देखना दुर्लभ हो जाता है, जो कि देखने मात्रसे सुलभ है। (३७२)



भावनामें स्व-पना करनेकी व्यक्त शक्ति है, इसलिये उसका फल महान् है। अनादिसे जीव परकी भावना करते हुए भवभ्रमण कर रहा है। अतः यह स्पष्ट होता है कि जीवके भवभ्रमणका कारण ‘परकी भावना’ है, अगर जीव भावनापूर्वक निज स्वरूपको भाये, तो अवश्य भवभ्रमण मिट जाय, क्योंकि स्वरूपसे भव रहित खुद (ही) है। इस तरह मोक्षमार्गमें ‘स्वरूप - भावना’का - उसके अनगिनत / अनुपम फायदे निश्चित होनेसे - अत्यंत महत्व है।

(३७३)



द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्मा समान है, इसलिये सम्यक्दृष्टिको वात्सल्य अंगरूप मूलगुण प्रगट होता है, जिसके कारण अंतरमें गुणनिधानकी प्रीति और बाह्यमें साधर्मी, गुण-चाहक, गुणवानके प्रति प्रीति / वात्सल्य सहज रहता है। जिसके फलस्वरूप मानव सहज ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती और शासनकी अशोभा नहीं होती, इस प्रकारसे वात्सल्यवंत प्रवर्तते हैं। उक्त वात्सल्यके अभावमें एक शासनमें आये हुए मनुष्य (विद्वानों भी) ईर्ष्यासे घायल होकर पीड़ित होते हैं। ऐसा होना अनिवार्य है। (स्वलक्ष्यसे विचार करने योग्य)। (३७४)

धर्मात्माने अंतरंगमें स्वयंका अलौकिक सिद्धस्वरूप-तेजको देखा है। उनका हृदय सिद्ध-स्वरूपरूपी रससे भर गया है; इसीलिये उन्हें समस्त जगतका राज्य भी तिनके के समान तुच्छ लगता है, और उपाधिका निमित्त लगता है - भोग रोग समान लगता है। यदि साधकदशामें जघन्य स्वरूपवेदन होने पर भी ऐसी स्थिति होती हो, तो पूर्ण पर्याय व पूर्ण द्रव्यका क्या कहना ? वास्तवमें ! स्वरूप महिमा अचिंत्य है !! (३७५)



जिनशासन दो प्रकारसे हैं; एक भाव जिनशासन और दूसरा द्रव्य जिनशासन। भाव जिनशासन है वह जिनस्वरूप निजपदकी आराधना / साधना स्वरूप है, अथवा मोक्षमार्गमें विचरनेवाले धर्मात्मा द्रव्य एवं भावरूप समस्त जीवंत जिनशासनरूप है। ज्ञानकी प्रधानतासे भावश्रुतरूप शुद्धात्म-ज्ञान भाव-जिनशासन है और द्रव्यश्रुत है वह द्रव्य जिनशासन है। द्रव्यश्रुत अर्थात् भगवानकी वाणी या जिनेश्वरकी आज्ञा वह द्रव्य जिनशासन है क्योंकि द्रव्यश्रुत स्वयं तीर्थकी प्रवृत्तिरूप है, तथा समस्त प्रकारकी तीर्थ प्रवृत्तिको प्रकाशित करनेवाला है। अनेकविध बाह्य तीर्थप्रवृत्तिरूप कार्यको एवं उस कार्यके, अनुशासित मनुष्योंको भी (द्रव्य) जिनशासनमें गिननेमें आता है। परन्तु इस समस्त द्रव्य - जिनशासनके प्राण भाव जिनशासन है। इसलिये भाव जिनशासनकी गैरमौजूदगीमें हो रही सभी तीर्थरूप प्रवृत्ति, सर्व मनुष्योंका ऐसी प्रवृत्तिमें इकट्ठा होना - इत्यादि निष्प्राण-मृतक कलेवर समान है। और इस प्रकारकी प्रवृत्तिमें प्रायः विपर्यास उत्पन्न हो जाता है। अतः वैसी प्रवृत्तिमें जोखिम है। (३७६)



निश्चयधर्म जब प्रगट होता है तब उसी वक्त निर्विकल्प ध्यानमें ही मोक्षमार्गका व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् सम्यक्दर्शन अपने सभी - ४८ मूलगुणके साथ ही उत्पन्न होता है - यह बहुत ही स्वाभाविक है या कुदरती है। द्रव्यदृष्टि एवं सातिशय महाविवेक सम्पन्न सम्यक्ज्ञान उसका मूल कारण है। सभी ४८ मूलगुणरूपी कार्य/परिणामके सद्भावको इस प्रकार सुगमतासे समझा जा सकता है। इस तरह धर्मात्माका अंतर-बाह्य जीवन सर्वांग सुंदर है। (३७७)



मिथ्यात्वदशामें जीव मोहनिद्रामें अचेत रहता है, उसमें पुरुषार्थ हीनता और प्रमाद है, सम्यक्त्वभावमें (जीव) पुरुषार्थकी शक्तिके अनुपातमें स्वरूपकी सावधानीमें रहता है; उसमें पुरुषार्थ हीनता नहीं है। सम्यक् परिणामनमें जीव स्वयंको चेतता है, अर्थात् जीवत्वशक्तिके शुद्ध परिणामन द्वारा अपना जीवन जीता है, वही सच्चा जीवन है। इस प्रकार सम्यक्त्वका प्रभाव अनंतगुण

पर पड़ता है, जो कि अचिंत्य व महा आश्चर्यकारी है। (३७८)



मुमुक्षुजीव अगर भविष्यके संयोगोंकी चिंता करता है तो उसमें वह संयोगकी आधारबुद्धिको दृढ़ करता है। ज्ञानी कभी ऐसा नहीं करते। इस प्रकारकी दीनता उन्हें कभी नहीं होती; जिसको ऐसी दीनता है, वह अपने निरपेक्ष महान् आत्मतत्त्वको आड़ लगाता है। अतः उसका पुरुषार्थ नहीं उठ सकता, इसलिये मुमुक्षुजीवको ऐसा निर्णय करना चाहिये कि 'चाहे कैसे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (जो कि पूर्वकर्म अनुसार उपार्जित है) में भी मैं साक्षीभावमें - ज्ञाताभावमें रहनेके पुरुषार्थमें लगा रहूँगा, लेकिन मेरे निरपेक्ष स्वभावको आड़ लगाकर दीनता, याचकता नहीं करूँगा। अंतरमेंसे सुख प्राप्त करना वही मेरा पुरुषार्थ/धर्म है।' (३७९)



मुमुक्षुजीवको अपने विराधक परिणामोंके लिये शुद्ध अंतःकरणसे सच्चा पश्चाताप हुए बिना विभावसे प्रतिक्रमण होनेका 'अभिप्राय' नहीं मिटता और विभावरस नहीं टूटता, विभावरसकी शक्ति कमजोर नहीं होती, और तब तक सन्मार्गमें विभावरसका अवरोध- प्रतिबंध है। जब हृदयसे (अंतःकरणसे) अपने दोषोंके प्रति जुगुप्साभाव होता है - पश्चाताप होता है, तभी आत्मार्थीकी भूमिकारूप दशा उत्पन्न होती है - यहाँसे फिर गुण प्रगट होनेका अवकाश पैदा होता है। (३८०)



कोई भी सिद्धांतका अगर यथार्थरूपसे ग्रहण हो, तो ही प्रयोजन - आत्महित सधता है वरना अनर्थकी उत्पत्ति होती है। अनादिसे चले आ रहे मति - विपर्यासके कारण मुमुक्षुकी भूमिका अति नाजुक है इसीलिये सत्पुरुषको शिरोधार्य रखना परम उपकारी माना गया है। पूर्ण निर्दोषताके ध्येय बिना उपदेश-वचनोंकी मर्यादा समझमें नहीं आती, जिसके कारण कोई-कोई वचन पर (देना चाहिये इससे) कम या ज्यादा जोर देनेका बनता है, जो अहित होनेका - अयथार्थ ग्रहणरूप-कारण बनता है। दृष्टांत रूपसे ले तो कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने मत-मंडन-खंडनमें नहीं जाकरके मध्यस्थभावमें रहकर तत्त्वका ग्रहण कहींसे भी (!) करनेका बोध दिया - अब इसकी मर्यादा समझमें नहीं आयी तो क्या हुआ कि परमार्थमार्गरूप जिनमत तीनोंकालमें एक ही प्रकारसे है, इसकी गौणता हो जानेसे एवं कुलधर्मका ममत्व नहीं छूटने, आदि कारणोंसे अन्यमतका स्वीकार होने लगा, और फिर परम वीतरागदशा प्राप्त जिनेन्द्र प्रतिमाको शृंगार करने सम्बन्धित विवेक भी नहीं रहा।

दूसरी तरफ पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामीने जीवोंको गृहीत मिथ्यात्वसे बचानेके लिये 'एक

दिगम्बर - मत ही सत्य है' - ऐसी स्पष्टता की, तो तब (उसकी मर्यादा नहीं समझकर) तत्त्वको नहीं देखकर, मत मंडन-खंडन (मंडन-खंडनका दूषण संप्रदाय बुद्धिकी उपज है।)की मुख्यता करनेमें मुमुक्षुजीवको कितना खतरा है, यह लक्ष्यमेंसे छूट गया और सत्पुरुषकी (श्रीमद्जीकी) मध्यस्थताके बारेमें शंकित होकर विचार करनेसे जीवोंके अभक्तिके परिणाम होकर, वे सन्मार्गसे अति दूरवर्ती परिणाममें आ गये !!

ऐसी विद्यमान परिस्थिति, अनेक सिद्धांतबोध व उपदेशबोधके वचनोंमेंसे ऐसी परिस्थिति पैदा होती है, इसलिये 'प्रत्यक्षयोग' का महत्व अंतरमें अधिक से अधिक बढ़ता ही जाता है और साथमें सत्पुरुषकी आज्ञामें रहने संबंधित और उनके प्रत्यक्षयोगका कितना महत्व है !! उसके बारेमें आत्माको बार-बार जागृत होनेके लिये प्रेरणा देती है। (३८९)



सितम्बर - १९८९

जिज्ञासु जीवोंके बीच शास्त्र-स्वाध्यायके वक्त मुख्यरूपसे स्वयंका लक्ष्य-आत्मलक्ष्य होना चाहिये, वह इस प्रकारसे :-

- (१) उपदेश वचनसे मुख्यतः अपने जीवको उपदेश देते हुए (अंतरमें) संबोधन करना।
- (२) भूल-दोषका वर्णन करते वक्त, यह जीव खुद अनादिसे ऐसे ही कारणोंकी वजहसे, मार्गसे वंचित रहा है !
- (३) जिस मार्गसे दूसरेको छुड़ाता हो, उसका सेवन खुद कैसे करे ?
- (४) जो बात खुदको अच्छी नहीं लगती हो - वह आप जिज्ञासुओंकी भी नहीं सुहाती होगी - विचारपूर्वक मान्य कीजिये-इत्यादि।
- (५) स्वयंके प्रयोग द्वारा समझाना, अपरिणामी रहकर नहीं बोलना (उपदेश नहीं देना)।
- (६) वाणी एवं चेष्टामें कृत्रिम हावभाव करने नहीं चाहिये।
- (७) जो बातमें खुद निःशंक हो वही करें, खुद जिसमें शंकामें खड़ा हो उसका निरूपण न करे।
- (८) जिस विषयमें खुद अनजान हो, उसका (अनजानपनेका) सरलतासे स्वीकार करें।
- (९) कभी भी आत्मश्लाघा या परनिंदा न करे।
- (१०) आत्महितका तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टिकोण रखना कि जिससे अनेक प्रकारके संभवित दोष अपनेआप सहजरूपसे ही नहीं होंगे।
- (११) किसीके पर आक्षेप नहीं करना।
- (१२) किसी व्यक्तिविशेषको लक्ष्यमें रखकर वांचन नहीं करना। किसीकी ईर्ष्या, निंदा,

हाँसी नहीं करना।

(१३) किसीकी गुप्त बातको प्रगट नहीं करना।

(१४) शांति - प्रेमभावसे च्युत नहीं होना।

(१५) स्वयंकी दशाको देखते हुए, निरूपित उपदेश जिस प्रकार खुदको कार्यकारी हो उस प्रकार खुदको अंगीकार करना।

(१६) श्रोताको मनोरंजन करानेका प्रकार नहीं होना चाहिये। (३८२)



जिसको संसारका छेद करनेका उपाय जाननेको नहीं मिला हो, वह तो इसका उपाय न करे, न कर सके और अन्य सांसारिक कार्योंका उद्यम किया करें, परन्तु अलौकिक पुण्ययोगसे जिसे संसारका छेद करनेके उपायका बोध श्रीगुरुसे प्राप्त हुआ हो तो उस बुद्धिमान पुरुषको बिना विलंब किये तत् संबंधित पुरुषार्थ करना ही उचित है, अन्यकार्यमें व्यस्त रहकर प्रमाद करना उचित नहीं है। (३८३)



जिस तरह अज्ञानदशामें विशेष ज्ञेयाकार ज्ञानका आविर्भाव होनेसे, ज्ञेयपदार्थमें एकत्व अथवा ज्ञेयका आश्रय अनिवार्यरूपसे हो जाता है, उसी तरह ज्ञानदशामें सामान्यज्ञानका आविर्भाव होनेसे सहजरूपसे सामान्य स्वभावका ग्रहण - आश्रय हो जाता है क्योंकि जिसका आश्रय हो जाता है, उसका उस वक्त लक्ष्य होता है। इस प्रकार ज्ञानसे ही स्व-पर पदार्थका ग्रहण होता है। (३८४)



ज्ञानकी दो मुख्य विशेषता है, एक स्व-परको प्रकाशित करना, दूसरा सिर्फ 'स्व'का वेदन करना। जिस तरह स्वरूप प्रकाशन (स्वरूप ग्रहणके) कालमें स्वरूप-अनुभव है वैसे पर प्रकाशनके कालमें परका वेदन नहीं है और निज वेदनका त्याग नहीं है फिर भी परवेदनके अध्यासके कालमें, भेदज्ञानके अभावके कारण, वेदकता अध्यासित परिणाममें रूक जानेसे अध्यासित भावसे 'परका' वेदन होता है - ऐसा मिथ्याभास रहता है, जो कि स्वसंवेदनको तिरोभूत करता है अथवा प्रगट होने नहीं देता; अतः ज्ञानसामान्यमें वेदन / अनुभवका दृष्टिकोण साध्य करके, स्वरूपको ग्रहण करना। (३८५)



बाह्यमें सर्व द्रव्य / भावसे सर्व प्रकारसे भिन्न हूँ इसलिये कोई 'पर'की चिंता - भय आदि कोई परिणामको क्या अवकाश है ?

अंतरमें मैं स्वयं अतिशय प्रकाशमान परम चैतन्य ज्योति, शाश्वत, पूर्ण आनंदादि सर्वगुण सम्पन्न हूँ, जो स्वसंवेनदसे ग्रहण होता हूँ (भेदज्ञानपूर्वक)। - ॐ शांति (३८६)



जिनके हृदयमें गणधरदेव जैसा महाविवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभवसे आनंदित होकर मिथ्यात्वका नाश करता है, जो अपने ज्ञान, सुख, सम्यक्त्व आदि स्वभावको धारण करता है, जो स्व-पर तत्त्वका विभाग करके निर्मल ज्ञानका प्रकाश करता है और आत्मबल बढ़ानेका प्रयत्न / पुरुषार्थ करता है, ऐसा समकिती भवसमुद्रसे पार होता है और दूसरोंको पार होनेमें कारणभूत होता है। (३८७)



अपूर्व अतिशय आत्मरसपूर्वक उत्पन्न भावश्रुतज्ञानके सद्भावसे, अभेद स्वरूपज्ञान, परसे अत्यंत विरक्त होनेसे, उसमें परद्रव्यको "मैं" पनेसे अनुभव करनेकी 'योग्यता'का नाश हो जानेसे, धर्मात्मा उदयका वेदन नहीं करते हैं। - ऐसा धर्मीका अंतरंग वंदनीय है। परमात्मपदके प्रति जिसका वीर्योल्लास गतिमान है, वह अवश्य अल्पकालमें परमात्मदशा तक पहुँचेगा, ऐसा होनेमें उनके सहायक (आधार) भी परमात्मा ही हैं, इसलिये संदेहका अवकाश कैसे रहे ? (३८८)



स्वरूप प्राप्तिकी भावना जिसको हुई है, वैसा आत्मार्थी जीव संसारसे भयभीत है, और आत्मानुभवको अतिशय दुर्लभ अमृत-पान जानकर उसके पुरुषार्थमें सावधान होता है, और स्वकार्य / प्रयोजनका बिलकुल भी विस्मरण होने नहीं देते, अतः कहीं भी अटकते नहीं। अपने महान ध्येयके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। वैसे आत्मार्थी इस कालमें धन्य हैं, सत्पुरुषकी कृपादृष्टिके वे पात्र हुए हैं। (३८९)



सर्वको (सर्व ज्ञेयाकारोंको) बाद करके जो अबाध्य अनुभव रहता है वह 'आत्मा' है - भगवान आत्मा है, इस तरह स्वयं अनुभूति स्वरूप है, प्रगट है, अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगटरूपसे अनुभवमें आता है। अंतरमें सभी प्रदेशमें अनंत अमृत भरा है। स्वयं अमृतकुंभ है। हे जीव ! इस अमृत सरोवरको छलका दे !! (३९०)



दृढ मोक्षेच्छा, उसरूप जो पात्रता, यह आये बिना जीवकी प्रवृत्तिमें / समझमें यथार्थता, यथार्थ दृष्टिकोण प्राप्त नहीं होता है। और ऐसा हुए बिना आगेकी कोई भी बातकी अपेक्षा

रखी जाये तो वह व्यर्थ ही है - ऐसा प्रथम खचित (चोक्कस) निश्चय आये बिना 'सत्' प्राप्तिके लिये जीव 'काल्पनिक' उपाय करने लगता है। अनंतकालमें उपाय तो अनंत किये परन्तु मूलमें / नीवमें जो करने योग्य था, उसके बिना ही आगेकी बातें - तत्त्वाभ्यास इत्यादि करनेसे मार्गके बजाय उन्मार्ग ही सधा है। इसलिये ऊपर कहा हुआ / दिया हुआ सत्पुरुषका 'मंत्र' समझकर उसका मूल्यांकन होना चाहिये।

उपरोक्त पात्रतावान जीव 'सजीवनमूर्ति' सत्पुरुषको खोजता है अथवा पहचानता है, कि जिनके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको प्राप्त होता है। (३९१)



जिन्होंने अंतरंगमें अलौकिक, अद्भुत, साक्षात्, मूर्तिमंत निज सिद्धपदको देखा, उनको जगतके रम्य (?) पदार्थ प्रिय नहीं लगते अथवा मोहक नहीं लगते क्योंकि उस भव्य जीवका हृदय सिद्ध स्वरूपके रससे भर गया है, उनके लिये सारा जगत तृणवत् है। संयोगमें जो शरीर है उसको भी खाली कलेवर जानते हैं; उदयीक भाव जैसे उपाधि आ पड़ी हो वैसा (नेत्रके पास कूड़ा उठवाने जैसा बोझा) लगता है, तो उसमें आत्मभावसे रस कैसे आयेगा ? वह तो आत्माराममें निजरसपूर्वक क्रीड़ा करना चाहता है - धन्य है उनको !! (३९२)



हे ! आत्मदेव ! स्वयंके ज्ञानबागमें खेलो, क्रीड़ा करो या जमे रहो; अन्यसे क्या प्रयोजन है ? अलौकिक गुण-वैभवका अचिंत्य रमणीय धाम ! अद्वितीय परम पदार्थ जयवंत वर्तो ! जयवंत वर्तो !! उस (पदार्थ) - पदको दर्शानेवाले सद्गुरु, निष्कारण करुणामूर्ति सत्पुरुष - परम पुरुष, दिव्यमूर्ति परमात्मा जयवंत वर्तो, त्रिकाल जयवंत वर्तो !! (३९३)



अक्टूबर - १९८९

आंशिक स्वसंवेदन, पूर्ण स्वसंवेदनका अंगभूत है, एक ही जातिका है। यह ज्ञानसे ज्ञानका वेदन वह आत्मानुभव है, उसमें - ज्ञानवेदनमें आत्मा वेदा जाता है - वेदनमें आ रहा है, यह साधक अवस्थामें मोक्षमार्ग है, और यही सिद्ध अवस्थामें मोक्ष है, यहाँपर सिर्फ स्वरूपका ही वेदन है। अतः संक्षेपमें उसका 'ज्ञानमात्र'से व्यपदेश है। (३९४)



जिसमें सुख नहीं है ऐसे पुद्गल पर्यायोंमें जीवको मिथ्या कल्पनासे सुखाभिलाषा होती है - ऐसी व्यर्थ स्फुरणा केवल दुःखरूप ही है। क्या यह जीवको उन्मत अवस्था की प्राप्ति नहीं है ? इस अनादि भ्रांतिको टालनेके लिये, वास्तविक वस्तु-स्वरूपका अवलोकन करना

चाहिये अर्थात् जड़का सुखरहितपना और जीवके 'ज्ञानमात्र' पनेको, अवलोकनमें लेनेसे भ्रांतिका विलय होता है। (३९५)



जीव जब जड़की प्रीति करता है, तब अवश्य उसका दंड भुगतना पड़ता है, (यद्यपि जड़ पदार्थमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है और जड़ परमाणु जीवको कोई आमंत्रण भी नहीं देते हैं - इस प्रकार) जीवको दंड होनेमें वास्तवमें जड़ तो निर्दोष है फिर भी उसका संग करने जैसा नहीं है, तो फिर जो जीव स्वयं अपराधी होकर प्रवृत्ति करते हो, उनका संग (कुसंग) करने पर जीवको अतिशय दंड भुगतना पड़े - उसमें कौनसा आश्चर्य है ? अर्थात् कुसंगसे अत्यंत सावधानी रखकर चलने जैसा है। (३९६)



धर्मात्माकी कथनशैलीमें आंतरध्वनि ऐसा होता है कि जीव स्वरूपबोधको अंगीकार करे या अवधारण करे । मुमुक्षुजीव भी तथारूप अवधारण करनेके लिये प्रयत्नशील रहता है, वह ऐसा नहीं होने देता कि समझ व स्मृतिकी मर्यादामें ही रह जाये और उसको अंगीकार करनेका लक्ष्य ही न रहे, वरना समझ (कहनेके अनुसार) विषयके अनुरूप होने पर भी 'अयथार्थ' रह जाती है, जिसका ख्याल समझनेवालेको खुदको नहीं रहता, क्योंकि ज्ञेयको जाननेकी क्षयोपशमशक्ति दोनोंकी (यथार्थता एवं अयथार्थता वालेकी) समान ही होती है। यथार्थता हो तो वह हित साधने लगता है जब कि अयथार्थतावाला सिर्फ बुद्धिमें बातको बिठाता है, समझमें आया होनेसे संतुष्ट होता है, और हित साधनेमें प्रयत्न शून्य रहता है। (३९७)



स्वसन्मुखता, स्वभाव सन्मुखतामें सम्यक्त्व है वह अमृत है। स्वभावकी विमुखतामें रहकर किये गये सुकृत्य भी जहर मिलाये हुए दूध जैसे है, फिर भले ही उसमें ज्ञान, तपश्चरण, ध्यान, व्रत, दान, उपशम (शांतता) इत्यादि कुछ भी क्यों नहीं हो !! पर्याय मूढताके कारण उसके मदको (अहम्भावको) होता हुआ नहीं रोका जा सकता। (३९८)



जिसको स्वरूपज्ञान हुआ है, वैसे ज्ञानीपुरुषको द्रव्य दृष्टिके कारण, ऊँच-नीच, मान-अपमानकी कल्पना (जैसी अज्ञान दशामें होती है - वह) नष्ट हो जाती है, इसलिये गुण दृष्टिवान ऐसे उन धर्मात्माओंको गुणके प्रति यानी कि गुणवानके प्रति परम आदर भाव रहता है, जिस अभिप्रायके कारण गुरु-शिष्यका बाह्य सम्बन्ध गौण होकर, नीचेके गुणस्थानका लक्ष्य गौण होकर वंदन / नमस्कार करनेमें आता है, ऐसे प्रसंग पर बाह्य दृष्टिवान जीवको विकल्प

होता है, परन्तु अंतरदृष्टिसे सोचा जाय तो कोई विकल्प उठने योग्य नहीं है। ऐसी अलौकिक - अद्भुत दशा - मान - अपमानके द्वंद्व रहित, मोक्षमार्गमें चलनेवाले महात्माकी होती है। इस विषयमें परमागमोंमें प्रसिद्ध है कि निर्ग्रंथ भावलिंगी संतोंने सम्यक्दृष्टिकी गुणप्रशंसा की है, श्रीमद्जीने श्री सौभाग्यभाईको और पू. गुरुदेवश्रीने श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीको नमस्कार किया है। इसका अंतर रहस्य समझकर, मुमुक्षुजीवको इस मनुष्य पर्यायमें मुख्य प्रतिबंधरूप 'मान' कषायकी सम्यक् प्रकारसे निवृत्ति कर्तव्य है। (३९९)



अध्यात्मका व्यामोह स्व-पर अहित होनेमें एक असाधारण निमित्त / कारण है। जीवकी बाह्यदृष्टिसे उत्पन्न हुई यह एक अनूठी विकृति है, जिससे जीवको शुष्कता, स्वेच्छाचारीपना (स्वच्छंदता) अथवा उन्मत्तप्रलापदशा उत्पन्न होती है। लोकसंज्ञा तीव्र होने पर अस्वाभाविक (कृत्रिम) अध्यात्मकी प्रधानता की जाती है, और जीव जिस आध्यात्मिक विषय से दर्शनमोहका उपशमन कर सकता है, उसी विषयका विपरीत अवलंबन लेकर दर्शनमोहकी वृद्धि करके गृहीत मिथ्यात्व तक (नुकसानमें) चला जाता है। अनेक अन्यमत जो हैं वे इसके प्रगट दृष्टांत हैं; तथापि जैन-मार्गमें भी विभिन्न संप्रदाय होनेमें, कुछएक कारणोंमेंसे यह भी एक कारण रहा है, ऐसा दिखता है।

निराकार, निर्विकल्प, अनंतगुणमय, अध्यात्मतत्त्व आत्मा है, अंतरमें उसके यथार्थ अवलंबनसे ध्यान होता है, परन्तु तथारूप दृष्टि साध्य हुए बिना प्रायः बाह्यदृष्टिमें उसका व्यामोह होनेकी संभावना होनेसे जैनमार्गमें साकार भगवानके स्वरूप आलंबनसे भक्ति / भावनाप्रधान दशाके कारण शुष्कता आदि दोष नहीं होते, और आत्मा स्वाभाविक उच्चगुणोंको प्राप्त होता है, अतः जीव अध्यात्मके व्यामोहसे बच जाता है। इसतरह (भगवानकी प्रतिमाकी) स्थापनाके पीछे एक गंभीर हेतु मालूम पड़ता है। और अनादि परम्परामें-कार्यपद्धतिमें (इस तरह) पारमार्थिक हेतुकी रक्षा की गई है। जो किसी भी बहानेसे निषेध्य नहीं है। विवादके योग्य भी नहीं है।

(४००)



अति पुरुषार्थवंत, आत्मरससे सराबोर वृत्तिवान धर्मात्मा(का), परमार्थमार्गके उपदेश संबंधित बाह्यवृत्ति व प्रसंगमें भी नीरस हो जाना, वाणी सहजरूपसे मौनत्वको प्राप्त हो जाना, कहने / लिखनेकी वृत्तिका संक्षेप हो जाना / गोपन (शांत) हो जाना, देहके अस्तित्वका विस्मरण हो जाना इत्यादि प्रकार / लक्षण 'निश्चय- भावना'के हैं। यह भावना बलवान वीतरागी असंगभाव है - ऐसे महात्मा सहजरूपसे सर्वसंग परित्याग करके निकटके भविष्यमें ही निर्ग्रंथपदमें विराजमान

हो जाते हैं अथवा होनेके लिये सक्षम हैं। जिनकी मौन मुखमुद्रा भी बोधका कारण बनती है। ऐसी वीतरागी गंभीरताका प्रशस्तभावसे स्तवन कर्तव्य है। (४०१)



वर्तमानमें आयुष्य अल्प है, और इस आयुष्यके सद्भावमें भी शरीर प्रायः अशाताको भोगनेका ही साधन बनता है; चाहे कितनी भी शरीरकी सावधानी / सँभाल करें, फिर भी रोगादि उपद्रव हुआ ही करते हैं, और वे पूर्वकर्म अनुसार होते हैं, जब ऐसी परिस्थिति है कि वर्तमान प्रयत्नसे यह पूर्वकर्मसे बचना नहीं हो सकता, तो फिर इस कायाकी अगर मोक्षमार्गमें आहुति देनेसे (कायासे उपेक्षित होकर पुरुषार्थको मोक्षमार्गके प्रति लगानेमें आये तो) परमशुद्ध चैतन्यघन अविनाशीपदकी प्राप्ति होती हो तो फूटी कौड़ीके बदलेमें चिंतामणी रत्नसे भी अधिक लाभ हुआ; ऐसा समझने योग्य है। (४०२)



परमतत्त्व - आत्मा इन्द्रियज्ञानका विषय नहीं है, मनका विषय भी नहीं है। इसलिये जब तक मनसे विचार किया जाता है तब तक आत्मा जाननेमें नहीं आता। सिर्फ शरीरादि बाह्य पदार्थ इन्द्रियोंसे जाननेमें आते हैं। वास्तवमें आत्मा तो अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञानसे जाननेमें आता है। ऐसा जानकर अन्यथा प्रयत्नका त्याग करके मुमुक्षुजीवको उन्मार्गसे बचकर सत्य उपायको ग्रहण करना चाहिये। (४०३)



शुद्ध चैतन्यकी एकाग्रताकी परिणाम-श्रेणीमें आरुढ़ साधकजीवको परकार्यकी अल्प चिंता भी बहुत बड़ा विघ्न करती है, ऐसी वस्तुस्थिति है, फिर भी पूर्वकर्मके उदयके घेरेमें रहते हुए भी जिन्होंने स्थिर रहकर, पुरुषार्थ-परायण रहकर, जो आत्मध्यानसे चलित नहीं हुए, ऐसे महात्माओंका अलौकिक पराक्रम सानंद आश्चर्यको उत्पन्न करता है, नमस्कार हो उनकी वीरताको !! वास्तवमें जिनमार्ग ऐसा ही है ! (४०४)



देशनालब्धि :- स्वरूपबोध परिणत आचार्य / सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योग प्राप्त होने पर, उनके द्वारा उपदिष्ट अर्थका - प्रयोजनभूत तत्त्वका ग्रहण, धारण एवं विचारणाकी शक्तिका समागम होना - उसे देशनालब्धि कहते हैं। (ध. पू. - ६) (४०५)



मोहनिंद्रामें जीव अचेत जैसा रहता है, स्वरूपकी सँभाल - स्वरूपनी जागृति नहीं रहती। जिनवचन अनुसार उपदेशकी धारणा होनेके बावजूद भी मिथ्यात्व दशामें प्रमाद व पुरुषार्थहीनता

होती ही है। सम्यक्त्वभावके सद्भावमें पुरुषार्थ सहज उत्पन्न होता है, पुरुषार्थहीनता नहीं होती, ऐसी अलौकिक चेतनाका संचार रहता है। यही जीवका जीवन है, जब कि इसके अभावमें वर्तता हुआ मोहभाव ही समस्त विपत्तिओंका मूल है। (४०६)



जो जीव भवभयसे डरता है, वह आत्मार्थी जीवका एक लक्षण है, ऐसे जीवको गुरुआज्ञा अथवा जिन भगवानकी आज्ञाका भंग करनेमें भय लगता है, और जिसको भवभयका डर नहीं है उसके लिए जिन-आज्ञा / गुरुआज्ञाका भंग करना सहज (सामान्य) है। इसीलिये आत्मार्थी जीवको परिभ्रमणसे छूटनेकी भावना अथवा 'दृढ मोक्षेच्छा' सर्व प्रथम नीवमें ही होती है। नीवमें यदि यह बात नहीं हो तो प्रायः आत्मार्थीता ही नहीं आती। बहुत-बहुत विचारके / अनुभवके द्वारा सिद्ध हुआ यह सत्य है। (४०७)



स्वाध्याय पद्धति :- विपर्यासका उत्पादक ऐसे दर्शनमोहका क्षय करनेके लिये भावज्ञानके अवलंबनपूर्वक सम्यक् प्रकारसे शब्दब्रह्मरूप सत्श्रुतकी उपासनाका अभ्यास करना। अर्थात् सत्श्रुतके अभ्यासके काल उसके वाच्यरूप भावका अवलंबन लेना / अवधारण करना - सम्यक् प्रकारसे लेना यानी कि स्वभाव सन्मुखतामें रहकर, दृढ भावमें रहकर तत्त्वतः समस्त वस्तुको जानना । यही स्वाध्याय करनेकी यथार्थ पद्धति है। (४०८)



जो मोक्षमार्गी हैं वे हमेशा स्वानुभवरसको दृढ करते हैं, गाढ करते हैं। ग्रंथका अध्ययन करते वक्त भी स्वानुभवके पाठका ही अध्ययन करते हैं, (और) उनके विचारमें शास्त्रज्ञान / सिद्धांतज्ञानके तरंग / लहरें उठती हैं, अतः वे सिद्धांतमें प्रविण-कुशल हैं, तथापि अध्यात्मविद्याके पारगामी हैं, वे पवित्र होनेसे पूजनीय व वंदनीय हैं। उदयरूपी कुत्ते तो उनके देखने मात्रसे ही भागने लगते हैं, ऐसे ज्ञानी ज्ञानरूपी मदमस्त हाथी पर बैठे हैं। (श्री बनारसीदास - मोक्षद्वार - ३१ नाटक समयसार) उनके ज्ञानतेजसे / प्रकाशसे संशय, विमोह व विभ्रम नाश को प्राप्त हुए हैं, अज्ञान अंधकार दूर होनेसे वे ज्ञानप्रकाशमें विराजमान हैं। (४०९)



दर्शनमोहकी चेष्टाएं :- अनात्मीय पदार्थमें आत्मबुद्धि, रागादिमें कर्ताबुद्धि / सुखबुद्धि, ज्ञेय तत्त्वोंमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि, परसत्तामें / रागमें एकत्वबुद्धि, परकी मुख्यता, विभावकी रुचि, दुःखमें सुखकी प्रतीति, कुदेवादिकी श्रद्धा (कृत-कारित अनुमोदनासे), वीतरागी देवादिका निषेध (कृत-कारित अनुमोदनासे), लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, कुसंगकी रुचि, विद्यमान सत्पुरुषकी विमुखता /

उपेक्षा, अवर्णवाद, अपसिद्धांत निरूपण, ज्ञानके उघाड़की रुचि, मिथ्याआग्रह, अहितमें हितबुद्धि, हितरूप प्रयोजनके प्रति दुर्लक्ष्य, असरलता (वक्रता-हटाग्रह) दोषका पक्षपात, गुणवानके प्रति मात्सर्य, पर्यायमें एकत्व / पर्यायबुद्धि - उसके कारण ज्ञान अथवा चारित्रगुण अथवा वीर्यादिकी क्षयोपशम पर्याय पर वजन - उसकी अधिकाई, मुख्यता रहनी, उदयभावमें चिकने-रसयुक्त परिणाम, भेद प्रधानता अथवा भेदकी रुचि, अध्यात्मका व्यामोह, मताग्रह, विपरीत अभिनिवेशपूर्वक तत्त्वका स्वीकार - कल्पित अधिष्ठान, कल्पित ध्येय, स्वच्छंद, व्यवहारका पक्ष, कल्पित साधनका स्वीकार, सत्धर्म / स्वभावकी अरुचि इत्यादि । (४१०)



जब किसी पात्रतावान जीवको सत्पुरुषका जोग हो जाता है तब उसका मूल पदार्थ पर लक्ष्य जाता है और संसारसे तिरनेकी कला उसके हाथ लगती है - तब उसको सर्वार्पणबुद्धिसे भक्ति आती है, अथवा आखरी चरण सीमा तक पराभक्ति आती है। तद् उपरांत ऐसा समझमें आता है कि अगर ये श्रीगुरु मुझे नहीं मिले होते तो मैं अनंतकालसे जिस तरह संसारमें दुःखी होकर परिभ्रमण करता आया हूँ वैसे ही न जाने अभी भी अहो ! कितने अनंतकाल तक परिभ्रमण करता रहता ? अहो ! अहो ! श्रीगुरुको धन्य है !! कि जिन्होंने मुझे डूबनेसे बचाया !! उनका अनुपम उपकार अविस्मरणीय रहता है ! (४११)



अप्रमत्तआदि - ऊपरके गुणस्थानमें मुनिराजको प्रमादके अभावके कारण, उस गुणस्थानवर्ती (जीवको) आहारसंज्ञाका अभाव होता है, अर्थात् उनको चार संज्ञामेंसे पहली आहारसंज्ञा नहीं होती है। क्योंकि आहारसंज्ञाकी कारणभूत जो असाता वेदनीयकी उदीरणा - उसकी व्युच्छित्ति तो प्रमत्त गुणस्थामें ही हो चुकी है; अतः उस कारणके अभावमें कार्यका भी अभाव होता है। (जब ऐसा है तो फिर १३वे गुणस्थामें तो आहार कैसे हो सकता है ?) अन्य जो तीन संज्ञाएं हैं, वे भी मुनिराजको उपचार मात्र है; क्योंकि उन तीन संज्ञाओंका निमित्तभूत कर्मका उदय होता है, ये इतनी अपेक्षा (भी) उदय मात्र तक सीमित है; फिर भी भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाएं अप्रमादी जीवको कार्यरूप नहीं होती (क्योंकि तब वहाँ कार्यरूप निर्विकल्प ध्यानदशा वर्तती है।) - गोमट्टसार - गा. - १३९ (४१२)



सामान्यतः मुमुक्षुजीव धर्म / स्वकल्याणकी भावना समेत सन्मार्गके प्रति झुकता है। अगर अंतरकी सच्ची भावनापूर्वक यह प्रवेश हुआ हो तो वह अवश्य पूर्णताके ध्येयका दृढ निश्चय करता है, और यदि वैसा निश्चय करता है तो वह सर्व प्रथम तत्त्वके अभ्यास, चिंतन / मंथनके

कालमें स्वरूप-निश्चय सहजरूपसे करता है, परन्तु अन्यथा उपाय नहीं करता। यथार्थ स्वरूप लक्ष्य करके, मोक्षमार्गके पुरुषार्थमें उद्यमवन्त होता है और भव-भ्रमणसे छूटता है। जब कि जिस मुमुक्षुका प्रवेश सामान्य भावनासे हुआ हो वह अगर पूर्णताका लक्ष्य नहीं बांधता है तो प्रायः भावनामें आगे नहीं बढ़ सकता अर्थात् कुछ समय बाद भावना फीकी पड़ जाती है। अतः ध्येय तो अवश्य शीघ्रतासे बांध ही लेना चाहिये। अथवा ध्येय बांधनेके साथ प्रवेश होकर अगर भावना-प्रधान परिणाम होवे, तो अवश्य ही आगे बढ़े। मुमुक्षुदशामें (स्वरूप निश्चय और पुरुषार्थके प्रति) यथार्थ शुरुआत इस प्रकार होनी चाहिये। (४१३)



“दृष्टिके निर्णयमें पूर्ण शुद्धि भरी हुई है” - पू. सोगानीजी (द्रव्य दृष्टि प्रकाश ४८०)

इस वचनामृतमें सम्यक्दर्शनका सामर्थ्य बतलाया है, जिस तरह बीजमें वृक्षको देखा जाता है उस प्रकार स्वरूप दृष्टिमें पूर्ण शुद्धि भरी है, ऐसा ज्ञानमें निर्णय होता है। दृष्टिके गर्भमें मोक्ष दिखता है, इसलिये सम्यक्ज्ञानमें दृष्टिकी महिमा आती है। इस प्रकार सम्यक्दर्शनमें जो अनन्त गहराई है, उसका नाप आता है। दूसरा, दृष्टिके निर्णयके वक्त द्रव्यदृष्टिकी खूबीयाँ भी समझमें आती है जो कि पूर्ण शुद्धिकी एकांत उपादेयता स्वरूप है, और उसके यथार्थ निर्णयके गर्भमें भी पूर्णशुद्धि प्रगट हो - ऐसा सत्व रहा है। ऐसा उक्त वचनामृतमें रहस्य है। इस वचनको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! (४१४)



नवम्बर - १९८९

जब (एक तरफ) शासनकी अवनति हो रही है, उसे देखते हुए उसकी उन्नति हो ऐसा विकल्प, परम कारुण्यवृत्तिके कारण महापुरुषोंको यथासंभव उत्पन्न हो आता है, तब दूसरी ओर जिनका दर्शनमोह तीव्र हुआ है - ऐसे जीव स्वच्छंद प्रवृत्तिसे वेगपूर्वक उन्मार्ग पर चलते हैं, और जिनके निमित्तसे मूलमार्गसे (शासनमें आये हुए) जीव कोट्यावधि योजन दूर हो जाते हैं, और साथमें वर्तमान हुंडावसर्पीणी काल अपना स्वरूप भी बराबर प्रगट करता है। तीव्र दर्शनमोहसे सिद्धांतमें फेरफार करके श्रुतिका कोप जाने-अनजानेमें मोड़ लेते हैं और भावश्रुतके आवरणको और प्रगाढ़ कर लेते हैं, तथापि तीर्थकरदेवकी परम्परा तीर्थकरदेवके नामसे ही तोड़ते हैं। ऐसा जब होता है तब नजरके सामने 'माता'की बेइज्जती हो, उससे भी अधिक वेदना धर्मात्माको होती है। अगर परमार्थदृष्टि नहीं हो तो समाधिका नाश हो जाय, ऐसा यह विकट प्रसंग है ! (४१५)



समयसार-स्वस्वरूप - शुद्धात्मा कैसे प्रकाशित हो ? अर्थात् प्रगट हो ? कि 'स्वानुभूत्या' अपनी ही अनुभवनरूप क्रियासे प्रकाशित है - ऐसा यह स्वयं अनुभूति स्वरूप खुद ही है। 'केवल अनुभवरूप' हूँ। - इस प्रकार स्वरूप प्रकाशनका संक्षेप है। विस्तारमें अन्य द्रव्य, भावके अभाव स्वरूप अनुभव अर्थात् ज्ञानवेदन है, और स्व-वेदनसे स्वानुभव है, उसका सन्मुख होकर (पर वेदनके अध्यासित भावसे निवृत्त होकर) अवलोकन होना चाहिये (अर्थात् ज्ञान अन्य ज्ञानसे जाननेमें आये ऐसे नहीं परन्तु ज्ञान स्वयंका, ज्ञानवेदनका वेदन करे) - ऐसा सूक्ष्म और गंभीर भाव इसमें है। (४१६)



आगम या अध्यात्ममें संतुलन गवाँकर आभासी हुए जीवको, उसकी मान्यताका सीधा निषेध करनेसे प्रायः (किसी विशेष पात्रतावान जीवको छोड़कर) उस जीवको सम्यक् प्रकार भी सम्मत नहीं होता है। इसलिये सत्पुरुषों ऐसे अवसर पर सीधा निषेध करनेके बजाय, सिर्फ 'आभास रहित' वस्तुस्वरूपको सम्यक्दृष्टिकोणसे दर्शाते हैं, तब संभवतः पात्रता अनुसार विपर्यास छूटनेका अवसर प्राप्त होता है। ऐसी पद्धतिके कारण विवाद / घर्षणमें आनेसे बच जाते हैं।

(४१७)



खुदके कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जीवोंमें भी क्वचित् कोई जीव ही परमार्थको प्राप्त करता है, अतः संसारमें बोधि-दुर्लभता स्पष्टतया दृश्यमान होती है, फिर भी जो सदा (स्पष्टरूपसे) प्रगटरूपसे अंतरंगमें प्रकाशमान है उस आत्माका स्वभावसे एकत्व स्वरूप, (निर्मल भेदज्ञानरूप प्रकाशसे स्पष्ट देखनेमें आता है) कि जो अध्यासके कारण तिरोभूत हो चुका था, इसलिये खुदको आत्मज्ञता नहीं थी, तथापि दूसरे आत्माको जाननेवालेकी संगति - सेवा नहीं की होनेसे, बोधि-दुर्लभत्व था, ऐसा समझमें आता है। (४१८)



जिस तरह दाह्याकाररूप परिणमित हुआ अग्नि, अग्नि ही है, उस प्रकार ज्ञेयाकार अवस्थामें भी ज्ञायकभाव तो ज्ञायकरूप ही जाननेमें आता है क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्थामें ज्ञायकको ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं आती। ऐसी दृष्टि वह ज्ञायककी दृष्टि है अथवा सत्य स्वरूपकी दृष्टि है। उसमें कर्ता-कर्म आदि कारकोंके भेद विलयको प्राप्त होते हैं, और शाश्वत प्रगट स्वयं प्रत्यक्ष प्रकाशमान ज्योति ऐसा एक-अखंड भाव स्वरूप प्रतिभासित होता है - ऐसा स्वयं शुद्धात्मा है। (समयसारजी गाथा - ६)

(४१९)



ज्ञान जाननेके भावरूप परिणमन करता है और वेदन अर्थात् अनुभवरूप भी परिणमन करता है, वहाँ ज्ञानकी स्व-पर प्रकाशक शक्तिमें सिर्फ जाननेरूप भावकी बात है, क्योंकि ज्ञान परका वेदन नहीं कर सकता - पर ज्ञेयाकार ज्ञानको परप्रकाशक ज्ञान कहनेमें आता है, तब भी स्वयं - परसे भिन्न ज्ञायकरूप जाननेमें आया अर्थात् वेदनमें आया, ऐसे लेना है। इसीलिये इसप्रकार पर से भिन्नरूप उपासना करनेमें आती है, अन्य प्रकारसे भिन्नता नहीं हो सकती अर्थात् (सिर्फ) भिन्नताका विचार / विकल्प होनेसे भिन्नता नहीं होती। (समयसारजी गाथा ६ - परसे) (४२०)



ज्ञान ज्ञानको (ही) जानता है, अन्यको नहीं जानता, अन्यका ज्ञान नहीं हो रहा है - इत्यादि प्रकारसे जो कथन आते हैं, उसमें भी ज्ञानवेदन अर्थात् अनुभव कहना चाहते हैं, ऐसा समझने योग्य है। तथापि ज्ञान ज्ञानको जानता है, उसमें एक ज्ञानकी पर्याय, बीती हुई दूसरी ज्ञानकी पर्यायको जानती है, ऐसा कहनेका अभिप्राय नहीं है, परन्तु उत्पन्न वर्तमान ज्ञान स्वयं, अपनेको स्व-रूपमें त्रिकालीके लक्ष्यसे वेदनमें आता हुआ उत्पन्न होता है, (परलक्ष्यके अभावमें)। इस तरह त्रिकालीके ज्ञानका स्वरूपमें वेदन वही स्वसन्मुखता अथवा अंतर्मुखता है - यही भावात्मक रहस्य है। (४२१)



आत्मकल्याणरूप प्रयोजन सिद्ध हो इसलिये निश्चयनय / द्रव्यार्थिकनयसे निश्चयशुद्धआत्माकी मुख्यता करते हुए निरूपण किया गया है, और अशुद्ध द्रव्यार्थिक अर्थात् पर्यायार्थिक नयके विषयको गौण करके निरूपण करनेमें आया है - ऐसे जिनवचनमें जो (इसप्रकारकी मुख्यता-गौणता पूर्वक) परिणमन करते हैं, वे शुद्ध आत्माको यथार्थ (रूपसे) प्राप्त होते हैं, तब प्रमाणकी प्राप्ति भी यथार्थ रूपसे होती है, अर्थात् शुद्ध / गुण स्वरूपकी उपादेयतामें, अशुद्ध अंशका निषेध है, जो यथार्थ है। (४२२)



व्यवहारीजनोंके लिये व्यवहारनय द्वारा निश्चय स्वरूपका प्रतिपादन होता है जिससे तीर्थकी प्रवृत्ति होती है, जो कि सहजरूपसे मोक्षमार्गमें विचरनेवाले जीवोंको होती है। ऐसे धर्मात्मा निश्चयनय द्वारा तत्त्वकी प्राप्ति करते हैं। जिससे फलित होता है कि धर्म-तीर्थकी प्रवृत्तिमें / प्रभावनामें, अगर निश्चयका प्रतिपादन होता हो तो ही वह प्रवृत्ति यथार्थ है, अन्यथा धर्मात्माके जैसी ही प्रवृत्ति की जाती हो तो भी उसमें यथार्थता नहीं होती। इस तरह व्यवहारनयसे (१) तीर्थकी प्रवृत्ति होती है (२) और इसके उपरांत निश्चयका प्रतिपादन भी होता है। इसलिये

उसका अपने स्थानमें होना जरूरी है, वहाँ उसका निषेध कर्तव्य नहीं है; जब कि स्वयंके आराधनके कालमें तो उसका भी निषेध होकर ही साधकसे अनुभूतिमें पहुँचा जाता है - जो कि अधिक मूल्यवान है और मुख्य है। (४२३)



स्वानुभवमें 'समंतात्'- 'सभी ओर एक ज्ञान घन (अनंतज्ञानमय) आत्मा - स्वयं ही है। ' इसप्रकारमें निर्विकल्पभाव स्वानुभव है। उसको भेदसे ऐसा समझाया जाता है कि शुद्ध स्वभावका अवलंबन है और ज्ञानका ज्ञानमें, ज्ञानको अनुभव है। परन्तु ज्ञान और आत्माका भेद अनुभवमें नहीं आता क्योंकि आत्मा स्वभावसे सर्वतः एक विज्ञानघनरूप है, इसीलिये वह ज्ञानरूप स्वादमें आता है / अनुभवमें आता है। तथापि ज्ञान (पर्याय) और आत्म (द्रव्य) का भेद भी अनुभवमें नहीं आता - अनुभवभावमें तो 'आत्मामें आत्माको निश्चलता स्थापित करके' निर्विकल्प होकर, अभेदभावसे स्वानुभव होता है। (४२४)



(उपर कहा) ऐसा स्वानुभव भावश्रुतज्ञानरूप है, इसलिये सभीको सुगम है। वीतरागी संतोंने अति सुगम शैलीमें 'ज्ञान है वही आत्मा है और आत्मा है वही ज्ञान है' - ऐसा कहकर गुण-गुणीकी अभेददृष्टिमें आता हुआ अभेदस्वरूप, अपनी सभी पर्यायोंमें एकरूप निश्चल, अपने गुणोंमें एकरूप और पर निमित्तसे उत्पन्न हुए विकृत भावोंसे भिन्न-अपना स्वरूप-उसका अनुभवन वह भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासनका अनुभवन है; ऐसा कहा, क्योंकि समस्त द्रव्यश्रुतके उपदेशबोधमें इससे आगे अब कुछ भी उपदेश देनेका नहीं रहता। ऐसा अनुभव संप्राप्त होने पर आत्माके सभी गुण खिल जाते हैं। इस तरह अनुभवमें सर्व उपदेशका सार प्राप्त है। इसलिये पूरा जिनशासन इसमें समाविष्ट हो गया - वह यथार्थ ही है, उसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। (४२५)



जगतके जीव साधारण (प्राप्त) संयोगोंकी उपाधिसे मुक्त होकर / छूटकर आत्माके प्रति स्वयंके भावोंको मोड़ नहीं सकते। इतना वजन 'सर्वथा भिन्न' अर्थात् 'एकदम व्यर्थ' संयोगों पर रहता है। लेकिन अगर पहचान हो जाय तो आत्मा इतना महान पदार्थ है कि जिसके आगे सारा जगत सड़े हुए तिनके के समान है। इसलिये ज्ञानीका वजन आत्मा परसे हटकर किसी भी अन्य संयोगों पर नहीं जाता। भावमें स्वयंकी महानता कम नहीं होती, इसीलिये श्रुतमें आत्माकी पहचानका विशिष्ट महत्व दर्शाया है। (४२६)



जगतके अन्य दर्शनोंमें उपदेशबोध अनेक प्रकारसे हैं। जैन दर्शनमें भी उपदेशका अनेक भेदोंसे निरूपण किया गया है फिर भी दोनोंमें बहुत फर्क है। जिसको मुख्यरूपसे निम्न प्रकारसे जानने योग्य है।

अन्यमतमें पदार्थ दर्शन बिना, सिर्फ बुद्धिगम्य दोष-निर्दोषताकी मर्यादित प्ररूपणा है, लेकिन उपदेशका आधार पदार्थका विज्ञान नहीं होनेसे युक्ति / कल्पना द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। जब कि जैन दर्शनमें स्व-पर पदार्थके गुणधर्म एवं परिणमनके अनुभवज्ञानपूर्वक अनेकविध प्रकारसे, फिर भी संकलनाबद्ध और स्वानुभवके अतीन्द्रिय, अमर्यादित भावके लक्षबिंदु पूर्वक, सर्व भेद - प्रभेदरूप उपदेश है। इसके अलावा वचनातीत निर्दोष अवस्थाको कथंचित वचनगोचर अद्भुत सुगम शैलीसे, ज्ञान प्राप्ति हो सके वैसे निमित्तपनेसे अलंकृत - शोभायमान होनेके कारण, ऐसी वाणीकी पूज्यताको भी रोका नहीं जा सकता अर्थात् यथार्थ समझ होने पर निश्चितरूपसे पूज्यभाव उत्पन्न हो आता है (रोक नहीं सके - उस प्रकारसे)। (४२७)



आत्मज्ञान = 'ये अनुभूति जो है वही मैं हूँ' ऐसा स्वयंका-अपना निर्विकल्प अनुभवरूपज्ञान।
आत्मदर्शन (श्रद्धान) = उक्त अनुभवमें खुदको जैसा जाना वैसा ही मैं हूँ - ऐसी निर्विकल्प प्रतीति।

आत्मचारित्र = उक्त श्रद्धा, ज्ञानसे, परसे भिन्न होकर परिणाम स्वयंमें जम जाय - स्थिर हो जाय वह (आत्म चारित्र)।

आत्मसाधना = उक्त श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रका (समकालमें होता हुआ) एकतारूप परिणमन।
(४२८)



अगर सत्संगकी उपासना सरलतापूर्वक की जाय तो निश्चित ही उसका फल मुक्ति है। जहाँ सर्वार्पणबुद्धिसे सत्पुरुषके चरणमें रहनेका निश्चय है, वहाँ सरलता सहजरूपसे होती है वरना सत्संगके योगमें भी जाने - अनजानेमें असरलता हो जाती है, जो कि स्व-पर अहितका कारण होती है। इस विषयमें श्री सौभाग्यभाईका दृष्टांत मुमुक्षुजीवके लिये गवेषणीय व उपकारभूत होवे ऐसा है। जिन्होंने परम पात्रताके कारण प्रायः अपने सभी परिणाम व प्रवृत्ति संबंधित अत्यंत सरल भावसे, सहज भावसे कृपालुदेवके पास उसका निवेदन किया। मुमुक्षुजीवको यह लक्ष्यमें लेने जैसा है।
(४२९)



प्रश्न :- अंतर्मुखताका चैतन्यरस / आत्मरसयुक्त सहज पुरुषार्थ कैसे उत्पन्न हो ?

समाधान :- भेदज्ञानके द्वारा यथार्थरूपसे अपना भिन्न ज्ञानमय स्वरूप प्रत्यक्ष उद्योतरूप, अंतरंगमें प्रगट प्रकाशमान परमार्थ सत्-रूप भगवान ज्ञानस्वभाव स्वरूप है - ऐसा जब जाननेमें आता है तब आत्मरसके वेगपूर्वक परिणमन खिँचता हुआ अंतर्मुख होता है, व्याप्य - व्यापकभावसे स्वभावमें केन्द्रित होता है।

प्रश्न :- ऐसा भेदज्ञान कैसे हो ?

समाधान :- ज्ञान अपने स्व-रससे स्वयं अपने स्वरूपको जाने तब ज्ञान अवश्य अपने आत्माको सर्व परसे भिन्न ही जानता है। (४३०)



दिसम्बर - १९८९

रस :- परिणाममें उत्पन्न होनेवाले रसमें मुख्यतः ज्ञानपूर्वक चारित्रभावकी लीनतारूप कार्य है। ज्ञानमें जो भी ज्ञेय आया उसमें ज्ञान तदाकार होने पर, भावकी लीनताके कारण अन्य पदार्थकी / अन्य ज्ञेयकी इच्छा न रहना / न होना - वह रस है। परिणामकी शक्ति रसमें रही है। मिथ्यात्व अवस्थामें ऐसा विभाव रस इष्ट / अनिष्टपने के पूर्वग्रह / मान्यता सहित उत्पन्न होता है। इसलिये नौ तत्त्वमें - तत्त्वदृष्टिसे उसको 'बंध तत्त्व' कहा है। धर्मात्माको तो स्वरूप सावधानी रहती होनेसे विभावरस तीव्र ही नहीं होता। चारित्रमें क्षणभर तीव्रता हो भी जाय फिर भी उसमें चिकनाहट नहीं होनेसे परिणाम नहीं लंबाते, बल्कि उन्हें तो 'अनुभूति'में स्वभाव रस तीव्र होता है जिससे चिदपरिणति (उत्पन्न) होती है अथवा परिणति और मजबूत होती है। जैसे जैसे चिदरस बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा विज्ञानघन होता जाता है, और विभावका क्षय होता जाता है। (४३१)



निर्पक्ष होकर अगर सत्संग किया जाये तो अर्थात् पक्षरहित / पूर्वग्रहरहित यानी कि एकांत आत्महितके लक्ष्यसे (आत्महितको मुख्य रखकर) सत्संग किया जाये तो 'सत् जाननेमें आये' अर्थात् सत् समझमें आये और फिर अगर कोई सत्पुरुषका योग हो (जिस योगके लिये 'आश्रयभावना' काफी वृद्धिगत हुई हो) तो सत्पुरुषकी पहचान हो सकती है यानीकि उस सत्पुरुषके संबंधित व्यवहारिक कल्पना छूटती है, (जगतमें वे जिसप्रकार पहचाने जाते हो उसप्रकारसे नहीं पहचानता) परन्तु खुदके परमहितका कारण जानकर समर्पित हो जाय तो अवश्य भवभ्रमण मिटता है। (४३२)



सत्पुरुषों जिसे सैद्धांतिक ज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान मानते हैं, वह अति - अति सूक्ष्म

है। इसप्रकारकी ज्ञानकी सूक्ष्मता 'अनुभव' संबंधित है। जैसे कि ज्ञानकी व्याप्तिका अनुभव करनेमें, ज्ञान सभी परद्रव्योंसे, देहादिसे और रागादिसे भिन्न अनुभवगोचर होता है। इस प्रकार ज्ञान स्वयं अनुभूति स्वरूप होने पर भी, और रागादि विभाव जीवकी विकारी पर्याय होने पर भी, सिर्फ परम पारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव स्वभाव सामर्थ्यका ही अवलंबन रहता है। वही यथार्थ है, अथवा प्रयोजनकी सिद्धि / परमार्थकी प्राप्तिरूप है और तब ही अवलंबन लेनेवाली अनुभूति स्वयंका अंग है - ऐसा सैद्धांतिक ज्ञान सप्रमाण होता है, जिसमें व्यक्त पर्यायके प्रति भी उदासीनता रहती है। (४३३)



अनादिसे जीवको रागादि विभावका वेदन अध्यासित भावसे, मुख्यरूपसे वेदनमें आता है, जो कि ज्ञानवेदनकी मुख्यता हुए बिना गौण नहीं हो सकता, अतः ऐसा होना आवश्यक है, फिर भी ज्ञानवेदन मुख्य होनेमें पर्यायको मुख्य करनेका यहाँ पर नहीं कहा गया, परन्तु ऐसा ज्ञानवेदन अखंड त्रिकाली अस्तित्वमयी ध्रुव स्वभावमें स्व-पना होते ही सहज उदित होता है। अखंड, महान, आश्चर्यकारी, अद्भुत स्वभावमें श्रद्धाभाव अभेद होने पर, फैल जाने पर, प्रसर जाने पर प्रसिद्ध वेदन सहज रूपसे ही गौण हो जाता है। ज्ञानस्वभावमें एकाग्र हुए परिणाम व्याप्य-व्यापकभावसे स्वरूपानुभव करते हैं। स्वरूप लाभ लेते हुए स्वरूप निवास करते हैं। इसीलिये सहज ही विभाव अंशसे भिन्न चल रहे वैसे (परिणाम), विभावको परज्ञेयकी तरह जानते-देखते हैं। इस प्रकार साधकको एक ही समयमें एक ही परिणाममें दोनों प्रकारका (भिन्न-भिन्न) अनुभव होता है। और अनाकुल स्वादके प्रत्यक्ष वेदनसे आकुलताके स्वादकी विरुद्धता अनुभवगोचर होती है। (४३४)



जीवके परिणाम दो प्रकारसे होते हैं। शुद्ध और अशुद्ध। जिसमें अशुद्धता परभावभूत होनेसे हेय है और शुद्धता स्वभावभूत होनेसे उपादेय है। यह विवेक परिणाम संबंधित है। जब कि शुद्ध परिणाम स्वयं स्वभावकी उपादेयता होने पर ही उत्पन्न होते हैं, दूसरे प्रकारसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः शुद्ध परिणामको उपादेय कहते हुए उसमें स्वभावकी उपादेयता अभिधेय (गर्भित) है। अब जहाँ नियमसार आदि सत्शास्त्रोंमें परिणाम मात्र हेय (क्षायिक / पूर्ण शुद्धदशा भी) है और एक अपना परम पारिणामिकभाव स्वरूप ही उपादेय है - ऐसे वचन-कथन आते हैं, तो वहाँ परिणाम मात्रका अवलंबन, आश्रय, भावना, मुख्यता और दृष्टि करने जैसी नहीं है - वैसा अभिप्राय है; परन्तु ऐसे परिणाम बिलकुल होने ही नहीं चाहिये वैसे अशुद्धताकी माफिक, निषेध नहीं किया है। इस तरह हेय-उपादेयकी भिन्न-भिन्न मर्यादा

समझ लेना जरूरी है जिससे अनर्थ नहीं हो। (४३५)



राग और ज्ञानके बीच भेद जानकर - भेदज्ञान करना सूक्ष्म (तो) अवश्य है, फिर भी जो भव्य आत्मा छूटनेका कामी है, वह निज अवलोकनका अभ्यास करता है; उसमें उसको रागादि भाव दुःखरूप (आकुलतारूप), मलिनतारूप और स्वयंसे विपरीततारूप अनुभवमें आते हुए मालूम पड़ते हैं, जब कि ज्ञान निराकूल पवित्रभावरूप स्व-पने होता हुआ मालूम पड़ता है। अवलोकनके अभ्यास बगैर भेदज्ञान करने तक नहीं पहुँचा जा सकता। भिन्न स्वभाववाले भाव - ऐसे स्वभाव और विभावका अनादिसे एकत्व हो रहा है, फिर भी क्यों ऐसा हो रहा है, यह खुद समझ नहीं पाता, इसलिये दुर्गम व कठिन लगता है। परन्तु अवलोकनका अभ्यास होने पर ज्ञानमें (अपना स्वकार्य करनेकी रुचि होनेसे) सूक्ष्मता आती है, और इससे विभाव और ज्ञानस्वभावके बीच जो संधि है वह मालूम पड़ती है, और तब भेदज्ञान होनेकी क्षमता आती है - जो अपूर्व है। (४३६)



परज्ञेयको जाननेमें आये तब यदि ज्ञान, ज्ञानभावमें ही रहे, और ज्ञेयका अवलंबन न लेते हुए स्व-अवलंबनमें ही रहे, तो वह ज्ञान निरूपाधिक भावसे, मात्र ज्ञाता भावसे - पुरुषार्थसे - तथा प्रकारके पुरुषार्थसे, (और) सोपाधिकरूप नहीं परिणमता होनेसे, मन उसके वश होकर रहता है। जिसको मन वश वर्तता है, वही आत्मा आत्मामें - स्वरूपस्थ / स्थिर होनेके लिये समर्थ है। इसके पहले मनकी गति-चंचलताका प्रकार भी आश्चर्यकारकरूपसे तीव्र होता है। अतः ध्यानके बाह्य प्रयोग (योग-उपयोग) निष्फल जाते हैं। (४३७)



मुमुक्षुजीवको जब तक असत्संगकी उपेक्षा / उदासीनता नहीं आती है तब तक सत्संग फलवान नहीं होता, अर्थात् सत्संग प्राप्त हो तो भी और सत्संगसे उपदेश समझमें आया हो तो भी 'सत्ज्ञान'की प्राप्तिमें बहुत प्रकारसे अंतराय होता है, ऐसा जानकर दृढ़ निश्चयपूर्वक असत्संगमें अप्रमादभावसे / जागृत रहकर उदासीन भावसे (ही) प्रवर्तन करना योग्य है। तथापि सत्संगके अलावा सर्व अन्यसंग जीवके लिये असत्संग है ऐसा जानने योग्य है। कुसंग तो (अवगुणी, रंगरागमें तीव्र रसवाले, सत्देव, गुरु, शास्त्र और विद्यमान सत्पुरुषकी विराधनामें प्रवर्तन करनेवाले जीवोंका संग तो) दूरसे ही छोड़ने जैसा है। (४३८)



सत्संगका सामान्य अर्थ :- 'सत्' जिसे प्रगट है, ऐसे महात्माका संग - चरण सामीप्य -

इसे सत्संग कहनेमें आता है, परन्तु वर्तमानकालमें इसकी दुर्लभता बहुत है, इसलिये आत्माथी जीवों, समगुणी जीवों, एक ध्येयवाले जीवोंके संगको प्रायः सत्संग कहना योग्य है, फिर भी प्रायः चार विकथा रहित, सत् स्वरूप और उसकी प्राप्ति संबंधित विचारणामें ही उसकी समाप्ति हो जाती है, उसमें गुण-दोषकी भी अनेक प्रकारसे विचारणा होती है लेकिन इसके बावजूद भी परस्पर एक-दूसरेके दोषोंका गुणदृष्टिसे विचार करनेकी पद्धतिका प्रायः अभाव रहता है, तब तक सरलताकी क्षति रहती है, अथवा तब तक निष्पक्ष होकर सत्संग करनेमें नहीं आता है और (साथमें) थोड़ा या बहुत स्वच्छंद भी चालू रहता है, और तब तक सत्पुरुषके योगमें भी उनकी पहचान नहीं हो सकती। जब बात ऐसी ही है तो अप्रगट सत् - स्वयंके स्वरूपको पहचानना तो बने ही नहीं, यह सहजरूपसे समझमें आये ऐसा है। (४३९)



“ज्ञानीपुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उमंगी होना और उनकी आज्ञामें सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिसे वर्तन करना - इसे श्री तीर्थकर अनंत संसारका नाश करनेवाला कहते हैं” (श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - ३९७) इससे स्वाभाविकरूपसे ऐसा फलित होता है कि ज्ञानीपुरुषकी अवज्ञा बोलना, वैसे प्रसंगका अनुमोदन होना - यह जीवका अनंत संसार बढ़नेका कारण है। तथापि प्रायः ऐसा बनता है कि जीव ओघसंज्ञासे ज्ञानीपुरुषके गुणगान आदि प्रवृत्तिभावेसे तो परिणमन करता है परन्तु सरलता और स्व-पर हित संबंधी परम उपयोगदृष्टिके अभावके कारण प्राप्त सत्संगकी अप्राप्त फलवान संज्ञासे उपासना करता है, जिससे परमयोग अयोगके बराबर हो जाता है। (४४०)



जिसका दर्शनमोह आत्मकल्याणकी अंतरकी भावनाके कारण मंद हुआ है, वैसे जीवका (ही) सजीवनमूर्ति आत्मज्ञानस्वरूप सत्पुरुषके द्वारा श्रवण प्राप्त हुआ ऐसा जो बोध है उसके प्रति एकलक्षसे प्रवर्तन होता है, एक ध्यानसे प्रवर्तन होता है, एक लयसे / लगनसे प्रवर्तन होता है, एक उपयोगसे - जागृति उत्पन्न होकर प्रवर्तन होता है, और उतरोत्तर बढ़ते हुए परिणाम-भाव श्रेणीमें आना बनता है। ऐसी अपूर्व महिमा, होनेवाले अनंतलाभका भासन होनेसे आती है, कि जिससे अन्य सर्व वृत्तिओंमें 'प्रेम' मिट जाता है, और तभी, एवं तो ही, बोध परिणमित होता है, अन्यथा बोध मिलने पर भी परिणमित नहीं होता। उस प्रकारसे अपूर्व महिमा आने पर अवश्य जीवका कल्याण होना समीप ही है - यह निःसंदेह है।

(४४१)



जनवरी - १९९०

मुमुक्षुजीवको सत्पुरुष व सत्शास्त्रके योगमें अनेक विध रूपसे उपदेशकी प्राप्ति अर्थात् जानकारी होती है, परन्तु अगर प्रयोजनकी तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टि हो तो ही 'स्वयंको आवश्यक ऐसे उपदेशको' ग्रहण करनेके पुरुषार्थमें जुड़ता है अन्यथा जानकारीका संतोष आ जाता है। प्रयोजनकी तीक्ष्ण दृष्टिवाला जीव ही ऐसी छटनी कर सकता है, अथवा सत्पुरुषके समीप रहकर, इस प्रकारसे मार्गदर्शन मिलने पर वह आत्महित साधनेमें धोखा नहीं खाता वरना वर्तमानकालमें भूल होनेसे बचना अति कठिन है। (४४२)



आत्मवस्तु गुण-धर्मआदि भेद सहित भी है और भेद रहित भी है। नयपक्षसे भेद ग्रहण होने पर रागकी उत्पत्ति अवश्य होती है, इसलिये समस्त नयपक्षको छोड़कर अभेद-शुद्ध स्वरूपका ग्रहण करनेसे पक्षातिक्रान्त दशा प्राप्त होती है अर्थात् वीतरागभावरूप समयसार हुआ जाता है। जिससे स्वरूपगुप्त होकर साक्षात् अमृत पिनेको मिलता है। इसलिये पदार्थ भेदाभेद स्वरूप होनेके बावजूद भी भेद सिर्फ जाननेका विषय है, ग्रहण करनेका विषय नहीं है। जो अभेद स्वरूपका ग्रहण करता है वही वास्तवमें तत्त्ववेदी है। (४४३)



धर्मात्माकी अंतरपरिणति अचल, अंतरंगमें उग्रतासे जाज्वल्यमान, और ज्ञाताभावरूप ज्ञानशक्तिसे अत्यंत गंभीर होती है। जिस निकटभवी जीवको उसका अंतर-दर्शन होता है, उसको यथार्थ बहुमान आता है, जो कि वास्तवमें आत्मस्वभावका ही बहुमान है, इसलिये इनकी पहचान करनेवाला अवश्य तिर जाता है। इस प्रकरणमें सुंदर दृष्टांत, एक है कुपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी और दूसरे है पू. श्री निहालचंद्रजी सोगानी। इन दोनों महात्माओंने वर्तमान अति दुष्कालमें मध्यम आर्थिक-सामाजिक कुटुम्बमें रहते हुए, प्रवृत्तिकालमें भी पूर्व प्रारब्धका सम्यक् प्रकारसे वेदन करते हुए, जिन कर्मोंकी निर्जरा होनेमें वरना बहुत समय लग जाता, ऐसे कर्मोंको अल्प समयमें (अल्प आयु होने पर भी), बाह्य त्याग किये (हुए) बिना ही, निर्जरा करके 'एक भवतारी' पदको प्राप्त किया, मुमुक्षुजीवको इस चैतन्य स्वभावके लोकोत्तर-गंभीर चमत्कारको आत्महितके लक्ष्यपूर्वक समझने जैसा है।

पू. कृपालुदेव बाह्य प्रवृत्तिका त्याग चाहे तो कर सकते थे फिर भी उन्होंने प्रवृत्ति-निवृत्तिमें 'समभावमें' रहनेका बलवान पुरुषार्थ किया (और वह भी) संसारकी विचित्र एवं विकट परिस्थितिमें, दृढ़ निश्चयमें रहकर, लोकोत्तर विवेकसे प्रवर्तन किया है। उनकी इस प्रकारकी सूक्ष्म आचरणामें प्रबलरूपसे - वेगपूर्वक संसारको परिसमाप्त कर देनेकी पुरुषार्थमयी अलौकिक विचक्षणता एवं

कुशलता सचमुच वंदनीय है। यद्यपि तीनोंकालमें सभी ज्ञानियोंका इस प्रकारका आचरण - सनातन आचरण होता है, परन्तु जो-जो (ज्ञानी) विकट परिस्थितिमें संसार परिक्षीण करते हैं, तब वहाँ स्वभाव विशेषरूपसे प्रकाशित होनेसे, तो वैसा प्रसंग स्व-पर उपकारी होता है; इसलिये स्तुत्य (स्तूति करने योग्य) है, परम प्रेमसे इसकी उपासना करने योग्य है। (४४४)



मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? - इसका बेभानपना होनेसे, जीव शुभ कर्मप्रकृतिको (उसके उदयको) अच्छा समझकर (अभिप्रायपूर्वक) राग एवं संसर्ग करता है, और बंधनमें पड़ता है। यदि स्वयंकी अनंत महानता, सामर्थ्य आदिका भान हो जाय तब तो, जड़ द्रव्य-भावमें व्यामोहित न हो, इतना ही नहीं पर्यायबुद्धि भी न रहे, जिसके कारण जड़ द्रव्य-भाव चाहे कोई भी स्वांग (भेष) धारण करें, फिर भी उससे भिन्नता एवं तुच्छता ही रहती है, तथापि पर्यायबुद्धिके अभावके कारण कोई भी पर्याय संतोष - मिथ्या संतोषका कारण नहीं बनती। (४४५)



द्रव्य-वस्तुके स्वरूपका (आत्माका) द्रव्यानुयोगकी अपेक्षासे सूक्ष्म विचार :-

जीव द्रव्यके अनन्त गुण - सर्वगुण असहाय, (क्योंकि हरएकको अपनेमें अपनी अनन्त शक्तिरूप सामर्थ्य है।) स्वाधीन, (क्योंकि परिणमन करनेमें किसीकी सहायकी जरूरत नहीं है।) और शाश्वत है। प्रत्येककी गुण परिणति उस - उस गुणके लक्षणसे सभीको भिन्न-भिन्न सिद्ध/प्रसिद्ध करती है। उस परिणतिमें गति, शक्ति, जाति अपने-अपने गुण अनुसार होते हैं। दृष्टांतरूपसे -

	गति	शक्ति	जाति
(१) ज्ञानगुण :	ज्ञान/अज्ञान	स्वपर प्रकाशक	सम्यक्/मिथ्या
(२) चारित्रगुण :	संक्लेश/विशुद्धि	स्थिरता/अस्थिरता	मंद/तीव्र

ऐसा है फिर भी प्रत्येककी सत्ता द्रव्यप्रमाण है अर्थात् एक द्रव्यकी एक अभेद सत्तामें सभी मौजूद है। इसलिये प्रत्येक गुणको अनंतगुणका रूप मिलता है - होता है और उस एक - एक गुणसे दूसरे सभी गुणोंकी सिद्धि होती है। इसलिये एक-एक गुण दूसरे सभी गुणोंकी अपेक्षा रखते हैं। दृष्टांतरूपसे जैसे चेतनागुणने सर्वगुणोंको चेतनरूप किया। अगुरुलघु गुणसे सर्व गुणोंको भी अगुरुलघुका रूप है। अगर प्रमेयका प्रमेयत्व सर्व गुणोंको नहीं होता तो सर्वगुण अप्रमाणताको प्राप्त हो जाते। (४४६)



जैसे किसी आदिवासीको मानो चिंतामणी रत्न मिला, फिर भी वह इसके प्रकाशमें सिर्फ

रात्रीको खाना पकाकर तेलकी बचत ही करता है, तो इससे कोई उसकी दरिद्रता नहीं मिट जाती - परन्तु अगर कोई (रत्न पारखु) इसकी कीमत बता दे तो उसकी दरिद्रता तुरंत मिट जाती है। वैसे ही अपने अनंत सामर्थ्यको नहीं जानता ऐसा जीव देहार्थ अपनी शक्तिका खर्च करके अनंतकाल तक अनंत परिभ्रमणके दुःखोंको भोगता है, उसको श्रीगुरु (स्वरूपज्ञानी) स्वरूपमहिमाका ज्ञान कराते हैं, तब संसार दुःख सहजमात्रमें मिटता है।

(४४७)



* दर्शनमोहके कारण परमें स्वपनेका भाव होता है। तब यदि जीव इसमें मिटास वेदता है तो मोह-वैरी प्रबल होता है, और जीवकी शक्तिका घात होता है। परिणामतः चौरासी लाख योनिके दुःख प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रबल अनिष्टको सम्यक्त्व रोकता है।

* दर्शनमोह ही जीवको बहिर्मुख रखता है, उसका घात करके सम्यक्त्व जीवको अंतर्मुख करता है और अमृतरसका आस्वादन कराता है।

* दर्शनमोहने ही स्वयंको - अनंत ज्ञानादिगुणके स्वामीको भूलावेमें डाला है। सम्यक्त्व इस भूलावेमें फिर आने नहीं देता।

* इसप्रकार सम्यक्त्व सर्व अवगुण भावोंका प्रतिकार करनेवाला बलवान योद्धा है। जिसके तेजसे सर्व कर्म दूरसे ही पीठ दिखाते हुए भागने लगते हैं।

* दर्शनमोहके कारण अनित्य ऐसे शरीरादि संयोगमें नित्यता मानी जाती है। देहके नौ-द्वारसे प्रवाहित पदार्थोंमें आसक्ति होती है; ऐसे अज्ञान / विपरीतभावको उत्पन्न होनेसे - सम्यक्त्व रोकता है। संक्षेपमें सर्व अवगुणोंका रोधक और सर्व गुणोंके प्रगट होनेका मूल सम्यक्त्व है।

(४४८)



परमसत्संगमें रहते हुए साधना करना सानुकूल है, अतः मुमुक्षुजीवको अंतरसे ऐसी भावना उत्पन्न होनी चाहिये, कि जिससे परम सरलतासे अपने परिणामोंका निवेदन करके, जब-जब जैसा जरूरी हो वैसा यथार्थ प्रकारके मार्गदर्शनको प्राप्त होकर तद्अनुसार खुद प्रयोगारूढ होकर सन्मार्गके प्रति गति कर सके। ऐसा सुयोग उत्कृष्ट पात्रतावान जीवके लिये निर्वाणका कारण है। इसका ज्वलंत दृष्टांत श्री सोभाग्यभाई एवं परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी है। भूतकालमें इसप्रकार अनंत जीव मार्गको प्राप्त हुए हैं और भविष्यमें अनंत इस प्रकारसे प्राप्त होंगे- 'प्रत्यक्षयोग त्रिकाल जयवंत वर्तो' इसीलिये प्रत्यक्ष सत्पुरुष जीवंत आगम है, अरे ! जीवंत जिनशासन है। जिसका मूल्यांकन कोई वाणी कह नहीं सकती, मात्र अनुभवगम्य है। (४४९)

ज्ञानमयभाव वह अविकार आत्ममय भाव है। वैसे भावमें रागादि विकार करनेका स्वभाव नहीं होनेसे, मोह भावमें (अचारित्र भावमें) निरूत्साह रहता है, अर्थात् उत्सुकता तो नहीं होती, परन्तु वह भाव आत्माको स्वभावमें स्थापित करता है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि स्वरूपका अज्ञान ही आत्माको रागादिभावमें प्रेरित करता है - उत्साहित करता है, ज्ञायकपनेमें रहनेमें भाव प्रतिबंध नहीं है। पुनः वह ज्ञानमयभाव रागद्वेषके प्रवाहको रोकनेवाला भाव है, और द्रव्यकर्मके प्रवाहका अवरोधक है। (४५०)



मुमुक्षुजीवके लिये धर्मात्मा-ज्ञानीपुरुषका जीवन अर्थात् परिणमन समझना, सूक्ष्म अंतरंग परिणमनको समझना, उपकारी है; सत्पुरुषकी उदयभावमें नीरसता और उस नीरसताका आधार-कारण ऐसा आत्मस्वरूपका अवलंबन, उस अवलंबनको लेता हुआ श्रद्धाभाव, उस अवलंबनको लेता हुआ ज्ञानभाव और उन दोनोंके साथ प्रवर्तमान पुरुषार्थ अर्थात् ज्ञान व श्रद्धाका जोर जो कि गुणका अथवा स्वभावका परिणमन है कि जिससे गुण-स्वभावका प्रत्यक्ष दर्शन होता है - इस प्रकार सन्मार्ग पर विचरनेवाले, स्वयंके मार्ग पर स्वयंके कारण जो चले जा रहे हैं उनका दर्शन - दर्शन करनेवालेको, उनके दर्शनमात्र भी आराधनाका कारण होनेसे तथापि वह अपूर्व हितरूप होनेसे - उस परम सत्संगकी महिमा महापुरुषोंने ग्रंथ - ग्रंथोंमें गायी है जो यथार्थ है - अत्यंत यथार्थ है। (४५१)



सत्संगके दौरान साधर्मी मुमुक्षुओंको एक-दूसरेकी प्रशंसासे और अपनी आत्मश्लाघासे दूर रहना चाहिये, इसके उपरांत सरलतासे अपने दोषोंका निवेदन करते रहना चाहिये, कि जिससे व्यक्त किये हुए दोषसे मुक्त होनेके उपाय संबंधी सुविचारणा - परस्पर विमर्श चले; और विशेष सरलतापूर्वक, उन्मार्ग पर जानेवाले साधर्मीको, मुक्त होकर, खुल्ले दिलसे दिशासूचन, वात्सल्यभावपूर्वक चेतावनी यदि शुद्ध हितेच्छु भावनासे कहनेमें या करनेमें आये तो उसको तो आगे बढ़नेमें मानो सज्जनका (सत्+जन) संग मिल गया हो ऐसा सद्भाग्य / सौभाग्य गिनना चाहिये। इसप्रकार प्राप्त सत्संग मुमुक्षुजीवको महा उपकारी है। (४५२)



पूर्वपुण्यके योगसे प्राप्त सत्संगमें, जागृति / आत्महितकी सावधानी उत्पन्न होनेसे, यथार्थ कार्यपद्धतिमें पूर्णताकेध्येयपूर्वक आनेसे अवश्य आत्महित सधता है। लेकिन प्रायः जीव सत्संगका मूल्य समझनेमें (ही) भूल करता है। इसके कारण प्राप्त सत्संगको निष्फल होनेरूप संज्ञासे विसर्जन करता है। जब कि जिसको सत्संगका मूल्य समझमें आता है, और सत्संगकी भावना-

तीव्र भावना होनेके पश्चात सत्संगका योग मिलता है, तो वह जीव प्रायः प्राप्त सत्संगको निष्फल होने नहीं देता। पुनः जो जीव दुर्लभ सत्समागम प्राप्त होने पर भी दुर्लक्ष करता है, उसका शुरुआतसे ही अक्षम्य अविवेक होनेके कारण उसका कोई ऊपरकी भूमिकामें विकास नहीं हो सकता। ऐसी वस्तुस्थिति है; ऐसी वस्तुस्थितिसे अनजान जीव, कोई भी अन्यथा प्रयत्नमें चढ़ जाता है और वृथा समय खोता है। मनुष्यत्व हार जाता है। (४५३)



मुमुक्षुजीवको शास्त्र-सिद्धांत सम्बन्धी क्षयोपशमका विकास होने पर विशेष (अभिनिवेश, नहीं हो, इसके लिये) जागृत रहना आवश्यक है। उसमें भी खास करके साधर्मी मुमुक्षुओंके बीच तत्त्वचर्चा अथवा स्वाध्यायके वक्त 'मैं जानता हूँ' ऐसे भावमें अथवा उपदेशकके स्थानमें रहकर सत्संग कर्तव्य नहीं है, परन्तु खुदको जिसप्रकार पदार्थका स्वरूप अथवा उपदेशका स्वरूप भासित हुआ हो, उसप्रकारसे निवेदन कर्तव्य है। और वह भी जिस प्रकार आत्मार्थ सधे उस प्रकार (खुलासा) स्पष्टीकरण सहित, जिससे सामनेवाले आत्मार्थीको सच्चा-झूठा ठहरानेका भाव नहीं है, ऐसा लगे और वात्सल्य बढ़े। उस प्रकारसे सत्संग होना - वह योग्य है।

(४५४)



फरवरी - १९९०

शुद्धात्म स्वरूपका अवलंबन सहजरूपसे रहा करे, यह सर्व उपदेश बोधका तात्पर्य है, तो ही दशा पूर्णताको प्राप्त होती है। सूक्ष्म कालके लिये भी शुद्धात्म स्वरूपका अवलंबन छोड़ने जैसा नहीं है। वह छूटनेसे जीव अवश्य बंधता है, जहाँ केवल अंधकार है, चैतन्यका प्रकाश नहीं है। शुद्धनय जीवकी परिणतिको अनन्त महिमावंत स्वरूपमें जोड़ता है। उसके (शुद्धनयके) अभावमें जीव रागमें बंधता है। यह शुद्धनय सर्व कर्मोंका मूलसे नाश करनेवाला है।

(४५५)



आत्मा / आत्म सामर्थ्य और इसके आधारसे उत्पन्न परिणाम अतुल है। सातवीं नर्ककी प्रतिकूलता, और स्वर्गकी उत्कृष्ट अनुकूलतासे निरपेक्ष रहकर स्वभावके बलसे सम्यक्दर्शनादि भाव उत्पन्न होकर चालू रहते हैं। जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणामन करता है उसे कोई परद्रव्य अज्ञानरूप परिणामन नहीं करा सकता। अरे ! तीनों लोकसे भी उसे नहीं तौला जा सकता, वैसा अतुल-अमाप एक समयका परिणाम-सामर्थ्य जिसका हो, उसके त्रिकाली अक्षय स्वरूपकी शक्ति कैसी अचिंत्य एवं आश्चर्यकारी होगी !! इसका सहजरूपसे स्वीकार हो सकता

है। ऐसे अतुल आत्मस्वरूपकी अवहेलना करके अन्य द्रव्य-भावको तुल्य देना वह महा अविवेक है। (४५६)



प्रगटज्ञानका स्वरूप - ज्ञेय निरपेक्ष - जाननक्रिया है। अतः वैसे अनुभवगोचरपनेके कारण जाननक्रियाके आधारसे ज्ञानमें / ज्ञानमात्रमें 'स्व'पना हो सकता है। अर्थात् वर्तमान ज्ञानक्रिया अपनेमें, अपनेसे, अपने आधारसे ज्ञानको 'स्व-रूपमें' ग्रहण कर सकती है। समझानेके लिये ऐसी भेद विविक्षासे कह सकते हैं - जान सकते हैं। वस्तुतः अर्थात् तत्त्वतः ज्ञान एवं जाननक्रिया भिन्न-भिन्न नहीं होनेसे ज्ञान ही स्वयंका आधार है, उसको स्वसंवेदनके लिये किसीके आधारकी जरूरत नहीं है। - ऐसा अंतर अवलोकनसे जानने पर अनादि रागकी आधारबुद्धि टूटती है। परकी आधारबुद्धि भी मिटती है, तब भेदज्ञानका उद्भव होता है, जिससे परभावके कर्तृत्व और एकत्वका नाश होता है। (४५७)



उपरोक्त प्रकारसे भेदज्ञानका उद्भव होने पर वर्तमानमें वर्तता हुआ ज्ञान, समस्त ज्ञेयोंसे भिन्नपने वर्तता हुआ और स्वयं ज्ञानमयपने वर्तता हुआ, एकत्वको चेतता है - अनुभव करता है। निजस्वरूपकी महिमामें रत ऐसे सत्पुरुषों, इसप्रकार अध्यात्मकी मस्तीपूर्वक आत्माका ध्यावन करते हुए, सर्वसंगसे विमुक्त होकर कर्मक्षय करते हैं।

नमस्कार हो उन्हें !! उनके पवित्र मार्गको ! त्रिकाल नमस्कार हो !!

तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान निरंतर भाने योग्य है। मुक्तिका एकमात्र उपाय यह भेदज्ञान है। (४५८)



अनंतकालमें सर्वदा जीवने खुदके कल्याण करनेके उपाय सम्बन्धित उपेक्षाका ही सेवन किया है। जीवकी अंतरकी गहराईसे छूटनेकी तैयारी अभी तक कभी हुई नहीं अथवा जीवने की नहीं है। वह खुदका महान अपराध (सबसे बड़ा दोष) है। ऐसे स्वयंके अपराधका अंतरसे पश्चाताप हुए बिना सच्ची आत्मार्थिता प्रगट नहीं होती; और ऐसा हुए बिना जीव ऊपर-ऊपरसे कल्याण होनेकी आशासे बाहरकी क्रियामें जोर करता है, परिश्रम करता है, परन्तु कल्याणकी दिशामें एक अंश भी वह आगे नहीं बढ़ सकता। प्रायः जीव जो शुरुआतमें भूल करता है, वह असत्संगमें सत्संगकी कल्पना है। अगर परीक्षाबुद्धिसे जीव इस विषयमें विवेक नहीं कर सकता है, तो वास्तवमें उसको आत्महितका विचार उत्पन्न हुआ ही नहीं है; ऐसा लगता है। सच्चा आत्मार्थी असत्संगमें एक पल भी खड़ा नहीं रहता / रहना नहीं

चाहता।

(४५९)



सर्वथा असंग अथवा भिन्न आत्मस्वरूपकी अनभिज्ञताके कारण-अज्ञानके कारण जीव कर्मोदयमें प्रवर्तता हुआ 'अपनत्व' का अनुभव करता है, जिससे बंधता है। परमें 'अपनत्व' के अनुभवसे अशक्यको शक्य बनानेकी वृथा प्रवृत्ति - दुःखदायक प्रवृत्ति होती है। संसारकी ऐसी स्थिति है।

मोक्षमार्गमें आने पर 'ज्ञानमें स्व-पना' अनुभवमें आता है, तब वहाँ पूर्वकर्मके उदयसे आ पड़ी परिस्थितिमें, अपनत्वका अनुभव नहीं होनेसे अरस परिणामसे, मुक्तमें मजदूरी करनेवालेकी तरह, उदय वश प्रवृत्ति (करता) हुआ दिखता है, वहाँ ज्ञाताभाव / साक्षीभाव वर्तता होनेसे, रंजित परिणामके अभावके कारण बंधन (उनको) नहीं है। अपनी प्रगट अव्यापकताके अनुभवसे स्वयं छूट्टा ही रहता है, अतः बंधन कैसे हो ? साथ ही साथ मुक्तभावके बलवानपनेके कारण निर्मलता वृद्धिगत होती जाती है और आत्मा विज्ञानघन होता जाता है। अल्प अस्थिरता रोगवत् जाननेमें आती है, अतः उसमें प्रीति कैसे हो ?

(४६०)



स्व-पदके अज्ञानके कारण अनादिसे जीव विभावमें-क्षणिक व अस्थिर भावमें स्व-पद मानकर स्थिर होनेका - नित्यताको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करता है, जो कि दुःखदायी है, परन्तु अस्थिरभावमें, स्थापिता ऐसे आत्माको, निराकूल स्थान प्राप्त नहीं हो सकता (स्थायी स्थान नहीं मिलता) क्योंकि वह अपदभूत है। एक मात्र स्व-पने अनुभवमें आनेवाला स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही स्वपदभूत होनेसे स्थाताका स्थान है, वहीं जमकर विश्राम / अभिराम प्राप्त हो सकता है। सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा उसका आस्वादन करने जैसा है। विपत्तिओंके लिये वह अपद है, उसमें कोई भी आपदा (विपत्ति) प्रवेश नहीं कर सकती, वैसा निरामयपद है। जिसके अनुभवके आगे जगतके सर्व इन्द्र आदि पद अपदरूप भासित होते हैं।

(४६१)



यह - प्रत्यक्ष विद्यमान - आत्मा ज्ञान समुद्र, अनन्त गुण रत्नोंका भंडार, एक (सिर्फ) ज्ञानजलसे भरा हुआ है। वैसा यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्य रत्नाकर, ज्ञानपर्यायोंके साथ जिसका अभिन्न रस है - वह पर्यायमें ज्ञानके अनेक भेदोंसे प्रगट होता है, उन सभी पर्यायोंको एक ज्ञानरूप ही जानना, खंड-खंडरूप उसका अनुभव करने योग्य नहीं है। यद्यपि ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद होनेके बावजूद भी, उसके मूल / असल स्वरूपका विचार करने पर 'ज्ञानमात्र' एक ही है, और वह एक ही मोक्षका साधन है।

यद्यपि जीववस्तुका निर्णय करनेके लिये, निर्णयकी भूमिकामें, अन्वेषण कालमें, वस्तुके द्रव्य, गुण, पर्याय आदिरूप विचार करना (ठीक है), परन्तु अनुभवके कालमें वस्तु - आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष होनेसे सर्वतः एक ज्ञानरूप ही अखण्डभावसे, कि जिसमें समस्त भेद निरस्त हुए हैं - वैसा अनुभवमें आता है (अनुभवके कालमें गुण-पर्यायके भेदका प्रयोजन भी नहीं है) - ऐसा यह ज्ञानपद साक्षात् मोक्ष स्वरूप ही है। स्वयं संवेद्यमान है, और वह ज्ञानगुण (ज्ञान ज्ञानका अवलंबन ले वैसा ज्ञानगुण) से ही प्राप्य है। (४६२)



कर्मादयमें नया बंध करनेकी शक्ति (निमित्तत्व) है। अतः अज्ञानदशामें इष्ट-अनिष्टबुद्धि होनेसे, परिणाममें कषायशक्ति (रस) विद्यमान रहती होनेसे, कर्मादयकी 'बंध करनेकी शक्ति' (विषतुल्य) वैसी की वैसी बनी रहती है। जब कि ज्ञानीको भोगके प्रति हेयबुद्धि है, इसलिये भोगके परिणाममें कषायशक्ति (रस) का अभाव होनेसे, कर्मादयकी 'बंध' करनेकी शक्तिका नाश होता है। रागमें एकत्वका अभाव - तद्रूप भेदज्ञानके महा आश्चर्यकारी सामर्थ्यसे कर्मादयकी बंध करनेकी शक्तिका घात कर देता है (जैसे वैद्य जहरकी शक्तिको विद्याके बलसे रोक लेता है वैसे।) आत्माके आनन्द-अमृतका तीव्ररस, कषायरसके जहरका घात कर देता है, जिसके कारण उदय कालमें कषायरस सहजरूपसे उत्पन्न (ही) नहीं हो सकता। (४६३)



ज्ञानदशामें अपना ज्ञान स्वरूप, अभेद, एक, शाश्वत सत्-रूप, नित्यप्रगट, अभेद्य, स्वतः सिद्धपनेसे अचल अनुभवमें आता है। इसलिये ज्ञानी सर्व प्रकारके भयसे रहित, निर्भय होते हैं और अनुभवके बलसे निःशंक होते हैं। अतः वे समस्त कर्माका घात करते हैं और बंधनमें भी नहीं आते। सम्यक्दर्शनके साथ ही निःशंकता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढता, उपगुहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना; जो कि सम्यक्त्वके अंगभूत हैं, वे उत्पन्न हो जाते हैं। अखण्ड ऐसा सम्यक्त्व सर्वांग क्षति रहित होता है, अर्थात् आठमें से एक भी अंग कम नहीं होता।

१/२ चित स्वरूपलोकके अनुभवके कारण --- इस लोकका भय, परलोकका भय नहीं होता।

३. अभेद ज्ञानरसके वेदनसे --- वेदनाभय नहीं होता।
४. सत्-पनेके कारण --- अरक्षा भय नहीं होता।
५. अभेद्यपनेके कारण --- अगुप्ति भय नहीं होता।
६. शाश्वतताके कारण --- मृत्यु भय नहीं होता।

७. नित्य एक अचलपना होनेके कारण --- अकस्मात् भय नहीं होता।

अतः इस प्रकारके परिणामसे होनेवाला बंध नहीं है बल्कि निःशंकतादि गुणोंका परिणमन होनेसे पूर्वकर्मकी निर्जरा होती है। (४६४)



सत्संग (मुमुक्षुके लिये) सर्वोत्कृष्ट साधन है ऐसा सर्व समर्थ महापुरुषोंने कहा है - यह परम सत्य है। अत्यंत अनुभवपूर्ण व महत्वपूर्ण ऐसा यह सत्य वास्तवमें (सचमुच) मुमुक्षुजीवको भावमरणसे बचानेके लिये 'अमृत' ही है। जो जीव सत्संगके लाभको नहीं समझ सकता है, वह प्रत्यक्ष सत्संगको गौण करके, साधनांतरको - आगम आदिको मुख्य करता है, वह निश्चितरूपसे भूल कर रहा है।

सत्संग दो प्रकारसे उपलब्ध होता है (१) सत्पुरुषकी चरणसमीपता - जो उत्कृष्ट सत्संग है, कि जिसकी उपासना परम भक्तिसे कर्तव्य है - (वैराग्य समेत सरलपरिणामसे) सेवन करने योग्य है।

(२) दूसरा उपरोक्त परम सत्संगके अभावमें आत्मार्थी जीवोंका परस्पर इकट्ठे होकर, सन्मार्गके प्रति प्रगति करनेके हेतुसे, निष्पक्षतासे अपने दोषोंको मिटानेके हेतुसे, स्वरूपप्राप्तिकी भावना वृद्धि हेतु, धर्म / तत्त्वकी चर्चा करना, वह है।

मुमुक्षुजीवको उपरोक्त विषयको अनुभवसे समझकर उसका मूल्यांकन करने योग्य है। सत्संगकी उपेक्षा करनेवाला अगर तत्त्वकी अपेक्षा रखे तो वह व्यर्थ परिश्रम होता है - यह लक्षमें रखने योग्य है। (४६५)



मार्च - १९९०

मोक्षमार्गमें जो विधि-निषेधरूप परिणाम है, वह हेय-उपादेयरूप विवेकपूर्ण परिणमन है। उस विवेकसे उत्पन्न अर्थात् इसके फलस्वरूप वीतरागभावमें स्थिर होने पर विधि - निषेधका अभाव होकर ज्ञाता-दृष्टा भावमें रहने पर निर्द्वंद्व भाव होकर केवल समभाव रहता है; इसीलिये भव और मोक्षका परम विवेक करनेवाले कृपालुदेव 'भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो' - ऐसी असंगदशाकी उपासना करनेकी भावना समेत निर्द्वंद्व - निज स्वरूपमें स्वरूपभूत परिणामसे अभेदत्व साध्य करके शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायोंके प्रति उपेक्षाभाव सहजरूपसे रहे - ऐसी भावना भायी है। समभावी आत्मस्वरूपके आश्रयसे तदाकार समभावका वेदन करनेके प्रकारका यह प्रसिद्धत्व है। इसप्रकार मोक्षमार्गमें विधि-निषेध भी है और उसका अभाव भी है। मोक्षमार्गमें ऐसी परस्पर विरुद्ध दिखती हुई दशा होने पर भी, अनेकांतिक संतुलन और साध्य - साधकपनेके

कारण उसमें अविरुद्धता है।

(४६६)



निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दो पदार्थके अपने-अपने धर्म; अपेक्षित धर्मके कारण बनता है। अतः उसका भी वस्तुस्थितिमें समावेश होता है और वह अनादि अनन्त है। उसमें दो प्रकार है। एक प्रकार ऐसा है कि जिसमें निमित्त मिलते ही अवश्य नैमित्तिक अवस्था संयोगमें रहनेवाले पदार्थमें पैदा होवे ही। दृष्टान्तरूपसे ले तो जीवके विकारी भावके निमित्तसे वैसा ही (Degree to degree) कर्म बंध होवे। वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेयका प्रतिभासित होना-बिब-प्रतिबिब अनिवार्य है, जैसे दर्पणमें होता है। ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमें अपवाद नहीं होता।

दूसरे प्रकारमें कर्मका उदय आने पर जीवको वैसे विभावका परिणमन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वैसे ही गुरुके उपदेश अनुसार सभी शिष्योंको एक सरीखा ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका जो अनेकान्तपना है उसका तात्पर्य अपने उपादानको सँभालना-वह है। तथापि प्रत्येक द्रव्यकी स्वकार्यके लिये संपूर्ण भिन्नता - स्वतंत्रता अबाधित है। उस बातके स्वीकारपूर्वक उपरोक्त सम्बन्धका विचार कर्तव्य है।

(४६७)



अध्यात्म और आगममें श्रद्धा-ज्ञानके विषयभूत सिद्धांत निरपवाद होते हैं, जबकि चारित्र विषयक सिद्धांतोंमें प्रयोजनकी सिद्धिके हेतु अपवादका स्वीकार किया गया है। जैसे कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनोंके परिणामको आश्रय / अवलंबनके योग्य तो निज परमात्म तत्त्व ही है, उसमें अपवाद नहीं है, जब कि पूर्ण वीतरागता ही उपादेय होने पर भी मोक्षमार्गमें साधककी भूमिकानुसार रागको (जो हेयबुद्धिसे होता है उसको) व्यवहार गिनते हुए सम्मत करनेमें आया है। तब जो-जो भूमिका हो उसकी मर्यादामें होता हुआ राग सहवर्ती वीतरागताका घात नहीं कर सकता बल्कि वह खुद क्षीण होता हुआ नाशको प्राप्त होता है और वीतरागता वृद्धिगत होती जाती है। इस प्रकार सिद्धांतमें अपवाद और निरपवाद - ऐसे दो प्रकार जानने योग्य है।

(४६८)



मुमुक्षुजीवको तत्त्वज्ञानका अभ्यास करते वक्त स्वभावके लक्षपूर्वक, स्वभावका रस आये, वही उचित है; जिससे स्वभावकी रुचि वृद्धिगत होकर स्वभावका आश्रय होनेका अवसर प्राप्त हो। अगर उस प्रकारसे स्वाध्याय न हुआ तो शब्दोंका, वचनशैलीका, स्वाध्यायके रागका, ज्ञानके उधाड़रूप विकासका, नये-नये न्यायका, कुतूहल इत्यादिका रस आये बिना नहीं रहेगा। जो

कि अनात्मरस है और उसमें रुक जानेसे समय खोने जेसा हो जायेगा। अतः एक मात्र स्वभावके अलावा अन्य कोई रस वृद्धिगत न हो जाये उसकी जागृति रखना आवश्यक है। ठीक वैसे ही श्रवण, चिंतन, मनन, घोलन, उन सबमें अगर स्वभावका लक्ष हो तो ही यथार्थ है, वरना अनादिसे पर्यायका एकत्व होनेसे, जो भी क्रिया चलती होगी, तब उसमें उस पर्यायका लक्ष सहज ही रहा करेगा और पर्यायका एकत्व दृढ होगा। इससे ऐसा फलित होता है कि परिणामकी यथार्थता और अयथार्थताका आधार 'लक्ष' पर रहता है। (४६९)



जीव प्रायः उपदेश बोध अनुसार कर्तव्य और अकर्तव्यको समझते हुए, विचार करते हुए प्रवृत्ति करता है। उस वक्त स्वरूपलक्ष पूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है। स्वरूपलक्ष स्वरूप सामर्थ्यके भावभासनसे उत्पन्न होता है और उसके अभावमें जीव अनादिसे वर्तमान कर्मजनित अवस्थारूप स्वयंको मानते हुए प्रवृत्ति करता है। अतः स्वरूपनिश्चयके बिना कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें यथार्थता नहीं आ सकती। ऐसी परिस्थिति होनेसे मुमुक्षुजीवको सर्वप्रथम स्वरूपनिर्णयकी दिशामें ही प्रयत्न करना चाहिए। इसके पहले कर्तव्य-अकर्तव्यके बोधका अनुसरण करनेके प्रयत्नमें ज्ञान और पुरुषार्थ आदि परिणाम पर अनिवार्यरूपसे जोर / वजन चला जायेगा। और उस प्रकारके परिणाममें कर्तृत्व हो जानेसे कृत्रिमता भी हो जायेगी। जब कि स्वभाव सहज अकृत्रिम होनेसे, अकर्ता स्वभावके लक्षसे सहज कार्य होगा तो भी उसकी उपेक्षा होते हुए स्वभावके एकत्वका बल उत्पन्न होकर पर्यायका कर्तृत्व / एकत्व मिटेगा। (४७०)



जो पुरुष / आत्मा अशुद्धताका निमित्त ऐसा जो परद्रव्य, उसमें अज्ञानभावसे हो रहे ममत्वका स्वरूपज्ञानपूर्वक अभाव करके, अपने शुद्धात्म स्वरूपमें लीन होता है; वह पुरुष नियमसे सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ बंधका नाश करके सदा प्रकाशमान होता हुआ, आत्मज्योति द्वारा निर्मलरूपसे उछलता चैतन्यरूप अमृतका प्रवाह, जिससे जिसकी पूर्ण / अनन्त महिमा है -ऐसा महिमावंत होता हुआ, मुक्त होता है। यह मुक्त होनेका प्रक्रम है। (श्री समयसारजी कलश - १९१)

(४७१)



अनादिसे शुद्धज्ञानमय निज स्वरूपसे अनजान ऐसा यह जीव प्रकृति स्वभावरूप अपना अनुभव करता है; अर्थात् प्रकृति स्वभावमें स्थित रहता हुआ 'मैं'-पनेसे अनुभव करता है, और उसप्रकार उदित कर्मफलको स्वतंत्ररूपसे अध्यासित भावसे भोगता है।

जब इस जीवको भेदविज्ञानसे अपना शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप अनुभवमें आता है, तब वह

प्रकृति स्वभावसे निवर्तित होनेसे, शुद्ध ज्ञानमय 'स्व'का, एकका ही 'मैं' पनेसे अनुभव करता हुआ, उदित कर्मफलको भिन्न ज्ञेयरूप जानता है, परन्तु उसका 'मैं'- पनेसे अनुभव करना अशक्य होनेसे वेदन नहीं करता। इस तरह परिणमनके दोनों प्रकार जानकरके विवेकी पुरुषोंको विपरीत प्रकारको छोड़कर, सम्यक् प्रकारका सेवन कर्तव्य है।

(श्री समयसारजी गाथा - ३१६) (४७२)



मुमुक्षुजीवको स्वरूप चिंतवनादि परिणाम स्वरूपके लक्षपूर्वक सहज होने चाहिये, वरना ऐसा प्रकार नहीं होता है तब 'चिंतवन - मनन कर्तव्य है' - उस अभिप्रायसे वह होता है। उक्त अभिप्राय / उद्देश्यसे जब परिणाम होते हैं तब लक्षके अभावके कारण उसमें ओघसंज्ञा / कल्पनादि अवश्य हो जायेंगे; जिसके कारण विपर्यास मिटनेके बजाय और वृद्धिगत् हो जायेगा। मुमुक्षुको यदि स्वरूपलक्ष न हुआ हो तो, जैसे स्वरूपका लक्ष हो, वैसे प्रयासपूर्वक स्वाध्याय, चिंतवन, अंतरखोज, जिज्ञासा इत्यादि होने चाहिये, कि जिससे नया विपर्यास उत्पन्न न हो और चलते हुए विपर्यासका मिटनेका अवसर आये। इस प्रकार मुमुक्षुकी भूमिकामें अयथार्थता नहीं हो और यथार्थरूपसे अगर परिणाम प्रवृत्ति करते हो तो ही स्वानुभव तक पहुँचा जा सकता है; वरना उलटा और भी मोक्षमार्गसे दूर जाना हो जायेगा, यह खास ध्यानमें लेने योग्य है।

(४७३)



ज्ञानदशामें ज्ञानचेतनामय परिणमन होनेके कारण, परद्रव्यका अपनेरूप (मैं पनेसे) अनुभव करनेकी अयोग्यता होती है इसलिये अशाता आदि उदयमें ज्ञानी उसका वेदन नहीं करते बल्कि शुद्धात्म स्वभावमें निश्चल ऐसे वे तो उदयको ज्ञाता भावसे मात्र जानते हैं। ऐसा ज्ञानीका अंतरंग परिणमन है; जो कि अलौकिक है, भक्ति करने योग्य है और वंदन करने योग्य है। उन्हें चारित्रमोहके सद्भाव अनुसार जो उदयभाव - प्रवृत्ति होती है उसके भी एक न्यायसे वे ज्ञाता हैं, जब कि दूसरे न्यायसे उसके नाशका उद्यम (भी) उनको रहता है। वे शुद्धनयके द्वारा स्वयंके शुद्ध स्वरूपका साक्षात् अनुभव करते हैं इसलिये मुक्त ही है; और इसीलिये परमभक्तिसे बहुमान करने योग्य है।

(४७४)



उपदेशबोधकी वचनशैली उपदेशात्मक एवं आज्ञार्थ वाचक (Imperative Speech) होती है। जिसके कारण उपदेशकी प्रेरणा जागृत होकर, सरलतासे उपदेश ग्रहण करनेका बन सके। परन्तु मोक्षमार्गमें कोई भी परिणाम अगर कर्ताभावसे होता है तो उसको योग्य नहीं

माना जाता, बल्कि यदि सहजभावसे होवे, तो ही वह योग्य है, और उस विषयमें जो यथार्थ उपदेशकर्ता होते हैं वे अवश्य स्पष्टता करते ही हैं। जो जीव मोक्षमार्गके परिणामोंकी ऐसी सहजता कैसे उत्पन्न हो उसकी विधिको नहीं जानते हैं वे अनादि पर्यायके कर्तृत्वको नहीं छोड़ सकते। वे लोग वर्तमान अवस्थामें 'मैं पना' कायम रखे हुए स्वरूप-दर्शन, स्वरूप ध्यान, इत्यादिका प्रयत्न करते हैं, परन्तु उसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती। इस तरह यथार्थ विधिके, क्रमका विचार करते हुए जिसको खुदके मूल स्वरूपका (अपनेरूपमें) भावभासन होता है, उसको आश्रयभूत मूल निज शुद्धात्मपदमें 'मैं-पना' सहज होता है - और ऐसा होने पर सहज उत्पन्न ऐसे सम्यक्दर्शन, स्वरूप लीनता आदि पर्यायोंका ज्ञान होता है अर्थात् अकर्तृत्व भावसे ज्ञान रहता है। इस प्रकार उपदेशात्मक वचनोंका और कार्यकी यथार्थ विधिमें अविरोधपना जानने योग्य है, अन्यथा उपदेश-श्रवण अनुसार अविधिसे प्रयत्न करने पर तो पर्यायका एकत्व ही दृढ़ हो जाता है; और जिससे दर्शनमोहकी वृद्धि हो जाती है। (४७५)



भावना और इच्छामें बहुत अंतर है। शुरुआतमें ही पूर्ण शुद्धिके ध्येय वश मुमुक्षुजीवको मोक्ष अभिलाष, स्वरूप प्राप्तिकी भावना, आत्मशांतिकी भावना इत्यादि भावनारूप परिणाम होते हैं, उसमें तत्संबंधी यथार्थ प्रयत्नका अभ्यास अवश्य होता है और तभी वह भावना सच्ची है और वैसे प्रयत्न - अभ्यासका केन्द्रस्थान खुदका ध्रुव स्वरूप होता है। जिसके कारण वैसी भावनामें संतुलन गवाँकर पर्यायके प्रति जोर या पर्यायत्वके रससे सिर्फ पर्यायका अवधारण होकर पर्यायबुद्धि दृढ़ नहीं होती, बल्कि केन्द्रस्थानमें ध्रुव स्वभाव होनेसे पर्यायबुद्धि मिटती है।

जब कि मोक्षकी इच्छामें तत्सम्बन्धित ऊपर-ऊपरका आकांक्षाभाव है, जो पर्यायाश्रित परिणामरूप होनेसे उसमें विधि-निषेधके कृतक उपाधिरूप उछाले आते रहते हैं कि जिससे पर्यायबुद्धि दृढ़ होती है। (४७६)



प्रश्न :- सत्श्रुत अनुसार विचारकी भूमिकामें अपना मूल स्वरूप समझमें और सम्मत होने पर भी उसका भावभासन नहीं होता है अर्थात् खुद उस रूप भासित होने लग जाय, ऐसा परिणामन चालू नहीं होता है - लक्ष नहीं बंधता है, उसका क्या कारण ?

समाधान :- उसका मुख्य कारण दर्शनमोहका प्राबल्य है। जिसके कारण उलटा निश्चय बदलता नहीं है - 'वर्तमान पर्याय जितना - जैसा ही मैं हूँ' - यह निश्चय बदलता नहीं है। खुदको सामर्थ्यहीन संसारी जानते हुए प्रवर्तता है। झूठको सच माना है और चालू वर्तमान पर्याय जो (संसारी) है, उसकी आधारबुद्धि छोड़ता नहीं है। इसके अतिरिक्त (परलक्षी) जानपना

होने पर भी दर्शनमोहके वशात् ज्ञानलक्षणके आधारसे ज्ञानस्वभावको प्रयत्नपूर्वक (प्रयोगपद्धतिसे) ग्रहण नहीं करता है। वर्तमान ज्ञानसामान्यमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे यदि स्वभावका ग्रहण करे तो नियमसे दर्शनमोहका बल नहीं चले। (४७७)



अप्रैल - १९९०

भेदज्ञान एक प्रक्रिया है जो परसे और रागसे भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्माका (स्वयंका) ग्रहण करनेकी सूक्ष्म अंतरंग अंतर्मुखी कार्यपद्धति है। यह विधिका विषय अत्यंत सूक्ष्म होनेके कारण हमेशा-हमेशा गुप्त / रहस्यमय रहा है; इसकी सूक्ष्मताका विचार कर्त्तव्य है।

स्वभाव त्रिकाल शक्तिरूप होनेसे सीधा उसका भाव-भासन नहीं हो पाता, लेकिन व्यक्त ज्ञानपर्यायमें स्वभावअंश जो खुल्ला है, उसका अंतरंग सूक्ष्म अनुभव दृष्टिसे अवलोकन होने पर अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव 'स्व-तत्त्व' स्व-पने प्रतिभासित होता है, तब उस वक्त ज्ञानक्रिया अर्थात् उपयोगरूप पर्यायके आधारसे, पर्याय द्वारा, पर्यायमें प्रतिभास होने पर भी, अनादि पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्यबुद्धि / द्रव्यदृष्टि होनेकी वह प्रक्रिया है। जो पर्यायरूप वेदन प्रधान होते हुए भी, उसमें पर्यायत्व गौण होकर द्रव्यस्वभावका अवभासन होता है। यह प्रकार अति सूक्ष्म है, इसलिये गुप्त रहा है, फिर भी आत्मरुचि और सत्पात्रतासे इसकी उपलब्धि है। (४७८)



आत्मार्थी जीवको लोकसंज्ञाके परिणामसे विशेषतः सावधान रहने जैसा है। इसमें भी जब सामूहिक कार्यक्रम हो उसमें अगर दूसरोंको अच्छा दिखानेका - अथवा दूसरे लोग मुझे अच्छा दिखाये - उस प्रकारके भाव रहते हो तो आत्मार्थी जीवको अंतरंगमें खुदको पूछने जैसा - अवलोकन करने जैसा है कि, अरे जीव ! जब ऐसा परम दुर्लभ, परम सत्य सुनने मिला है ! तो अब तुझे किस-किसको खुश रखना है ? और किस-किससे तुझे खुश होना है ? और ये दूसरोंको खुश रखने और दूसरोंसे खुश होनेका कब तक करते रहना है ? हे जीव ! सत्यमार्गसे जरा सा भी विचलित होने योग्य नहीं है। और ऐसा अचलित रहनेका पुरुषार्थ करते हुए, जो भी परिस्थिति सामने आ जाये उसका स्वीकार करनेकी पूरी तैयारी अभिप्रायमें होनी चाहिये। इस प्रकार रहनेसे स्वयंके स्वरूपमें स्थिर होकर / रहकर, खुश (निराकुल सुखरूप) होनेका अवसर प्राप्त होगा। (४७९)



ज्ञानका स्वभाव सहजरूपसे जाननेका है। ज्ञानसे बाह्य ज्ञेय पदार्थोंकी समीपता हो या

असमीपता हो, दीपककी तरह ज्ञान तो प्रकाशित होता ही रहता है।

इसतरह अपने स्वरूपसे - स्वभावसे ही जान रहे आत्माको रमणीय या अरमणीय कोई भी बाह्य पदार्थ जरा सी भी विक्रिया (विभाव, विकार) उत्पन्न नहीं कराते - और करा सकते भी नहीं। इस वस्तुस्थितिका - हकीकतका अंतर अवलोकनसे अनुभव करने पर ज्ञानकी (स्वयंकी) निर्लेपता अर्थात् अविकारीपना दिखाई पड़ेगा - प्रत्यक्ष होगा। जिसके फल स्वरूप परज्ञेय प्रति सहज उदासीन अवस्था - ज्ञानभाव रहेगा और राग-द्वेषकी उत्पत्ति सहजरूपसे नहीं होगी। खुद एक अच्युत, पूर्ण शुद्ध (अविकारी) ज्ञानरसका पिंड है, ऐसा जानकर निज महिमामें ज्यादा बलवानरूपसे रहेगा - रह पाएगा। जिसका कारण उपरोक्त वस्तुस्थितिका ज्ञान ही है। ऐसी वस्तुस्थितिसे जो अनजान है, वह रागी-द्वेषी होकर दुःखी होता है - संसार परिभ्रमण करता है। (४८०)



आत्मस्वभाव सहज परम पवित्र है। ऐसे स्वभावके दृष्टिवंत धर्मात्मा दोषोंसे बचकर निर्दोष परिणामसे परिणामन करनेकी कलामें माहिर होते हैं। परम पवित्र स्वभावके अभेद अनुभवकी कलामें (चाहे कैसे भी पूर्वकर्मके उदयके घेरेमें घिरे हुए हो, फिर भी और पूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं है फिर भी) निर्दोष होनेकी कलाके सर्व प्रकार, गर्भितरूपसे समाविष्ट होते हैं। खास करके अविरत सम्यक्दृष्टि धर्मात्माओंका जीवन चरित्र ऐसे प्रकारको प्रकाशित करते हैं। इसमें भी कोई विशेष प्रज्ञावंत पुरुष अगर खुदके अंतरंग परिणामनकी अभिव्यक्ति करते हैं, तो वैसी अभिव्यक्ति मुमुक्षुजीवके लिये - पात्र जीवके लिये, उनकी पहचान करनेके लिये अति उपकारी हो जाती है। परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके पत्रोंमें यह रहस्य देखनेको मिलता है। यह परम हितकारी तत्त्व प्रगटरूपसे नजरमें आये ऐसा अद्भुत और अलौकिक प्रकार है और वैसा ही उनका वचनयोग है। (४८१)



ज्ञानका अपने स्वरूपसे नित्य / निरन्तर संचेतन-वेदन - निष्ठुष अनुभवनसे ही ज्ञान अति शुद्ध होकर (सानंद) प्रकाशित होता है। (श्री समयसार कलश - २२४में) आचार्यदेवने अध्यात्मके (ज्ञानका अनुभवन शुद्ध द्रव्यका अनुभवन स्वरूप होनेसे उसीमें परमार्थपना है। समयसार गाथा - ४१४) इस महान, सूक्ष्म सिद्धांतका निरूपण किया है। आत्मशुद्धिका भी यही उपाय है। तीनों कालमें इस मार्गमें दूसरा विकल्प नहीं है। सर्व उपदेशका यही तात्पर्य है। यदि जीव ज्ञानका - स्वयंका संचेतन पररसके कारण नहीं करता है तो रागका - उदयका वेदन अध्यासित भावसे (दुःखी होकर) किये बिना रहेगा नहीं। क्योंकि चेतनका चेतनेका गुण हमेशा परिणामनशील

है। अगर ज्ञान अंतर्मुख / स्वसन्मुख हुआ तो ही स्वसंवेदन उत्पन्न होता है। ज्ञानका स्व-रसपूर्वक संचेतन - विधिका रहस्य है। (४८२)



किसी भी जीवका ज्ञान हमेशा ज्ञान ही रहता है। ज्ञान मिटकर कभी राग या ज्ञेयरूप नहीं होता - ऐसा ज्ञानका 'मात्रज्ञान' रूप अनुभवन रहना-उसको ही ज्ञान अथवा ज्ञानका ज्ञान कहा जाता है। परन्तु जो ज्ञानका यानी कि स्वयंका अन्य द्रव्य-भावसे एकमेक, असरयुक्त अनुभव करता है उसको ही अज्ञान कहनेमें आता है। 'ज्ञान' मोक्षका कारण है और 'अज्ञान' संसारका कारण है।

'ज्ञानं ही मोक्ष हेतुः

ज्ञानात् एव मोह प्रणश्यति वा ज्ञानं एव मोह क्षय कारणम्।'

अतः भिन्न हुआ जो ज्ञान वही ज्ञान है, जो उपाय भी है और उपेय भी है। दोनों स्वयं ही है। (४८३)



सत्शास्त्रोंमें यद्यपि संगदोषके विषयकी गंभीरता अनेक जगह यथा-प्रमाण दर्शायी है फिर भी एक तरफ जीवको सत्संगकी पहचान एवं मूल्यांकन नहीं होनेसे (और) दूसरी ओर संगदोष-अर्थात् श्रद्धाप्रधानसे पात्रताको नापकर, हीनश्रद्धा (दर्शनमोहकी तीव्रता) वाले जीवके संगसे होनेवाला नुकसान भी समझमें नहीं आता है, जिसके कारण बहुभाग मुमुक्षुओंका आयुष्य-समय मार्गप्राप्तिके अवरोधरूप ऐसे इस प्रकारके कारणमें ही व्यर्थ चला जाता है। शास्त्रमें देखा जाता है कि जब भावलिंगी मुनिराजको भी इस विषयमें गंभीर चेतावनी दी गई है तो नीचेकी भूमिकामें साधक और मुमुक्षुजीवको तो अति गंभीर दृष्टिकोणसे विचार करके इसमें प्रवृत्ति करना योग्य है; तथा इस बाबतमें सूक्ष्म व तीक्ष्ण जागृति रखना योग्य है, कि जिससे संभवित नुकसानसे बचा जा सके। (४८४)



सत्पुरुष मिलनेके बाद, उनके वचनमें विश्वास आनेके बाद भी, मुमुक्षुजीव संगदोषके विषयकी गंभीरताकी कमीके कारण अथवा बाह्य कारण / परिस्थिति वशात् यदि कुसंगका त्याग नहीं कर सकता है तो अवश्य खुदको ही नुकसान होता है। अरे ! अनजानेमें भी इस भूलसे होनेवाले नुकसानको नहीं रोका जा सकता। कोई मुमुक्षुजीव तो प्राप्त सत्संगसे संतुष्ट होकर कुसंगके प्रति दुर्लक्षका सेवन करता है, उसको भी सत्संगका लाभ नहीं होता। वह जीव सत्संग प्राप्त होने पर भी अप्राप्त होने योग्य संज्ञासे सत्संगके कालका विसर्जन करता है।

जिसका अत्यंत गंभीर उपयोगसे विचार कर्तव्य है।

(४८५)



देहात्मबुद्धिके कारण मनुष्य जीवनके प्रत्येक स्तरमें मानवी भविष्यके संयोगों / अनुकूलताओंके बारेमें चिंतित - निरंतर चिंतित रहता है और वैसा होना अनिवार्य है क्योंकि अज्ञानके कारण जीव अनित्य पर्यायोंकी नित्यता रखना चाहता है। अतः वर्तमान अनुकूल संयोगों होने पर भी निरंतर दुःख / मानसिक अशांताका ही वेदन करता है। जब कि ज्ञानी तो वर्तमानमें ही उदित संयोगोंसे भिन्न हो चुके हैं और भवउदासी दशा होनेसे, भविष्यकी एक क्षणकी भी (विचार) चिंता उनको नहीं होती। तथापि संयोगोंके प्रति निस्पृहवृत्तिके कारण उन्हें दीनता नहीं होती। चैतन्यकी अनन्त महिमामें डूबे होनेसे, सहजरूपसे उपरोक्त अंतर-बाह्य निरूपाधिदशा रहती है।

(४८६)



अनादिसे आत्मस्वरूपसे अनजान जीवको स्वरूपकी पहचान असाधारण लक्षणके बिना ही नहीं सकती। अर्थात् लक्षणके बिना लक्ष्य स्वरूपकी पहचान अशक्य है। अतः जिसको अपने ज्ञानमें प्रवर्तता ज्ञान स्वयं ही प्रसिद्धरूपसे / लक्षणरूपसे जाननेमें आता है, उसको ही ज्ञानमें रहा ज्ञानमय आत्मस्वभाव जो लक्ष्यरूप है वह (सामान्यरूप होने पर भी, उस रूप) प्रगटरूपसे ज्ञानमें जाननेमें आता है, प्रसिद्ध होता है। उक्त ज्ञान स्वयंके (विशद्) वेदनसे अर्थात् स्वसंवेदनसे प्रसिद्ध है (ज्ञेयको जाननेसे नहीं)।

अतः जो जीव निजके प्रवर्तते हुए ज्ञानावलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञान-वेदन तक पहुँचता है, उसे अभेद स्वरूपका भावभासन होता है, जो कि स्वानुभवका अनन्य कारण है; सम्यक्त्वका कारण है; 'सुधारस' है।

(४८७)



'वर्तमान है वह त्रिकालीको प्रसिद्ध कर रहा है।' (परमागमसार - ४१८) जैसे हाथसे गिर गया हीरा लुब्धकता है तो तुरंत नज़रमें आता है, वैसे पलटता हुआ वर्तमान ध्रुवको प्रसिद्ध करता हुआ पलट रहा है। अनित्य अवयव द्वारा नित्यस्वरूप जाननेमें आता है, और यह अनित्यमें मालूम पड़ता है, तब वहाँ नित्य-अनित्य परस्पर विरुद्ध होने पर भी सर्वथा भिन्न नहीं है। नित्य द्वारा अनित्य पर्यायोंमें एकत्वशक्तिके कारण व्याप्त है, कि जो एकत्वशक्ति अनेक पर्यायोंमें व्यापक 'एक द्रव्यमयरूप' सदा है। इसके बावजूद भी द्रव्यत्व है वह पर्यायत्व नहीं है और पर्यायत्व है वह द्रव्यत्व नहीं है। ऐसा परस्पर अतद्भाव एक द्रव्यमें है, फिर भी विरुद्ध-धर्मत्वशक्ति वह वस्तुका स्वभाव होनेसे, अविरोधपने वस्तु रहती है। - इस प्रकार

द्रव्यानुयोगका विषय अतीव गंभीर है।

(४८८)



समझके दो प्रकार हैं। यथार्थ समझ और अयथार्थ समझ।

अयथार्थ समझका बाह्य दिखाव आगम अनुसार होते हुए भी आशय दूसरा होनेसे (आत्महितका लक्ष नहीं होनेसे) उसमें यथार्थता नहीं होती। (आगम विरुद्ध अथवा सिद्धांत विरुद्ध समझ वह वास्तवमें समझ नहीं है बल्कि गेरसमझ है।) जब तक समझमें अयथार्थता होती है तब तक प्रयोग नहीं हो सकता। अंतर्मुख होनेके प्रयोगके पहले यथार्थ समझ होती है। अथवा आत्महितके लक्षपूर्वक समझनेवाला मुमुक्षु अपनी समझको प्रयोगपद्धतिमें लाता है, कि जिसके फलस्वरूप वह अंतर्मुख हो सके या स्वरूपका भावभासन / निर्णय हो सके।

(४८९)



द्रव्यस्वभावकी महानता भासित नहीं होनेके कारण तत्त्वका स्वरूप जानने पर भी, जानकारी होनेके बावजूद भी, पर प्रतिके भावमें सूक्ष्मरूपसे मिटास रह जाती है। अथवा परलक्षी ज्ञानमें संतोष आ जाता है। वहाँ अंदर रहनेका भाव नहीं है।

दूसरे जीव मेरेसे समझे और इसमें खुदको अच्छापन लगे - ऐसी सुखकी कल्पना रहा करती है। ऐसी कल्पना होनेसे अपेक्षाबुद्धि हो जाती है और तब धारणा बराबर होने पर भी, अंदरमें प्रयोजन अयथार्थ हो जाता है। इसलिये मिथ्यात्वका त्याग नहीं होता।

परसत्ता अवलंबनशील ज्ञानकी मिटास या रस / अधिकता / महिमा जीवको अंतर्मुख होनेमें विघ्नरूप है, अतः इस प्रकारके विघ्नको दूर करनेके लिये मरणतोल प्रयत्न कर्त्तव्य है। एक दफ़ा तो सारे जगतसे उपेक्षित होना आवश्यक है तो ही विपर्याससे बचना संभव है।

(४९०)



अंशबुद्धि / पर्यायबुद्धिमें राग-द्वेष, असमाधान इत्यादि भाव अवश्य होते हैं, और ऐसे भाव अपनेरूप भासित होते हैं - अनुभवमें आते हैं। परन्तु स्वभावबुद्धि होने पर तो ऐसा कुछ भासित नहीं होता, अर्थात् (अल्प) रागादिसे रहित स्वयं अपनेरूप अनुभवमें आता है। इसमें पूरा मोक्षमार्ग समाहित है। हजारो शास्त्रोंका यह सार है।

- पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, (परमागमसार - ६५१)

(४९१)



धर्मात्मा जो हैं वे (१) पूर्वकर्मका उदय (२) अपने औदयिक भाव (३) स्वयंको उत्पन्न

हुई वीतरागता और (४) वर्तमान पुरुषार्थ - इन चार मुद्दोंका संतुलन, विवेक, न्याय एवं मार्गमें प्रगति - इन सबको लक्षमें रखते हुए सहज भावसे परिणमन करते हैं। उदयके क्रम (पूर्वकर्म संबंधी) का अंदाज भी ज्ञानमें भासित हो जाता है। तद्अनुसार बाह्य प्रवृत्ति - निवृत्तिका विवेक, औदयिकभाव एवं पुरुषार्थके अनुपातमें स्वशक्ति अनुसार सहज परिणमनका प्रकार तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिका नाप स्वयंके ज्ञानमें आ जाता है। अतः वे चाहे प्रवृत्तिमें रहे, चाहे निवृत्ति धारण करे - दोनों अवस्थाओंमें निर्जरा ही करते हैं। ऐसेमें अगर निवृत्ति योग हो तो पात्र जीवोंको हितमार्गमें विशेषरूपसे निमित्तभूत हो सकते हैं, परन्तु प्रवृत्तियोगमें प्रभावनाके विकल्पको विशेष गौण करना उचित लगता है लेकिन पुरुषार्थमें तो अवश्य उग्रताको ही साधते हैं। (४९२)



अभिनिवेशका अर्थ अभिप्राय होता है। विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करनेकी श्री तीर्थकरदेवकी आज्ञा है। फिर भी इस विषयसे अनजान ऐसे जीव बाह्य अविपरीत श्रद्धा, ज्ञान, आचरणमें प्रवर्तते हुए कहीं न कहीं विपरीततामें दिखाई पड़ते हैं, उसका कारण अभिप्रायकी भूल रह गई होती है। अतः सच्ची मान्यताका, सच्ची समझका या सत्संगादिमें प्रवर्तन करनेका फल जो आत्मलाभ है, उसकी प्राप्ति नहीं होती - सिर्फ वैचारिक निश्चयसे वंचनाबुद्धिमें रह जाता है। प्रयोजनका सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टिकोण नहीं होनेके कारण ऐसा बनता है। (४९३)



चैतन्य स्वभावी आत्मस्वरूप, रागका अकर्ता स्वभाव भाव, अपना स्वरूप है कि जिसका अनादिसे अज्ञान चला आ रहा है, जो (अज्ञान) संसारका बीज है। यह अज्ञान ही जीवको राग-द्वेषका कर्तृत्व मनवाता है, अर्थात् मैं रागी इत्यादि रूप श्रद्धान कराता है; जिसके कारण ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव दृष्टिमें नहीं आता। इस तरह राग-द्वेषका कर्तृत्व वह अज्ञानका ही रूप है। जिस जीवको चैतन्य स्वभावका ग्रहण अपनेमें नहीं होता हो, उसको चलते हुए रागादिभावमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे कर्तृत्व संबंधी अवलोकन करना चाहिए, जिससे विभावमें 'मैं'-पना, अभेदता इत्यादि खयालमें आयेंगे और भूल समझमें आने पर भूलका नाश होगा। (४९४)



जीवका बहिर्मुख परिणमनका स्वरूप ऐसा है कि खुद सर्व प्रदेशोंसे संसारके प्रति आकर्षित है; जो वास्तवमें एक समयमात्र भी करने योग्य नहीं है - ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका उपदेश है। उस आकर्षणसे अगर उपयोग निवृत्त हुआ तो अवश्य आत्मारूप, आत्मामें अनन्य हो सकता

है, इत्यादि अनुभवका विषय, किसी भी जीवको सत्संगमें रहनेके, और सत्संग ही वर्तमानदशामें हितकारी है - ऐसे दृढ निश्चयके बिना प्राप्त होना विकट है। अतः ऐसा निश्चय होता है कि जिसको सत्संगमें प्रीति है, वही जीव अनुभव वार्ताके लिये अधिकारी है अथवा पात्र है, दूसरा नहीं। (४९५)



जैसे-जैसे कृपालुदेव (श्रीमद् राजचंद्रदेव)के वचनामृतका गहराईसे अवगाहन होता है, वैसे-वैसे उनकी अद्भुत अंतर्बाह्य दशाका अलौकिक स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आता है। अहो ! उनकी आत्मामय अध्यात्म दशा !! अहो ! अहो !

अहो ! उनकी उदयमें प्रवृत्ति होते हुए भी भिन्नता, अप्रतिबद्धता ! निर्लेपता और निस्पृहता ! अहो ! अहो !

अहो ! उनका सत्संग एवं सत्पुरुषके प्रति आदरभाव ! उपलब्ध जैन वांग्मयमें ऐसे जीवंत उदाहरणकी जोड़ दृश्यमान नहीं होती है। इस विषयमें तो उन्होंने हद कर दी है, श्री सौभाग्यभाईके चरणमें दासत्वभावसे नमस्कार करके !! (पत्रांक - ४५३) (४९६)



संसारके सर्व संबंध कल्पित हैं, उसमें भ्रमित होने जैसा नहीं है, ऐसा ज्ञानीपुरुषका उपदेश होनेके बादजूद भी संसार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी किसीकी इच्छा अगर रहती हो, तो उस जीवने ज्ञानीके वचन सुने नहीं है अथवा ज्ञानीपुरुषके दर्शन भी उसने नहीं किये; वरना संसार प्रत्ययी बल एवं रस परिक्षीण हुए बिना नहीं रहता - जैसे कमर टूट जानेसे शरीरबल काम नहीं करता है वैसे।

ज्ञानीपुरुषके वचन अनुसार जड़ पदार्थ सुख व चेतना रहित है इसलिये शरीर सौंदर्य फूले हुए मुरदेके समान भासित होना चाहिये। यह ज्ञानीके नेत्रका / नजरका प्रकार (हरएक) सर्व मनुष्यसे विलक्षण है। सिर्फ वैसा उपदेश प्राप्त मुमुक्षु ज्ञानीके ऐसे नयनकी पहचान कर सकता है। वैसे ही धनादि संपत्तिका आकर्षण, पृथ्वीका विकाररूप भासित होनेसे, मिटता है।

(४९७)



मुमुक्षुजीवका आत्मा ज्ञानीपुरुषके चरणके अलावा कहीं पर क्षणमात्र भी रहना नहीं चाहता, स्थिर नहीं रह पाता और उपकारी सत्पुरुष, परम तारणहार भासित होनेसे उनके वचनरूप आज्ञाको प्राणत्याग जैसे प्रसंग पर भी अप्रधान / उल्लंघन न करने योग्य जानता है।

सत्संगसे प्राप्त, ध्यानमें लेने योग्य, अखण्डरूपसे आराधन करने योग्य बाबत यह हैं कि

(१) संसारमें अर्थात् संसारिक कार्योंमें - कार्योंके फलमें बिलकुल उदासीनता / नीरसता होना।
 (२) अन्य मुमुक्षुके अल्पगुणमें भी प्रीति। (३) खुदके अल्प दोषके प्रति भी अत्यंत खेद।
 (४) दोषके अभावमें वीर्यकी स्फुरणा अर्थात् दोषका अभाव करनेके लिये अत्यंत उद्यमवंत होना -
 और अभाव होने पर विशेष आत्म प्रत्ययी पुरुषार्थका - चैतन्यवीर्यका स्फुरणा। (५) समयमात्र
 भी प्रमादका सेवन नहीं करते हुए निरंतर जागृत रहना। (४९८)



मई - १९९०

'अवलोकन' बिना वेदन सम्बन्धित विषय सहीरूपमें समझमें नहीं आता है। नास्तिरूप भावोंमें आकुलता है, विकल्पमात्र दुःखरूप है - इत्यादि आगम, न्याय, युक्ति, अनुमानसे समझमें आनेके बावजूद भी इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके वक्त, इच्छाकी पूर्तिके कारण कषायकी अल्प मंदता, कल्पनामात्र रम्य लगती है। जिसके कारण भोग-उपभोगके भाव - अशुभ भाव जो कि वास्तवमें तीव्र कषायरूप होनेसे तीव्र आकुलता सहित है फिर भी 'अवलोकन'के अभावके कारण उस वक्त दुःख नहीं लगता - नहीं समझमें आता है बल्कि सुखकी भ्रांति चालू रह जाती है; अगर 'अवलोकन' होगा तो ही दुःख भासित होगा और दुःख मिटनेका अवसर आयेगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है। (४९९)



लोकसंज्ञा मुमुक्षुजीवको आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमें मुख्य प्रतिबंधक कारण है। लोकसंज्ञाके कारण जीवको प्रगट आत्मस्वरूप बतलानेवाले सत्पुरुषके वचन भी असर उत्पन्न नहीं करा सकते। इसलिये उसको साक्षात् आत्मघाती जाने बिना, कालकूट जहर जाने बिना, उससे उदासीन - उपेक्षित नहीं हुआ जा सकता और तब तक जीव आगम द्वारा अपने स्वरूपका निश्चय करने जाता है तो भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनाको प्राप्त होता है, जिसके कारण दर्शनमोह तीव्र होकर गृहीत मिथ्यात्वकी उत्पत्ति हो जाती है। लोकसंज्ञावान जीवको तीव्र बाह्यवृत्ति रहा करती है, जो कि अंतर्मुखतासे विरुद्ध होनेके कारण, अंशतः रागसे हटकर आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं होने देता अथवा निश्चय होनेमें दुर्लभता हो जाती है। (५००)



आत्माका विचार भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनासे करनेमें ओघसंज्ञा भी एक कारण है। जिसमें जीव ज्ञानलक्षणके आधारसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करनेके बजाय सिर्फ विचार / कल्पनासे, रागके आधारसे, रागकी मुख्यता छोड़े बिना, आत्मपदार्थका निर्णय करके मिथ्या संतोषका अनुभव करता है। परन्तु वैसे कल्पित पदार्थमें सत्की मान्यतासे स्वरूपका सहज

अपूर्व माहात्म्य उत्पन्न नहीं होता। रागकी प्रधानतावाली विचाररूप ज्ञानकी क्षयोपशमवाली, परलक्षी दशा - वह ओघसंज्ञा है। वहाँ दर्शनमोह भी बलवानरूपसे प्रवर्तता है। जिसका नाश तीव्र जिज्ञासा एवं आत्महितकी तीव्र भावनापूर्वक अंतर संशोधनसे अर्थात् स्वरूपकी अंतर खोजसे हो सकता है। यथार्थ स्वरूप-निश्चय होनेके पहले ओघसंज्ञाका अस्तित्व रहता है। सिर्फ स्वरूपका भावभासन ही ओघसंज्ञाका नाश करता है। अतः ओघसंज्ञा जीवकी योग्यताको और आत्मिक पुरुषार्थको रोकती है, ऐसा जानकर अवश्य उसका त्याग करना चाहिये। (५०१)



संसारमें मनुष्य कई बार गृहादि उदय प्रसंगमें जितना कर्मबंध करता है, उससे अनन्तगुणा ज्यादा कर्मबंध असत्संगके कारण, धर्मक्षेत्रमें रहकर, मिथ्याआग्रह, असद्गुरुआदिका सेवन करके, कर लेता है। क्योंकि अपरमार्थ मार्गके सेवनके कारण कायरता आनेसे, पात्रताके अभावमें (उन्मार्गमें) उत्साहित वीर्यसे प्रवर्तता है। क्योंकि अपरमार्थ मार्गको परमार्थमार्ग जानकर, उसमें संसार वासना कम नहीं होती हो, फिर भी लाभ हुआ ऐसा मानकर, अहितकारी बोधसे, सत्पुरुषादिके प्रति उपेक्षापूर्वक अशातनासे वर्तता है, वही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका स्वरूप है। (५०२)



जगतमें जिसको देखकर आँखोंको टंडक मिले और जिसकी प्राप्ति दुर्लभ होनेसे रत्नकी कीमत / माहात्म्य बहुत गिना जाता है, फिर भी वह कल्पनामात्र रम्य है। सिर्फ आँखोंको टंडक होनेकी खूबीके कारण मनकी इच्छा / कल्पनासे उसकी कीमत बहुत गिनी जाती है जबकि अनादि सर्वत्र दुर्लभ, कि जिसमें आत्माको टंडक हो - आत्मा जम जाय, ऐसे सत्संगरूपी साधनकी रुचि संसारी जीवको नहीं होती है, यह एक आश्चर्य है, गंभीर विचारणाका स्थल है। तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी जीवको सत्संगकी गौणता कर्त्तव्य नहीं है। दुर्लभसे भी दुर्लभ ऐसा सत्संगरूपी अमृत परम आदरणीय है। सत्संगदाता सत्पुरुष तो निरंतर अमृत पिलाते हैं और भव्य जीव उसको पी कर अमरत्वको प्राप्त करता है। उसका मूल्य कैसे हो !!!

(५०३)



आत्मार्थी जीवको प्रतिकूल प्रसंग उदयमें आनेके पहले, जिस-जिस उदयमें खुदको ममत्व वर्तता हो, उस-उस पदार्थके लक्षसे संभवित प्रतिकूल प्रसंगको मानो जैसे अभी सामने आ गया हो, वैसे अनुभवमें लेकर, अपने ममत्वके परिणामकी जाँच करते-करते उसको कमजोर करने चाहिये, कि जिसके कारण वैसे उदयकालमें तीव्र रससे प्रत्याघात उत्पन्न ही न हो।

ऐसा प्रकार आखरी हृदकी तैयारीवाला होना चाहिये। जैसे मानो देह-त्याग करनेका प्रसंग मालूम पड़े तो भी मेरे शाश्वत, अव्याबाध स्वरूपमें से कुछ नहीं जा रहा है, खुद ज्ञायकपने अखण्ड स्वरूपसे विद्यमान ही रहता है, उस प्रकारमें वेदनपूर्वक ग्रहण होनेके लिये, प्रयत्नरूप अभ्यास बारंबार करके, पूर्व तैयारी कर लेनी चाहिये, कि जिससे देहत्यागसे अल्प प्रतिकूलताओं तो ज़रा सी भी असर नहीं पहुँचा सके। (५०४)



मुमुक्षुकी दशा अत्यंत साधारण होनेसे, उसकी सभानतामें रहकर सत्संगको ज़रा भी विस्मृत या गौण करने जैसा नहीं है। यदि कल्पनामें चढ़कर, सत्संग छोड़कर जीव अन्य साधन जैसे कि एकान्त, योग इत्यादिको मुख्य करने लगा तो प्रायः वह उन्मार्ग पर चढ़ जाता है; अथवा जिस स्वरूप प्राप्तिकी साधारण रुचिके कारण सत्संगमें आना हुआ था, उस रुचिका भी नाश होकर स्वच्छंद बढ़ जानेमें देर नहीं लगती। अतः अति दुषम ऐसे इस कालमें आत्मार्थी जीवको बचनेके लिये अगर कोई उपाय है तो वह एक मात्र निरंतर अविच्छिन्न धारासे सत्संगकी उपासना करना - वही है। संसारमें चारों ओरसे असत्प्रसंगका घिराव है, जिसका आताप / उताप उत्पन्न होने पर सत्संगरूपी जलसे ही विश्राम मिले ऐसा है। इसलिये सत्पुरुषोंने उस जलकी तृषाका वेदन करते हुए सत्की भावना भायी है। (५०५)



आत्माका धर्म आत्मामें है, आत्मामें से ही उसकी प्राप्ति होती है, अतः आत्माके अलावा बाहरसे इसकी प्राप्ति हेतु कोई भी प्रयत्न कर्तव्य नहीं है। आत्मधर्म वह आत्मत्व प्राप्त पुरुषोंसे प्रतिबोधित हुआ - आत्मतामार्ग रूप धर्म है, इसलिये इसके अलावा बाकीके मार्ग या मतमें नहीं चले जाये, उसका लक्ष रखना चाहिये। इसके अलावा अपनी मति कल्पनासे, कल्पनायुक्त ध्यानसे, समाधिसे या योग-प्रयोगसे कल्याण होगा - उस प्रकारके मार्ग पर भी नहीं चढ़ना चाहिये। अगर कभी ऐसा मार्ग बतलानेवाले मिले, तो भी जो आत्मज्ञानी पुरुष हो उनका ही अनुसरण करनेका दृढ़ निश्चय रखना चाहिये। ज्ञानीपुरुषके सिवा जहाँ-तहाँ फँस जानेसे सन्मार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती और तो और मनुष्य आयु व्यतीत हो जाता है, इसका गंभीरतासे विचार कर्तव्य है। प्रायः आत्मप्रत्ययी मार्ग मिलनेमें ओघसंज्ञादि कारण वशात् निष्फलता प्राप्त होनेसे, जीव अन्य मार्ग पर चढ़नेके लिये प्रेरित होता है, तब वहाँ शायद कषायकी मंदता तो होती है - रहती है परन्तु दर्शनमोह वृद्धिगत् हो जाता है, यह अवश्य लक्षमें रखने योग्य है। (५०६)



संसारी प्राणी बाह्य पदार्थोंकी आशाके पीछे आयुष्य / जीवन व्यतीत कर देता है। ज्यों - ज्यों संज्ञा (क्षयोपशम सहित इच्छाएँ) विशेष त्यों - त्यों आशा अधिकतर रहा करती है। मनुष्योंमें सर्वसाधारण यह परिस्थिति होनेसे, उस संबंधी अर्थात् उसके नुकसान संबंधी अगंभीर रहनेका प्रायः बनता है। इतना ही नहीं, लोग आशाविहीन जीवनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। जब कि एकमात्र आत्मकल्याणका ध्येय सर्व आशाओंको समाप्त करके नये जीवनके उद्भवकी ओर ले जाता है कि जो आत्मज्ञान और आत्मशांतिमय जीवन होता है। उसमें सर्व प्रकारकी आशाओंकी समाधि होकर, निरपेक्ष ऐसे जीवके स्वरूपके आधारसे जीना होता है, और दूसरी आशाएँ और इच्छाएँ सिर्फ कल्पनारूप ही भासित होती है। (५०७)



सत्पुरुषोंका अनुभव एवं इसके साथ निष्पन्न अभिप्राय ऐसा है कि, अनन्तकालमें दुर्लभ ऐसे सत्पुरुषके योगमें अगर उनकी पहचान होवे, तो जिसको पहचानपूर्वक परमभक्ति आयी हो, ऐसे मुमुक्षु जीवको वैसी ही दशा अवश्य संप्राप्त होती है। परम पदार्थके निश्चयका कारणभूत - परमार्थ ज्ञानीपुरुषका निश्चय होता है, तब जीवको समस्त संसार (असार) अपरमार्थरूप भासित होने लगता है। अतः संसारी सुख भ्रांतिके कारण माना हुआ सुख भासित होता है, अतः आत्मार्थोंको वैसे (अनुकूल ?) संयोगोंकी प्राप्तिमें भी नीरसता - उदासीनता रहती है, जिससे ऐसा लगता है कि परमार्थ ज्ञानीपुरुषकी पहचान वह स्वरूपके संस्कारवत् निष्फल नहीं जाती, नहीं होती - उस प्रकारके जीवके परिणाम हैं। अर्थात् उस जीवने ज्ञानीपुरुषके दर्शन करते हुए आत्म-रुचि भावसे संस्कारकी प्राप्ति की है। बरगदके पेड़के बीजकी तरह वह परमार्थ-बरगदका बीज है; उसमेंसे मोक्षमार्गकी और मोक्षकी सर्व दशाएँ अवश्य पनपेगी। इस प्रकार ज्ञानीपुरुषकी पहचानरूप श्रद्धाका यह फल है। जिसके प्रति लक्ष करानेवाले, निष्कारण करुणामूर्ति सत्पुरुषके चरणाधीन रहना ही परम श्रेयस्कर है। (५०८)



न्याय जो है वह सुविचारणाका अंग है, जो कि मुख्यरूपसे आत्माको निर्दोषता, पवित्रता व आत्मशांतिके प्रति ले जाता है, जैसे कि शारीरिक वेदना है वह देहका धर्म है (वह जीवका पर्यायधर्म भी नहीं है।) और पूर्वमें जीवने विकारीभावके निमित्तसे बांधे हुए कर्मका फल है, ऐसा जानकर स्वाभिमुख होना अर्थात् ज्ञानसे ज्ञानका वेदन करना और ज्ञानमें जाननेमें आ रही वेदनामें स्वपनेका - अपना अभाव देखकर - अवलोकन करके, उस वेदनासे भिन्नता करके, अनुभव करना। ऐसे प्रयोगके वक्त उक्त प्रकारके सुविचारणाके न्याय विचारमें आते हैं, उसका विचार करते हुए साथ ही साथ आत्माको (खुदको) मूल स्वरूपसे नित्य, अछेद्य,

अभेद्य, जरा, रोग, मरणसे रहित, अव्याबाध अनुभव स्वरूप भाते - भाते स्वरूपका सम्यक् प्रकारसे निश्चय आता है। इसप्रकार महापुरुषोंने सम्यक्भावसे, झेले हुए (वेदन किये हुए) उपसर्ग, परिषहको स्मृतिमें लानेसे जीवके (खुदके) परिणाममें आत्मबलकी सत्कारता - उपादेयता, बहुमानता आनेके कारण उन परिणामोंका फलीभूत होना बन पाता है, अर्थात् वह वेदना अपने क्षयकालमें निवृत्त होती हुई नये कोई भी कर्मका कारण नहीं होती है।

शरीरमें वेदना न हो उस समयमें यदि जीव देहसे अपना भिन्नत्व जानकर, देहका अनित्यादि स्वरूप जानकर, मोह - ममत्वका अभाव कर ले तो वह बड़ा श्रेय है। यद्यपि देहका वैसा ममत्व छोड़ना दुष्कर है (वैसा शाता-अशाताके कालमें होनेवाले अनुभवसे भासित होता है) फिर भी जिसका ऐसा करनेका दृढ निर्धार है, और प्रयत्न करता है, तो अवश्य फलीभूत होता ही है। (५०९)



आत्मकल्याणके लिये प्रवृत्ति करते हुए जब तक बाह्य क्रियामें देहादिक साधन (निमित्तरूपसे) रहा है, तब तक उस देह संबंधी उपचारादि यदि करना पड़े, तो वह उपचार देहके ममत्वार्थ नहीं, बल्कि उस देहसे ज्ञानीपुरुषके मार्गका आराधन हो सकता है, वैसे किसी एक प्रकारसे इसमें रहे लाभके हेतु, और वैसे ही अभिप्रायसे उपचारादि करनेमें, शुद्धहेतुपनेके कारण न्यायसंगतता है। परन्तु देहकी प्रियता हेतु अथवा कर्ताबुद्धिसे, अथवा सांसारिक कार्योंका - भोगादिका हेतु (साधन) देह है, तो उस हेतुका त्याग करना पड़ता है इसलिये उपचार करना ऐसे विचारसे आर्तध्यान होना - उचित नहीं है। ऐसी ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा होनेसे उसकी मुख्यता और उसका लक्ष उपचारके वक्त रखने योग्य है, परंतु रोगादि व्याधि उत्पन्न हो तब परिणाममें किसी भी कारणसे संक्लेशभाव कर्तव्य नहीं है, कि जो अविचार और अज्ञानका कारण होता है और दुर्गतिका कारण होता है। अतः सद्विचारसे वर्तन करना योग्य है। (५१०)



जून - १९९०

सम्यक् श्रुतज्ञानकी लब्धि और लब्ध सुश्रुत, दोनोंमें तफावत है। मोक्षमार्गको प्राप्त धर्मात्माकी ज्ञानधारा-वेदक आत्मज्ञान जो है वह लब्ध सुश्रुत है; जिसके साथ अनन्त गुणोंका शुद्ध परिणमन वही धर्मीकी धर्मदशा अथवा अंतर परिणमन है। ऐसे परिणमनके कालमें कोई-कोई धर्मात्माको निर्मलताके कारण श्रुतकी अनेक प्रकारकी लब्धियाँ भी प्रगट होती हैं, जो क्वचित् उपयोगरूप होती है। यह लब्धि वह श्रुतज्ञानकी समृद्धि अथवा विशेष संपत्ति है। जिससे उनकी निर्मलता व आराधना-विशेषको समझा जा सकता है। इस कालमें कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी एवं

भगवती माता बहिनश्री चंपाबहिन इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

इसके अलावा, प्रथम स्वानुभवके वक्त ही अपने सर्वज्ञ स्वभावके अवलंबनपूर्वक जो शुद्धोपयोग हुआ, उसमें केवलज्ञानकी लब्धि प्रगट हो जाती है; अतः जो न्याय चौदहपूर्वधारी निकालता है वही न्याय सम्यक्दृष्टि निकाल सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ स्वभावका स्पर्श करते हुए वह उपयोग हुआ है। इसलिये चौदहपूर्वसे भी अनन्तगुण स्वभावके अनुभवज्ञानमें से यह लब्धिका उत्पन्न होना सहज है। पुनः यह भी न्याय संपन्न है, कि अभेद स्वभावमें सामर्थ्यरूपसे सर्वभेद गर्भित है जिसके कारण प्रयोजनभूत विषयमें अनुभवी ज्ञानीपुरुषकी भूल नहीं होती; अथवा अनुभवी पुरुषके आत्मामें से ही आगम उत्पन्न हुए हैं - होते हैं। इस तरह ज्ञानकी महिमा अनन्त है, आश्चर्यकारी है। (५११)



सत्पुरुष स्वयं ही मूर्तिमंत सन्मार्ग स्वरूप है, जो दर्शनमोहके अभावस्वरूप है। अतः जिसको सत्पुरुषका संग होता है, उसको उन्मार्ग छूट जाता है। एक सनातन निर्दोष मार्गके आगे दूसरे सभी मार्गाभास दोषसे ग्रसित होनेके कारण, उसका आग्रहरूप कदाग्रह नहीं रहता। कदाग्रह, वह तीव्र दर्शनमोहकी पर्याय है; जो सत्पुरुषके चरण सेवन करनेवालेको सहज मात्रमें छूटने योग्य है। जिसको ज्ञानीपुरुषके आश्रयसे एकमात्र 'आत्मधर्म' ही प्राप्त करना हो, वह दोषित मार्गका आग्रह कदापि नहीं रखता, फिर भी, यदि सत्संग प्राप्त होनेके बाद भी विपरीत मार्गका आग्रह रहता हो तो, उस जीवको फिर छूटनेकी आशा छोड़ देनी चाहिये। (५१२)



आत्मार्थी जीवको सुविचारणाके साथ-साथ स्वयंकी भिन्नताका प्रयोग चालू रखना चाहिये, रोज़-बरोज़के व्यवहारमें भी इस (प्रयोगके) क्रमका सेवन करना चाहिये। उसमें भी खास करके बड़ी प्रतिकूलता - महाव्याधि - रोगकी उत्पत्तिके वक्त तो देहादि संयोगोंकी भिन्नताको अवलोकनमें लेकर, ममत्व छोड़कर जीवको जरूर ज्ञानीपुरुषके मार्गका अनुसरण करना चाहिये। ज्ञानीपुरुषों उपार्जित कर्मकी स्थितिका समपरिणामसे, अदीनपने, अव्याकूलपने वेदन करते हैं। उसी प्रकारसे आत्मार्थी जीवका अनुप्रेक्षण रहता है; अनुसरण रहता है। (५१३)



वर्तमानमें विषमता अत्यंत बढ़कर व्याप्त होनेसे यह काल विषमकालके नामसे प्रसिद्ध है। जिसको आत्मकल्याण करना है अथवा किया है, उसको लोकसंग नहीं रुचता, क्योंकि वह असत्संग है, आत्माका अहित होनेका निमित्त है। फिर भी उदयवश वैसे संगमें रहना पड़ता

हो, तो कहीं पर भी मन नहीं लगता बल्कि वारंवार सत्संगके लिये भावना रहा करती है, और सत्संगकी प्राप्ति होने पर प्रशस्तरागकी वृद्धि नहीं करते हुए, आत्मार्थी जीव सन्मार्गका पुरुषार्थ विशेषरूपसे करता है। ज्ञानीपुरुषका मार्ग ऐसा है, परन्तु जो परिणाम बाहर जाते हैं उसमें तो आत्मवार्ता ही इच्छनीय है कि जिससे आत्मरसकी वृद्धि हो। इसप्रकार अंतर्बाह्य एक आत्मरसको ही घूँटनेसे 'अखण्ड आत्मधुनका एकतार प्रवाह' रहा करे, यह हेतु उपरोक्त सर्व प्रवृत्तिमें रहना चाहिये। (५१४)



क्षयोपशमीक ज्ञान वह कर्मोंकी अवस्थाओंके साथ संबंध रखनेवाली पर्याय है। वह पर्याय एवं वेसी जो-जो अवस्थाएँ कर्म संबंधी है, उसकी भावना ज्ञानी नहीं करते, क्योंकि एक न्यायसे वह पुद्गलकी भावनारूप होनेसे ज्ञानीको वह हेय है। आत्माभिमुख ऐसा जो सम्यक्ज्ञान उसमें आत्मा उपादेय होनेसे, विरुद्ध ऐसी पुद्गलकी भावना नहीं होती, क्योंकि पुद्गलकी भावना वही संसारकी भावना है। इस तरह आत्मद्रव्यकी दृष्टि और सम्यक्ज्ञानका एकत्व रहता है। जिसमें पर्यायदृष्टिका सहज अभाव है अर्थात् पर्यायदृष्टिसे द्रव्यदृष्टिकी विरुद्धता है। (५१५)



वर्तमानकालमें मनुष्य आयु अल्प एवं अनिश्चित है। जिसमें जीव (संसारके) अनेक कार्य करनेकी जंजालमें फँसा हुआ रहता है। यद्यपि संसारमें जीवकी तृष्णा एवं महत्त्वकांक्षाओंका भी कोई अंत नहीं है - अब ऐसी परिस्थितिमें असंग ऐसा आत्मतत्त्वका स्मरण भी कहाँसे आये ? आत्मार्थी जीवको सर्व अभिलाषाओंको छोड़कर, उदयसे उपेक्षित रहकर अमूल्य ऐसे इस जीवनको देहार्थ किये जा रहे प्रपंचके कारण प्राप्त होनेवाले आवरणसे बचाकर, 'ज्ञान-जीवन' प्राप्त करना उचित है कि जिससे जीव नये आवरणको प्राप्त न हो और पुराने आवरणसे मुक्त हो सके। यदि इस प्रकारसे जीवन पलटनेका विवेक नहीं आया तो वह अवश्य अविचारीपना है, जिसका फल अनंत दुःख है। (५१६)



प्रश्न :- 'ज्ञानमात्र' भावका परमार्थ क्या है ?

समाधान :- चलती हुई ज्ञानकी पर्यायमें, स्वयंका ज्ञानमें मात्र ज्ञानका वेदन - अनुभवन, यह ज्ञानमात्रका पारमार्थिक भाव है; ज्ञान स्वसन्मुख होकर, अपनेमें रहे निर्विकल्प ज्ञानवेदनका ग्रहण करे - वेदन करे (ग्रहणपूर्वक वेदन करे) जिसमें स्वयंका मात्र ज्ञान भावरूप, ज्ञाताभावरूप अनुभव होना - वही परमार्थ है - आराधन है, सारभूत है - इसके सिवा उद्धार होनेवाला

नहीं है। 'ज्ञानमात्र' भावसे 'अखण्ड आत्मधुनका एकतार प्रवाह' का आकर्षण उत्पन्न होने पर, ज्ञानधारा चलती है और शुद्धोपयोगका जन्म होता है, और तभी सर्व द्रव्य-भावसे सच्ची उदासीनता / उपेक्षावृत्ति रह पाती है या उत्पन्न होती है। (५१७)



'ज्ञानमात्र'-पना सर्वांग समाधान स्वरूप है। सविकल्पके कालमें भी खुद तो 'ज्ञानमात्र' ही अनुभवमें आता है, इसलिये सर्व अन्य, द्रव्य, भावके प्रकाशनके वक्त भी 'ज्ञानमात्र' रूपसे ही प्रत्यक्ष है फिर असमाधान किस बातका ? या उलझन, खेद, भय, शंका या दूसरे कोई विकल्पको अवकाश कैसा ?

अनअवकाशरूपसे (स्वयं) 'ज्ञानमात्र' पनेसे प्रत्यक्ष होनेसे, सर्वकाल मेरे स्वरूपसे पूर्ण हूँ।
ॐ शांति: (५१८)



जीवको अगर कोई खास प्रतिबंध है तो वह संसारके / उदयके कार्योंमें रस आना वह है; कि जिसमें दर्शनमोह शामिल है। यह रस जब तक यथार्थरूपसे यानी कि आत्मकल्याणकी सच्ची भावनापूर्वक नीरसताको प्राप्त न हो, तब तक जीवको अपने कल्याण - अकल्याण संबंधित मूल्यांकन नहीं आता और जिसके कारण परिणामोंका झुकाव आत्मप्रत्ययी नहीं हो पाता। कभी कोई प्रतिकूलताके, तीव्र प्रतिकूलताके वक्त नीरसता आती है लेकिन उस वक्त ऐसा होनेका आधार वह प्रतिकूल संयोग होता है (आत्मकल्याण नहीं) अतः उस वक्त चारित्रमोह थोड़े समयके लिये मंद होता है, जब कि दर्शनमोह तो उस वक्त भी बलवानरूपसे ज़िन्दा होनेसे वैसी नीरसता सिर्फ 'स्मशान-वैराग्य' वत् फलती है। अतः आत्मार्थीजीवके लिये यह विचारणीय है कि 'अनन्त दुःखका अभाव और अनन्त सुखकी प्राप्ति' के मार्गको समझते वक्त निज हितकी भावनाकी परिस्थिति क्या है ? सिर्फ मंद कषायके कालमें उपरोक्त मार्गका मूल्य यथार्थरूपसे नहीं हो पाता और इसलिये जानते हुए भी, परिणामन संबंधी कार्यका उपाड़ सहजरूपसे नहीं आता, अन्यथा उपाड़को रोक ही नहीं सके - ऐसा ही जीवका स्वभाव है। (५१९)



आत्मार्थी जीवको सत्संग प्राप्त होने पर सरलता आदि गुण सहज प्राप्त होते हैं। यदि सरलताकी प्राप्ति न हुई तो समझ लेना चाहिये कि, वास्तवमें उस जीवको सत्संग ही प्राप्त नहीं हुआ है, अथवा वह सत्संग सिर्फ नाममात्र है, क्योंकि सत्संगका गुण प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये असरलता, कदाग्रह, पूर्वग्रहका आग्रह इत्यादि अवगुण, जो कि आत्मकल्याणमें मुख्यरूपसे प्रतिबंधक हैं, वे सभी बलवानरूपसे प्रवर्त रहे हैं, और जिसके कारण दर्शनमोह भी पुष्ट होता

रहता है।

(५२०)



आत्मार्थी जीवको आत्मकल्याणके हेतुसे स्वरूप प्राप्तिका लक्ष रहता है कि जिसके कारण उदयप्रसंगमें सहजरूपसे नीरसता रहती है। उदयभावोंसे अकल्याण समझमें आये और प्रयोजनको नहीं चुके - ऐसा प्रकार चालू रहने पर अंतरखोज द्वारा यदि स्वरूप (आश्रय भूत तत्त्व) का लक्ष हो जाय तो सर्व उदयीक कार्योंमें स्वरूपका लक्ष रहा करता है, जिससे स्वरूप समीपता होकर अभिन्न भाव होता है। इस प्रकार पूर्वभूमिकामें लक्षके दो प्रकार व्यवस्थितरूपसे समझने योग्य है। उक्त 'लक्ष'के कारण उस भूमिकाके अन्य यथायोग्य परिणाम - रुचि, लगन, धुन इत्यादि सहजरूपसे होने चाहिये।

(५२१)



जब तक पौदगलिक पदार्थोंमें सुख भासित होता है तब तक आत्मस्वरूप भास्यमान नहीं होता - ऐसी वस्तुस्थिति है। इतना ही नहीं, तब तक सत्पुरुषकी पहचान होना भी असंभवित है। अतः इसके फलस्वरूप स्वरूपकी यथार्थ महिमा भी उत्पन्न नहीं हो सकती, तथा सत्पुरुष व उनके समागमका माहात्म्य भी वास्तवमें भासित नहीं हो पाता। ऐसा होनेसे सांसारिक पदार्थोंके प्रसंगमें, आत्मार्थी जीवको अत्यंत जागृतिमें रहकर, पारमार्थिक लाभ - नुकसानका विवेक कर्तव्य है।

(५२२)



स्वरूपप्राप्तिके 'लक्ष'पूर्वक, स्वरूपप्राप्तिकी भावना यदि निरंतर रहे तब तो जीवकी अन्य द्रव्य / भावकी भावना, कि जो अनादिसे चली आ रही है, वह कमजोर होवे, अर्थात् उसका प्रतिबंध मिटे; और उपयोगद्वारमें 'चैतन्य प्रकाश' मालूम पड़े अन्यथा परवेदन / परप्रवेशभावका अध्यास नहीं छूटता, अर्थात् चालू रहता है कि जिससे स्व-संवेदनको आवरण आता है। यदि उक्त स्वरूपकी भावनासे ज्ञानवेदनका ग्रहण हुआ तो उसके अभ्याससे आत्मरस उत्पन्न होता है और उसकी 'परिणति' बनती है। ऐसी परिणति बनने पर ही उदयके कालमें तीव्र रससे प्रवर्तन नहीं होता, बल्कि सर्व विभाव यथार्थरूपसे फीके पड़ते हैं और क्रमशः उसका उपशम होता है। इस तरह स्वरूपकी भावना - वह नीवकी बात है, इसके बिना सम्यक् मार्गमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

(५२३)



वस्तु स्वरूपका सिद्धांत-ज्ञान, निर्मल उपशमित हुए परिणामोंसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये वैसे परिणामोंमें स्थित रहते हुए सत् शास्त्रोंमें सिद्धांतज्ञानका निरूपण हुआ है - ऐसा जानकर,

जो भी सिद्धांत हो उसमें उपशमका जो हेतु गर्भित है उस हेतुको / आशयको मुख्य रखते हुए ही सर्व सिद्धांतोंका अवगाहन कर्तव्य है कि जिससे वैसा अवगाहन सम्यक् परिणामको प्राप्त हो, अन्यथा सिर्फ सिद्धांतज्ञानका अभ्यास करनेसे प्रायः शुष्कता उत्पन्न हो आती है, जो कि अनर्थ / अवगुणका कारण होती है। यह लक्षमें लेने योग्य है। (५२४)



ज्ञानीपुरुषकी पहचान होना अति दुर्लभ है; क्योंकि ज्ञानीपुरुषके उदयभाव / विकल्प पूर्वकर्म अनुसार विचित्र प्रकारसे चलते हैं; जबकि उस वक्त भी उनके अभिप्रायमें अविचित्रता ही होती है; यह समझमें आने पर असमाधान नहीं होता। जैसे कि ज्ञानी हमेशा वात्सल्य-प्रभावनादि अंगसे विभूषित ही होते हैं, फिर भी लौकिक कारण वशात् श्री रामचंद्रजीने साधर्मी ऐसे श्री सीताजीका त्याग किया था, फिर भी उन्होंने वात्सल्यका त्याग नहीं किया था। अभिप्राय एवं अभिगम बदले बिना भी इस प्रकारसे परिणामका होना संभवित है, यह बात निकटवर्ती ऐसे सीताजी अच्छी तरह समझते थे और उनको प्रतीति भी थी। इस तरह ज्ञानीपुरुषका हृदय जिसकी समझमें आता है, उसको ज्ञानीपुरुषमें शंका नहीं होती। लेकिन अज्ञानी जीवको उनकी नकल करके (अवलंबन लेकर) दोषकी पुष्टि करने योग्य नहीं है। (५२५)



परिणाममें सुविचारणा, स्वरूपप्राप्तिकी भावना, स्वरूप जिज्ञासा, स्वरूप निश्चय, भेदज्ञानकी प्रक्रिया, निश्चयका पक्ष इत्यादि अनेक प्रकारसे यथार्थ क्रमके प्रकार उत्पन्न होनेके बावजूद भी उन-उन भावोंका एकत्व / अवलंबन रहे तब तक अपरिणामी ध्रुवस्वरूपका अवलंबन नहीं आ पाता, और तब तक ग्रंथीभेद होकर स्वानुभव / सम्यक्त्व प्रगट नहीं होता। अतः पुरुषार्थवंत आत्मार्थी जीवको उपरोक्त क्रमसे गुझरते हुए चल स्वभावरूप परिणामधाराका आत्यंतिक (अवलंबनका) वियोग करके, स्वरूप अनुसंधानको प्राप्त करना योग्य है। यद्यपि स्वरूप लक्ष होनेके बाद परिणामोंकी गौणता ही रहती है फिर भी जब जोरसे ध्रुवतत्त्वके अवलंबनका बल पर्याप्त मात्रामें बढ़ता है तभी दृष्टि प्रगट होती है। (५२६)



उपयोग लक्षणसे सनातन स्फुरित आत्मा सहज प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष है। स्वरूपकी प्रत्यक्षता अनन्त है। - ऐसा सहज अनंत प्रत्यक्षतामय खुद, अपने आपसे परोक्ष रहे, यह कैसे संभवित है ?

प्रत्यक्षतामें सुख और आनंद अमृतकी प्रत्यक्षता होती है इसलिये वह प्रतीतिको पैदा करती है, कि जिसके बलसे पूर्ण सिद्धपदकी सिद्धि है। (५२७)

खुदके साथ अन्यायपूर्वक प्रवर्तन करके, प्रतिकूलताओं देनेवाले (?) के प्रति असमाधान पूर्वक द्वेष, क्लेश, खेद, आकुलता होवे तब पर्यायार्थिक नयसे समाधान इस प्रकार कर्तव्य है कि वास्तवमें मैंने ही दोष करके पूर्वमें ऐसे कर्मका उपार्जन किया था, जिसका ये उदय आया है, इसलिये किसीके भी प्रति द्वेष करना उचित नहीं है। और साथमें द्रव्यार्थिकनयसे ऐसा अवलोकन करना चाहिये कि सचमुच देखा जाय तो कोई भी प्रतिकूल संयोगके साथ मेरा कोई लेना-देना नहीं है। मैं तो सर्वसे सर्व प्रकारसे भिन्न ही हूँ। मेरे अव्याबाध स्वरूपमें कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता - यह बात प्रत्यक्ष है। कोई चाहे कैसे भी भाव करे, और संयोगोंमें चाहे कैसा भी फेरफार हो - मैं तो इससे भिन्न रहता हुआ ज्ञाताभावमें रहता हूँ। मेरेमें किसी परका ज़रा-सा भी अनुभव नहीं हो सकता। इस तरह जो भी लागू होता हो उस प्रकार समाधान कर्तव्य है। (५२८)



योग्यतावान आत्मार्थी जीवको भी यदि स्वरूप निश्चयकी तीव्र जिज्ञासापूर्वक 'ज्ञान' लक्षणसे ज्ञान स्वभावी स्व-स्वरूपका यथार्थ निर्णय करनेकी अयोग्यता (वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ मात्रामें योग्यताकी कमी) हो तो पदार्थका यथार्थ निर्णय नहीं हो पाता, जिसके कारण चित व्याकुल रहा करता है; और यदि कल्पित निर्णय हो जाता है तो मिथ्या समाधान / शांति तो आती है, परन्तु अपूर्व स्वरूप भासित नहीं हुआ होनेसे स्वरूपकी अपूर्व महिमा तो नहीं आती बल्कि उस वक्त कल्पित अर्थात् विपरीत निर्णयका बल रहता होनेसे यथार्थ भावभासनपूर्वक अपूर्व माहात्म्य उत्पन्न होनेमें विशेष काल व्यतीत हो जाता है और तब परम योग्यताकी हानि होती है। इसलिये 'पदार्थका निर्णय' यथार्थरूपसे होना वही परम योग्यता है; उस वक्त दर्शनमोहका अति मंद अनुभाग होता है, क्योंकि मोह रहित पदार्थके भावभासनपूर्वक, उस पदार्थकी उपादेयताका रस वहाँ उत्पन्न होता है। (५२९)



स्वरूपका भावभासन - वह ज्ञानकी प्रयोग पद्धतिसे प्राप्त हुई फलश्रुति स्वरूप है। जिसमें निर्मलताका गुण भी संप्राप्त है और ज्ञानबल भी संप्राप्त है। (५३०)



जैसे उपदेशबोधका अंतःकरणसे अंगीकार हुए बिना सिद्धांतबोध परिणमित नहीं होता क्योंकि अनादि विपर्यासमें फर्क आये बिना सिद्धांतबोध भी विपर्यासरूप ही परिणमन करता है, वैसे यह विचार भी कर्तव्य है कि सिद्धांतबोधके आधार बिना उपदेशबोध टिक नहीं सकता, अथवा हमेशाके लिये स्थिर नहीं रह पाता, अर्थात् कुछ समय बाद उसका नाश होता है। अतः

दोनों परस्पर स्व-स्थानमें होने / रहने चाहिये और तभी वास्तविकरूपसे परमार्थ सधता है।
(५३१)



वैराग्य तो तब आता है जब राग कम होता है और राग तब घटता है जब अंतर स्वभावकी रुचि पैदा होती है। इस तरह अंतर गुणस्वरूपके ज्ञानका वैराग्यके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है; जिसकी विचारणामें वैराग्य भावनाएँ सहज आ जाती है।

ज्ञान रहित वैराग्य वह सचमुच वैराग्य नहीं है किन्तु रुंधा हुआ कषाय है।

(-पू. बहिनश्री चंपाबहिन)

इस वैराग्यके कारण धर्ममें चित्तकी स्थिरता होती है। स्वमें - आत्मामें चित्तकी स्थिरता होनेके लिये वैराग्य होना अपेक्षित है। परकी उपेक्षा हुए बिना स्वकी अपेक्षा कभी नहीं हो सकती। आर्तध्यानवालेको विकार एवं परका लक्ष होता है। सिर्फ वैरागी जीव ही विकारमें एकाग्र नहीं होता है, और फँसता नहीं है। इसलिये वह जीव धर्मध्यान कर सकता है। अतः हे जीव ! तू परसंगमें अटके बिना ही स्वभावके संगमें विचरण कर !! यही कर्तव्य है।

(५३२)



श्री जिनने जितने भी सिद्धांत कहे हैं वे सभी एक आत्मस्वरूप प्रगट करनेके हेतुसे कहे हैं। यह बात लक्षमें रखते हुए किसी भी सिद्धांतको समझना चाहिये। अगर ऐसा नहीं करनेमें आता है, तो प्रायः सिद्धांत संबंधित समझ विपर्यासको प्राप्त होती है और अनर्थ होता है। अतः आत्मार्थी जीवको सिद्धांतके प्ररूपक ऐसे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति अत्यंत भक्तिमान रहकर उक्त लक्षको साथमें रखते हुए सिद्धांतका विचार करना चाहिये।

(५३३)



एक गुणको अनन्तगुणका रूप है, इसलिये ज्ञानको सुखका रूप होनेसे ज्ञानको सुखरूप कहनेमें आता है। और वह कषाय / आकुलताके अभावरूप स्पष्ट / प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जब ऐसा ही है, तो ज्ञान जब स्वयंका - खुदका स्वसंवेदन करता है तब अपने सुखरूप धर्मका अनुभवन भी करता है। उस वक्त वस्तु-स्वभावसे सुखगुणकी शुद्ध पर्यायका प्रगट परिणामन होता है, वह भी स्व-पर प्रकाशक ज्ञानमें मालूम पड़ती है और एक वस्तुभूतपनेके कारण अथवा वस्तु स्वभावमें एकत्व होनेके कारण और उस एकत्वका भी स्व-रूप अनुभव होनेके कारण, सुख-रूप और सुखगुणका सदृशभाव - (जैसे) एक रस होकर अनुभवमें आता है, वैसे अनन्त गुणधर्म स्वानुभवमें एकरस हो जाते हैं, जिसको 'आत्मरस' कहा जाता है, उसका

ऐसा स्वरूप है।

(५३४)



जुलाई - १९९०

वस्तुधर्मकी मर्यादा संबंधित अपेक्षाज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका यथार्थ निर्णय करनेमें उपयोगी है परन्तु वैसे ज्ञानका परमार्थके दृष्टिकोणसे उपयोग होना चाहिये अर्थात् स्वरूपकी मान्यताकी पुष्टि करनेके लिये उस अपेक्षाज्ञानकी प्रवृत्ति होनी चाहिये। जब कि भेदा-भेद स्वरूप वस्तु जाननेके पश्चात् अभेद स्वरूपके अवलंबनसे स्वरूप सधता है, वहाँ यदि भेदकी अपेक्षा ज्ञानमें गौण नहीं हुई बल्कि मुख्य रही तो अभेदका जोर उत्पन्न नहीं हो पाता। इस प्रकार वहाँ वैसी अपेक्षाका ज्ञान साधनाको रोक देता है यानी कि वैसा अपेक्षा ज्ञान परमार्थदृष्टिसे प्रतिकूल पड़ता है। इस तरह जो अपेक्षाज्ञान वस्तु-स्वरूपको जाननेका साधन है वही अपेक्षाज्ञान साधनामें प्रतिकूलता नहीं खड़ी कर देवे इसका विचार करना आवश्यक है। इसके बावजूद भी ऐसी सावधानीसे अनजान - भेदपक्षवालेको उस अपेक्षाका विपर्यास अगर वर्तता है तो वह वस्तुके अभेद अनन्त सामर्थ्य सम्बन्धित जोरको शिथिल कर देता है, और अध्यात्मदृष्टि / जोर मंद हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता - जिसका साधकको अवश्य निषेध आता है। स्वलक्षी ज्ञानमें प्रायः ऐसा विपर्यास नहीं होता, परन्तु परलक्षी उघाड़में ऐसे विपर्यासकी बहुत संभावना रहती है।

(५३५)



वर्तमान परिणाम पर दृष्टि होनेसे वस्तु मात्र परिणाम जितनी ही भासित होती है। अतः पुरुषार्थ करूँ, ज्ञान करूँ, इत्यादि पर्यायके कर्तृत्वका अभिप्राय रहता है; जो मिथ्याभाव है। स्वयं वस्तु तो ज्ञान-वीर्यादि अनन्त सामर्थ्यकी खान है; जिसके सन्मुख होने पर खुदमें / स्वरूपमें कुछ कर्त्तव्य नहीं है ऐसा भासित होता है और कर्त्तृत्व नहीं होता। रागादि होते हैं वे पररूप भासित होते हैं। जिसका निषेध वर्तता है; परिणाममें सहजता रहती है।

(५३६)



सामान्यतः आदमीको सोनेसे / नींद आ जानेसे थकान उतर जाती है। खाने-पीनेसे तृप्ति होती है। परन्तु ज्ञानदशा कोई विलक्षण दशा है, जिसमें विश्रामधाम - स्वस्वरूपसे भिन्न निद्रा आदिके भावमें दुःख लगता है। निद्रासे भी थकान लगती है। खाने-पीनेके परिणाममें उदासीनता आ जाती है। क्योंकि ज्ञानरस और सुखरस जो पीनेमें आता है वही उनका आहार है जिससे खुदको तृप्ति होती है और पुष्टि मिलती है। सहज पुरुषार्थमें परिश्रम या थकान नहीं लगती। अंतरमें जमनेवाले परिणामोंमें ही आरामका अनुभव होता है। इस प्रकारकी सहज 'विलक्षणता'

जिस मुमुक्षुको पहचानमें आती है, उसको आत्मभावकी पहचान आती है; जो आत्मभावकी प्राप्तिका / प्रगट होनेका कारणभूत है। (५३७)



श्रीगुरुकी आत्मदशा, चिंतन, मनन और घोलन आदिके विकल्पसे पर (- न्यारी) होती है। फिर भी संसारके दुःखी जीवोंके प्रति उन्हें अनन्त करुणा होती है; इसलिये उनके चिंतनमें से न्यायादि निकलते हैं। जिसकी मति सरल होती है उसको बिना परिश्रम वह न्याय/सिद्धांत सहज सम्मत होते हैं और वे आत्महितके कारणभूत होते हैं। जिनके रागांशमें भी अन्य जीवके शाश्वत कल्याणका निमित्तत्व है। उनकी आत्मदशाका गुण सिर्फ वचनातीत ही नहीं बल्कि अचिंत्य है। (५३८)



“सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टरूपसे लिखी गई (- कही गई) हो तो भी उसका परमार्थ, सत्पुरुषका सत्संग जिसको आज्ञाकितपने नहीं हुआ हो, उसको समझमें आना दुर्लभ होता है।” - श्रीमद्जी सत्पुरुषकी वाणीमें ‘ज्ञानदशा’ का विषय स्वानुभवपूर्वक व्यक्त होता है; उसमें जिस परमार्थमार्गमें खुदका निर्गमन हो रहा है उस मार्गके अपूर्वभावोंकी अभिव्यक्ति और उदयभाव एवं उसके सम्बन्धित चेष्टाओंमें रहा पर-अपर भावोंकी विलक्षणता समझनेके लिये योग्यताका होना अपेक्षित है। जिस प्रकारकी योग्यता अपेक्षित है वह प्रायः आज्ञाकितपनेमें संप्राप्त होती है।

अतः मुमुक्षुजीवको उक्त वचनमृतकी गंभीरता और आज्ञाकितपने सत्संगका मूल्यांकन आने पर परमार्थकी प्राप्तिका अवकाश होता है, जो परमहित होनेका बीज है। अतः एक लक्षसे ज्ञानीपुरुषकी विलक्षणता समझमें आती है तब वह समझ उनके प्रति अनन्य भक्ति - प्रेमका कारणभूत होती है। (५३९)



धर्म पानेकी आशासे जीव अनेक प्रकारसे कल्पित बाह्य साधनरूप धर्म-प्रवृत्ति करता है, परन्तु इससे कोई धर्म-साधना नहीं होती है बल्कि उलटा साधन किया, ऐसा दुष्ट अभिमान होता है, जो जीवको सत्-साधनसे वंचित रखता है अथवा सत्-साधन सम्बन्धित सूझ आने नहीं देता। अतः आत्मकल्याणका ‘अपूर्व विचार’ आये बिना, कल्पित साधन मिटनेके लिये ‘अपूर्व ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा पर चलनेका दृढ निश्चय होता है, तभी से जीवके आत्मार्थकी शुरुआत होती है, और जिन्होंने ‘मार्ग’ देखा है, वैसे ज्ञानीपुरुष अगर विराजमान हो तो उनके चरणका सेवन करता है और अगर अविद्यमान हो तो तीव्र आश्रय भावनामें रहता है। सिद्धांत ऐसा है कि ‘अपूर्व आत्मविचारपूर्वक’ ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका आराधन ही मार्गप्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ

कारण है।

(५४०)



दैहिक दुःख होनेके प्रसंगमें अथवा वैसे दूसरे उदयमें अज्ञानके कारण जीव देहकी शाता बनी रहे वैसी इच्छा करता है, वैसे वर्तता है, जब कि ज्ञानदशामें देह सम्बन्धित दुःख एवं उसके कारणोंमें विषमता नहीं होती और वैसा दुःख हटानेके लिये इतनी सावधानी / दरकार भी नहीं होती, जो कि सामान्यतः संसारी जीवोंको रहा करती है। देहसे भिन्न ज्ञानमय आत्माकी ज्ञानदशाका स्पष्ट वर्णन कृपालुदेवने पत्रांक - ४६८में किया है। जिसमें उनकी स्वानुभव दशा प्रगट दिखाई देती है।

(५४१)



जगतके विभिन्न विषयों एवं कार्यों छोड़कर तत्त्वश्रवण करनेवालेको तत्त्वरुचि उत्पन्न हुई है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु आत्मतत्त्वकी वास्तविक रुचिके आगे उक्त रुचि जैसे 'कुछ है ही नहीं' - वैसा सच्ची आत्मरुचिका स्वरूप है। जिसके कारण स्वरूप प्रतिका जोर रहा करता है। और बेमतलबके, किसी दूसरे-दूसरेके या अप्रयोजनभूत वस्तुओंके विकल्प आते ही नहीं हैं। स्वरूपका चिंतवन / विकल्प सहज होता है, फिर भी उसकी मुख्यता नहीं होती। इस प्रकारकी रुचिवाला मुमुक्षुजीव आगे बढ़ता है, दूसरा नहीं।

(५४२)



'ज्ञानमात्र' भाव पवित्र है - राग स्वयं मलिन है। दोनों भावोंका स्वरूप जिसको प्रत्यक्ष है, वैसे ज्ञानीको किसी भी क्षण रागमें अपनत्व नहीं होता। जब मलिनभावकी मलिनता अनुभवमें आ रही हो तब वह कैसे रुचे ? जिसमें दुःख प्रत्यक्ष अनुभवमें आता हो वह कैसे रुचे ? निरुपाधिक स्वरूपको रागकी उपाधि कैसे बर्दाश्त हो ? आँखमें कणिका जैसे चुभती है, वैसे ज्ञानीको राग चुभता हो, उसमें रस कैसे आ सकता है ?

(५४३)



'ज्ञानमात्र'के वेदनसे, प्रत्यक्ष तौरसे स्वयंकी हयातिका - अस्तित्वका ग्रहण करने योग्य है। अनादिसे रागमें - परमें हयातिका ग्रहण-वेदन हो रहा है, वह मिथ्याभाव है। अतः सिर्फ परोक्ष विचारमें आत्माका विचार हो - उसमें आत्मजागृतिका प्रकार शुरु नहीं होता है, परन्तु प्रत्यक्षअंश द्वारा स्वरूपको प्रत्यक्ष करके (प्रत्यक्ष तौरसे) जागृति आने पर स्वरूप ग्रहण होता है। अतः उस प्रकारका प्रयत्न-अभ्यास होना चाहिये। विचार बाह्यप्रवृत्ति है, जिसमें वस्तुको पकड़नेका सामर्थ्य ही नहीं है। यहाँ जो बताई वह अंदरकी लाईन है। दो लाईन उक्त प्रकारसे अलग पड़ती हैं।

(५४४)

सामान्यरूपसे एक समयकी पर्यायसे त्रिकाली वस्तु अनन्तगुण महान है, ऐसा समझमें आता है। फिर भी जो एक समयकी पर्याय त्रिकालीको, एक समयमें ग्रासीभूत कर जाती है, उसकी अद्भुतता क्या आश्चर्यकारी नहीं है !!? आहाहा...! वाह रे पर्याय ! तेरा सामर्थ्य भी अचिंत्य है; अगम-निगमके तेरे खेलको देखते हुए देखनेवाला थम जाये ऐसा है। (५४५)



आत्मामें प्रति समय उत्पाद-व्यय स्वतंत्ररूपसे चल रहे हैं। वह प्रगट पर्याय स्वयंके मूल स्वरूपको भूलकर परमें 'अहम्' भाव करती है, जो असम्यक् है; जब कि अगर खुदके त्रिकाली असल स्वरूपमें 'अहम्' भावसे परिणमन करें तो सम्यक्त्व प्रगट होवे। यहाँ पर पर्याय भावसे 'स्वाकार - त्रिकाली स्वरूपाकार' भावरूप होने पर भी पर्यायत्वका त्याग नहीं होता है। अतः उस अपेक्षासे निरालंब भी है। त्रिकाली स्वभावमें 'अहम्' भावकी अपेक्षा वह स्वभावावलंबी भी कही जाती है। (५४६)



“दृष्टिके निर्णयमें पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है।” पू. सोगानीजी (द्रव्यदृष्टिप्रकाश : ४८०)
उक्त वचनामृत जो दृष्टिके विषयभूत पदार्थका यथार्थ निर्णय है, उसका महत्व / मूल्य दर्शाता है। जो यथार्थ है। यह निर्णय स्वरूप संस्कार डलनेका कारण होनेसे - आत्माको समाधि होनेके लिये, स्वरूपमें स्थिति होनेके लिये अपूर्व आधार है। अर्थात् सिद्धपद उसके गर्भमें आ जाता है - ऐसी वस्तुस्थिति है।

जब तक ऐसा बीजज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तब तक अनादिका परलक्ष नहीं मिटता। 'बीजज्ञान'की उत्पत्तिसे स्वलक्ष बंधता है, तबसे सभी प्रवृत्ति स्वरूपलक्षपूर्वक होती है, इसके पहले सभी प्रवृत्ति बिना लक्षके बाणकी तरह निरर्थक होती है। अर्थात् बाह्य दृष्टिसे होनेवाली सभी प्रवृत्ति बाहर ही बाहर होनेवाले परिणामवाली होती है, जिससे कोई आत्मलाभ नहीं होता है। वह सब पूर्वानुपूर्व चलता रहता है। यहाँसे अंतर क्रिया शुरू होकर अपूर्वता प्रगट होती है। (५४७)



समस्त संसार दुःखके कारण आर्त है। उसमें भी रोग, जरा, मरणादि प्रसंगोंमें जीवकी पराधीनता, अशरणता, असहायता प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हो रही है। विशेष विचार करने पर केवल क्लेश व शोक स्वरूप यह संसार है, उसमें सुखी होनेकी जीवको आस्था है, जिसको छोड़े बिना आत्मस्वभावको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिन्होंने वैसी आस्था छोड़ी है, वे ही आत्मस्वभावको प्राप्त हुए हैं। मोहवशात् जीवको इस दिशामें विचार उत्पन्न नहीं होता।

इससे कोई दुःखसे मुक्त हो जायेगा सो बात नहीं बनेगी।

(५४८)



विचारवान जीवको स्वभाव-लाभका विचार करके स्वभाव सन्मुखताका प्रयास अथवा उसकी दृढ़ इच्छा कर्तव्य है। स्वभाव सत् रूप है अथवा परम आनंद स्वरूप है, वैसा दृढ़ हुए बिना, जीवको पर-अभिलाषाके परिणाम विरामको प्राप्त हो जाय, ऐसा बनना असंभवित है। जब कि स्वभावसुख - उस रूप सुधारसका आकर्षण, जगतके किसी भी प्रसंग सम्बन्धित हर्ष-विषादको मिटाता है, देह छूटने तकके प्रसंगकी गौणता आती है। यह यथार्थ भूमिका है। (५४९)



अनंत सुख और अनंत ज्ञान ऐसे निज सामर्थ्यकी 'स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति' अर्थात् वर्तमान वेदनकी प्रत्यक्षताके आधारसे निश्चय हुए बिना निज स्वरूपका लक्ष नहीं होता और लक्ष बांधे बिना, लक्ष विहीन सभी प्रवृत्ति व्यर्थ ही जाये, यह सहज ही समझमें आये ऐसा है। अतः सत्पुरुषके योगमें यह बीजज्ञान "ज्ञानमात्र" भावसे प्राप्त करने योग्य है; अन्यथा अनन्तकालमें दुर्लभ ऐसी ये मनुष्य पर्याय संसारार्थ ही व्यतीत होकर संसारवृद्धिका निमित्त होनेका संभव है।

(५५०)



आत्मारूप अनुभव करने योग्य वचनामृत : 'सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।' -श्रीमद्गी - ८३२

आत्मभावना :

"सर्वसे सर्व प्रकारसे मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुख स्वरूपमात्र एकांत शुद्ध निर्विकल्प, अनुभवरूप मैं हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प, शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध, परमशांत चैतन्य हूँ।" - श्रीमद्गी - ८३३

(५५१)



जिन महात्माको एक विकल्प भी फाँसी लगती हो, उन्हें विकल्पका काल लंबा कैसे हो सकता है ?

'ज्ञानमात्र' लक्षण है, 'ज्ञानमात्र' स्वभाव है और स्वसंवेदनमें भी खुद 'ज्ञानमात्र' रूप ही है। इसलिये लक्षणसे - प्रत्यक्ष अंशसे, अनंत प्रत्यक्ष स्वभावका लक्ष होने पर स्वभावत्वका भाव आविर्भाव होकर सहज स्वसंवेदन उत्पन्न होता है, वह आत्मज्ञान है, वही आत्मध्यान है। वह बारह अंगका सार, अविकार 'समयसार' है, जिसकी उपासना कर्तव्य है। (५५२)



विचारबलसे मुमुक्षुजीवको भविष्यकी चिंताका त्याग करने योग्य है। लोकसंज्ञासे, लोकलज्जाके भयसे, जब तक भविष्यकी चिंता रहा करती है तब तक परमार्थकी प्राप्ति होना असंभवित है। और अगर ऐसा होता रहे तो अमूल्य मनुष्य आयु व्यर्थ गवाँना हो जाय, इतना ही नहीं आगामी भवोंमें महा आपत्तियाँ आ पड़े। ऐसा नहीं हो इसके लिये वारंवार विचार कर्त्तव्य है। यथार्थ बोध होनेके लिये यह अति आवश्यक है। इस जगह पर भूल नहीं हो इसके लिये गंभीर उपयोग रखना योग्य है। कुटुम्बका ममत्व रखकर मुमुक्षु ऐसी भूल नहीं करता बल्कि 'आत्म-विचार'को मुख्य करता है। (५५३)



सर्वत्र मुख्यता होनेका कारण, प्रयोजनका भासित होना वह है। ज्ञान सामान्य सर्व समाधानरूप तथा सुखरूप है। अतः निरंतर प्रत्यक्ष ऐसे इस ज्ञानकी मुख्यता रहे वैसा पुरुषार्थ कर्त्तव्य है - निश्चितरूपसे कर्त्तव्य है। इस प्रगट लक्षणसे - वेदनसे स्वभाव आविर्भूत हो यही एकमात्र कर्त्तव्य है। इस प्रकार ज्ञानभावमें रहने योग्य है। रहनेका अभ्यास होना आवश्यक है। ज्ञान मूल / वास्तविक दशा है जब कि उदयभावरूप स्वप्नदशा है। (५५४)



मुमुक्षुकी भूमिकामें परिपक्वता और अपरिपक्वताके दो भेद होनेसे, मतमतांतरके विषयको अति नाजुक समझने जैसा है। आत्मार्थ जिसको मुख्य है, उसको आत्मार्थके कारण सत्यका ग्रहण निर्दोषताके हेतुपूर्वक करने पर प्रायः 'मत'का आग्रह नहीं होता है, तथापि अन्यमतका पक्ष भी नहीं होता है। यह भेदरेखा सूक्ष्म होनेके बावजूद भी आत्मार्थी जीव आत्मार्थताके कारण भूल करते हुए अटक जाता है अथवा बच जाता है। जब कि आत्मार्थकी न्यूनतामें 'मत'का जोर, 'सत्यका आग्रही'- होनेके बहाने बढ़ जाता है, तब वह अनेक प्रकारसे नुकसान और संकुचितताका कारण बन जाता है। अतः मुमुक्षुजीवको बोध ग्रहण करनेकी मुख्य वृत्तिका सेवन करना योग्य है, परन्तु बोध देनेके स्थानमें बैठना उसके लिये हितावह नहीं है। परिपक्व मुमुक्षुता आने पर अभिप्राय स्वच्छरूपसे व्यक्त हो सकता है और तभी 'सत्' की हानि नहीं होती है। जहाँ सत्की हानि है वहाँ 'मत' है और जहाँ 'मत' है वहाँ 'सत्' नहीं है - यह लक्षमें रखने योग्य है। मतार्थ उत्पन्न होने पर आत्मार्थकी हानि होती है। तथापि असत्को सम्मत करनेसे / अनुमोदन करनेसे गृहीत मिथ्यात्वका प्रसंग आता है। अतः दोनों प्रकारके दोषोंसे बचनेके लिये सूक्ष्म प्रयोजनकी दृष्टि आवश्यक है। (५५५)



अगस्त - १९९०

'ज्ञान' अर्थात् ज्ञानका 'ज्ञानमात्र' पना प्रगट है। ज्ञानको ज्ञानमात्ररूपसे देखनेका दृष्टिकोण साध्य करके देखनेसे वह प्रगट जाननेमें आता है। वैसा दृष्टिकोण साध्य करनेके लिये ज्ञानसामान्यको लक्षमें लेना आवश्यक है। ज्ञानसामान्यको लक्षमें लेनेसे ज्ञानकी ऋद्धियाँ जाननेमें आती है। और इससे 'स्वभाव'की महिमा जागृत होती है। तथाप्रकारसे महिमा जागृत होनेमें ज्ञानकी निराकुलता, निर्लेपता, सातत्य अर्थात् शाश्वतता, के कारण अमिश्रितपना अर्थात् शुद्धता और अव्याबाधत्व आदि भाव अनन्त सामर्थ्यरूपसे स्पष्ट भास्यमान होते हैं। जिसके कारण निःशंकता, निर्भयता आदि गुण आत्मबल सहित सहजरूपसे प्रगट हो वैसी स्थिति पैदा होती है।

(५५६)



ज्ञानाभ्यास दो प्रकारसे है। एक सत्श्रुतका श्रवण / अध्ययन, और दूसरा ज्ञानको स्वसन्मुख करनेका प्रयास करना वह। दोनोंका प्रयोजन स्वरूपमें जम जाना वह है, उतना ही मात्र है। ॐ शांति।

(५५७)



जिन्होंने अबद्धस्पष्ट शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव किया है, और जिसके कारण जिन्हें कुछ प्रिय नहीं है और अप्रिय भी नहीं है, जिनके लिये कोई शत्रु (विरोधी) नहीं है और जिनका कोई मित्र भी नहीं है, जिनको मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि द्वंद्वका अभाव हो चुका है, उन परम पुरुषोंका अलौकिक / उत्कृष्ट पुरुषार्थ - पराक्रम, अद्भुत स्वरूप-स्थिति, परम प्रेमसे वंदनीय है। उन्हें त्रियोगसे त्रिकाल नमस्कार हो !!

(५५८)



ज्ञानीपुरुषके परिचयसे वे (संसारसे) तिरते हुए पुरुष मालूम पड़ते हैं। उनकी अंतर परिणति संसारसे भिन्न चलती हुई दिखाई देती है; और परमतत्त्वके साथ उस परिणतिकी अभेदता होनेसे तदाकार अर्थात् परमात्मपद-आकारका प्रगट दर्शन वहाँ पर होता है, और उस वजहसे अपूर्व महिमा उत्पन्न होकर परमेश्वरबुद्धि (परमेश्वरवत् उपकारी मालूम होनेसे) हो आती है, तब ज्ञानीपुरुषकी पहचान हुई है, ऐसा मान्य करने योग्य है। इसके पहले ज्ञानीको मानना ओघसंज्ञापूर्वक होता है। अर्पणता, भक्ति आदि भी ओघसंज्ञासे होते हैं लेकिन उससे मार्ग-प्राप्ति नहीं है, जब कि पहचान होने पर अवश्य मार्ग प्राप्ति है।

(५५९)



अनादिसे अज्ञान व मिथ्यात्वके कारण 'पुद्गलमें सुख'की वासनासे जीव वासित है, उस वासनाका जय, स्वरूपमें निवास किये बिना संभवित नहीं है। स्वरूपमें निवास होनेके लिये मनका जय, मनोजयके लिए भेदज्ञानपूर्वक स्वभावका परिचय, स्वभावके परिचय हेतु स्वरूप निश्चय, स्वरूप निश्चय हेतु स्वरूप प्राप्तिकी भावना-रुचि, और उसके लिये पात्रताका होना आवश्यक है। इस प्रकार 'सबका मूल आत्माकी सत्पात्रतामें रहा है।' उसकी वृद्धिका उपाय प्रत्यक्ष सत्पुरुष एवं सत्संगकी पर्युपासनाका सेवन करना वह है। इस प्रकारसे व्यवहारसे परिणामका क्रम है। निश्चयमें निश्चयार्थकी (प्रयोजनकी) अर्थात् आत्मामें अंतर्मुख होकर जुड़नेकी 'योजना'का अपूर्व प्रकार सत्पुरुषके अंतरमें रहा है। जो शब्दगोचर नहीं है बल्कि अनुभवगोचर है। जो प्रत्यक्ष योगमें जागृत चैतन्यकी चेष्टासे लक्ष्य हो सकता है। (५६०)



अविवेकसे या अविचारीपनेसे सत्पुरुषके कोई भी वचन सम्बन्धी हलका विचार या हलका (वचन) कथन हो जाता है, तो वह मुमुक्षु (!) जीवकी अभक्ति है। जो वचन स्वरूपकी पवित्र साधनाभूमिमें से उगे हो, ऐसे वचन मुमुक्षुजीवके लिये हितकारीपनेके कारण अत्यंत भक्ति करने योग्य अथवा होने योग्य है, उसके बजाय अभक्ति हो, वैसा तभी बनता है जब अवश्य ज्ञानीपुरुषके प्रति अविश्वास - अश्रद्धा होती है - ऐसा समझने योग्य है। यह दर्शनमोहकी तीव्रता जनित विराधना / अपराध किसी भी परिस्थितिमें कर्तव्य नहीं है। ऐसे अपराधके फलमें सत्पुरुषका वचनयोग दीर्घकाल पर्यंत प्राप्त नहीं हो वैसी परिस्थिति पैदा हो जाती है। जिसके कारण आत्महितके निमित्तसे अति दूर होना पड़ता है। खुदका ही उपार्जन किया हुआ यह महा अंतराय है। (५६१)



दुरन्त एवं असार ऐसे इस अनादि संसारमें मनुष्यत्वकी प्राप्तिका महत्व बहुत है। और उसमें भी गुणसहित मनुष्यपना होना, उसका मूल्य तो बहुत है। अगर गुणसहित मनुष्यपना हो तो खुदके स्वरूपका निश्चय हो सकता है, वरना मनुष्यपना छूटकर प्रायः अधोगतिमें जीव चला जाता है कि जहाँ पर आत्महितका अवकाश नहीं रहता।

मनुष्यपनेमें गुणग्राही होकर दोषसे बचनेके लिये अल्पभाषी, अल्प परिचयी, अल्प सहचारी होना। अल्प भावना दिखाना, अल्प आवकार देना, अन्यको उपदेश (हो सके वहाँ तक) नहीं देना। इसके अलावा किसी भी प्रवृत्तिमें जुड़नेके पहले इसके फलका विचार कर लेना, जिससे प्रवृत्तिमें से वापिस मुड़नेका प्रसंग उपस्थित न हो। (५६२)



किसी एक शास्त्रमें कही गई बात अगर दूसरे सर्व शास्त्रोंसे विशिष्ट दिखती हो, तो उसे अधिक सम्मत करने जैसी समझनी चाहिये; क्योंकि वैसी बात किसी वीरल जीवके लिए - वीरल जीवको लक्षमें आये वैसी होनेसे कही गई होती है, बाकी दूसरे कथन तो साधारण जीवके लिए होते हैं।

दूसरे शास्त्रकी रचना करते वक्त शास्त्रकर्ताके लक्षमें वह बात थी ही - ऐसा समझने योग्य है। अतः उस प्रकारकी विशिष्ट बातमें शंका अथवा कुतर्क करने जैसा नहीं है। सिर्फ खुदके आत्मकल्याणमें उसकी उपयोगीताका ही विचार कर्तव्य है। (५६३)



आत्महितरूप वास्तविक लक्ष बिना शास्त्रका पठन प्रायः निष्फल होता है और मानसिक बोझ उठाने जैसा होता है, इसलिये परमार्थसे उसकी निरूपयोगीता गिननेमें आयी है, वह यथार्थ है। शास्त्रके अभ्यासी जीवको ऐसे ग्रहण करना योग्य है, परन्तु उसका एकांत करके शास्त्राभ्यासका त्याग करनेवालेको ऐसा विचार कर्तव्य है कि शास्त्र अभ्याससे जिज्ञासु होकर, पात्रताका आना समयांतर पर संभवित है परन्तु (सिर्फ) मूल वस्तुसे अर्थात् परमार्थसे दूर जाना हो उस प्रकारसे शास्त्राभ्यासका निषेध किया गया है। इस प्रकार शास्त्र अभ्यास करनेके विषयमें अनेकांत है। (५६४)



जीवको संसार परिभ्रमणके अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य कारण वह है कि खुद मुक्त होनेके लिये जिस ज्ञान संबंधित खुद अनभिज्ञ होनेसे शंकामें हो, उस ज्ञानका उपदेश करना, खुदके द्वारा प्ररूपित बातकी रक्षा करना अर्थात् उसकी ही सत्यताके बारेमें आग्रह रखकर, उस विषयमें शास्त्र-आधार ढूंढकर मुख्य करना, अंतरमें इसके लिए शंका / चल-विचलपना (निःशंकताका अभाव) होने पर भी, खुदके विषयमें श्रद्धावानको, वही ज्ञान / मार्ग सच्चा है ऐसा ठसाना / उपदेश करना। खुद शंकामें खड़ा हो किंतु निःशंकताका दंभ करना, उससे खुदका महत्त्व स्थापित करना / टिकाये रखना, पूज्यता ग्रहण करना इत्यादि जीवको बहुत परिभ्रमणका कारण है - ऐसी समझ आसन्न भव्यजीवको होती है वरना उक्त प्रकारसे तो अनन्तकालसे जीवों भटक ही रहे हैं। (५६५)



“करना फकीरी, क्या दिलगीरी (?)

सदा मगन मन रहनाजी” - म. कबीरजी

यह वृत्ति / भावना मुमुक्षुजीवको वर्धमान करने योग्य है। अर्थात् व्यवहार चिंताका (उदयभावमें)

रस अंतरसे कम करना - यह मार्गको प्राप्त करनेकी पूर्व भूमिका होनेसे उसको साधन गीनने योग्य है। परमार्थप्राप्तिकी चिंता रहना, वैसे भावकी तीव्रता रहना वह अच्छा लक्षण है। कल्पित अनुकूलताका आकर्षण / स्पृहा, उसकी अधिकता, अत्यंत हानिकारक है। जो जीवको स्वसन्मुख नहीं होने देती। (५६६)



आत्मा वस्तु सहजस्वरूप है और तदाश्रित मार्ग भी सहज है। उस मार्गकी प्राप्ति हेतु एवं - वृद्धि हेतु व्यवहारके विधि - निषेधके परिणाम भी सहज ही होते हैं। उसमें जब तक कृत्रिमता रहती है तब तक सहज स्वरूपके साथ सुसंगता नहीं रहती / नहीं होती है। जैसे कि स्वरूप महिमा स्वरूप लक्षसे सहज उत्पन्न होने योग्य है क्योंकि सहज स्वरूप अनन्त महिमावंत है, परन्तु जैसा है वैसा ही ज्ञानमें आये बिना सिर्फ शास्त्र आज्ञासे महिमा करनेमें, महिमा प्रेरक विचारसे कृत्रिमता पूर्वक महिमा करनेमें आती है जब कि मार्ग वैसा नहीं है। ठीक इसी तरह निषेध भी निश्चय स्वरूपके आदरपूर्वक / उपास्यभावका सद्भाव होनेके लिए सहज होना चाहिये। यद्यपि सहजता उत्पन्न होनेके पहले कृत्रिमता - विपर्याससे बचनेके लिए हो तो भी वह सहजताके लक्षपूर्वक आती है, यदि ऐसा प्रकार हो तो फल स्वरूप लाभ है, वरना पूर्वानुपूर्व हो जाता है। अथवा अहंभाव आदि दूषण उत्पन्न होनेकी संभावना खड़ी होती है।

बाह्य निवृत्ति-प्रवृत्ति आदि सम्बन्धमें भी उपरोक्त प्रकारसे विवेक कर्तव्य है। (५६७)



जीवको आत्मकल्याण करनेकी इच्छा होती है इसलिये वह अपनी मति अनुसार धर्म-साधन करने लगता है। परन्तु दूसरे कोई भी साधन करनेके पहले आत्मकल्याणके लिए जिनकी आज्ञाका आराधन कर्तव्य है, ऐसे जो मूर्तिमंत आत्मज्ञान स्वरूप, मार्गको प्राप्त, मार्गदृष्टा सत्पुरुष, उनकी खोज करना आवश्यक है और उसके लिए यथायोग्य जिज्ञासामें आना, अनंतकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है इसकी चिंता होना, पूर्वके आग्रह एवं असत्संगको छोड़ना इत्यादि प्रारम्भमें कर्तव्य है। वैराग्य समेत सत्संग योग्यता प्राप्तिका साधन है।

(५६८)



पुराणपुरुष, पुरुषोत्तम परमात्माकी प्राप्ति हेतु कुछ देना नहीं पड़ता, सिवाय कि शुद्ध अंतःकरणसे उसकी प्राप्तिकी भावना अथवा उसके प्रति अचल प्रेम। अचल प्रेमसे ग्राहक होनेवालेको वह निरंजनदेव केवल निर्विकार होने पर भी, पराभक्तिके वश होते हैं। ऐसा सभी

अनुभवी महात्माओंका अनुभव है। विश्वकी सर्वोकृष्ट वस्तुकी प्राप्ति बदलेमें कुछ भी दूसरी वस्तुको दिये बिना ही है, यह परमात्माकी कैसी निष्कारण कृपा / अनुग्रह है !! ऐसी मार्गकी श्रेणी अनन्त सरल होनेके बावजूद भी, अरेरे ! मोह भूलाता है ! ये भी विधिकी विचित्रताकी परकाष्ठा ही नहीं तो और क्या है ? (५६९)



‘कलियुगमें असत्संगसे और नासमझीसे भूलभरे रास्ते पर न जाया जाये, ऐसा होना बहुत मुश्किल है’ (श्रीमद्गी - २५७)

जगतमें बहुतसे मनुष्य अति बुद्धिमान होते हुए भी वास्तविक सुख उनकी दृष्टिमें नहीं आता है, नहीं आया है; और इसीलिए मोक्षमार्गकी दुर्लभता प्रसिद्ध है। सारा जगत जिसके लिये व्यर्थ प्रयत्नमें लगा है, उस परम प्रयोजनभूत विषयमें ही भूला हुआ है। इतना ही नहीं उस विषयमें जगत विपरीत मार्ग पर है। अर्थात् सुखके बदले दुःख प्राप्तिके उपायका सेवन करता है। अतः ऐसा स्पष्ट होता है कि यह विषय सिर्फ बुद्धिमत्ताका नहीं है बल्कि निर्मल मतिका है। वैसी निर्मल मतिके धारक ज्ञानियोंको सर्वत्र मोक्ष है। यह बात कितनी सुंदर है !! (५७०)



निर्विकल्प फिर भी दिव्य देदीप्यमान स्वरूपके चारों तरफ विकल्पकी जाल स्वरूपको आच्छादित करती है, वेदनसे दुःखरूप है और विसंगत है। एकत्वभावसे उलझन - मूढता इत्यादि उत्पन्न होते हैं और स्वरूपको भूलाते हैं। अतः अंतर्मुख निर्विकल्प परिणाम आदरणीय है। जो कि शांत, सुखरूप, उपशमरसमय एवं स्वरूपके साथ सुसंगत है। (५७१)



किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी आत्माको किंचित्मात्र अपेक्षा कर्तव्य नहीं है। संपूर्ण जगतके प्रति परम उदासीनता रखना योग्य है। अपेक्षा भाव होनेसे आत्मा विभावको भजता है। जिन महात्माओंके लिए सारा जगत तृणवत् है, उनके चरण कमलका ध्यान करते हैं। आश्चर्यकी प्रतिमारूप ऐसे महात्माके योगमें संपूर्ण श्रेय रहा है। उनकी विद्यमानताके बिना जगतके त्रिविध ताप, भय, आदि दुःखोंको मिटानेके लिए कोई समर्थ नहीं है। ऐसे अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न होने पर भी, जिनको कोई आडंबर नहीं है, वैसे परम शांत संतको वारंवार नमस्कार हो !! (५७२)



जिस मिथ्यात्व मोहनीसे रौव रौव नरककी प्रतिकूलताको महात्माओंने सम्मत की है, उस

मिथ्यात्वका त्याग करनेके लिए मुमुक्षुजीवको ऐसी कौनसी प्रतिकूलता है जिसकी मुख्यता करके अटकने जैसा है ? इसका अति गंभीरभावसे विचार करने योग्य है। 'अल्प भी भय रखना नहीं, भविष्यके एक पलकी भी चिंता करनी नहीं' - ऐसी सत्पुरुषकी आज्ञा जयवंत वर्तो ! आत्महितके वीर्योल्लासके कारण सारा जगत और भविष्यकी तमाम जिम्मेदारियाँ (?) का विस्मरण जब रहता है तभी सच्ची मुमुक्षुता प्रगट होती है और तभी सन्मार्गका प्रतिबंध मिटता है।

(५७३)



यदि सत्पुरुषकी पहचानपूर्वक दृढ निश्चय हुआ तो उदयप्रसंगोंमें नीरसता आयेगी और स्वरूपनिश्चय होगा, जिससे आकुलता मिटती है और निःशंकता आनेसे जीव सर्व प्रकारके भयसे / दुःखसे निर्भय होता है। पुरुषार्थका प्रतिबंध दूर होकर, सुखसागरमें निमग्न हुआ जाता है। दुरंत एवं दुष्कर ऐसे इस संसारको तिरनेका यह क्रम / उपाय है।

(५७४)



'सत्की सँभाल लेते हुए, 'सत्की जागृतिमें, जगतकी विस्मृति हो जाना, यह योगीका / संतका लक्षण है।' फिर किसीका ममत्व नहीं रहता और इसलिये आकुलता और भय भी नहीं होते। ये कलियुग है इसलिये परमार्थका स्थान अनेक प्रकारके अनर्थाने ले लिया है। विचित्रता एवं विषमताका पार नहीं है। इस प्रकार उलझनमें आ जाये ऐसी परिस्थिति होने पर भी जो उलझनमें नहीं आते हैं वे धन्य हैं, भक्ति करने योग्य हैं। उन्हें नमस्कार हो !!

(५७५)



मूर्तिमान मोक्ष ऐसे सत्पुरुषके प्रति सम्यक् प्रकारसे अखण्ड विश्वास रखने योग्य है। मुमुक्षुजीवको क्वचित् प्राप्त विश्वास खंडित हो जाता है, तब निश्चितरूपसे अभक्तिके परिणाम हो जाते हैं, जो कि संसारका कारण है; क्योंकि उक्त अखंडित विश्वासका फल अवश्य मोक्ष है। जिसको उक्त प्रकारसे विश्वासयुक्तपना नहीं हो, फिर भी पूर्वपुण्य के योगसे समागम प्राप्त हुआ हो उसको उनके कोई प्रसंगमें या कोई वचनमें नकार आता है। जब कि यथार्थ पहचान होने पर ऐसा दोष नहीं होता है। सत्पुरुषके लिये अपने समान कल्पना होने पर ऐसा दोष उत्पन्न होता है।

(५७६)



आत्मार्थी जीव जब सत्संगमें रहते हुए खुदके दोष टालनेके प्रयोजनसे, अत्यंत सरल परिणामसे अर्थात् अंतःकरणसे खुदके दोषका अभाव करनेकी भावनापूर्वक प्रवर्तन करता है

तब जागृतिपूर्वक खुदके भावोंका अवलोकन होता है, अल्पदोषका भी खेद रहता है, दूसरेके अल्प गुणका भी प्रमोद आता है, तब 'सत्' जाननेमें आता है और फिर अगर सत्पुरुषका योग बनता है तो उसको उनकी पहचान होती है, यानी कि सत्पुरुषके अपूर्वगुण दृष्टि गोचर होते हैं और तब व्यवहारिक कल्पना मिटती है। अतः उक्त प्रकारसे पक्षरहित होकर सत्संग कर्तव्य है। खुदके दोषका बचाव तो हरगिज नहीं करना चाहिये। (५७७)



बहुतसे ज्ञानीपुरुष होते हैं, उसमेंसे कोई-कोई ज्ञानीपुरुषकी ज्ञानदशा तीव्र होती है, उसका स्वरूप ऐसा है कि उदयप्रसंगमें उनकी चित्तस्थिति उदासीन, अत्यंत उदासीन रहा करती है। वह इस प्रकारसे कि क्षणभरके लिये भी चित्त उदय प्रवृत्तिमें टिक नहीं सकता। जिसके कारण वैसे महात्माओं सहजभावसे सर्वसंग परित्याग करके अप्रतिबद्धतासे विचरते हैं। अखण्डरूपसे आत्मध्यान रहनेमें, जो गुरु आदिका संग है वह असंगतामें समाता है। पूर्ण वीतरागताको अंतरसे तीव्रतासे भाते रहना, ऐसा पुरुषार्थकी उग्रताका स्वरूप यहाँ पर है। उसका वारंवार अवलोकन, वैसा होनेमें कारण है। धन्य है ऐसी विदेही दशा ! (५७८)



अनन्तकालसे अप्राप्त ऐसा ज्ञान कि जो भवांत होनेका कारण है, वह ज्ञान स्वरूपसे तो अत्यंत सुगम है (क्योंकि तिर्यचको भी इसकी प्राप्ति होती है।) दुर्लभ होने पर भी (इसलिए क्योंकि किसीको ही प्राप्ति होती है) अत्यंत सरल भी है। अरे ! अत्यंत सरलता वह इसका रूप है। परन्तु सुगमतासे प्राप्त होनेके लिए जो दशा होनी चाहिये, उस (सुपात्र) दशाकी प्राप्ति होना बहुत कठिन है। क्योंकि पूर्वकर्म, वर्तमान हीन दशा, मार्गसे अनजानपना इत्यादि परिस्थितिमें जीवने अनन्तकाल पसार किया है। इसके अलावा श्री सत्संग व श्री सत्पुरुषकी दुर्लभता भी सर्व कालमें रही है फिर भी यदि जीवको छूटनेका एकमात्र लक्ष हो तो सहजमात्रमें पात्रता प्रगट होती है और मार्गकी सुगमता हो जाती है। (५७९)



'जिस प्रकारसे जीवको (उदयमें) ममत्व विशेष हुआ करता हो अथवा बढ़ा करता हो उस प्रकारसे यथासम्भव संकोच करते रहना, यह सत्संगमें भी फल देनेवाली बात है।' - श्रीमद्जी पत्रांक - ३४५

स्वयं 'ज्ञानमात्र' होनेसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार 'चलती हुई' ज्ञान अवस्थाका अनुसरण करके, मात्रज्ञानमें - ज्ञानसामान्यमें 'मैं-पना' स्वयंका अवलोकन करना। ऊपर कही वैसी 'ज्ञान' - भावना वही आत्मभावना है। जिससे सत्संग सफल होता है। सर्व समाधान होता है। उपदेशबोध

व सिद्धांतबोधकी यह सुसंगतता है। आराधनाका यह संक्षेप है। जो सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें सुलभ है। (५८०)



सितम्बर - १९९०

लोकभावना और लोक सहवासरूप जो लोकसंज्ञा है, वह भाव जीवको भवरूप होता है, अतः भव निवृत्तिकी अभिलाषावान जीवको लोकभावनाको कम करनेके लिए अथवा नाश होनेके लिए सुदीर्घकाल पर्यंत सत्संगका सेवन करना - यह सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है, जिसका आत्मार्थी जीवको परम भावसे आदर कर्तव्य है, सत्कार करने योग्य है। आत्मकल्याण करनेकी भावना अर्थात् परमार्थ भावनाको यह लोकभावना आवरणकर्ता है। जिसके कारण परमार्थ भावनाकी परिणति उल्लसित नहीं हो सकती बल्कि जो मंद अर्थात् साधारण आत्मकल्याणकी भावना होती है उसकी निष्फलता होती है। इसप्रकार भवभ्रमण नहीं मिटनेका प्रकार चालू रहता है। (५८१)



मुमुक्षुकी भूमिकामें जीवको आत्महितकी भावनाको बाधा पहुँचानेवाले प्रसंग भी आते हैं, तब वैसे प्रसंगमें 'सद्उपयोगपूर्वक' विचार सहित प्रवर्तन करनेकी इच्छा रखना। 'सद्उपयोग' का मतलब जिसके फलमें आत्म-अहित न हो वैसी सावधानी रखना। और वैसा पुरुषार्थ जितना भी हो सके, उसके लिए दृढ़ता रखनी चाहिये। इस प्रकारसे प्रवर्तन करते वक्त 'अनन्तकालमें जो प्राप्त नहीं हुआ है उसको प्राप्त करना है', यह लक्षमें रहना जरूरी है। उसको प्राप्त करनेमें थोड़ा समय ज्यादा लग जाय उसमें इतनी हानि नहीं है परन्तु जिसकी प्राप्ति करनी है, उस विषयमें अगर भ्रान्ति हो गई या भूल हो गई तो उसमें बहुत हानि है। इसलिए सत्पुरुषके आश्रयमें / आज्ञामें रहते हुए, और अगर प्रत्यक्षका वियोग हो तो उसमें कल्याणका भी वियोग है, ऐसा समझकर समागमके लिए चित्त रहता हो तब तो हानि नहीं होगी, सत्पुरुषका स्वरूप भास्यमान हुआ हो तब तो हानि नहीं होगी बल्कि अनुक्रमसे हित साधता है। (५८२)



ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि किसी भी क्रिया संबंधी ज्ञानीपुरुषका मार्गदर्शन आत्मार्थी जीवके लिए परम फलका कारण है। - ऐसा निश्चय होना चाहिये - दृढ़ निश्चय उस प्रकारसे होना चाहिये, कि जिससे ज्ञानीपुरुषका वचन शिरोधार्य होनेमें पीछेसे भी बुद्धि मचक नहीं खा जाय। लोकसंज्ञाके कारण भी उन वचनोंकी गौणता नहीं हो। शास्त्रसंज्ञासे भी उन वचनोंके

प्रति शिथिलता नहीं आ जाय। अगर लोकसंज्ञा या शास्त्रसंज्ञा संबंधित कोई विकल्प हो तो भी वह निश्चयसे भ्रान्ति है - ऐसा लक्षमें रहे, वैसी धीरजसे ज्ञानीपुरुषकी वचनरूप आज्ञाका अवधारण करने योग्य है। वैसी योग्यता प्राप्त होने पर ज्ञानीपुरुष द्वारा मार्गका रहस्य संप्राप्त होता है। जिसका फल - परम फल है। ऐसा सत्पुरुषोंका परम निश्चय है। (५८३)



जिस भावसे संसारकी उत्पत्ति होती है वैसा भाव ज्ञानीपुरुषमेंसे निवृत्त हो चुका है, फिर भी ज्ञानी (पूर्वकर्मके कारण या अन्य पात्र जीवोंके प्रति अनुकम्पाके कारण) प्रवृत्तिमें देखनेमें आते हैं, वहाँ प्राप्त स्थितिमें अविषमतासे वर्तते हैं। ऐसे ज्ञानी भी सत्समागममें खुदका निवास चाहते हैं; और दूसरी दुनियावी प्रवृत्तिसे निवृत्तिको चाहते हैं; वैसे ज्ञानीके चरणारविदमें वारंवार नमस्कार हो !

प्रगट मूर्तिमंत 'सत्' ऐसे जो ज्ञानी, उनके आश्रयमें जो केवल 'निस्पृह भावसे' वर्तता है, वह निकटपने अवश्य कल्याणको प्राप्त होता है, यह निःसंदेह है। ऊपर जो 'निस्पृह भावसे' ऐसा लिखा है उसमें अन्य, सिर्फ जानकारीके - अप्रयोजनभूत विषयके प्रति 'उदासीन भाव'-उस अर्थमें समझने योग्य है। (५८४)



जैसे परम सुखधाम ऐसे आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके बाद अनन्तकालका याचकपना मिट करके सर्वकालके लिए अयाचकपना प्राप्त होता है; वैसे ही मुमुक्षुजीवको सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ऐसा ही भासित होता है, कि 'परिपूर्ण मोक्षदाता अब मुझे प्राप्त है, इसलिए मोक्षपदकी भी चिंता नहीं है।' ऐसे तरणतारण पुरुषके चरणकमलका ध्यान करते हैं, परम प्रेमसे ध्यान करते हैं। क्योंकि 'मोक्षसे भी मुक्तिका दान देनेवाले दुर्लभ हैं।' - यह बात परम सत्य है।

(५८५)



सत्संगकी रुचि होने पर, असत्संगकी अरुचि होना सहज है। फिर भी यदि असत्संगमें रहना पड़ता हो, जब वैसा प्रसंग प्राप्त हो तब उसमें उदासीनता सहज रहने पर ही ज्ञानको आवरण नहीं आता। अतः मुमुक्षुजीवको जागृत रहकर असत्संगमें नीरस / उदास रहना योग्य है, तो ही 'सत्ज्ञान' की प्राप्ति होगी अथवा समझमें आयेगी। अन्यथा जो बोध सिर्फ धारणामें रहता है उसको तो बहुत प्रकारके अंतराय होते हैं। सामान्य रुचिवान मुमुक्षुको ऐसा असमाधान हो आता है, कि बहुत दीर्घकाल पर्यंत सत्संगमें रहनेके बावजूद भी ज्ञान क्यों प्रगट नहीं हो रहा है ? परन्तु यथायोग्य जागृतिके अभावमें 'असत्संगमें उदासीनता नहीं रहना' - उस

प्रकारमें प्रवर्तन रहा करता होनेसे अंतरंग अंतराय-कारण खुदको समझमें नहीं आता है। अतः ऐसा निश्चय कर्तव्य है कि जगत और मोक्षका मार्ग - वे दोनों एक नहीं है। (५८६)



'सत्'स्वरूप स्वयं ही है। स्वयं अपने आपसे (द्रव्यसे, क्षेत्रसे) ज़रा भी दूर नहीं है, फिर भी उसकी प्राप्ति होनेमें - भावसे अनुभव होनेमें अनेक अंतराय रहे हैं, जो खुदकी दशामें प्रगट होते रहते हैं, फिर भी प्राप्तिके लक्षपूर्वक अंतर अवलोकन नहीं होनेसे, उस अंतरायरूप आवरणके कारण 'सत्' आवरित रहता है, वह किस प्रकारसे ? वह खुदके देखनेमें नहीं आते हैं और इसप्रकारके उपायसे अनजान होनेसे जीव रूढ़िगत बाह्य प्रवृत्तिमें 'सत्'की प्राप्ति हेतु मिथ्या प्रयास करता है। जो कि स्वयं आवरण रूप है। अतः 'सत्'का श्रवण, मनन, गवेषणा कर्तव्य है। (५८७)



जब आत्मकल्याणकी अपूर्व भावना होती है तब आत्मार्थीजीवकी विचारज्ञानकी दशा विक्षेप रहित होती है और आत्मकल्याणके उपायरूप धर्ममें परिणाम निश्चल होते हैं।

व्यवहार प्रसंगमें चिंताके कारण, चारों ओरसे चिंता उत्पन्न हो ऐसे कारणोंको देखते हुए भी निर्भयता रहे, उसके प्रति उदासीन होकर एक लक्षसे, एक ध्येयरूप रखकर, एक लयसे, अविस्मरणरूपसे, चढ़ती श्रेणीके भावसे, अत्यंत प्रयोजनभूत भासित होनेसे सावधानीसे, सर्व अन्य वृत्तिके प्रतिके रागको मिटाकर, ज्ञानीपुरुषके आत्म-श्रेयकी पद्धति सूचक वचन / मार्गबोधका श्रवण प्राप्त होने पर अपूर्व लाभ होना संभवित है। (५८८)



धर्मात्माके प्रति निष्काम ऐसी भक्ति / प्रेम - वह वास्तवमें धर्मके प्रतिका प्रेम अथवा भक्ति है। अतः ऐसी अत्यंत भक्तिके कारण, भक्तिमानके प्रति भी भक्ति सहज आ जाती है, तब मुमुक्षुजीव समकित सम्बन्धित निर्मलतामें स्थित होता है - अथवा उस भूमिकाके बहुतसे दोषोंसे निवृत्त होनेके योग्य बनता है। ऐसी योग्यता ही ज्ञानप्राप्तिका कारण है, वरना अल्पज्ञानकी भूमिकामें अंतर्मुखताके अनजाने मार्गके प्रति ज्ञानप्रधानतासे जानेमें, स्वरूप सम्बन्धी भ्रांति अथवा स्वच्छंदादि दोषकी प्राप्ति हो जाती है। अतः उक्त प्रकारकी भक्तिका मुमुक्षुजीवको प्रीतिपूर्वक आराधन कर्तव्य है। (५८९)



जिसको दर्शनमोह बलवानरूपसे वर्तता है, वह जीव ज्ञानीसे विमुख होकर उनकी अवज्ञा, अवहेलना, अवर्णवाद करता है। ऐसा होनेका निमित्त / कारण खुदके कारणसे किसी जीवको

प्राप्त नहीं हो इसकी सावधानी मुमुक्षुजीवको रखने योग्य है, जो कि दोनोंके लिए हितकारक है। ज्ञानीपुरुषका अवर्णवाद करना वह जीवको अनन्त संसार बढ़नेका कारण है; जब कि ज्ञानीपुरुषके गुणग्राम करना, उसमें उल्लासित / उमंगी होना (रस आना), उनकी आज्ञामें सरल परिणामसे, परम जागृतिपूर्वक वर्तना - वह अनन्त संसारके नाशका कारण है - ऐसा जिनागम कहते हैं। (श्रीमद्गी - ३९७)

सत्पुरुषके प्रति ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारमें दर्शनमोहनीय भावको तीव्र-मंद होनेका प्रकार है, इसलिए मुमुक्षुजीवको इसे प्रयोजनभूत जानकर लक्षमें लेने योग्य है। (५९०)



परिपूर्ण शुद्धि प्राप्त करनेका 'ध्येय बांधकर' ही मोक्षमार्गकी प्राप्तिका प्रयत्न शुरू करने जैसा है। उक्त ध्येय है इसका लक्षण यह है, कि इसके बाद सर्व प्रकारकी धर्मप्रवृत्तिमें, ध्येय लक्ष्यके स्थानमें रहता है, विस्मृत नहीं होता। अतः जिसके कारण उपदेशबोधका परिणाममें आना सहज ही बनता है। तत् पश्चात् भी पदार्थ-निर्णय होकर, यथार्थ निश्चयका पक्ष होकर, पक्षातिक्रान्त होने तक, कहीं पर भी विपर्यास होकर मार्गकी अप्राप्ति हो ऐसा कुछ भी नहीं बनता। परंतु यदि नीवमें इस प्रकारकी शुरुआत नहीं हुई हो तो स्थूल या सूक्ष्मरूपसे अयथार्थता रह जानेसे मार्गकी अप्राप्ति रहती है अथवा यथार्थरूपसे स्वरूपनिश्चय ही नहीं हो सकता, जो कि मार्गप्राप्तिका कारण है। अतः 'पूर्णताके लक्षसे शुरुआत'का महत्त्व बहुत है।

(५९१)



सर्वोत्कृष्ट महान ऐसे निज परमात्मपदको सर्वथा मुख्य ही रखने योग्य है। ऐसा श्रद्धा-ज्ञानमें बलवानरूपसे रहता होने पर भी, सांसारिक व्यवसायमें उसको अप्रधान रखते हुए प्रवर्तन करना पड़ता है, तब ज्ञानीपुरुषको उसका त्रास वर्तता है; अतः उसप्रकारके व्यवहारसे नित्य छूटनेकी लक्ष्यरूप वृत्ति रहा करती है। जिनके अनुभवमें एक विकल्प भी स्वरूपको फाँसी देनेके बराबर लगता हो उनके पास संसारके कार्योंके अनेक विकल्पकी जाल एवं उसके सम्बन्धित बोज उठवानेकी कठोरता किस कारणसे योग्य है ? इसका विचार करते हुए रोमांच खड़ा होकर हृदय दुःख से आर्त हो उठता है; (कि) हे करुणासागर ! यहाँ पर तेरी अनन्त करुणाका अंत आ गया है क्या ?!!

(५९२)



सर्वश्रेष्ठ ऐसा आत्मध्यान (मोक्षका साक्षात् कारण होनेसे) आत्मज्ञानकी प्राप्तिके सिवा नहीं हो सकता। ऐसा आत्मज्ञान यथार्थ - विपर्यास रहित - समझके बिना नहीं हो सकता। ऐसी

यथार्थ समझ / बोध प्राप्त होनेका मुख्य कारण, बोधस्वरूप ऐसे ज्ञानीपुरुषका आश्रय होना वह है; यद्यपि ज्ञानीपुरुषका संग बहुत बार हुआ है, फिर भी ये पुरुष कोई ज्ञानी है और अब मुझे उनका आश्रय ग्रहण करना यही कर्तव्य है - ऐसा जीवको पहचानपूर्वक लगा नहीं है और इसीलिए परिभ्रमण चालू रहा है। ऐसा भासित होता है।

(श्रीमद्गी - ४१६)

असत्संगमें प्रीति, तद्जनित स्वच्छंदरूपी महादोष - जिसके कारण लोकसंज्ञा, 'मैं भी समझता हूँ' - ऐसा मान, परिग्रहादिकके प्रति ज्ञानीपुरुषसे भी अधिक प्रेम, लोकभय, अपकीर्तिभयके कारण ज्ञानीकी अवहेलना / विमुखता; विनय - भक्तिमें कमी - इत्यादि कारण ज्ञानीकी पहचान होने नहीं देते।

(५९३)



असत्संगके कारण जो सबसे बड़ा नुकसान जीवको होता है, वह ऐसा है कि उस कारणसे सत्पुरुषकी पहचान होना दुष्कर हो जाता है, और प्रायः असत्पुरुषमें प्रतीति आनेसे, जीव वहीं अटक जाता है। इसके अलावा अध्यात्म ग्रंथोंका वांचन, अध्ययन करते हुए उस विषयमें जीव कल्पना कर लेता है। अध्यात्म-वचनोंमें कुछएक विषय बुद्धिगम्य है, इस परसे उस विषयमें बिना भावभासन अनुमान लगाकर निर्धार करना, वह कल्पना अर्थात् अवास्तविकता है, जिसमें विपर्यास रहा है। अध्यात्म विषयमें अनुभवकी प्रधानता है। अतः स्पष्ट अनुभवांशके बिना सिर्फ बौद्धिक स्तरसे / प्रकारसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। अतः आत्माथीको वैसे प्रकारमें नहीं जाना चाहिए, परन्तु अनुभव पद्धतिसे सत्यका ग्रहण करना चाहिए और कथनमात्र अध्यात्म प्राप्त करके, भावसे अध्यात्म तत्त्व-स्वरूपका अवलंबन या अवलंबनका पुरुषार्थ नहीं वर्तता होने पर भी खुदके बारेमें मोक्षमार्गकी कल्पना कर लेता है और वैसी मति कल्पनाके कारण हुई मान्यताका आग्रह हो जानेसे, सत्पुरुषके समागमके प्रसंगमें, उस मान्यताका आग्रह आड़े आकर स्तंभभूत होता है; (परमार्थ ग्रहण होनेमें) उसका खयाल तक जीवको नहीं आता है, जिसके कारण सत्पुरुषकी सभी बातें जीवको सम्मत नहीं होती है, कोई-कोई बात सम्मत होती है परन्तु अनजानेमें कभी उसमें सत्पुरुषके प्रति अभक्ति हो जाती है, जो कि परमार्थके ग्रहणमें बड़ा प्रतिबंध है।

(५९४)



सिद्धांतके ग्रंथ, एवं सिद्धांत आश्रित अध्यात्मका विषय जिसमें प्रतिपादित है वैसे ग्रंथोंका, खुदकी तथाप्रकारकी विशेष योग्यता होनेके पहले सद्गुरुगमसे समझने के बजाय खुदकी कल्पनासे जैसे-तैसे पढ़कर, निर्धार करके, विभावरस मंद हुए बिना (और) अंतरदशा पलटे बिना (परिणति

पलटे बिना) अगर जीव अपने विषयमें 'ज्ञान'की कल्पना करता है, तब वैसे ग्रंथ शस्त्र जैसे घातक हो पड़ते हैं। जिसको निष्क्षपातरूपसे दोष-विभाव भावका भी अवलोकन नहीं हो, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्यात्म तत्त्वको कहाँसे देख सकता है ? अतः विचारवान जीवको यह लक्षमें रखते हुए, ऊपर कहे वैसे प्रकारमें या प्रवाहमें आ नहीं जाये उसकी सावधानी रखकर, सत्पुरुषका योग एवं खुदकी पात्रता प्राप्त करके, सर्व दोष छेद करनेका सत्यमार्ग / सन्मार्गकी प्राप्ति कर्तव्य है। (५९५)



ज्ञानीपुरुषके आश्रयमें आत्मार्थको समझे बिना जीवने अनन्तवार अनेक प्रकारके कल्पित धर्मसाधन किये हैं; परन्तु इससे आत्मकल्याण तो नहीं हुआ उलटा जब-जब जो साधन किया तब-तब पर्यायबुद्धिके कारण उस साधनके कर्तृत्वका दुष्ट अभिमान किया है, जो कि संसारका मुख्य कारण है। इस प्रकारसे चली आ रही भूलको मिटानेके लिए, 'अपूर्वज्ञान' के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। 'अपूर्वज्ञान' अपूर्वविचारके बिना उत्पन्न नहीं होता; अर्थात् आत्महितका अपूर्व भावनासे, अपूर्व जागृत्तिसे वर्तता जो विचार, वह आत्मविचार है और ऐसे प्रकारके कारण उत्पन्न जो 'परिणति' वह जीवको ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा पर चलनेसे होती है। अतः (यदि) ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका आराधन एकनिष्ठा पूर्वक हुआ तो वह सिद्धपदका श्रेष्ठ व सुगम उपाय है। इस तरह सद्गुरुकी आज्ञाका / आज्ञाके अत्यंत अंगीकृतपनेका महत्त्व अपार है।

(५९६)



देह है, वह आत्मा नहीं है और आत्मा है वह देह नहीं है। देहको देखनेवाला - जाननेवाला आत्मा देहसे प्रगट भिन्न है। इस भिन्न देहमें मूर्च्छा होनेके कारण प्रायः जीव उसकी चिंतनामें, आकुलता भोगता हुआ, जीवन गवाँता है।

मुमुक्षुजीवको देहकी चिंतनामें जीवन खर्च करना बिलकुल योग्य नहीं है। सिर्फ स्वरूपका अज्ञान है उसीकी चिंता और भय होना चाहिए; ये महान आत्मा देहकी चिंता करनेके योग्य नहीं है। देहकी वृद्धि-क्षय आदि परिणाम देखकर हर्ष-शोक करना उचित नहीं है। (अरे !) मृत्यु समीप दिखे तब भी ज्ञानके कारण जिन्हें देह सम्बन्धित मूर्च्छा नहीं वर्तती है - उन्हें नमस्कार हो !!

(५९७)



□ वैराग्य एवं उपशम, जिसके निमित्तसे सहज उत्पन्न हो, उस वचन-संग्रहको उपदेशबोध कहते हैं। जिससे कषाय-रस घटता है, दर्शनमोह मंद होता है।

□ वस्तुके स्वरूपज्ञानको प्रकाशित करनेवाले वचनोंको सिद्धांत-बोध कहते हैं। जिसके द्वारा ग्रहण किये हुए उपदेशका स्थितिकरण होता है, वरना उपदेशबोधमें टिक नहीं सकते।

□ आत्मज्ञान और स्वरूपश्रद्धा प्रगट हो, वैसे आत्मश्रेयके पद्धतिसूचक वचनोंको मार्गबोध कहते हैं। जिसके द्वारा मार्गकी विधि (कथंचित् वक्तव्यरूप) व्यक्त होती है।

□ कठोर (बाह्य) तपश्चर्या या योगादि बलवान प्रयोग करने पर भी (उसप्रकारके साधनोंसे बलवान परिश्रम करने पर भी) प्राप्ति नहीं हुई, ऐसे स्वरूपकी सहजमात्रमें प्राप्ति हो, ऐसा उद्देश्य मुख्यरूपसे, प्रगटरूपसे जिन वचनोंमें प्रकाशित हो, उन वचनोंको श्री जिनेन्द्र भगवंतके उद्देश्य वचन कहनेमें आते हैं। (५९८)



अनन्तकालसे जीवने खुदका कल्याण नहीं किया है, इसका कारण यह कि जीवको सच्ची मुमुक्षुता ही नहीं आयी और असत्संगकी उपासना चल रही है; अथवा वासना है; असत्संगमें रहना जो सुहाता है, वह असत्संगकी वासना है; वह जीवको अनादि भ्रांतिका मूल कारण है, और स्वच्छंद जैसे महा भयंकर रोगका उत्पादक है, आत्माके प्रति एवं सत्पुरुषके प्रति अरुचि होनेका कारण भी वही है। तीनों कालमें दुर्लभ ऐसे सत्पुरुषके योगमें बड़ा अंतराय होकर जीवको प्रतिबंध होनेके कारणके मूलमें भी असत्संगकी वासना ही रही है। लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, एवं 'कल्पित ज्ञान' होनेका मूल असत्संगमें रहा है। अतः आत्मार्थी जीवको इस जगह बहुत-बहुत विचार और विवेक करने योग्य है। इस असत्संगसे छूटनेके लिए ज्ञानीकी आज्ञाका अत्यंत अंगीकार होना वह उपाय है। (५९९)



वर्तमानमें जो-जो विषमताएँ वर्तती हैं, उसमें शहरके क्षेत्र अनार्यक्षेत्र जैसे हो गये हैं। पाँचों इन्द्रियके विषयकी इच्छाएँ अत्यंत प्रबलरूपसे प्रज्वलित होती हुई नजरमें आती है। खान-पीन, रहन-सहनमें अत्यंत विवेक शून्यता आ चुकी है। आत्महित करनेकी बुद्धि मानो जैसे बिलकुल नष्ट हो चुकी हो ऐसा प्रत्यक्ष है, व्यवहारमें सरलता तो मानो जैसे परदेश चली गई हो, ऐसा है। ऐसी परिस्थितिमें आत्मार्थी जीवको बचनेका यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र निरंतर सत्संगकी उपासना करना वही है, कि जो संसारमें व्याप्त विषाक्त वातावरणमें समुद्रके बीच रही अमृतकी मीठी वीरडी है। 'मात्र आत्महितके वांछक' जीव भी क्वचित् ही मालूम पड़ते हैं। (६००)



सच्ची मुमुक्षुताके प्रारम्भमें 'मोक्ष अभिलाष' अर्थात् 'पूर्णताका लक्ष' होकर शुरुआत होती

है। जिससे आत्मार्थीके योग्य, उत्कृष्ट पात्रता प्रगट होने पर भी कभी संतुष्ट होनेका सहजरूपसे नहीं बनता। यह प्रकार प्रगट होनेसे पर्यायबुद्धि-दर्शनमोह तीव्र नहीं होता परन्तु मंद होता है।

प्रारम्भमें 'पूर्ण शुद्धिका ध्येयरूप लक्ष' पर्याय विषयक होने पर भी उसके गर्भमें पर्यायबुद्धिके नाश होनेका बीज रहा है। जो इस अलौकिक प्रारम्भका चमत्कार ही है।

ऐसी मुमुक्षुताका प्रगट होना, इसको सिर्फ उदयभावमें गिनना योग्य नहीं है, परन्तु भव्यत्व - पारिणामिकका परिपाक गिनना चाहिये। क्योंकि आत्मार्थी जीवको तब मोक्षकी भनक आती है। तद्उपरांत आसन्न भव्यताके कारण तत्सम्बन्धी निःशंकता वर्तती है। (६०१)



तत्त्वका श्रवण प्रीतिपूर्वक - प्रसन्न चित्तसे करना चाहिये - ऐसी जिनाज्ञा है, वहाँ तत्त्व माने आत्मस्वरूप प्रतिकी रुचिका निर्देश है, परन्तु सिर्फ वाणीके प्रति रागकी बात नहीं है। वाणीके रागसे श्रवण करनेमें स्वरूपकी रुचिका विकास नहीं होता बल्कि पुद्गलकी रुचि हो जाती है, अतः वाचक शब्दोंके या कथन शैलीके रागमें आकर तत्त्वज्ञानका श्रवण नहीं होना चाहिये, परन्तु वाच्यके लक्षसे, वाच्यकी रुचिपूर्वक श्रवण होना चाहिये। (६०२)



खुदसे विशेष गुणवानका संग करना ऐसा - श्रीगुरुका फरमान है; और वैसे सत्संगमें, सरलता, वैराग्य, निखालसतापूर्वक परस्परके गुण-दोषकी चर्चा, परस्पर आत्मीयता, वात्सल्यका प्रेम इत्यादि होना अत्यंत आवश्यक है। इसके बावजूद भी खुदसे हीन योग्यतावाला मुमुक्षु जब संगमें आये अथवा रहे, तब उसके विपर्यास या अयथार्थताका वात्सल्यभावसे निर्देश करके, दूर करनेके हेतुसे प्रवर्तन करना योग्य है, परन्तु अगर अपेक्षाबुद्धिसे संग करके उसका विपर्यास पुष्ट हो उस प्रकारसे रहा गया तो खुदका पतन हुए बिना नहीं रहेगा। अतः 'संग'के मामलेमें अत्यंत गंभीर उपयोगसे प्रवर्तन होना चाहिये। (६०३)



जिसका ऋण अदा नहीं कर सकते, वैसा परमात्मपद जिन्होंने कुछ भी अपेक्षा रखे बिना दिया, सिर्फ करुणाशीलता वश दिया, उनकी सरलता, निस्पृहता इत्यादि गुणोंकी प्रशंसा करनेकी शक्ति नहीं है; फिर भी जिनके वचनसे आत्मस्वरूप सहजमें प्रगट हो, और जिनके गुण स्तवनसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है, ऐसा जानते हुए सत्पुरुषकी पहचान हो इसके लिए मार्गबोध जिन्होंने प्रकाशित किया, उस प्रकार बहुमान, भक्तिका सिर्फ आत्मकल्याणके हेतुसे निरूपण किया, उन सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार

हो !!

(६०४)



(यदि) शास्त्रवांचन करना पड़ता हो तो निष्कामभावसे, निष्काम करुणा - अनुकंपासे होना चाहिये, साथ ही साथ आत्मरस आविर्भूत होगा, तो खुद अपरिणामी रहकर एकांत दूसरेको ही सुनाता हो ऐसा नहीं होगा, वरना मुझे कितना अच्छा पढ़ना - समझाना आता है, मेरी शैली अच्छी है, उस प्रकारके परिणामसे संसारको बढ़ाना हो जाएगा। यहाँ उपरोक्त प्रकारसे जागृति रहनी चाहिये।

(६०५)



जीवको भोग-उपभोगका स्मरण आता है, क्योंकि अभिप्रायमें उसके प्रति सुखबुद्धि अभी गई नहीं, जिसके कारण इसके सम्बन्धी छोटी चिंता भी मिटती नहीं है। यह चिंतना जीवके गले पड़ी है, छूटती नहीं है इसलिए आत्मकल्याणकी चिंता नहीं हो रही है। परमार्थ चिंताका अभाव होना, यह स्थिति करुणाजनक है। मुमुक्षुको परमार्थकी अभिलाषाके आगे वैराग्य, इन्द्रियजय इत्यादि अथवा ममत्व छोड़नेकी कोई भी शर्त कठिन नहीं लगती। यदि कठिन लगती हो तो वह प्रबल विपर्यास है।

(६०६)



आत्मार्थीजीवोंके बीच परस्पर सत्संगका प्रसंग होनेसे, कभी कोई विचारभेद खड़ा हो तो भी मनभेद रखना नहीं चाहिये। अंतरभेद रखे बिना प्रेम एवं वात्सल्यपूर्वक एक साथ मिल जुलकर सत्संग करना चाहिये, ऐसा करने जाये तब अगर प्रकृति जोर करे तो उसको धक्का दे देना; कि यहाँ पर तेरा जोर चलने नहीं दुँगा; अर्थात् तब प्रकृतिको दबाना चाहिये। साधर्मिकी भूल प्रेमसे सुधारना सरल है।

(६०७)



अक्टूबर - १९९०

जिन-प्रभुके दर्शन करते वक्त स्वयंकी विद्यमानतामें जागृत रहते हुए दर्शन करने चाहिये, अथवा स्वयंके भावमें अपने स्वरूपको लक्षमें रखकर, विद्यमानताको जागृत करके दर्शन / नमस्कार करने चाहिये।

(६०८)



शरीरकी शुभा-शुभ क्रिया / प्रवृत्तिके कालमें उपयोगकी प्रवृत्ति उसमें होती है। जिसके कारण खुदको अपनी विद्यमानताके बारेमें अंतराय पड़ता है। अतः जितना हो सके वहाँ तक उपयोगको छूट्टा ही रखनेका सहज पुरुषार्थ / जागृति होनी चाहिये। शरीरमें अपनत्व होनेसे

मिथ्यात्व होता है, जिसमें अनन्त दुःख है जब कि सारे जगतमें कोई उसमें दुःख नहीं मानते हैं, बल्कि उलटा उस प्रकारके ममत्वभावमें सुखकी कल्पना करते हैं - यह महा विपरीतता है। (६०९)



किसीको भी अगर उसके दोषकी बात खुलेआम करनेमें आये तो प्रायः उसके दिलको चोट लगती है। परन्तु खुदका दोष जानकर टालनेके अभिप्रायसे, यदि कोई सुनना चाहता हो, उसको (हितबुद्धिसे) कहनेमें प्रायः संकोच करने योग्य नहीं है, फिर भी उस वक्त सुननेवालेको उपकार भासित होता हो और दोष टालनेका उल्लास वारंवार बढ़ता हो तो ही कहना चाहिये, लेकिन अगर सुनते ही उसका मुँह बिगड़ जाता हो, अर्थात् थोड़ी भी उसके दिलको चोट पहुँचती हो तब तक नहीं कहना चाहिये। (६१०)



यदि खुदको शुद्ध स्वरूपकी बातका सच्चा रस होगा तो खुदके अशुद्धभाव - उस रूप दोष निकालनेकी बातमें - प्रयोजनभूत होनेसे - अवश्य रस आता ही है, परन्तु अगर दोष, निकालनेकी बातसे अरुचि होती हो तो ऐसा समझने योग्य है कि शुद्ध स्वरूपकी बातका रस यथार्थ नहीं है, सिर्फ आडंबर है। (६११)



जैसे भोजनका अजीर्ण होनेसे रोग होता है, वैसे यदि सुना हुआ, पढ़ा हुआ ज्ञान अजीर्ण हुआ अर्थात् उसको उसका अभिमान होता है। ठीक वैसे ही तपका अजीर्ण होनेसे क्रोध होता है। जब कि ज्ञानवान तो निराभिमानी होते हैं। वही उसको शोभा देता है; जैसे धनवान दातार हो, और शूरवीर क्षमावान हो तो वह उसको शोभा देता है वैसे।

यद्यपि ज्ञानीपुरुषको तो खुदकी ज्ञानदशामें अभिमानके निमित्तभूत समस्त संयोग स्वप्नवत् ही भासित होते हैं। फिर कैसे अभिमान हो ? अर्थात् अभिमान जिस कल्पनासे होता है, वैसी कल्पनाका उत्पन्न होनेका उन्हें अवकाश ही नहीं है क्योंकि स्वरूपका अहम्पना वर्तता है कि जो अन्यमें अहंपना होने नहीं देता। (६१२)



आत्माका (ज्ञानका) कार्य देखनेका है। जो दिखे उसको पकड़नेका नहीं है। इसके बावजूद भी आत्मा पकड़नेका प्रयत्न करता है, कि जो विभाव है अर्थात् सिर्फ जाननेकी (स्वभावकी) मर्यादाका उल्लंघन करने जैसा अपराध है। ऐसे अपराध होते वक्त वस्तु मर्यादाका भान रहना वह ज्ञान है, और भान नहीं रहना वह अज्ञान है, जिससे अज्ञान जनित सर्व दोषोंका जन्म

होता है। - यह सादी सरल परिणमनकी घटनाका अवलोकन करके निज मर्यादामें रहना उचित है। (६१३)



श्रीगुरुके श्रीमुखसे दो ही बातका श्रवण होने योग्य है, एक आत्मकल्याण और दूसरा आत्मस्वरूप। सत् शास्त्रोंमें भी ये दो ही पढ़ने योग्य हैं। अन्य सर्व सिर्फ जाननेका विषय है ऐसा जानकर गौण करने योग्य है। (६१४)



निष्काम मुमुक्षु - सत्पात्र जीवके प्रति वात्सल्यभाव होना, उसको सन्मार्गमें सहजरूपसे स्वयंके आचरणसे ज्ञानीपुरुषने स्थापित किया है। अतः वैसे जीवकी द्रव्यादि कारणसे, अनुकम्पाके योग्य स्थितिमें सेवा आदि कर्तव्य है, परन्तु ऐसा करने पर अगर सामनेवाले जीवको अपेक्षावृत्ति पैदा हो जाती हो तो, उसे परमार्थका रोधक कारण जानने योग्य है। उस वक्त वह जीव दीनवृत्ति, संयोगमें सुखबुद्धिकी वृद्धिरूप मलिन वासनाको प्राप्त होकर, क्रमशः मुमुक्षुताका नाश कर देवे, वैसा नहीं हो उसकी सावधानी रखकर, सामनेवाले जीवकी हितबुद्धिकी मुख्यता रखते हुए, वात्सल्यकी प्रवृत्तिमें विवेक कर्तव्य है। कर्तव्य - अकर्तव्यकी भेदरेखा इस विषयमें सूक्ष्म होनेसे संतुलन बनाये रखना योग्य है। जिसके फलमें परमार्थ लाभ हो वैसा लक्ष रखनेसे संतुलन रह पाता है। (६१५)



आत्मार्थी जीवको ओघसंज्ञा, शिथिलता आदि दोष मिटनेके हेतु यह विचार गंभीरतासे करना जरूरी है कि:- सुदीर्घकाल पर्यंत तत्त्व-अभ्यास, देव-गुरु-शास्त्रके प्रति भक्ति - अर्पणता इत्यादि होने पर भी, अभी तक ऐसा क्या 'करने योग्य' - बाकी रह जाता है ? कि जिसके कारण आत्म-कल्याणकी उर्ध्व श्रेणीका प्रकार नहीं चला ? अथवा ऐसा क्या परिणमनमें चल रहा है कि जिससे आत्मकल्याण होनेमें वह अवरोधरूप है ?

उपरोक्त विषयमें परम गंभीरतासे अवलोकन होकर, आत्मभावना तथाप्रकारसे वृद्धिगत होकर, मार्ग प्राप्त होनेके लिए, सुगमतासे होनेके लिए, जैसी दशा होनी चाहिए वैसी दशा प्राप्त होवे, यह बात शीघ्र चेतनेके लिए है। (६१६)



एक आत्मार्थके अलावा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है और इसके लिए जिन्होंने जगतको पीठ दी है, तथापि उस आत्मार्थको साधकर मात्र प्रारब्धवशात् जिन्हें देहादि हैं - ऐसे ज्ञानीपुरुष मुमुक्षुजीवको सिर्फ आत्मार्थकी ही प्रेरणा देते हैं, अथवा आत्मार्थ सधे वैसा

ही मार्गदर्शन देते हैं, - ऐसी प्रतीतिपूर्वक मुमुक्षुजीव खुद मार्गसे अनजान है ऐसा समझकर, खुदकी कल्पनासे साधन करनेकी बुद्धिको छोड़कर अगर ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें ही प्रवर्तन करे तो वह आज्ञा जीवको भव-भ्रमण होनेमें आड़े आकर निश्चयस पदकी प्राप्ति कराती है, अर्थात् उसको सर्व प्रकारसे विराधना होनेसे बचा लेती है; और अपूर्व पदका ज्ञान-दान देती है। नमस्कार हो वैसे ज्ञानीप्रभुको, त्रिकाल नमस्कार हो !! (६१७)



दूसरे जीव जब धार्मिक कारणसे मान देते हो तब खुदको प्रिय तो नहीं लगता है ? इसकी जागृति रखते हुए, उस प्रकारके प्रसंगकी तुच्छता जानकर, मान बहुत बड़े नुकसानका कारण है ऐसा जानकर उससे अभी भी भय रखना योग्य है। बाह्य प्रतिष्ठासे लोकसंज्ञा आ जानेमें / हो जानेमें देर नहीं लगती। इस भयंकर गर्ताकी सावधानी सहजरूपसे रहनी चाहिए। इसीलिए ज्यादा लोगोंका परिचय करने योग्य नहीं है, अथवा धार्मिक मेलेसे दूर रहनेका प्रयत्न करना, फिर भी अगर उदययोग वशात् रहना / जाना बने तो बाह्य प्रतिष्ठाके प्रसंगसे दूर रहनेका प्रयत्न कर्तव्य है। प्रशंसाके वक्त 'परिणाम-भेद' हो जाय तो वह लक्षके बाहर नहीं जाना चाहिए। मान सबसे अधिक पतनका कारण बनता है। ऐसे प्रसंगमें मूल स्वरूपका लक्ष कर्तव्य है परन्तु प्रसंगयोग दौरान भ्रांतिमें पड़ने जैसा नहीं है -ऐसा सर्वज्ञ महात्माओंका कहना है। (६१८)



अंतरंगमें निजज्ञानके परिचयका पुरुषार्थ करनेकी ज्ञानीको भी जिनाज्ञा है, एवं परभावका परिचय करनेकी मनाई है, तो फिर मुमुक्षुको भी वही कर्तव्य है क्योंकि परभावका परिचय साधनको प्रतिकूल है, अथवा प्रतिबंधरूप है।

जैसे गुणीजनका परिचय कर्तव्य है और अवगुणीका परिचय कर्तव्य नहीं है वैसे।

इसीलिए परभावकी परिचयरूप प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेका उपदेश है।

उपरोक्त निजज्ञानके परिचय-पुरुषार्थमें प्रमाद कर्तव्य नहीं है। प्रमाद बुद्धिका तो अत्यंत निषेध है। जब प्रवृत्तिका उदय हो तब विशेष भावनामें रहना-ऐसी ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है। ऐसा करने जाये तब अगर आपत्तिको भोगनी पड़े ऐसी संभावना हो तो इसके लिए तैयार रहना चाहिए। इस प्रकारकी दृढता होनेके लिए सत्संग जैसा सरल उपाय कोई नहीं है।

(६१९)



ध्रुवसत्के अलावा अन्य प्रकारसे, कर्मप्रसंगमें जिस-जिस प्रकारसे इस जीवको अपनेरूप

कल्पना होती है, वह सब भ्रांति है, जिसकी निवृत्तिके हेतुसे सर्व साधन कहे गये हैं, इसलिए जो भी साधन अंगीकार किया जाय उस वक्त सर्वत्र भ्रांतिसे निवृत्त होनेके लक्षसे, अर्थात् सत्स्वरूपके लक्षसे ही सभी प्रवृत्ति होनी चाहिए, वरना उन क्रियाओंमें भ्रांतिगतरूपसे अहंबुद्धि, तद्जनित कदाग्रह इत्यादि अवगुण अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा पूजा श्लाघा होनेसे वह प्रिय लगता है, अथवा मताग्रहके कारण संप्रदाय चलानेकी रूढ़िमें आना बन जाता है, जो कि ज्ञानीकी आज्ञासे बाहर है। भ्रांतिसे निवृत्त होनेके लिए जीवको अत्यंत सावधानी / जागृति रखनी चाहिए। विशेषतः इस प्रकारमें ध्यान देने योग्य है। (६२०)



लौकिक भावसे वर्तना - अर्थात् आत्मस्वरूपका विस्मरण करना, सांसारिक प्रसंगोंमें या धार्मिक प्रसंगोंमें यह एकांत अहितका कारण है।

अनादिसे लोकसंज्ञाके कारण सहज ही लोकचेष्टामें सावधानी हो आती है। इस प्रकारकी सभी दरकारको छोड़कर अथवा उपेक्षित होकर आत्महितको ही मुख्य करना उचित है वरना लौकिकभावके आड़े आत्महित होना असंभवित है। अथवा लोकचेष्टामें वर्तते हुए भी आत्महित कर सकेंगे, वैसी इच्छा रखना यह अशक्यको शक्य करने जैसी बात है। जो जीव लोकसंज्ञामें वर्तता है, वह आत्माकी हित-विचारणा भी यथार्थरूपसे नहीं कर सकता, तो उस हित विचारणासे प्राप्त फलकी अपेक्षाका तो विचार भी क्या करना ? और उस हित विचारणाका स्थान ऐसा जो सत्संग, उसकी असरको लोकावेश धो डालता है। अथवा इसका थोड़ा - बहुत फल आया हो तो उसे निर्मूल कर देता है; इसीलिए आत्मार्थी जीव लोकसंग-प्रसंगसे दूर रहकर निजहितका साधन करता है, जब कि ज्ञानी तो अत्यंत जागृत रहकर (व्यवसायादिमें प्रवर्तन करना पड़ता हो तब) उदयको वेदते हैं; आत्म अवस्थाकी सँभाल रखते-रखते प्रारब्धको भोगते हैं, जिससे उदासीनता सहज रहती है। (६२१)



प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषकी भक्ति और शासन नायक भगवान महावीरस्वामीकी प्रतिमा समक्ष भक्ति करनेवालेको खुदका विशेष हित किसमें है ? इसका खुदके भक्तिके परिणाम परसे विचार करके प्रत्यक्ष-योगका महत्त्व यदि समझमें आये, तो बाह्य क्रियामें अटकेगा नहीं और सत्संगकी आराधना करेगा। वहाँ सामान्य पात्रता संभवित है। उत्कृष्ट पात्रतामें तो ज्ञानीपुरुष देहधारी परमात्मा ही भासित होते हैं, जिससे ज्ञानीपुरुषके प्रति पराभक्ति संप्राप्त हो, वैसी बुद्धि होने पर मार्गकी प्राप्ति निकटमें है, ऐसा समझने योग्य है। (६२२)



जब तक पुद्गल विषयोंमें दृढ़ राग रस है तब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि तब दर्शनमोहका प्राबल्य वर्तता है। ऐसे दृढ़ राग-रसको तोड़नेके लिए निजदोष दर्शन अनिवार्य है। इसके बिना यह महा विपरीत स्वभावको आवरण करनेवाले भाव आड़े आकर दिक्कत खड़ी करते हैं। स्वभाव दर्शन होने नहीं देते। अतः रागरसको मिटानेके लिए स्वदोषका अवलोकन वह अमोघ उपाय है। दरिद्रीको अगर धनवानकी संपत्ति देखने या स्पर्श करने मिल जाये, तो इससे उसको कोई प्राप्ति नहीं हो जाती; वैसे ही परिणाम दरिद्रीको (पुद्गलकी याचनावालेको, विषयीको) आत्माके श्रवण, मननसे भी आत्माकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह अनुभवका विषय है, इसलिए। (६२३)



परम विवेकसे विचार कर्तव्य है कि :- यह जीव स्वरूपकी सावधानी छोड़कर परमें सावधान होकर परिणमन कर रहा है, वहाँ अभिप्राय दुःखी नहीं होनेका यानी कि सुखी होनेका होने पर भी दुःख अनिवार्य है और इस प्रकारकी परमें सावधानी स्वयं ही (तत्काल) दुःखरूप है; और भावि दुःखका भी कारण है। इसलिये सुखी हो ही नहीं पाते; परन्तु भ्रमणासे मिथ्या / विपरीत पुरुषार्थ हुआ करता है। अतः वैसे व्यर्थ परिणाम - पुरुषार्थकी व्यर्थता और अनर्थताको जानकर, जीवको अनुक्रमसे पूर्वकर्म अनुसार आनेवाले उदयको समभावसे, साक्षीभावसे, अपनी भिन्नता ज्ञाननिष्ठ होकर, सँभालपूर्वक निज परिणामके पुरुषार्थमें रहना, यह परम विवेक है, और ऐसे वर्तते हुए अगर प्रारब्धकी कठिनाई खड़ी होगी तो वास्तवमें वह 'कठिनाई' नहीं रहेगी परन्तु पारमार्थिक लाभका एक सुंदर, स्वच्छ निमित्त बन जाएगी, जिसका परम विवेक, आनंद और समभावसे स्वागत करनेके लिए कबका आगे से खड़ा है। अतः हे जीव ! ज़रा भी क्षोभ रखे बिना तू सर्व उदयसे उदासीन / उपेक्षित होकर स्वरूपके उद्यममें पूरी शक्तिसे लगे रहो ! ज्ञानीपुरुषोंने तो मिथ्यात्व मोहनीसे 'तम-तमप्रभा' और रौव-रौव नरकको सम्मत किया है। तो तुझे 'परमार्थकी प्राप्ति करानेवाली कठिनाई' को सम्मत करनेमें ज़रा भी घबराने जैसा क्या है ? (६२४)



खुदका मूल स्वरूप परमात्मस्वरूप है, और वह सम्यक् श्रद्धाका विषय है, वही मान्यता सत्य है, फिर भी ज्ञानमें प्रत्यक्ष हुए बिना, 'कर्मजनित पर्याय स्वरूप हूँ' - ऐसी असम्यक् मान्यता बदलती नहीं है; और यथार्थ मुमुक्षुता आये बिना वैसा प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता; तब तक खुदके विषयमें परमात्मपना विकल्पमात्रसे नहीं मान लेना चाहिए; परन्तु उस पदके लिए जिज्ञासु रहना उचित है; अथवा ज्यादा बेहतर है; कि जिससे परमात्मपना प्रगट हो। उस मार्गको

छोड़कर प्रवर्तनेसे उस पदकी श्रद्धा / भान नहीं होता। परन्तु परमात्मा / सर्वज्ञ वीतरागकी आशातना करने रूप प्रवृत्ति होती है अर्थात् स्वच्छंद होता है। (६२५)



ज्ञानदशा यानी कि स्वानुभूतिरूप निर्विकार दशामात्र, अन्य पदार्थकी / विषयकी इच्छाको निर्मूल करनेका एकमात्र औषध है, क्योंकि उसमें तृप्ति एवं शांति साथमें है। उसके सिवा अनादि सुखाभास जनित विषय-वृत्ति शांत हो - उसका उद्भव नहीं हो, ऐसा बनना असंभवित है। अज्ञानभावसे विषय अर्थात् इच्छित पदार्थको भोगते हुए उसका विकल्प मिटानेके उपायका विचार करनेमें आता है, वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि भोगते हुए रस आता है, वह विषयमूर्च्छा विकारको पराजित करनेके बजाय वर्धमान करती है। जो ज्ञानको आवरण करनेवाली है। ऐसे प्रसंगमें ज्ञानीकी दशा, बाह्यदृष्टि जीवोंके लिए अगम्य है। अंतर्दृष्टिवाला तो जानता है कि पुरुषार्थ होनेके बावजूद भी, नहीं चाहते हुए, उदयका अनिच्छासे, पश्चात्ताप सहित अनुसरण करना पड़ता है, अतः जिसको नीरसता सहजरूपसे प्राप्त हुई है, (सिर्फ) वह बहुत मुश्किलसे जीत पाता है। उसको यथार्थ समझे बिना प्रायः भ्रान्ति होना संभवित है। (६२६)



पूर्णताके ध्येय लक्षित परम जागृति, इसके साथ अंतर प्रयोगपूर्वक स्वरूपलक्ष, और तदजनित एक लयसे उत्पन्न पुरुषार्थ ही ग्रंथिभेद होनेके लिए पर्याप्त वीर्यगतिको धारण कर सकता है; अन्यथा अनन्त बार ग्रंथिभेद होनेके प्रसंगमें जीव क्षोभको प्राप्त होकर फिरसे संसार परिणामी हुआ है। (६२७)



अनन्त शांति, ज्ञान, वीर्यादि स्व-स्वरूपका अवलोकन करते हुए, निज ध्रुवपदकी धुनको एक लयसे हे जीव ! आराधन कर, प्रभावनासे आराधन कर !! अप्रमत्तरूपसे स्वयं सिद्धपद मस्तक पर रहो !! निरंतर रहो !! (६२८)



गुणभेदसे स्वस्वरूपकी विचारणा सिर्फ लक्ष / पहचान होने तक ही योग्य है, जब कि प्रतिभासित अभेद स्वरूप, आराधनाका विषय होनेसे, आराधनाकी विधि गुणभेदरूप भेदभाववाली नहीं होनेसे, श्रद्धा या ज्ञानके भेदसे आराधन नहीं हो सकता, अथवा जब तक द्रव्य, गुण, पर्यायका भेद लक्षमें रहता है, तब तक अभेदतारूप आराधना नहीं हो सकती। अतः अभेद आत्मभावसे, आत्मा आत्मामें आत्मत्वको भाए, यह विधिकी स्वरूप है। इसमें भेदका निषेध सहज है। अतः स्वरूपनिश्चयके बिना आराधनाका प्रयास, वह सिर्फ क्रमका विपर्यास है। जिसका

फल उस विपर्यासको दृढ करने जितना ही है। ऐसा होनेसे सर्व प्रथम स्वरूप निश्चयके लिए ही प्रयत्नवान रहना योग्य है। (६२९)



'सत्'की पहचान व अनुभव होनेके पहले उस विषयमें जिज्ञासु रहना उचित है। जिज्ञासुके लिए दूसरोंको समझाना या उपदेश देना, वह स्वयंके लिए हितावह नहीं है परन्तु हितेच्छु भावसे दूसरा जिज्ञासु - पिपासु हो वहाँ तक मर्यादित प्रवृत्ति करना उचित है। दूसरेको समझानेवालेमें बहुत योग्यता एवं विचक्षणता होनी चाहिये। सही उत्तर देते हुए भी उस उत्तरसे किसीको नुकसान नहीं हो, उस प्रकारसे उत्तर देना चाहिए, और यदि आवश्यक लगे तो मौन रहना चाहिए, अथवा समूहमें उत्तर नहीं देकरके अंगतरूपसे जिज्ञासुको सही उत्तरके लाभालाभको समझाकर, उसकी मर्यादाका खयाल कराते हुए, उत्तरके विषयको मर्यादित करना चाहिए। इस नीतिको बनाये रखनेकी क्षमता नहीं हो तो प्रश्नोत्तरीमें नहीं जाना चाहिये। (६३०)



महापुरुषोंका जीवन चरित्र देखते हुए, वह ऐसा प्रतिबोध देता है कि निरंतर उदयमान ऐसा कर्मप्रसंग अनन्त कालसे नये प्रतिबंधका कारण होता आया है, वहाँ अपनी पूरी शक्तिसे जागृत रहने योग्य है, अर्थात् अजागृत रहने योग्य नहीं है। ऐसा प्रकाशित करके अनन्त आत्मार्थका प्रतिबोध किया है। अतः पूर्व प्रारब्ध ऐसा जो कर्मप्रसंग जब प्राप्त हो, तब उसके प्रति जागृत उपयोगसे, उदासीनतासे उसका वेदन कर्तव्य है, वरना आत्मार्थकी हानि होनेमें देर नहीं लगती।

महा पुरुषार्थसे जो पराक्रमी हैं, वैसे पुरुषार्थमूर्ति धर्मात्माएँ भी जहाँ आत्मदशाको सँभालते-सँभालते अंतरमें अत्यंत सावधान रहकर चले हैं, वहाँ मुमुक्षुजीवको प्रवर्तते हुए कितना विशेष सँभलकर रहना - सावधान रहना चाहिये; उसका वारंवार प्रसंग-प्रसंग पर विचार कर्तव्य है।

(६३१)



आत्महितरूप सत्य धर्मका खोजी जीवका चाहे जैन संप्रदायमें जन्म हुआ हो, चाहे अजैन संप्रदायमें जन्म हुआ हो, उसकी दृष्टि तो सिर्फ परमार्थ पर ही रहती है। इसलिए अगर जैन हो तो भी कसौटी किये बिना शास्त्र सिद्धांतका स्वीकार नहीं करता। परन्तु कुलयोगसे (जैन) संप्रदाय प्राप्त हुआ हो, लेकिन वह परमार्थरूप है या नहीं ? इसकी परीक्षा किये बिना, वैसी परीक्षादृष्टिसे चले बिना, परमार्थ मान लेनेमें जीव परमार्थको / आत्महितको अवश्य चुक जाता है, यह जैनियोंको खास ध्यानमें लेने जैसा है। जो परमार्थको खोजता है, वह

अवश्य परमार्थको प्राप्त करता है। इसलिए कुलधर्मका ममत्व छोड़कर, बोधका निराबाधत्व और पूर्वापर अविरोधताका विचार कर्तव्य है। (६३२)



स्वयंमें पूर्णताको देखकर जो समस्त पदार्थकी तृष्णाका अभाव करता है, उसको भय एवं चिंता सम्बन्धित कोई दुःख नहीं होता। जिसको भय एवं चिंता नहीं है, उस पुरुषको आत्म स्थिरता हो सकती है, और वह पुरुष शांत चित्तवाला होकर शोभित होता है, उसकी शांतताको देखकर, देखनेवाला भी चित्त प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इतना ही नहीं जो विपत्तिके प्रसंग हैं उसमें दुःख उत्पन्न होनेके बजाय, वैसे प्रसंग परमार्थ लाभ होनेके निमित्त बन जाते हैं। ऐसे मार्गका मूल्य किस चीजसे हो सकता है ? (६३३)



कुसंगसे सर्वदोषकी उत्पत्ति हो जाती है। सर्व महा दोष, इस एक दोषसे बढ़ते हैं। जब सत्संगसे अगर एक गुण भी बलवान होता है तो दोषवाले पुरुषके सभी दोषोंका क्षय होता है; वैसे दूसरे गुण भी वर्धमान होते हैं, गुणरूपी संपत्ति प्राप्त हो उसके लिए सत्संग एक कल्पवृक्ष है। जिसके ऊपर अमृतफल पकता है। शर्त इतनी है कि शुद्ध अंतःकरणसे निजहितके हेतुसे उसका सेवन किया जाय तो... तभी सरलता, वैराग्य सहित उसका सेवन होगा जो कदापि निष्फल नहीं जायेगा। (६३४)



दर्शनमोहसे सर्व प्रकारके अनिष्ट जन्म लेते हैं, जिसमें 'संप्रदायबुद्धि'का अनिष्ट कितना भयंकर है, इसका विचार कर्तव्य है।

* वेदांत जैसे संप्रदायमें 'उपदेशबोध'का विषय अति सुंदर होने पर भी, सिर्फ संप्रदायबुद्धिके कारण उसका अनुसरण करनेवाले, मोह विरुद्ध उपदेश देनेवाले, जिनमार्गको अर्थात् सम्यक् मार्गको प्राप्त नहीं हो सके !! पहचान भी न सके !

* जैनियों भी 'संप्रदायबुद्धि'के कारणसे जैनाभासत्वको प्राप्त होकर, आश्चर्यकारी अंगपूर्वके अध्ययन एवं जिनोक्त व्यवहार संयुक्त होने पर भी आत्मकल्याणसे वंचित रह गये, कोई-कोईने तो विराधनामें प्रवृत्ति की !!

* गहरे विचारसे ऐसा भासित होता है कि दर्शनमोहरूपी समुद्रके पानी बहुत गहरे है, (और) दूसरे किसी भी (स्वयंभूरमण) समुद्रसे विशाल भी (हैं), इसीलिए उसको पार करनेकी दुष्करता प्रसिद्ध है। (६३५)

पात्रता संपन्न जीवको भी अगर सांसारिक प्रतिकूलता, मिटानेकी अथवा आर्थिक लाभ जुटानेकी इच्छा, सत्संगके निमित्तसे हो जाती हो तो वह निदानबुद्धि है, वह जब तक रहती है तब तक दर्शनमोह बलवान होता है। अतः सम्यक्त्वके अवरोधरूप जानकर उसे टालने योग्य है अथवा शांत करने योग्य है। ऐसे संक्लेश परिणाम, कुटुम्ब मोह वशात्; और खुदको प्रतिकूलता-अशांता नहीं सहनी पड़े ऐसी बुद्धिके कारण होते हैं; जिससे सत्संगका महात्म्य तथारूप नहीं रहता; अपूर्व आत्मलाभका साधन ऐसा सत्संग, उसे पौद्गलिक भावनाके द्वारा खोने जैसा महा अविवेक है। ऐसा समझने योग्य है। (६३६)



नवम्बर - १९९०

पात्र जीवको समयका हीन उपयोग होता है वह खटकता है; क्योंकि वह मार्गप्राप्तिमें हानिकारक है; पुनः बीती हुई एक पल भी वापिस नहीं मिलती; वह अमूल्य है। निर्मल अंतःकरणसे सोचनेवालेको (यदि) मनुष्य आयुका हीन उपयोग होने पर कितना बड़ा अश्रेय होता है, वह समझमें आता है, इसीलिए गृहस्थ-विवाहित जीवनसे ब्रह्मचर्यको ग्रहण करनेका विवेक पात्र जीव करता है। जिसमें समयकी बरबादीको सुगमतासे बंद कर सकते हैं; सर्व प्रकारके आरम्भ व परिग्रहका संबंध मूलसे ही काट सकते हैं, तथा भावकी बरबादी भी होनेसे अटकती है; मानसिक स्वास्थ्य एवं शारीरिक स्वास्थ्यके साथ बाह्य निवृत्तिमय समयकी अनुकूलतामें आत्महितका आराधन करना सुगम पड़ता है; यह सहजरूपसे समझ सके ऐसी बात है; तथापि प्रमादका त्याग करना आवश्यक है। अर्थात् समयका मूल्य समझकर गंभीरतासे पुरुषार्थ परायण रहनेसे अवश्य आत्म-सिद्धि है। (६३७)



महानपुरुषोंके चारित्रको तत्त्वदृष्टिसे देखने पर, सूक्ष्म दृष्टिसे उसका अभ्यास करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'स्वरूपमें पूर्णरूपसे रहनेके लिए' अनवकाशरूपसे प्रयत्न हो सके इसके लिए, अकर्ता होकर भी वे बाह्य त्याग अथवा व्यवहार संयमको कर्तव्य जानकर उसमें प्रवृत्ति करते हैं। मुमुक्षु एवं अविस्ती दशामें गृहस्थीमें रहे जीवोंको, उनका ऐसा चारित्र उपकारभूत होता है; और उनकी स्वरूप स्थिरता, एवं सहज वीतरागदशा (जिसमें आस्थाका राग / विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता है उसके) के ऐश्वर्यको वह स्पष्ट व्यक्त करता है। परमार्थ संयमरूप स्वरूप स्थितिको व्यवहार संयमका निमित्त है, जिससे ज्ञानी अनभिज्ञ नहीं होते, तद्उपरांत पूर्णताके ध्येयकी सिद्धि हेतु, उन्हें अंतर्बाह्य परिस्थितिका विवेक लक्षपूर्वक रहता है; तथापि परिणतिसे भिन्न होनेके बावजूद भी उपयोगकी प्रवृत्ति प्रारब्धाधीन होनेसे, दिखावमें विचित्रता

उत्पन्न होती है। ऐसी विसंगतताको वे नहीं चाहते।

(६३८)



मुमुक्षुजीवको तत्त्व / गुण ग्रहण हो इसके लिए विचारकी विशालता एवं मध्यस्थता होना जरूरी है। अन्यथा संप्रदायबुद्धिका महा दोषरूपी सर्प काट लेगा।

परमपुरुष श्री सर्वज्ञदेवकी वाणीका अंशांश जैनेतर शास्त्रोंमें भी देखनेको मिलता है; उस अंशांशको अंशांशके रूपमें स्वीकार करनेमें क्या दोष है ? दोष तो तब होता है जब अंशांशको सर्वांश माना जाता है। वैसे ही जैनके नामसे ग्रंथोंमें और प्रवृत्तिमें अनेक विकृतिओंने गहरे मूल डाले हैं। उसका स्वीकार करनेसे गुण कैसे हो ? अतः जो मुमुक्षु सिर्फ सत्यधर्मका अभिलाषी है, वह दोनों जगहसे सिर्फ गुण जन्य तत्त्व ग्रहण करनेका दृष्टिकोण अपनाता है, उसे विशाल सत्यका स्वीकार करनेकी विशालता है, एवं संप्रदायबुद्धिका अभाव होनेसे मध्यस्थता / निष्पक्षपातता भी है। - ये पात्रताके लक्षण हैं।

(६३९)



सत्पुरुषकी वाणीमें रही विलक्षणताएँ :

(१) आशयभेद :- यानी कि उनकी वाणी मूल आत्मस्वरूपको केन्द्रस्थानमें रखती है, अथवा सर्व कथन-विस्तारका केन्द्र बिंदु, शुद्धात्मा और उसका आश्रय होना, वह है।

(२) पूर्वापर अवरोधता :- पदार्थ दर्शन एवं प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे, विरुद्ध धर्मोंका ज्ञान भी अवरोधरूपसे होता है, इसके अतिरिक्त मुख्य-गौणकी परिणाम पद्धति, प्रयोजन अनुसार सहज वर्तती होनेसे संतुलित परिणामनदशाका द्योतक वचनयोग होता है।

(३) आत्मार्थ उपदेशक :- सर्व भूमिकाके शिष्यका आत्मार्थ सधे अथवा कहीं भी आत्मार्थकी विरुद्धता नहीं हो ऐसा ही उपदेश (होता है)।

(४) अपूर्व वाणी :- अपूर्व स्वभावको अपूर्वभावसे व्यक्त करती हुई वाणी सुनते हुए सुननेवालेको भी अपूर्वता ही भासित होती है (योग्यता हो तो)।

(५) अनुभवकी अभिव्यक्ति :- अनुभव सहित निर्मल चैतन्यदशा एवं अलौकिक गुणोंके अतिशयसे प्रभावित वचनयोग होनेसे, आत्माकी भानदशा - जागृत चैतन्यकी दशापूर्वकका वचन योग, श्रोताको भी सतत जागृत करनेवाला, पुरुषार्थको जगानेवाला होता है। तथापि भावनासे भीगी हुई, वास्तविकताकी प्रकाशक होनेसे शुष्कता, कल्पना एवं एकांतिकपनेसे रहित होती है। उत्कृष्ट मुमुक्षु एवं ज्ञानीको वह पहचाननेमें आती है। दूसरेको भ्रान्ति होनेकी संभावना है।

(६४०)



स्वरूपलक्षपूर्वक, विकल्प-चिंतनादिमें थकान लगे तभी विकल्पसे विराम प्राप्त होता है, पर्याय ऊपरका वजन अत्यंत कम हो जाये और एकदम तीव्र लगनसे अंदर उतरना हो जाये। (अभेद निर्विकल्पदशा इस प्रकार सहज होती है।)

निर्विकल्प स्वरूपके लक्षसे स्वरूपरस वृद्धिगत होता है। स्वरूपलक्षसे स्वरूपकी महिमा वृद्धिगत होती जाती है जो कि विकल्पसे विरुद्ध रस है। यह चैतन्यरस अथवा आत्मरसकी तीव्रता स्वानुभवकी कारणभूत है। (६४१)



ज्ञानदशामें ज्ञानीपुरुष अनेक गुणोंसे विभूषित होते हुए महान आत्मगुणोंकी अतिशय / प्रगटतासे सुशोभित होते हैं। उनकी असामान्य दशा होनेके बावजूद भी और द्रव्यसे (क्षेत्रसे) समीपता प्राप्त होनेके बावजूद, खुदकी योग्यताकी क्षतिके कारण जीवको पहचान नहीं हुई। ऐसे-ऐसे योगमें बाह्यदृष्टिसे देखनेका / नापनेका नेत्र बंद रखना चाहिए, वैसा नहीं किया है इसलिए, तथापि मार्गप्राप्तिकी अपूर्व भावनापूर्वक, सत्पुरुषको पहचाननेकी तीव्रतावाले दृष्टिकोणके अभावके कारण ज्ञानीपुरुषका विलक्षण स्वरूप लक्षमें नहीं आया। मार्गको खोजनेके बावजूद भी मार्ग नहीं मिलने पर उलझनमें आनेवाले आत्मार्थी जीवकी उलझन जिनकी अनुभववाणीसे मिटती है, तथा परमार्थ-विषय पर जिसका लक्ष हो, उसको ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें अपूर्व स्वभावका निरूपण पूर्वापर अविरोधपनेसे, आत्मार्थ साधक होता हुआ मालूम पड़ता है, तब विशेष परिचयसे उनके अंतर परिणमनमें वृत्ति क्रियाचेष्टितपना, स्वरूपका एकत्व, एवं बाह्य परिणमनमें रागसे और देहादि संयोगसे विभक्तपना अर्थात् भिन्नता दिखाई पड़ती है, उनका चैतन्य रस प्रगटरूपसे दिखता है, तब उनकी मुद्रा, नेत्र एवं जागृत चैतन्यकी चेष्टा, भानसहितपना है ऐसा लक्षगोचर होता है।

उनके परिणमनका झुकाव वाणीमें आशयभेद उत्पन्न करता है। अर्थात् सर्व कथनका केन्द्रस्थान परमार्थरूपसे पुरुषार्थ प्रेरक लगता है। परम सरलता और उससे उत्पन्न उदात्तपनेके कारण निष्कारण करुणाशीलता, मध्यस्थता आदि गुण अलौकिक साधक कोटिके मुमुक्षुकोटिसे विशेष) जब जाननेमें आते हैं तब मुमुक्षुको पहचानपूर्वक बहुमान और पराभक्ति उत्पन्न होकर, तथारूप आराधन होकर, दर्शनमोहका उपशम हो ऐसी सहज स्थिति उत्पन्न होती है, सुगमतासे होती है। यह सिद्धांत है जिसका फल अनुक्रमसे कैवल्यकी प्राप्ति है।

अंतमें जिनकी श्रद्धा / दृष्टि निज अनन्त शांतिके पिंड पर है और जिन्हें स्वयंके साक्षात्कार पूर्वक वस्तु प्रगट है उनकी परख आनेसे / देखनेसे वे ज्ञानीपुरुष हैं - ऐसा निश्चय होता है। (६४२)

मुमुक्षुकी भूमिकाके योग्य वैराग्य-उपशम आदि सहित दर्शनमोहका अनुभाग कम होनेसे भूमिकाके योग्य ज्ञानकी निर्मलता भी आती है, और इससे समझकी यथार्थता, सुविचारणा, आत्मार्थीता इत्यादि प्राप्त होते हैं। परन्तु स्वयं-प्रत्यक्ष ऐसे परमपदका साक्षात्कार होने पर जो दृष्टि स्वयंकी मौजूदगीको देखती है / श्रद्धती है, और जहाँ स्व-स्वरूप प्रगट वर्तता है, उसकी भेदरेखा, दृष्टिबल, आत्मरस द्वारा प्रदर्शित होती है।

इस तरह मुमुक्षुतामें स्वरूप प्रत्यक्षताका अभाव है (जब कि) ज्ञानीपुरुषको वस्तु साक्षात् मौजूद है, वे उसरूप हुए हैं। अतः सर्वांग तथारूप विलक्षणताको सुपात्र मुमुक्षुके नेत्र देख सकते हैं, अन्य ज्ञानी भी देख सकते हैं। (६४३)



जब वस्तु-खुद स्वयंप्रत्यक्ष है, फिर न्याय, युक्ति, आगम, अनुमान आदि सम्बन्धित विकल्पोंका क्या प्रयोजन है ? 'मैं खुद अत्यंत वेदन प्रत्यक्ष हूँ, विकल्पके अभाव स्वभावरूप हूँ' - जिसमें सर्व कर्तव्य समाहित हैं।

निजकी सँभालमें परकी सावधानी सहज छूट जाती है। परकी सावधानीमें निजकी सँभाल नहीं रह पाएगी - खुदका अमूल्य समय व्यर्थ जाएगा। अतः अप्रमत्तरूपसे स्वरूपकी सँभाल कर्तव्य है। जिस प्रकार आत्मभाव साध्य हो उसी प्रकार सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें प्रवर्तन करना - यही जिनाज्ञा है। सर्व सत्पुरुषोंके अंतर चारित्रिका अवलोकन करने पर यह मालूम होता है कि उन्होंने ऐसे ही प्रवर्तन किया है। अहो ! उनकी धीरज ! अहो ! उनकी पारमार्थिक विचक्षणता ! परम भक्तिसे उन्हें नमस्कार हो ! (६४४)



'परम स्वरूप खुद ही सर्वस्वरूपसे उपादेय है।' - ऐसी द्रव्यदृष्टिपूर्वक उत्पन्न ज्ञानका यह महा विवेक है। जो हमेशा धर्मात्माको बना रहता है। इसलिए समग्र परिणामनमें इस प्रकारका झुकाव रहा करता है। तुल्य (वज्रन) देनेमें जरा-सा भी अयथार्थरूपसे अधिक या हिनपना नहीं हो - ऐसी सम्यक् मर्यादा उक्त दृष्टिके कारण सहज प्राप्त होनेसे, वह वास्तवमें कल्याणमूर्ति ही ('सम्यक्दर्शन') है। (६४५)



तिरनेके कामी जीव होते हैं तो ज्ञानीपुरुषको अनुकम्पा आती है और मूलमार्गका / जैन शासनका उद्योत होवे तो अच्छा, ऐसी वृत्ति उठती है। परन्तु अंतरंगमें ऐसा दृढ अभिप्राय शुरूसे ही होता है कि धर्म स्थापित करनेका मान बहुत बड़ा है, उससे अलिप्त रहनेकी यथायोग्यता, (अंतर्बाह्य त्याग-वैराग्यमय मार्गके अनुरूप स्थिति) बिना अगर मान-पूजाकी अल्प

भी स्पृहा रहती हो तो, मार्गका उपदेश नहीं करना चाहिए (निजहितकी मुख्यता होनेसे।) यद्यपि जैन शासन / मूलमार्गका उद्योत होवे यह बड़ी बात है, क्योंकि इससे अनेकानेक जीवोंको स्वरूप-संस्कार, आस्था आदि उत्पन्न होनेसे, वे यदि मार्गको प्राप्त होते हैं तो उसका (सद्गतिको प्राप्त हो उसका) मूल्य बहुत बड़ा है, फिर भी ज्ञान-प्रभाव व अंगमें त्याग हो तो ही दूसरे जीवोंको अनुसरण होनेका निमित्त बनेगा ऐसा जानकर अर्थात् ऐसा बलवान कारण जानकर ज्ञानी परिग्रहादिका त्याग करनेका विचार करते हैं। यद्यपि सर्वसंग परित्याग हो तब उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज स्वभावसे उदयमें आये तो करना, परन्तु उस प्रवृत्ति सम्बन्धित भी आग्रह नहीं रखना है - ऐसी नीति पहलेसे ही निश्चित होती है, जिसके कारण आत्मार्थकी ही प्रधानता रहती है। तब प्रवृत्ति सहज स्व-पर हितकारक बन जाती है - ऐसा श्री तीर्थकरदेवका मार्ग है। त्रिकाल 'जिनमार्ग' जयवंत वर्तो !! (६४६)



शास्त्र-वांचन करना पड़ता हो अथवा आत्मार्थसे, सत्संगके हेतुपूर्वक करनेमें आता हो तो ज्ञानीपुरुषकी दशाकी विशेषता / महानताको लक्षमें लेकर, उनकी महिमा भासित होनेसे वांचन करनेवालेको खुदकी लघुता / पामरताका भान रहनेसे अहंभाव नहीं होता, वरना ऐसे प्रसंगमें अगर अहंभाव होता है तो वह कालकूट ज़हर ही है, ऐसा आगेसे प्रतीत किया हो तभी ऐसा होनेकी संभावना कम रहती है। (यदि) अंदरमें कोई भी अंशमें वचन व बुद्धि चातुर्य आदि भावमें मिटास सूक्ष्मरूपसे भी रखी होगी तो वह कभी न कभी वृद्धिगत् होकर अहंभावको उत्पन्न करेगी, यह बात निःशंक है। ऐसी जागृति रखने पर विनम्रता रहनेसे उसका (नम्रताका) अहंपना भी नहीं हो जाय, वहाँ तक सँभाल (सावधानी) रखनी आवश्यक है क्योंकि यह स्थान अधिक जोखिमवाला है। (६४७)



शास्त्र-अध्ययन करनेवालेका उघाड़ बढ़ता है। पर्यायदृष्टिके कारण अनिवार्यरूपसे (क्षयोपशमका) अभिमान बढ़ता है। इसकी जागृति न हो तो भेदबुद्धिसे अनेक पहलूको, न्यायादिको जाननेकी आकांक्षा रहा करती है। इस प्रकार वृत्ति बाहर ही बाहर खींची हुई रहती है, और अभेद स्वरूपका ज्ञान (होना) रह जाता है। परन्तु अभेद स्वरूपकी दृष्टिपूर्वक स्वरूपकी गहराईमें उपयोग जाने पर भेद जाननेमें आ जाते हैं और इससे भी अभेद स्वभावकी पुष्टि होती है जो कि यथार्थ / सम्यक् परिणामन है। अतः मुमुक्षुजीवको सर्व प्रथम दृष्टि ही प्रगट करने योग्य है। इसके पहले ज्ञान (क्षयोपशम) वृद्धिमें नहीं जाना चाहिये अथवा दृष्टि प्रगट हो इस हेतुसे ज्ञानाभ्यास कर्तव्य है; अन्य हेतुसे ज्ञानाभ्यास उपकारी नहीं

है।

(६४८)



पात्रतावान जीव अंतरसे असत्संग तथा असत्प्रसंगसे पीछे हटकर निज विचारमें / आत्मविचारमें सत्संगकी आराधना करता हुआ प्रवर्तता है।

आत्म-विचार बलवान होनेसे पुरुषार्थ-योग्य होकर यदि 'अंतर्भेदजागृति' आयी हो तो मोक्ष समीप है। - (यदि) ऐसी योग्यता आये तो मनुष्यपना सफल है। और इसप्रकार मनुष्यपना अवश्य सफल कर लेने जैसा है; बारबार ऐसी तक नहीं मिलनेवाली है ऐसा जानकर, शुद्ध अंतःकरणसे, अर्थात् निर्मल परिणामसे आत्महित करनेके लिए तत्पर रहना, कि जिससे अनन्तकालके लिए बीज बोया जाये।

आत्मविचारबल वर्धमान होने पर, अंतरमें स्वरूप ग्रहण होनेके पर्यंत, वीर्यकी स्फुरणा जागृत होती है, जिसमें अंतरभेद होकर अनुभव होनेका प्रयत्न है - यथार्थ प्रयत्न है जो निष्फल नहीं जाता।

अंतरका भेद होना अर्थात् गहरी चोट लगना जिससे तत्काल प्रयास चालू हो और आत्मजागृति आये। दूसरा भाव ऐसा भी है कि (यदि) मिथ्यात्वकी ग्रंथिका भेद (छेद) हुआ तो तत्क्षण संसारकी अनन्तताका अभाव होगा। (६४९)



आत्महितकी साधनाके पहले सिर्फ धारणाज्ञानसे धर्मप्रभावना (की प्रवृत्ति) कर्तव्य नहीं है। आत्मार्थी जीवको एक लयसे आत्म-हितके प्रयासमें तत्पर रहना चाहिये। उससे जो निश्चय प्रभावना होती है उसमें, निजसुख पीनेमें मग्न रहना चाहिए ऐसा होते हुए यदि शासनकी प्रभावनाका योग होगा तो तद्अनुसार सहज विकल्प आयेगा; और होनहारमें यदि प्रभावना होनेवाली होगी तो होगी। परन्तु आत्महित साधनेके पहले बाह्य प्रभावनाके संकल्प नहीं करने चाहिये, उसमें बड़ा जोखिम है; अर्थात् अहित होनेकी बहुत संभावनाएं हैं, फिर भी इसके बावजूद यदि मुमुक्षुकी भूमिकामें ऐसा योग बन जाय तो सत्पुरुषकी आज्ञामें रहते हुए, अंतरमें मान एवं लोभसे अत्यंत - अत्यंत जागृत रहकर, भवभयसे डरते-डरते, आत्मार्थकी मुख्यता रखकर प्रवर्तन करना योग्य है। (६५०)



महापुरुषके वचनोंका अगंभीरतासे विचार नहीं करना चाहिये, परन्तु उसमें छिपे हुए गंभीर आशयको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। और जब तक आत्महितरूप गंभीर आशय समझमें नहीं आये तब तक कोई भी अभिप्राय / निर्णय बना लेना यह योग्य नहीं है, प्रायः नुकसानका

कारण होता है। इसलिए जिज्ञासामें रहना यह मुमुक्षुके लिए ज्यादा उचित है। इसमें भी खास करके महापुरुष जब जैनेत्तर ग्रंथ या व्यक्ति विशेष सम्बन्धित वचनको प्रकाशित करते हो, उस वक्त मतांतरकी दृष्टि गौण करके तत्त्वदृष्टिकी मुख्यतासे विचार करनेसे परमार्थ समझमें आता है। संप्रदायबुद्धिसे इसका परमार्थ समझमें नहीं आ सकता (देखिये ६३९)। इसलिए यहाँ पर विशाल व मध्यस्थ बुद्धिरूप पात्रताका होना जरूरी है। जिन्होंने तीक्ष्ण गुणदृष्टिसे, गहन गुणदृष्टिसे अन्यमतके शास्त्रोंमें से भी परमार्थका प्रकाशित किया है उनकी भगवती प्रज्ञाको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! (६५१)



आत्मार्थी जीव दोष टालनेके दृष्टिकोणसे खुदके परिणाममें जागृत रहकर अवलोकन करता है, इसमें विषय कषायके, प्रति खेद हो आता है, क्वचित् खुदका निर्वीर्यपना एवं पामरताको देखकर विशेष खेद भी होता है, परन्तु सिर्फ अकेला खेद करके आत्मार्थी अटक नहीं जाता। अथवा मात्र खेद भावमें रहना / अटकना योग्य नहीं है। (मार्ग वैसा एकांत निराशाका नहीं है।) वैसे भावसे महापुरुषोंके चरित्र, एवं वचनोंका अवलंबन ग्रहण करके आत्मवीर्यको खुद आत्मगुणोंके प्रति फिरसे उछालता है, महापुरुषोंके जो आचरण एवं वचनके आधारभूत ऐसे परमतत्त्वको ग्रहण करनेके पुरुषार्थमें जुड़ता है, और जब तक विजयको प्राप्त नहीं करता है तब तक प्रयत्न चालू रखता है; और अंतमें सफल होता ही है, यह निःसंशय है।

इस प्रकार खेद भाव व आत्मवीर्यका संतुलन पूर्वक अनुसंधान होवे ऐसा ज्ञानीका मार्ग है। (६५२)



दिसम्बर - १९९०

मार्गका उपदेशकपना सिर्फ परमगुरु श्री जिन तीर्थकरदेवके लिए योग्य है, और उस दशासे अति निकट ऐसी आराधक दशामें, वर्तते हुए निर्ग्रथ वीतरागी सर्वसंग परित्यागी मुनिराज, कि जो स्वयं ही मूर्तिमंत मोक्षमार्ग स्वरूप हैं, उनके लिए योग्य है। जो छठे गुणस्थानक में संभवित है, इससे नीचेके गुणस्थानमें (चौथे-पाँचवे) मार्गप्राप्त होनेसे वे दिखा तो सकते हैं परन्तु अंतर्बाह्य अविरोधता नहीं होनेसे उन्हें भी उपदेशकपना योग्य नहीं है, तो फिर सिर्फ मुमुक्षुतामें कि जिसमें मार्गकी, तत्त्वकी, आत्माकी या ज्ञानीकी पहचान न हो, बल्कि मात्र थोड़े शास्त्र अभ्याससे सिर्फ धारणा हुई हो, उसको तो उपदेशक भावसे, अजागृत रहकर जरा भी वर्तन करना उचित नहीं है। उस भूमिकामें तो जिज्ञासु रहना ही उचित है। उपदेशक भाव रहनेसे, वर्तनेसे कुगुरुपना है, मार्गकी विरुद्धता है और वह प्रगट मिथ्यात्व है। परस्परकी

चर्चा, वाद-विवादके प्रसंगमें खुद उपदेशक भावसे प्रवृत्ति नहीं कर ले इसकी जागृति आत्मार्थीको रहती है। नम्रभावसे सिर्फ खुदकी समझको व्यक्त करके, सत्संग करनेकी बुद्धिसे परस्पर समागम कर्तव्य है। (६५३)



दर्शनमोहकी तीव्रताके कारण स्वरूप अवलोकन नहीं हो पाता है, ऐसी स्थितिमें शास्त्रसे हुई जानकारी व मंदकषाय भी सफल नहीं होते। अतः दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूप अवलोकन दृष्टि परिणमित होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेमें मुख्य कारण, आत्महितके लक्षपूर्वक ज्ञानीपुरुषका विशेष समागम, गुण प्राप्तिकी जिज्ञासावृत्ति, तथा परमशांत रस प्रतिपादक वीतराग श्रुतकी गहरी चिंतवना - ये सब हैं। आत्मार्थीको निरंतर इसकी उपासना कर्तव्य है। आत्महितकी दुर्लभताको समझते हुए (यदि) अप्रमादित होकर इसकी उपासना करनेमें नहीं आये तो वह इस जीवका अविचारीपना है। पारमार्थिक श्रुतका अवलंबन इन्द्रियजय / इन्द्रिय निरोध पूर्वक होना चाहिये। उल्लासित वीर्यसे आत्महितको साधना चाहिये। (६५४)



आत्माकी अनन्त महिमा किससे ? निर्मल चैतन्यके अमृतरससे पूर्ण होनेसे। (६५५)



जिसको मुनिदशाकी भावना (पुरुषार्थ सहित) वर्तती हो वह श्रावक है। (६५६)



अनन्त शांतिके पिंड पर दृष्टि जाते ही (प्रत्यक्ष विद्यमान दिखने पर) शांतिके श्रोत ही श्रोत बहने लगते हैं। (६५७)



ध्येय शून्य तत्त्व-श्रवण, वांचन इत्यादि निष्फल हैं। (६५८)



सत्संगकी सकामतासे उपासना करनेसे सुलभ बोधिपनाका नाश होता है। बोध स्पर्शता नहीं है। (६५९)



सत्शास्त्र एवं सत्संग आत्मरुचि, आत्मरस एवं भावनाकी पृष्टिके निमित्त हैं, वहाँ भी अगर निमित्त प्रधानता हो गई तो उपादान गौण हो जाता है, इसे लक्षमें रखना चाहिये। (६६०)

जिसकी बुद्धि अनर्थ (दूसरेके अहित) में होती है उसको पूर्वापर (आगे-पीछे खुदके अहित)का विचार उत्पन्न नहीं होता है। वह खुदका नाश होता हो तो भी उसमें सुख मानता है।

(६६१)



‘प्रमाद परम रीपु है।’ कृत-कृत्य दशा होनेके पहले इसका भय रखना, वह निर्भय होनेका उपाय है।

(६६२)



जैन शासन वह वीतराग परिणति है। खुद ही (जितना) श्रद्धा, ज्ञान, आनंदरूप परिणमन करता है, उतना ही जैन शासन है।

(६६३)



शास्त्र अभ्यास करके अपनेमें जम जाना - इतना ही प्रयोजन है।

(६६४)



जिस ज्ञानके कारण वीतरागता निष्पन्न हो वह ज्ञान उपदेशका रहस्य है। वह आत्मस्वरूपका ज्ञान है।

(६६५)



चित्तमें परमार्थ सम्बन्धी रस उत्पन्न हो, अथवा परमार्थ-भावका विशेष आविर्भाव वर्तता हो, उस वक्त ही इसके सम्बन्धी (कुछ) कहना या (लिखना) उसे यथार्थ मान सकते हैं अथवा स्व-पर हितकारी होता है अन्यथा परमार्थ सम्बन्धी कहना या लिखना स्व-परको उपकारी नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रवृत्ति आत्मबुद्धिपूर्वक नहीं हुई है।

अतः परमार्थका प्रकरण लिखनेवालेको अथवा कहनेवालेको उस वक्त विषयके अनुरूप वीर्यकी प्रवृत्ति अंतरंगमें होनी चाहिये तो ही उसके अनुरूप वचनयोग प्रगट होगा।

वचन / वाणीकी यथार्थताका नाप अथवा प्रमाण इस प्रकार होना चाहिये। ज्ञानी / धर्मात्माकी वाणी हमेशा पुरुषार्थ प्रेरक होती है, अथवा आत्महित प्रेरक होती है; और उनके वचनयोगमें उक्त प्रकारसे परमार्थरसकी अभिव्यक्ति देखनेको मिलती है। जो कि ज्ञानीपुरुषकी पहचान होनेका कारण भी होती है। अतः ज्ञानी अस्थिरतावाले उदययोगमें ‘कल्पित भावसे’ परमार्थको प्रकाशित नहीं करते। वह योग्य ही है।

(६६६)



मुनिराजको सांसारिक प्रवृत्ति नहीं होनेसे परमार्थमार्गका उपदेशकपना होता है, क्योंकि वे स्वयं ही मूर्तिमंत मोक्षमार्ग स्वरूप हैं, इसके अलावा उनको वैसा उदययोग भी नहीं होता

कि जिससे अस्थिरतासे परमार्थ प्रकाशनमें कृत्रिमता हो। परंतु सहज छट्टे-सातवें गुणस्थानमें झूलते-झूलते उपदेशका कहना या लिखना हो जाता है। परन्तु (जब कि) ज्ञानीपुरुष प्रारब्ध-उदयमें बाह्य प्रवृत्तिका विरोधाभासीपना जानते हैं इसलिये परमार्थ प्रवृत्ति करते हुए बाहरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर अत्यंत विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, इसके उपरांत अंतरमें आत्मरसके आविर्भावपूर्वक (अस्थिरतावाले उदय-योगके अभावमें परमार्थ सम्बन्धी प्रवृत्ति करते हैं, इसके सिवा नहीं करते।

मुमुक्षुजीवको तो उपदेशकपना होता ही नहीं, वह खुद जिज्ञासाकी भूमिकामें है, इसलिए जिज्ञासुके रूपमें प्रवृत्ति करना ही उसके लिए उचित है। फिर भी खुदके स्वाध्याय हेतु दूसरे मुमुक्षुओंके साथ परमार्थ विषयक चर्चा आदि करनेमें आत्मरुचिको पुष्टि मिले उस लक्षसे प्रवृत्ति करनेमें दोष नहीं है। परन्तु लोकसंज्ञा या ओघसंज्ञासे प्रवृत्ति करनी नहीं चाहिये। इसके अलावा उपदेशक होनेका स्वच्छंद क्षयोपशमके कारण नहीं हो, इसकी अत्यंत जागृति रखनी चाहिये। (६६७)



जीव परिभ्रमण करते-करते कभी-कभार आत्मकल्याणकी भावनासे सत् देवादिके योगको प्राप्त होकर मोहको मंद करने तक आता है, परन्तु मोहका अभाव हो, ग्रंथिभेद हो इसके पहले ही संसार परिणामी होकर वापिस संसारमें जुड़ जाता है अथवा पीछे हट होती है, इसके कारणका विचार करने पर शुरुआत यथार्थ प्रकारसे नहीं हुई है। मोह मंद होनेके यथार्थ क्रममें नहीं चला। दृढ मोक्षेच्छा हुए विना, सप्रमाण वीर्यगति उत्पन्न ही नहीं हो सकती, यह स्वाभाविक है अथवा स्वलक्षीपना नहीं आनेके कारण परलक्षीपनेमें ही धर्मसाधनकी प्रवृत्ति होती है। अतः धारणाज्ञान उपयोगमें नहीं आ सकता। यह और इत्यादि निष्फलताके कारणका खचित विचार कर्तव्य है, और यथाक्रमसे, यथार्थरूपसे शुरुआत करने योग्य है। (६६८)



क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय अनेक अनर्थको उत्पन्न करते हैं। जिसका संक्षेपमें निम्न प्रकारसे विचार कर्तव्य है।

क्रोध होनेके वक्त आत्मामें बहुत क्लेश होता है। जिसके प्रति होता है वह यदि प्रियजन हो तो प्रीतिका नाश होता है, अन्य कोई हो तो वेर बंधता है और दुर्गतिका बंध पड़ता है। दूसरेको भय लगनेसे वह दुःखी होता है।

मान होनेसे विनय नष्ट होता है। अभिमानी जीवका श्रुत दूषित होता है, शील भी दूषित होता है। विनय करने योग्यके प्रति विनय नहीं रहता। बुद्धिमें संतुलन नहीं रह पाता।

मायाके परिणाम गुप्त पापरूप हैं। अतः यह अपराध स्व-परको नहीं दिखता परन्तु वह विश्वासका या मित्रताका नाश कर देता है। भविष्यमें इनसे दूर रहनेका लोग विचार करते हैं अथवा वर्तमानमें विश्वास रखनेसे पहले भूतकालको याद करके दूर रहते हैं। विपरीत श्रद्धाको दृढ़ करती है, हिंसा, झूठ इत्यादि...।

लोभके कारण सभी अवगुण आते हैं, अथवा सर्व (कोई भी) गुण (यदि हो तो) का वह विनाश करता है। शास्त्रमें (प्र. रति प्र. २९) लोभको सर्व प्रकारके व्यसन / दूषणको आनेका खुल्ला राजमार्ग कहा है।

इस प्रकार उक्त चार कषायोंको चारगतिरूप भयंकर संसारके कारण जाने। (६६९)



सत्पुरुषकी पहचान होकर उनके प्रति जिसे परमेश्वरबुद्धिपूर्वक परम विनय प्राप्त हुआ उसे ही आत्मस्वरूपकी पहचान हो सकती है, इसके सिवा अनादि मिथ्यादृष्टिको आत्मस्वरूपभूत परमात्माकी पहचान नहीं हो सकती। ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे जिनागममें जगह-जगह पर सत्पुरुषकी महिमा प्रकाशित हुई है; जिसकी प्रतीति होने पर स्वच्छंद नहीं होता अन्यथा स्वच्छंद मिटना बहुत मुश्किल है। 'बिना नयन पावे नहीं, बिना नयन की बात' - इस पदका मर्म भी उपर्युक्त रहस्यको प्रकाशित करता है। (६७०)



परिणाम दो प्रकारसे कार्य करते हैं। एक अवलंबन लेता हुआ और दूसरा अवलंबन लिए बिना सिर्फ जानकारीसे प्रवर्तन करना। अब मोक्षमार्गमें शुद्धनय द्वारा एक शुद्ध ध्रुव निजस्वरूप ही अवलंबन लेने योग्य है, गुणभेद या कोई भी पर्याय अवलंबन लेने योग्य नहीं है। गुणभेद, शुद्धाशुद्ध पर्याय व निमित्त जो कि व्यवहारनयके विषय हैं (समकित्त, शुद्धनय, वीतरागता इत्यादि भी) वह जानने योग्य है परन्तु अवलंबन लेने योग्य नहीं।

ये दो मुद्दें परिणामनमें यथास्थानमें नहीं रहने पर जीव अनादिसे पर्यायदृष्टि, होनेसे प्रायः उभयाभासी हो जाता है। जिसमें (वर्तमान) पर्यायमात्रमें वैसा अवलंबन रहा करता है, और अपने मूल स्वरूपका लक्ष / भान नहीं रहनेसे कल्पनामात्ररूपसे निश्चयकी श्रद्धा / मान्यता होती है - ऐसी स्थितिमें प्रवर्तना होता है और शुभयोगकी प्रवृत्ति / परिणामको योग्य व्यवहार माना जाता है, जो भ्रम है। इसके उपरांत शब्दनय भाषाके प्रकरणमें एक ही द्रव्य - भावको उसी स्वरूप निरूपित करना वह निश्चयनय है और उसीको उपचारसे अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपित करना वह व्यवहारनय है। वहाँ एक ही विषय दो प्रकारसे कहा जाता है। जिसका नाम निश्चय-व्यवहार है। (६७१)

सामान्यरूपसे स्वरूपका विचार करना, मनन करना, ऐसा उपदेश है, क्योंकि जीव उदयमें उदासीनता / नीरसताके अभावके कारण उदयपरिणामसे उपयोगकी निवृत्ति नहीं करता है।

परन्तु विशेषरूपसे सत्पुरुष ऐसा कहते हैं कि विचार करते रहनेसे तो विचारमें आत्मा परोक्ष रहता होनेसे आत्म-जागृति उत्पन्न नहीं होती। रुचिपूर्वक, ज्ञान लक्षणसे सदा स्फुरित ऐसे अखण्ड स्वरूपको ग्रहण करनेका (मौजूदगीका वेदन करनेका) प्रयास होना चाहिए, क्योंकि ग्रहण करनेमें आत्मा प्रत्यक्ष है, जब कि श्रवण-विचारमें आत्माकी परोक्षता होनेके कारण प्राप्ति नहीं होती। यह विधि विषयक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। (६७२)



ज्ञानमात्र आत्माका निश्चय होनेसे अध्यात्ममें वह परमसत्य, परम कल्याणस्वरूप, एवं अनुभव करने योग्य-रूप निश्चय करके उसकी रुचि / प्रीतिपूर्वक उसीमें संतोष प्राप्त करके, तृप्त होनेसे वचनातीत आनंदकी अनुभूति होती है। अतः 'ज्ञानमात्र' में, इतना ही सत्य है, इतना ही कल्याणस्वरूप है और इतना ही अनुभव करने योग्य है। इसके लिए अधिक पूछने-कहनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि रुचि, संतोष एवं तृप्तिसे उत्पन्न प्रत्यक्ष आनंदका वेदन होनेके लिए वांछा, कुतूहल आदि रहते / होते नहीं हैं। (६७३)



जनवरी - १९९१

ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें चैतन्यकी झनकार होती है। जिससे ज्ञानीपुरुष पहचाने जाते हैं। (यदि) इस झनकारसे आत्मामें अपूर्वता लगे व साथ ही साथ पुरुषार्थ उठे, तो स्वरूप समीपता होकर जन्म-मरणका नाश हो जाता है। ऐसा अमृत ज्ञानीकी वाणीमें भरा है, इसीलिए उनकी वाणीको 'वचनमृत' कहनेमें आता है। वह सिर्फ शब्द-अलंकार नहीं है।

ठीक उसी प्रकार द्रव्यदृष्टि व स्वरूप भावनासे प्रवाहित हुए आचार्यों व सत्पुरुषोंके तीखे वचन कोई भाषा अलंकार नहीं है परन्तु उसमें शांत अमृतरसके सरोवर छलकते हैं, लेकिन इसके लिए नजर चाहिए। (६७४)



धर्मात्माकी निर्दोष पवित्रदशा - गंभीरताको समझनेके लिए गहन / सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। इसमें भी कृपालुदेवकी सरलता व नम्रता तो अतीव स्तुति करने योग्य है। दूसरे किसीको भी संतापरूप होनेका स्वप्नमें भी जिनको विचार नहीं है, इसके बावजूद भी किसीको दुःखरूप हुए हैं ऐसा लगे तब दासत्वभावसे क्षमायाचना करनेके बाद कौन इसे दुःखरूप मानेगा ? उदयप्रसंगमें संतकी वर्तना कैसी होती है ! इसका बोध स्वयं मिल जाए ऐसे साक्षात् बोधस्वरूप

संतोंके चरणका परमभक्तिसे सेवन करने योग्य है।

(६७५)



स्वरूपनिश्चय परलक्षी ज्ञान / विचारमें नहीं हो सकता परन्तु अंतर प्रयोगकी भूमिकावाले जीवका ज्ञान स्वसन्मुख होने पर स्वसंवेदनके कारण अर्थात् स्वसन्मुखतामें ज्ञान-वेदन से ज्ञानका ग्रहण होने पर यथार्थ स्वरूपनिश्चय होता है। यही वास्तवमें ज्ञानकी प्रधानता है। वहाँ रागका सद्भाव होने पर भी एक न्यायसे 'अंशतः रागका अभाव करके' निश्चय किया - ऐसा कहनेमें आता है। निजावलोकनका प्रयास - उसरूप अभ्यास, परलक्षीज्ञानको स्वलक्षी होनेकी प्रक्रिया है। इसके सिवा सिर्फ बाह्य विचार, वांचनकी पद्धति कार्यकारी नहीं हो सकती। अनन्तकालमें जीवने कभी परसन्मुखता छोड़कर स्वसन्मुखता (प्राप्त) नहीं की है। प्रथम स्वरूपनिश्चयके कालमें पुरुषार्थ, पात्रता व स्वसन्मुखता (उत्पन्न) होते हैं, जो अपूर्व है।

(६७६)



संग किसका करना ? यह मुमुक्षुके लिए अति महत्त्वका प्रश्न है। सामनेवाले जीवकी परीक्षा करनेमें, तथारूप मध्यस्थता, क्षमता, योग्यता इत्यादि अपेक्षित है। अतः इसका सुगम उपाय यह है कि जिसके संगसे आत्मार्थकी पुष्टि हो अथवा आत्मताके प्रति परिणाम गति करते हो, इस प्रकारकी खुदके परिणामनमें जाँच करके, इसके अनुकूल संग - वैसा सत्संग सम्मत करने योग्य है, अथवा निमित्तका ज्ञान इस प्रकार उपादानके द्वारा यथार्थ होता है, ऐसा संगका प्रसंग समझने योग्य है।

(६७७)



परिणाममें मुख्य-गौणता दो प्रकारसे होना संभवित है। उपयोगमें और परिणतिमें। ज्ञानदशामें स्वरूपकी मुख्यता हमेशा परिणतिमें रहती होनेसे उपयोगमें उदयप्रसंग मुख्य होता है परन्तु वह परिणतिको प्रतिकूल होनेके कारण सुहाता नहीं है (बल्कि) निषेध आता है। अतः उपयोगमें आत्मा गौण होनेके बावजूद भी ज्ञानदशा चालू रहती है। क्योंकि परिणतिमें आत्म-ध्यान व लक्ष छूटता नहीं है। उसमें तो स्वरूप ही मुख्य रहता है।

(६७८)



आश्चर्य इस बातका है कि पू. गुरुदेवश्रीके सानिध्यमें (!) सेवामें (?) साराका सारा जीवन बिताने पर भी गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्वकी भेदरेखाको नहीं समझ पानेसे भूल होती है ! वादविवाद व दुराग्रहका सेवन होता है !!

यह दृष्टांत मुमुक्षुजीवको बोध लेने जैसा है। यथार्थ क्रमसे-दृढ मोक्षेच्छासे यदि प्रारम्भ नहीं किया जाता है तो मंदकषाय पूर्वक त्याग - वैराग्य एवं परलक्षी शास्त्रज्ञान संपन्न जीवके

प्रति व्यामोह होनेसे, वैसे लोगोंका अनुसरण हो जाता है।

अतः मोक्षके इच्छुक जीवोंको दर्शनमोहकी यथार्थ मंदता - उसरूप पात्रतापूर्वक, श्रद्धाकी प्रधानतावाले दृष्टिकोणसे अनुसरण करनेकी नीतिका ग्रहण करने योग्य है। (६७९)



भेदज्ञानपूर्वक, राग व परसे भिन्नरूप खुदका अनुभव नहीं हुआ हो तो प्रारब्धका उदासीनतापूर्वक सहज वेदन नहीं हो सकता, ऐसेमें आत्मार्थीजीवको प्रयत्नवंत रहकर भेदज्ञानका प्रयोग बलवानरूपसे कर्तव्य है। धन्य हैं वैसे ज्ञानीपुरुषको, जो प्रारब्धका वेदन करते वक्त समाधि - विराधना नहीं होने देते, उतने आत्मभावमें रहते हैं। और प्रारब्धके तीव्र अनुभागका वेदन करते हुए विशेष निर्जरा करके अल्पकालमें सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञानी सहजभावसे वर्तते हैं, जिसमें स्वरूप जागृति एवं पुरुषार्थ-दशाका वर्धमान होना सहज बनता है। (६८०)



समकितके पहले मुमुक्षुको अनन्तानुबंधी होता है, फिर भी प्रयत्नपूर्वक / जागृतिपूर्वक उदासभाव संयुक्त अथवा मंदरसयुक्त परिणामसे परिणामन करनेका मुमुक्षुधर्म है। वरना निरंकुश परिणामकी प्रवृत्ति संभवित है; (जहाँ) निर्ध्वश परिणाम होते हैं, वहाँ भव भय नहीं होता; वैसी निर्भयतासे भोगादिके प्रति होनेवाले परिणामसे मुमुक्षुता भी कैसे बनी रहेगी ? (६८१)



ज्ञानी अपना उपजीवन / आजीविका पूर्व प्रारब्ध अनुसार करते हैं, उस वक्त खुदकी दशाको हानि हो वैसे प्रवृत्ति नहीं करते हैं। तद्अनुसार मुमुक्षुजीवको सावधानी / जागृति विशेषरूपसे रखकर प्रारब्धको भुगतना योग्य है, मुख्यमें मुख्यरूपसे इस बातका लक्ष रखना योग्य है कि आत्मकल्याणसे विशेष जगतमें कोई पदार्थ नहीं है अतः कोई भी पदार्थ या प्रसंगको इतनी अधिकता नहीं देनी चाहिये कि जिससे निजहितका नुकसान हो। यद्यपि बलवान उदयकालमें ऐसी धीरज रहनी विकट है, बहुत विकट है फिर भी प्रयत्न साध्य होनेसे, प्रयत्न कर्तव्य है। (६८२)



दानके लिए उत्कृष्ट पात्र मुनिभगवान है। मध्यम देशविरती श्रावक है। जघन्य अविरती सम्यक्दृष्टि है। तद्उपरांत जिनायतन और सत्शास्त्रादिकी प्रवृत्ति स्थान है। इसके अलावा संसारमें दुःखी प्राणीके प्रति करुणासे जो दान देनेमें आता है वह लौकिक है, जो गौणरूपसे होना चाहिए। इसके अलावा आत्मार्थी जीवको धर्मकी प्राप्ति हो - वैसी बुद्धिसे वात्सल्य भावसे मदद या दान देनेमें आता हो तो वह योग्य है, फिर भी इसमें इतनी सावधानी रखनी आवश्यक

है कि वह लेनेकी वांछामें रहा करता हो अथवा लेनेकी वांछावालेकी वृत्तिको पोषण मिले वैसा नहीं होना चाहिये। (६८३)



उपदिष्ट वचन, बोध / सिद्धांतकी समझ होनेके बावजूद भी क्रम विपर्यासके बारेमें समझ नहीं होनेके कारण अक्रमसे प्रवृत्ति करनेमें निर्धारित सफलता नहीं मिलती है। इसलिए जो मुमुक्षुजीव सन्मार्गकी गवेषणा करना चाहता है उसका उलझनमें आना स्वाभाविक है, और क्रमको छोड़कर सद्विचार व सत् सिद्धांतका अनुसरण करनेका प्रयत्न करनेमें मार्गकी और सिद्धांतकी प्रतीति आती है, फिर भी आगे बढ़ना नहीं हो पाता, इसलिए मूल समस्याका समाधान नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति प्रायः बनती है। तब इसका समाधान ऐसा है कि यदि क्रमसे ही शुरुआत करनेमें आये तो सहजतासे आगे बढ़ा जा सकता है, इसके अनुपातमें परिणाम स्वकार्य करने लग जाते हैं और चमत्कारिक रूपसे मार्गका विकास सधता है। मानो जैसे मुमुक्षुने भीतरकी कोई नयी दुनियामें प्रवेश न कर लिया हो ! और उस अलौकिक दुनियाका प्रवास - विहार होने लगता है। यह मार्ग प्राप्तिकी नियति है। (६८४)



किसी भी वृत्ति / मन पर नियमन लादना अर्थात् दमन करना, वह अवैज्ञानिक है अथवा कृत्रिम है, अर्थात् कुदरत विरुद्ध है, जो कि शांति प्राप्त करनेकी रीत नहीं है - उन्मार्ग है। परंतु उसका निरीक्षण करते रहना अर्थात् अवलोकनका अभ्यास करनेसे उसका वेग गल जाता है - क्षीण हो जाता है और सहजरूपसे शांतिकी दिशा प्राप्त होती है जो वैज्ञानिक है। निरीक्षण द्वारा वृत्तिको जितना समझना हो पाता है उतना ग्रंथ पढ़नेसे या उपदेश वचन श्रवण करनेसे नहीं बन पाता। तद्उपरांत निरीक्षणसे श्रेष्ठ व यथार्थ उपशमन (वृत्तिका) होता है। जो विशेष बात है। (६८५)



तत्त्व-जिज्ञासाका अनुमोदन कर्तव्य है। फिर भी कुतूहलवृत्ति, सिर्फ जानकारी बढ़ानेकी कुतूहलवृत्तिका अनुमोदन कतई करने योग्य नहीं है। परलक्षी ज्ञान और पररुचि / अनात्मरुचि आत्महितको नुकसानकर्ता होनेसे वैसे परिणामोंको जिज्ञासाके बहाने पोषण नहीं मिले इसकी सावधानी रखने योग्य है।

सामान्यतः अनादि पररुचिके कारण जानकारी बढ़ानेकी, संग्रह करनेकी संग्राहक वासना जीवको हो जाती है, इसलिए सावचेत हो जाना चाहिए; और यथार्थ जिज्ञासापूर्वक आत्मरुचिको पोषण देना चाहिये। तथापि ज्ञानमें स्वलक्षीपना लाना चाहिये। (६८६)

प्रत्येक कार्य यथार्थ होवे, ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। इसके लिए यथार्थ समय पर यथार्थरूपसे और अचुकतासे कार्य हो, ऐसा सीखना चाहिए, जो कि सफलताका वैज्ञानिक क्रम है। कार्यकी यथार्थता वह कार्यकी सुंदरता है और इससे निपुणता व क्षमता प्राप्त होती है, शक्तिका अपव्यय नहीं होता है - अथवा समय व शक्तिका पूरा फायदा मिलता है। शक्तिके विकासका आधार भी यथार्थता पर है, जैसे कि यथार्थ सुविचारणासे आत्मज्ञान प्रगट होता है।

(६८७)



मोक्षमार्गमें जैसे-जैसे स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा विज्ञानघन होता जाता है। विज्ञानघन होता जाता है यानी कि ज्ञानमें ज्ञानवेदन घनिष्टताको प्राप्त होता जाता है। ऊपर-ऊपरके गुणस्थानमें यह वेदन घनिष्ट होता है। इसीलिए मुनिदशामें वेदनकी घनिष्टताके कारण अन्य द्रव्यभाव ज्ञानमें प्रतिभासित होने पर भी ज्ञान अत्यंत निर्लेप भावसे सहज रहता है। उपसर्ग-परिषहको ज्ञानमें जानते हुए भी उसकी असर नहीं होती। केवलज्ञानमें संपूर्ण ज्ञानघनपना होनेसे लोकालोक प्रतिभासित होने पर भी ज्ञान संपूर्ण स्वसंवेदनमें रहता है। जो अरिहंत प्रतिमामें प्रसिद्ध होता है, और जिनेन्द्र दर्शनमें यह पूर्ण घनिष्ट स्वसंवेदन, दर्शनार्थीको निज स्वसंवेदनका स्मरण अथवा जागृतिका निमित्त होता है। अहो ! शाश्वत जिन प्रतिमा यह कुदरतका कैसा पारमार्थिक संकेत है !!

सत्य, सत्यधर्म, सत्यधर्मके निमित्त, अनादि अनन्त विश्वमें मौजूद है। कैसी गंभीर व कुदरती घटना !! रचना !!

आत्महित / परमार्थके प्रयोजनवानके लिए सहज नैसर्गिक व्यवस्था !! (६८८)



जैसे मोक्षकी प्राप्तिकी शुरुआत सम्यक्दर्शनसे है, वैसे मोक्षमार्गकी प्राप्तिकी शुरुआत पूर्णताके लक्षसे है। दोनों वैज्ञानिक होनेसे सहजताके उत्पादक हैं, अर्थात् दोनों पर्यायके अकर्तृत्वको उत्पन्न करनेवाले हैं। अतः मुमुक्षुजीवको कृत्रिमतासे श्रेय प्राप्तिका अभिप्राय छोड़कर सहजता अंगीकार करने योग्य है। जिसे पूर्णताका लक्ष होता है उसे उपदेशबोध ग्रहण करनेमें कृत्रिमता नहीं होती; अथवा विधि-निषेधके प्रकरणमें प्रायः मुमुक्षुजीव उपदेशका ग्रहण कर्तृत्वपनेसे करता है, और इसलिए निर्धारित सफलता नहीं मिलती है। ऐसी स्थितिमेंसे वह बच जाता है और सफलताकी ओर यथार्थ प्रकारसे आगे बढ़ता है। मार्गमें आगे बढ़नेमें अगर यथार्थता होगी तो हरएक स्तरमें संतुलन रहता है।

(६८९)



फरवरी - १९९१

भावसंतुलनके विषयमें अभिप्राय व आचरणके बीच मुमुक्षुजीव और साधक संतुलन बनाये रखते हैं। अभिप्राय तत्त्वदृष्टिपूर्वक ध्येय प्रत्ययी होना चाहिए, जो हमेशा अफर होता है। जब कि आचरण भूमिका अनुसार अथवा शक्ति अनुसार होता है। दोनोंके बीच संतुलन रहता है तब क्रमिक विकास सधता है। संतुलन गवाँनेसे पतन होता है अथवा नुकसान होता है। वजन तो अभिप्राय पर होता है, आचरण गौण रहता है, इसलिए आचरणका 'अहम्' नहीं होता। 'पूर्णताके लक्षसे' प्रत्येक भूमिकामें सहज संतुलन बना रहता है, अन्यथा संतुलन नहीं रह पाता।

आचरणमें शुभभाव होते हैं परन्तु श्रद्धा - ज्ञान पूर्वक अभिप्राय द्वारा उसका निषेध रहता है, इस प्रकार विधि - निषेध पूर्वक सहज कार्यसिद्धि है। (६९०)



ज्ञान सामान्य धारावाहीरूपसे परिणमन कर रहा है, परन्तु ज्ञेयाकारोंकी रुचि, मुख्यता व आकर्षण होनेसे उसका आविर्भाव हो रहा है। आश्चर्य है कि ज्ञानविशेषके आविर्भावसे आकुलता, अतृप्ति होने पर भी जीव ज्ञानसामान्यके प्रति झुकता नहीं है, अथवा वैसा करनेमें उसका ध्यान नहीं जाता है।

स्वरूपकी पहचान व महिमासे सहजरूपसे सामान्य स्वभावके आकर्षणसे अनेकाकार ज्ञानके प्रति उदासीनता और नीरसता आती है, और स्वरूपग्रहणके प्रयासमें ज्ञानसामान्यका सहज आविर्भाव होता है - यह विधि है। (६९१)



वीतरागमार्गमें रागकी उपादेयता नहीं है, फिर भी मार्गमें प्रवर्तमान धर्मात्माको साधकपनेके कारण रागांश वर्तता है, उनकी सहज स्थिति होनेसे चौकस मर्यादा भी है। यानी कि जिस भूमिकामें सहज स्थितिमें जो रागादि होते हैं, वे होते ही हैं, उसकी उपादेयता नहीं होने पर भी वे होते ही हैं, ऐसा जानना वह यथार्थ व न्याय संगत है। यदि ऐसा नहीं है तो अवश्य वहाँ उस भूमिकाकी साधकदशा तो नहीं है, परन्तु उस भूमिकासे निम्न कोटिकी अशुद्धताका सद्भाव अथवा विपर्यासका सद्भाव होता है।

इतना ही नहीं भूमिकाके अयोग्य / अनुचित रागादि जहाँ होते हैं वहाँ तो अंतर वीतरागता संभवित ही नहीं है अथवा मुमुक्षुता भी संभवित नहीं है (यदि मुमुक्षुके योग्य भूमिकाके परिणाम नहीं हो तो विराधक भावोंका अवश्य प्राबल्य होता है।) (६९२)



अकृत्रिम सहज स्वभावके साथ, परिणामका सहजरूपसे होना, वह शोभा देता है, अथवा जहाँ स्वाभाविकता और सहजता हो, वहीं यथार्थता या सम्यक्ता होती है, अन्यथा नहीं होती। स्वद्रव्यका कर्ता-कर्मपना सहज अकर्ताभावसे 'पूर्णताके लक्षसे' प्रारम्भसे ही चालू होता है, और रागके कर्तृत्वका मूलसे छेद करके, कर्ता-कर्मकी मिथ्या प्रवृत्तिका नाश करके, अपूर्व सम्यक्त्व (निर्वाणको देनेवाला) को प्राप्त होता है। इसीलिए :

श्री समयसारजीमें परभाव और परद्रव्यके कर्तृत्वको संसारका मूल अथवा अज्ञानका फल बतलाया है। इसलिए यह निश्चित होता है कि कर्ता-कर्मपना अज्ञानके कारण है और ज्ञानके कारण अकर्तापना / ज्ञातापना है। (६९३)



मुमुक्षुको विचारकी भूमिकामें तत्त्व सम्बन्धी समझ प्राप्त होती है, जिसमें रस / बल का प्रमाण परोक्षताके कारण सामान्य अथवा अल्प होता है। परन्तु अवलोकनकी भूमिकामें अनुभवकी प्रत्यक्षता होनेसे ज्ञानबल, प्रतीति, कार्यरस विशेष होनेसे वह परिणमन आनेका कारण बनता है। अतः सिर्फ विचार-ज्ञानसे कार्यसिद्धि नहीं होती है - अथवा (सिर्फ) विचार करनेसे ज्ञानमें विकास होकर भावभासन नहीं हो सकता। भावभासन होनेके लिए प्रयोग अनिवार्य है, इसलिए, सिर्फ विचारकी पद्धति परिणमन होनेके लिए पर्याप्त नहीं है, उसमें ध्येय शून्यताके कारण थकान लगती है। (यदि) प्रयोग ध्येयके लक्षसे होता है, तो उसमें थकान नहीं लगती, परन्तु कार्यरस वृद्धिगत होता जाता है। (६९४)



'मैं प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र भाव हूँ।' इसमें सारा समयसार आ जाता है। साध्य-साधक अधिकार (कलश २७१)में उक्त वचनामृत भगवान अमृतचंद्राचार्यदेवका है। उसमें अन्य ज्ञेयको जानना, उसे भ्रांति कही है। उसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोषका निषेध किया है; परन्तु उसमें स्व-पर प्रकाशकपनेका - स्वभावका निषेध नहीं किया है, ऐसा समझने योग्य है। श्लोक २७१का तात्पर्य यह है कि - 'मैं स्वयंको / स्वरूपको वैद्यवेदकरूप जानता हूँ' (अभेद अनुभवरूप) वहाँ अन्य ज्ञेयसे क्या प्रयोजन है ? (६९५)



उपयोगको अंतरंगमें ज्ञानसामान्य पर अनुभवदृष्टिसे ले जाना; अनुभव दृष्टि 'मैं-पने' रूप होनेसे, ज्ञान सामान्य सदृश अति निकट द्रव्यमें 'मैं पना' सहज अपनेआप आता है। इस प्रकार अंतरंगमें भेदज्ञान होना चाहिए। उल्लासित वीर्यसे अर्थात् आत्महितके उल्लासपूर्वक सहज प्रयत्न -वारंवार स्वसन्मुखताका कर्तव्य है, धारावाही रहे तब तक। वह शुद्ध उपयोगका कारण

है।

(६९६)



ज्ञानमें स्वयंका वेदन सहज स्वभावके कारण होता है, फिर भी स्वानुभवके कालमें जो स्वसंवेदन होता है, उसमें घनिष्ट संवेदन होता है।

यह स्वसंवेदनकी तारतम्यता बहुत होती है क्योंकि वह सर्वज्ञ स्वभावके अवलंबनसे उत्पन्न हुआ है, और स्वसंवेदनपूर्वक स्वभाव और पूर्णताकी प्रतीतिका वेदनरूप कारण यह स्वसंवेदनको गाढ़ करनेमें सहायक बनता है, अतः विश्वकी समस्त अनुकूलताओं व प्रतिकूलताओंसे उन्मुख होकर वह प्रवर्तता है। इसके अलावा पूर्ण स्वसंवेदन कि जिसकी तारतम्यता अनन्त है, इसका कारण भी (नियमसे) वर्तमान स्वसंवेदन है। यह स्वसंवेदन आत्माका जीवन है, पवित्र जीवन है। यहाँ वेदनमें जीवंत आत्मतत्त्व उपलब्ध है। ग्रंथ-ग्रंथोंमें इसकी स्तुति देखने मिलती है। अमृतरसका कंद आत्मा है। उसका रसास्वादन स्वसंवेदनमें है। वहाँसे हटते ही अन्य सर्व क्लेशरूप हैं। शुद्धोपयोगके कालमें रागका अभाव (जो कि वेदनमें प्रतिबंधक था) होनेके कारण ज्ञानवेदन आविर्भूत होता है।

(६९७)



अध्यात्मशास्त्र, यदि दर्शनमोह कम हुआ हो जिसका, वैसे पात्र मुमुक्षुजीवको अवगाहनमें आये तो परमार्थ प्रतिके परिणमनमें समीपता होती है, वरना सिर्फ धारणाका विषय बनकर रह जाता है, और दर्शनमोहपूर्वक उदयभावोंमें तीव्ररससे प्रवर्तन होता है। जिसमें उदासीनता/उपेक्षा होनी चाहिये वैसे उदयप्रसंगमें नीरसता आये बिना अध्यात्मबोधकी असर नहीं होती, (और) तब जागृतिका अभाव रहा तो जानकारीका दुष्ट अभिमान भी हुए बिना नहीं रहता। अतः अध्यात्म शास्त्रका ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे, उनके सानिध्यपूर्वक अवगाहन करना उचित है, अथवा तीव्र मुमुक्षुता / पात्रताकी भूमिकामें अध्ययन होना हितकारी है। दर्शनमोहकी तीव्रतावाले जीवको निश्चयकी बातें प्रायः स्वच्छंदका कारण होती है।

(६९८)



भेदज्ञान अंतरंग सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे किया जाता है। जिसमें ज्ञान प्रकाशरूप - निराकुलभावरूप, अपनेरूप अनुभवमें आता है और राग आकुलतारूप, जड़ या अंधकाररूप, पररूप जाननेमें आता है। सहजरूपसे भिन्न व विरुद्ध प्रकारके भाव जैसे हैं वैसे भिन्न ही जाननेमें या वेदनमें आते हैं, (लेकिन) अगर तथारूप अंतर अभ्यास हो तो।

इस मोक्षके कारणका परम प्रेमसे सेवन करना योग्य है, अथवा उपासना करने योग्य है।

(६९९)

जिसकी दशा मोहरहित हुई है ऐसे निर्मोही पुरुषकी दशाका बहुमान-भक्ति, भक्ति करनेवालेके दर्शनमोहको परिक्षीण कर देती है; अथवा ऐसे भक्तितानके मोहका अनुभाग सहजरूपसे कम होता है / टूट जाता है; यह निःसंशय है। यह रहस्यभक्तिका स्वरूप है; जो सहजरूपसे निष्कामस्वरूप ही होती है। मोहका अभाव होना दुष्कर है, फिर भी सुगमतासे होवे इसके लिए महापुरुषोंने इस भक्तिका बोध दिया है। फिर भी (इसके लिए) वैसे निर्मोही महात्मा होने / मिलने चाहिए। जिस धरातल पर ऐसे आत्मा विचरते हैं, वह धरा भी धन्य है।

सत्पुरुषकी विद्यमानताकी दुर्लभता तीनोंकाल रही है, तो फिर इस कालमें दुर्लभ हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु मुमुक्षुजीवको आश्रयभक्तिकी भावनामें रहने जैसा है। अविद्यमानता देखकर, अगर भावना बढ़ती है तो पात्रता है और अविद्यमानता देखकर भावना छूट जाय या मंद पड़ जाय तो पात्रताका अभाव है। पात्रतावालेकी भावनामें फर्क नहीं पड़ता।

(७००)



मार्च - १९९१

स्वरूप प्रत्यक्षता - अनन्त प्रत्यक्षताके भासन बिना पुरुषार्थका अंतर्मुखी वेग जितना उठना चाहिए उतना नहीं उठता, और तब तक विचारकी भूमिकामें ही अटकना होता है; अथवा तब तक उदयभावसे भिन्नता नहीं हो सकती। उदयमान संयोग व उदयभावके साथ सिर्फ संयोग सम्बन्ध प्रारब्धयोगसे है; फिर भी स्वरूपकी अनन्त प्रत्यक्षता ही उन सभीसे प्रत्यक्ष भिन्नताकी प्रतीति कराकर वास्तविकरूपसे भिन्नताका अनुभव कराती है; जिससे कि विषम भावके निमित्त बलवानरूपसे प्राप्त होनेके बावजूद भी ज्ञानीपुरुषों अविषम उपयोगसे रहे हैं, रहते हैं और रहेंगे; ऐसे अविषम उपयोगको धारण करनेवाले - निरपेक्षभावसे रहनेवालेको नमस्कार हो !!

स्वयंके परमपदका - परमात्माका अभेद भावसे वेदन करनेमें, उपयोगमें उत्कृष्ट व्रत, तप, नियम, लब्धि व ऐश्वर्य समा जाते हैं। - ऐसा मूल्य अंकित हुए बिना शुभभावोंकी रुचि नहीं फिरती।

(७०१)



बाह्यवृत्ति छूटनेके लिए बाह्य प्रसंग व वृत्तिकी निरर्थकता भासित होनी चाहिए, और बाह्यवृत्तिका उपाधिपना खटके, तो ही उदासीनता आती है; परमार्थका विषय तब तक लक्षगत होना दुर्लभ है। लक्ष विहीन धारणा बाह्यवृत्तिको रोक नहीं सकती, अतः तत्त्व-अभ्यासकी प्रवृत्ति करनेवाले, मुमुक्षुओंको अस्ति-नास्ति दोनों पहलूसे जागृतिपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

(७०२)



सत्स्वरूपकी प्राप्ति हेतु, दर्शनमोह पतला होने पर, प्राप्तिकी सहजता / सुगमता होती है। यह दर्शनमोहका भी सुगमतासे कम होनेका उपाय ऐसा है कि :

सत्पुरुषके वचनकी प्रतीति, आत्महितके हेतुसे इतनी दृढ रहती है कि अंशमात्र उसमें विकल्प होनेका अवकाश नहीं हो।

सत्पुरुषकी आज्ञाकी अपूर्वरुचि इतनी रहे कि प्राणसे भी अधिक समझते हुए आज्ञामें रहना होवे।

सर्वार्पणभावसे सत्पुरुषकी भक्ति होनेसे स्वच्छंद निरोध सहजतासे हो, दोष गले, परम विनयसे मान गल जाये, अपूर्व जिज्ञासामें (सत्की) रहना होवे। (७०३)



भावभासन हुए बिना निज अध्यात्मतत्त्वका चिंतन, काल्पनिक, कृत्रिमतायुक्त होनेसे व्यामोह उत्पन्न करता है। परिणामतः वैसा चिंतन प्रायः शुष्कता, स्वेच्छाचारीता व उन्मत्तप्रलापता पैदा करता है। इसलिए स्वरूपानुभवी पुरुषोंने जिनेश्वरकी भक्ति द्वारा, स्वच्छंदका निरोध कराकर, स्वरूपके प्रति स्वाभाविक अध्यात्म प्रधानताके हेतुसे भावनामयपना उत्पन्न होवे, वैसा मार्ग अपनाया है। क्योंकि यथार्थ मूल दृष्टिसे देखे तो जिनेश्वरकी पूजा वह आत्मस्वरूपका ही पूजन है। इस प्रकार जिनप्रभुकी स्थापना भी उपकारी है। जैसे मानो उन्मार्ग पर जानेवालेको रोक लेती हो और सन्मार्गकी ओर ले जाती हो ! अहो ! महापुरुषकी आशय गंभीरता !! व निष्कारण करुणा !! अहो अहो !! (७०४)



सत्संगके अभिप्रायसे समूह स्वाध्याय हो तो वह योग्य है, उपदेशकके अभिप्रायसे नहीं क्योंकि अपनी दशामें बोधबल प्रगट करना है। इसलिए दशाकी प्रगटता हुए बिना अथवा प्रगट करनेके प्रयास बिना मिथ्या-उपदेशकी प्रवृत्तिसे उलटा बोधबलको आवरण आता है - ऐसा जानकर आत्मार्थी जीवको सावधानी रखकर निरावरण होनेके उद्देश्य पूर्वक प्रवर्तन करना चाहिए। दूसरेको उपदेश देते हुए, अथवा प्रेरणा देते हुए अथवा आग्रह करते वक्त उपरोक्त बातको लक्षमें लेकर मौन रहना हितावह है, अथवा श्रेयस्कर है। बिना सोचे-समझे यह जीव अनन्तबार सिद्धपद तकका उपदेश दे चुका है। परन्तु इससे किसीका कल्याण नहीं होता (बल्कि) सिर्फ लोकसंज्ञा बढ़ती है और इससे खुदका ही अहित होता है। (७०५)



मुमुक्षुजीव देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुषके प्रति बहुमान, भक्ति, विनयादि करता है फिर भी उसमें दो प्रकार पड़ते हैं, यथार्थ और अयथार्थ।

उपरोक्त परिणाम यदि यथार्थ प्रकारसे होते हैं तो सर्वत्र ऐसे परिणाम सहज रहते हैं अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र और कोई भी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सत्पुरुष विषयक प्रभावनाका प्रसंग उदयमान होवे तब भक्ति, विनयादिमें फर्क नहीं पड़ता, जब कि अयथार्थतामें जीव कोई भी अवांतर (अन्य) हेतुसे अथवा विपरीत अभिनिवेशके कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका किसी न किसी बहाने निषेध करता है, और वैसे परिणामोंको विवेक समझकर उसका सेवन करता है, अथवा विपर्यासको दृढ करता है। किसी एक प्रसंगमें विरुद्धता होनेका कारण यह है कि जीव यथार्थतामें नहीं आया है; परन्तु अन्यत्र खुदके परिणाम भक्ति-विनयके होनेसे खुद भूलमें नहीं है, ऐसे भ्रममें रह जाता है - इस प्रकार गंभीर भूल हो जाती है। जो समय व्यतीत होने पर स्थूल गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न करा देनेके बीजभूत है। (७०६)



ज्ञानदशामें निज चैतन्यमूर्तिमें व्याप्य-व्यापकभावसे सुखानुभव अर्थात् अमृतरसका आस्वादन होता है। जिस स्वादके वशीभूत समस्त व्यवहार रत्नत्रयके परिणाम (जिसमें मनकी शांति / साताका वेदन होता है) उसके प्रति भी सहज उदासीनता आ जाती है। देवादिक परद्रव्य प्रतिके परिणाममें एकाकार भावसे रस अथवा जागृतिका रहना - होना, वह स्वभावके अरस परिणामको प्रदर्शित करते हैं। इसलिए बाह्य पदार्थ आश्रित बहिर्मुख परिणामोंसे कोई लाभ नहीं है, यह न्याय तीरके माफिक लगे बिना बाह्यभावोंमें जो बहिर्लक्ष है, उसके ऊपर असर होवे तो, और तभी उन्मुखताका पुरुषार्थ बदलकर स्वभाव सन्मुखताका पुरुषार्थ होता है। अतः मुमुक्षुजीवको बाह्यभाव होते हो तब बाह्यलक्षका नुकसान समझकर, अंतर्लक्षमें आना चाहिए, और तीव्र बाह्यरस होनेके वक्त क्षोभ (अंतरमें) होना चाहिये (शुभ-अशुभ दोनों प्रकारमें)।

(७०७)



प्रारब्ध अनुसार उदयमान संयोगोंके बीच रहते हुए भी जिनकी दशा भिन्न अथवा निराली रहती है, आश्चर्यकारक ऐसी वह चैतन्यमूर्ति विकल्पका स्पर्श भी नहीं करती है, ऐसे ज्ञानीपुरुष मिलनेके बावजूद भी जो मुमुक्षु होते हुए भी रस-रुचिसे, कामनापूर्वक, आत्मभावसे, स्वच्छंदपूर्वक, मिटासका वेदन करके, अधिकाई देकर, ज्ञानीपुरुषके वचनरूप आज्ञाकी उपेक्षा करके, अनुपयोग परिणामी होकर यानी कि आत्माके अहित सम्बन्धी जरा भी सावधानीका अंश नहीं रखते हुए उदयको / संसारको भजता (सेवन करता) है, उसे वास्तवमें ज्ञानीपुरुष मिले ही नहीं। और वह जीव तीर्थकरदेवके मार्गसे बाहर है। सच्चे मुमुक्षुको तो उदयके बीच खड़े रहना पड़े उसका त्रास वर्तता है, उदयमें प्रतिबद्धताका भाव भयंकर यम दिखे, तो ही वहाँसे हटनेका

प्रयत्न होता है।

(७०८)



वर्तमानकालमें सत्संगकी बहुत हानि हो चुकी है। इस विषयमें घोर अंधकार छा गया है। ओघसंज्ञासे, प्रसिद्धि प्राप्त ज्ञानीपुरुष (जो विद्यमान नहीं है) उनके वचनोंका कल्पित अर्थ समझकर, मति कल्पनासे मार्गका आराधन, संप्रदायबुद्धिसे होने लगा है। यथा :

'पद गाना' उसे ही भक्ति समझकर उस प्रवृत्तिकी प्रधानता कई जगह वर्तती है, तो कहीं पर शास्त्रके वांचन, अर्थघटन सम्बन्धी विवाद, एवं उपदेशवृत्तिरूप स्वच्छंदका दर्शन होता है। परन्तु सत्संगकी जो अपूर्वता, मुमुक्षुकी भूमिकामें उसका महत्त्व व जरूरियात पर किसीका लक्ष हो या उसका यथार्थ भान हो, वैसा नहीं दिखता। सम्यक्दर्शनकी महिमा गानेवाले सिर्फ व्यक्तिपूजाके संकुचित मानससे पीड़ित हैं, और इसके द्वारा ओघसंज्ञाका प्रदर्शन कर रहे हैं।

ज्ञानीकी पहचान नहीं होनेसे, मुमुक्षुको परस्पर सत्संगकी आराधना कैसे करना ? यह बात लुप्त हो चुकी है, ऐसेमें अंतरखोज तो होवे ही कहाँसे ?

(७०९)



जिस मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुषका प्रत्यक्ष समागम हुआ हो, उस सत्संगमें शिक्षा-बोध सुना हो, उसके फलस्वरूप सहजरूपसे ऐसे स्थूल दोष तो छूट जाने चाहिए, कि जिससे दूसरे जीवको उस महापुरुषका और उनके सत्संगका अवर्णवाद बोलनेका प्रसंग नहीं आये। इस प्रकार ज्ञानीपुरुषके समीप रहते / अंतेवासी जीवोंकी दूसरे साधारण कहलानेवाले मुमुक्षुसे अधिक जिम्मेदारी है। जिस ज्ञानीपुरुषने लोकोत्तर तत्त्व दिया, उसका श्रवण करनेवाला लोकोत्तर मार्गका अनुसरण करनेका कामी (इच्छुक) होनेसे उसके व्यवहारका स्तर साधारण लौकिकजनसे विशेषतापूर्ण होना चाहिए। ज्ञानीपुरुषके प्रति अत्यंत भक्ति भी सहजरूपसे ऐसी योग्यताको प्राप्त कराती है, और दुर्व्यवहार करनेवालेको भी क्षोभ होता है। सामनेवालेको ऐसा लग जाता है कि 'निश्चित रूपसे इसको कोई सत्पुरुष मिले हैं' - इस प्रकारकी विशिष्ट छाप अथवा चोट लगे ऐसा होना चाहिये।

(७१०)



वक्तापना, लेखकपना, कवित्व इत्यादि प्रकारसे क्षयोपशम-विशेषता मुमुक्षुजीवको होनी संभवित है। उसवक्त उन-उन प्रकारकी विचक्षणताएं दिखानेका प्रकार सहज उत्पन्न होना संभवित है। परन्तु वैसा प्रकार आत्मगुण उत्पन्न होनेमें उपयोगी होवे, उस-उस प्रकारसे प्रवर्तन करनेसे आत्मरस बढ़ता जाता हो, अथवा वृद्धिगत होता हो तो आत्मकल्याणार्थ उसका सफलपना

है परन्तु जिस विद्यासे आत्मगुण प्रगट नहीं हो, आत्मगुण प्रगट हो इसके लिए विवेक प्रगट नहीं हो या समाधि नहीं हो, वैसी विद्या पर पात्र जीवका ज़रा भी वज़न जाना नहीं चाहिये। यदि वज़न रहा तो बाह्यवृत्ति (रस) वृद्धिगत् होती जायेगी और दुर्गुणोंकी उत्पत्तिमें वैसे प्रकार निमित्तभूत होते हैं। अतः निजहितके प्रयोजनकी सूक्ष्म व तीक्ष्णदृष्टिपूर्वक, इस प्रकारके कोई भी क्षयोपशमवाले जीवको प्रवर्तन करना चाहिए, तो (ही) व्यक्त शक्तिका सद्उपयोग होगा, अन्यथा संसारवृद्धिका कारण होगा। (७११)



जैसे-जैसे चित्तमें निर्मलता व अचंचलता हो / होती जाये वैसे-वैसे ज्ञानीके वचनोंका विचार यथायोग्य हो सकता है। चित्तकी शुद्धि आत्महितकी जागृति विशेष रहनेसे एवं सरलताका सेवन करनेसे होती है। जिस जीवके परिणाममें वक्रता (असरलता) होती है, उसका चित्त मलिन होता है, इससे विचारशक्ति हो तो भी विवेकका नाश होता है। विवेकके अभावमें अयोग्य निर्णय लेनेमें आ जाते हैं। इसके अलावा संगदोषसे अर्थात् जिसका संग करने योग्य नहीं है, उसका संग करनेसे भी विचारबल प्रवर्तता नहीं है। आत्मार्थी जीवको शुक्ल हृदयसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करने योग्य है। जिस तरह देव-पूजा परम आदरसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्य सामग्रीपूर्वक अंतर - बाह्य शुचि सहित करनेमें आती है वैसे परमतत्त्वकी प्राप्तिके निमित्तरूप तत्त्वज्ञानकी उपासना, अंतरभूमिकाकी शुचिपूर्वक पात्रता सहित होनी चाहिये। (७१२)



प्रयोजनभूत तत्त्व, अवलंबन लेने योग्य अपना आत्मस्वरूप है। द्रव्यदृष्टिका जितना विषय है, उतना ही प्रयोजनभूत तत्त्व है। इसके उपरांत पर्यायदृष्टिसे स्वरूपका अवलंबन लेना - यह प्रयोजन है। वह प्रयोजन सिद्ध करनेका है, इसलिए ये दोनों विषय उपदेशमें मुख्य होते हैं। तथापि उपदेशमें अनेकविध पहलूसे विशाल प्रमाणमें निरूपण है, इसका यह कारण है कि उपदेश ग्रहण करनेवालेकी योग्यता अनेकविध प्रकारकी होती है। अतः सर्व उपदेश किसी एक जीवके लिए प्रयोजनभूत नहीं हो सकता, तथापि सिर्फ एक प्रकारका उपदेश (भी) सर्व जीवको लागू नहीं होता है। इसलिए आत्मार्थी जीवको अपनी योग्यता, दोषके अथवा भूल होनेके प्रकारको समझकर, जिस प्रकार खुदका हित होवे, उस प्रकारसे उपदेशको अंगीकार करना चाहिए। ऐसा होनेसे 'प्रयोजनभूत' विषयमें अमुक बातके आग्रहका सेवन होना नहीं चाहिये। (७१३)



'ज्ञानमात्र' कहकर आचार्यदेवने जीवके शुद्ध स्वरूपको दर्शाया है। अतः खुदका अर्थात्

शुद्ध जीवका अनुभव 'ज्ञानमात्र'-रूप होना चाहिये कि जो अनुभव होते ही 'मैं मनुष्य', 'मैं सुखी-दुःखी', 'मैं रागी' इत्यादि कर्मानुसारी विभाव पर्यायमें आत्मबुद्धिरूप मिथ्यात्व-अंधकारका नाश होता है। जीवका मूल स्वरूप अनन्त आश्चर्यकारी महान गुणोंसे गंभीर, निर्विकल्प है। स्वानुभवमें वैसा प्रत्यक्ष आस्वाद है जो कि सर्व अन्य अध्यासको अथवा भ्रमको तोड़ देता है। भ्रम अनादिसे होनेके बावजूद भी क्षणमात्रमें छूट जाता है। इसका नाम अनुभव है। जहाँ आत्मशांति है। अभेद स्वरूप सम्बन्धी भेद विकल्प भी अशांतिका उत्पादक है। उसमें शांतिका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः वैसे विकल्प प्रयोजनके लिए, विरुद्ध हेतुवाले होनेसे निषेध्य है। निर्विकल्प स्वरूपमें विकल्पसे भिन्न होकर समाये रहना। सर्व विकल्पोंकी निरर्थकता जानना, जिससे कि उसके पर जोर न जाय, उसका रस नहीं आये। (७१४)



अनन्त संसारका क्षय करनेवाला और अनन्त समाधि-सुखकी प्राप्ति करानेवाला, श्री तीर्थकरदेवसे प्रवाहित ऐसे सदोपदेशकी प्राप्ति हुई, समझ हुई तो अब उसको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि जीवनमें उतारनेका प्रयास नहीं हुआ तो उसका मूल्यांकन तो नहीं हुआ परन्तु उपेक्षा हुई, इससे परमोत्कृष्ट देशनाका अनादर हुआ, उपेक्षा हुई। मोहके कारण ऐसा अपराध होनेसे उस उपदेशकी धारणा अल्प कालमें नष्ट हो जायेगी। अतः परम गंभीरतापूर्वक जिसे उपदेशका योग हुआ है उसको तो अपूर्वभावसे अपूर्व पुरुषार्थ कर्तव्य है। बारबार ऐसी तक हाथ नहीं लगती। मोहके वश जीव प्रयत्न करना भूल जाता है। परन्तु यह प्रमाद (प्रयत्न चालू न होना) जीवके अविचारीपनेकी प्रसिद्धि है। अतः हे भव्य ! जागृत हो, जागृत हो ! (७१५)



(यदि) ज्ञानमें सकल (सर्व) ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं तो ज्ञान निर्मल है, नहीं भासित होते है तो निर्मल नहीं है। इस निर्मलताको दर्शानेके लिए परज्ञेयसे कहना पड़ता है, ऐसा परकी अपेक्षासे कथन होनेसे वह उपचार संज्ञा हुई, परन्तु वस्तुकी शक्ति तो वास्तवमें है। वस्तु-शक्ति उपचार कैसे हो सकती है ? व्यवहार कथन परके कारण हुआ। शक्ति तो वस्तुका निश्चय स्वरूप है, सहज शुद्धभावरूप है। ४७ शक्तिओंमें स्वच्छत्व शक्तिका स्वरूप अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोकालोकके आकारोंसे मेचक (अर्थात् अनेक आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है।

इस प्रकारकी परिभाषा की है। परन्तु ज्ञान परका वेदक नहीं है, इसलिए मात्र स्वसंवेदक है। परन्तु यदि ऐसा मान लें कि परका ज्ञायक (भी) नहीं है, तो महादोष हो जाय, क्योंकि

स्वकी स्थापना, परके स्थापन बिना नहीं हो सकती। यदि परकी स्थापनाकी अपेक्षा ही नहीं लेनेमें आये तो स्वका स्थापन भी नहीं हो सकता। (७१६)



शास्त्रवांचन व श्रवणके निमित्तसे तत्त्वअभ्यास करनेवाला मुमुक्षु प्रायः बुद्धिगम्य विषयोंकी विचारणा करते-करते ही आत्मस्वरूपका निर्णय करता है। जैसे भौतिक पदार्थके विज्ञानको समझकर उसका निर्णय करता है वैसे ही आत्मस्वरूप सम्बन्धी, द्रव्य, गुण, पर्याय, धर्म इत्यादिका विचार करके निर्णय करता है, परन्तु आत्मस्वरूप मनातीत एवं विकल्पातीत है, ऐसा जाननेको मिलता है, और उसको सम्मत करनेके बावजूद भी, उस स्वरूपका जो मानसिक निर्णय होता है, (जो कि वास्तवमें एक कल्पना है।) उसको यथार्थ निर्णय समझ लेता है, परन्तु फिर जब उस निर्णयसे कोई दूसरे प्रकारसे किसी अनुभवी पुरुषकी वाणी सामने आती है, तब उनका कथन मान्य नहीं होता है अथवा समझमें नहीं आता है, और वह उलझनका अथवा विरोधका निमित्त बनता है, अतः स्वरूपनिर्णय करनेकी ऐसी पद्धति यथार्थ नहीं होनेसे, अनुभव पद्धतिसे, ज्ञान लक्षण द्वारा स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति हो, उस प्रकारसे निर्णय करना चाहिये, और ऐसा नहीं हो तब तक निर्णय कर लेनेके बजाय मुमुक्षुजीवको जिज्ञासामें रहना अच्छा है। अन्यथा सूक्ष्म गृहीत मिथ्यात्वमें प्रवेश हो जाता है; और आगे जाकर ज्ञानकी स्थूलता बढ़ जाती है। (७१७)



अंतर्मुख होनेका मार्ग-उपाय, वास्तवमें अति-सूक्ष्म, एवं रहस्यभूत है, बहुभाग वचन अगोचर है। जो अति अल्प मात्रामें वचनगोचर है। जिसके द्वारा अनुभवी पुरुष वचन उपरांत चेष्टासे समझाते हो तो भी तथारूप पात्रता अपेक्षित पात्र जीवको समझमें आता है, और तब जाके प्रयोग द्वारा आगे बढ़ सकता है, तो फिर निराश्रयरूपसे अनादिसे अनजान ऐसी लोकोत्तर कलाको जीव कैसे प्राप्त कर सके ? अर्थात् कर ही नहीं सकता, यह प्रत्यक्ष समझमें आये ऐसा है। फिर भी जो स्वच्छंदसे प्रयत्न करता है - सद्गुरुके आश्रय बिना - वह प्रायः परिभ्रमण वृद्धिका कारण होना संभवित है। इस कारणसे श्रीगुरुका खास महत्त्व दर्शाया गया है। (७१८)



ग्रंथ-ग्रंथोंमें श्रीगुरुका अतीव महत्त्व गानेमें आया है, जो यथार्थ ही है; क्योंकि वे भावरोगसे बचाते हैं, अनन्त करुणा करके बचाते हैं। अतः सर्वदोष रहित श्रीगुरु जैसे इस जगतमें कोई उपकारी नहीं है। ऐसा समझनेवालेकी प्रतीति संपूर्ण आज्ञाकारिता उत्पन्न कराती है। जैसे

कि शरीर रोगसे - रोगकी वेदनासे छूटनेके लिए प्रयत्नवान रोगी वैद्यकी सुचनाओंका जरा सा भी उल्लंघन नहीं करता है, तो ही भयंकर रोग / वेदना मिटेगी, ऐसी प्रतीतिपूर्वक परहेजका पालन करना सहज है, वैसे अगर अनन्त परिभ्रमणके दुःखकी वास्तविकता समझमें आये, तो स्वप्नमें भी गुरु-आज्ञाका उल्लंघन नहीं होगा, परन्तु मुक्तिका कारण जानकर भक्ति आयेगी, तो स्वच्छंदसे सहज बचा जा सके वरना तो जीवके स्वच्छंदको रोक नहीं सकते ऐसा जानने योग्य है। (७१९)



स्वरूपप्राप्तिकी सुंदर भावना ज्ञानको निर्मल करती है, मति-मलिनताको पिघालती है, वक्रताको मिटाती है, परिणामतः परमात्मा सधता है; ऐसा विवेक जब उत्पन्न होता है तब द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन होता है। सर्व श्रुतका केन्द्रस्थान सर्वोत्कृष्ट ऐसा परमपद है। वह निजपद है। उसमें अनंत चैतन्य-अमृतरस भरा है। उसके स्वस्वादरसरूप अनुभवको स्वआचरण - स्वरूपविश्राम, साम्यभावरूप धर्म कहा है। इस निज कल्याणसे तृप्ति होती है जो सुखरूप है और अनन्त सुखका मूल है। फिर रंचमात्र भी दुःख नहीं रहता। ये सभीका मूल भावना है। कोई भी जीव कभी भी उस भावनामें आ सकता है। (यदि) भावनाका महत्त्व समझमें आये तो स्व-परकी भावना-विरुद्धता नहीं होती। (७२०)



अप्रैल - १९९१

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि जिसमें समाती है, उससे समृद्ध शुद्धोपयोग है, ऐसा अंतरदृष्टिसे समझमें आता है। लब्धिका प्रगट होना, नहीं होना उसमें गौण है। बाह्य दृष्टिवानको सिर्फ प्रगट रिद्धि, सिद्धि, लब्धिका महत्त्व भासित होता है। परन्तु अंतरदृष्टि द्वारा प्रत्येक धर्मात्माका महत्त्व - महानता समझने योग्य है। जिन्हें शुद्धोपयोगमें उक्त सामर्थ्य प्राप्त होनेके (बावजूद) भी उसका गर्व या गारव नहीं है, अरे ! उसका महत्त्व भी नहीं है, परन्तु सहज उदासीन है; उनका सातिशय गांभीर्य परम आश्चर्यकारी है। (७२१)



सहज पुरुषार्थ प्रगट हो यह कैसे बने ? (पुरुषार्थ करनेके विकल्पमें कर्तृत्व हो जाता है, ऐसी समझपूर्वक यह प्रश्न है।)

समाधान :- स्वरूप सहज प्रत्यक्ष है। (वह विकल्पका विषय नहीं है।) इसलिए स्वसन्मुख होकर, स्वयंकी प्रत्यक्षताको ग्रहण करना। तन्मयभावसे अथवा भावमें स्वरूपकी प्रत्यक्षताका अवलोकन करनेसे, प्रत्यक्षवेदनमें निजावलंबनका बल सहज आ जाता है। स्व-रूपकी महानता

प्रत्यक्ष होते ही - वीर्यका उछाला आ जाता है। सुखनिधानको देखते ही उसमें लीन होनेका - थम जानेका सहज आवेग सहित होना, अत्यंत आत्मरसपूर्वक होना - वह पुरुषार्थका स्वरूप है। खुदका केवलीस्वरूप / भावसे अनुभव होते ही, अन्यत्र सर्वमेंसे अहम्भाव छूट जाता है। (७२२)



आत्मामें अनेक धर्म होनेसे और परिणाममें भी हिनाधिकपना होता है, इसलिये तत् सम्बन्धित वक्तव्यमें यथार्थ ज्ञानपूर्वक कहनेवालेकी कोई न कोई अपेक्षा और मर्यादा होती है, जिसे यथायोग्यरूपसे समझनी चाहिये; उसमें भी उद्देश्यकी प्रधानता छूटनी नहीं चाहिये। मूल प्रयोजन सिद्ध होनेके उद्देश्यपूर्वक अध्यात्मके सिद्धांत जहाँ कहे गये हो, वहाँ अन्य (आगम की) अपेक्षाका बीचमें विचार करनेसे मूल उद्देश्य-रहस्यकी प्राप्तिमें वैसा अपेक्षा ज्ञान / विचार बाधक होता है। अतः चारों अनुयोग सम्बन्धी अपेक्षाओंसे निरपेक्ष, अध्यात्म तत्त्व है, ऐसा जानकर स्व आश्रयकी मुख्यता होवे, ऐसा उद्देश्य अध्यात्म-वचनोंमें अवलोकन होने योग्य है।

यह खास लक्षमें लेने योग्य है कि यह मार्ग अनुभवज्ञानका है। इसलिये सिर्फ विचारकी भूमिकामें सम्मत करके अटक जाना, वह योग्य नहीं है। अथवा समझको ज्ञानप्राप्ति नहीं मान लेना। (७२३)



वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त हुए, परमकरुणाशील महापुरुषका योग प्राप्त होना अतिशय दुर्लभ है। ऐसे महापुरुषके गुण अतिशयसे, सम्यक्दशासे समागम प्राप्त पात्र मुमुक्षुजीवकी वृत्ति स्वरूपके प्रति झुकती है। शुद्ध वृत्तिमान अर्थात् शुक्ल अंतःकरणसे आत्महितके कामी मुमुक्षुको जैसे पुरुषकी अभ्यंतरदशाकी परीक्षा होकर, प्रतीति आती है, तब परम विनयकी प्राप्ति होती है; और यह पुरुषके वचन आगमस्वरूप भासित होते हैं। प्रत्यक्ष वचनयोग बलवान उपकारी है; परन्तु वैसा प्रत्यक्षयोग निरंतर नहीं रहता होनेसे, उनके वचनोंकी अनुप्रेक्षा हेतु शास्त्र साधन है; फिर भी विशुद्ध दृष्टिवानको वह उपकारी होता है; जिसने प्रत्यक्ष सत्संगकी उपासना करके श्रुतके रहस्यको जाना हो, वह श्रीगुरुकी आज्ञाके परम अवलंबनसे भवसागर पार कर जाता है। वैसा स्वच्छंद निरोध हुआ है जिसका, उसे आगम अनर्थकारी नहीं होते। (७२४)



एकमात्र आश्रय करने योग्य, द्रव्यस्वभाव विकल्पातीत निर्विकल्प, स्व-रूपका मात्र विकल्प द्वारा, मुमुक्षुजीव वारंवार विकल्पसे चिंतवन करके (लक्ष / भावभासन हुए बिना) आश्रय करना चाहे, तो भी नहीं हो सकता, परन्तु साधनकी भूल होनेसे मात्र विकल्पमें रुकना होता है;

इतना ही नहीं कर्तृत्वभाव सहित विकल्प चलनेसे, उस प्रकारका जोर होनेसे अकर्तास्वभावसे दूर - विरुद्ध भाव होकर / प्रयत्न होकर - मिथ्या दृढता होती है। परन्तु द्रव्यस्वभावके लक्षसे सहज महिमा आने पर स्वभावका जोर रहे, तो तब विकल्प ऊपरसे लक्ष छूट जानेसे, निर्विकल्प स्वभावके लक्षसे, विकल्पका अभाव होनेका अवसर आता है (स्वरूप आश्रय होनेसे)।

(७२५)



एकमात्र आत्मकल्याणके कामी ऐसे मुमुक्षुजीवोंको परस्पर सत्संगरूपी कल्पवृक्षका अंतरकी भावनासे सिंचन अथवा उपासना कर्तव्य है। उसमें उपदेशक पद्धति योग्य नहीं है, क्योंकि यह दशा वैसी प्रवृत्तिके लिए अधिकारी नहीं है। अतः आत्मार्थी जीवको भावना और जिज्ञासापूर्वक, परस्पर मिलकर भावनाकी वृद्धि हो, स्वरूपलक्ष हो, इसके लिए अपने दोषोंका अवलोकन हुआ हो उसके सम्बन्धित निष्पक्षतासे विचारणा कर्तव्य है। इसके अलावा उपकारी ऐसे सर्वज्ञ तीर्थकरदेव, आचार्य आदि श्रीगुरु एवं परम करुणाशील सत्पुरुषोंके गुणग्राम, भक्ति, उनके प्रति प्रमोदभावना, अविरोधभावना, आश्रयभावना दृढ वैराग्य सहित करने योग्य है। अध्यात्मकी रुचि बढ़े ऐसे विषयकी मुख्यरूपसे सत्संगमें परस्पर चर्चा कर्तव्य है। सिद्धांतबोधका परम गंभीरतासे, आत्महितका मुख्य लक्ष रखते हुए, भावनासे भीगे हुए अंतःकरणपूर्वक (स्वच्छंद और शुष्कता उत्पन्न नहीं हो इसलिए) विचार करने योग्य है। मतमतांतरसे दूर रहने योग्य है। (७२६)



विधिका विषय पर्याय सम्बन्धित है। भूतार्थ ध्रुवतत्त्वका आश्रय सहज हो (पर्याय द्वारा) - ऐसी विधिका प्रारंभ होनेके लिए समयसार गाथा-१५ और उसकी टीका अति महत्त्वपूर्ण है। विषयको सुस्पष्ट करनेके लिए आचार्यदेवने प्रतिपक्ष सहित नमकके दृष्टांतसे समझाया है। उसमें विशेषज्ञान (ज्ञेयाकारवाला) के (ज्ञेयलक्षित) आविर्भावसे ज्ञेयलुब्धता होकर, परज्ञेयका अवलंबन लेनेमें आ जाता है, और सामान्यज्ञान तिरोभूत हो जाता है। वैसे कार्यकी विपरीतता जिस प्रकार होती है, उसी पद्धतिसे अविपरीत कार्य होनेमें सामान्य एकाकार ज्ञानका - ज्ञानमात्रका आविर्भाव - (ध्रुवके लक्षपूर्वक) करनेसे आत्माका ज्ञानस्वरूप अनुभव होता है अर्थात् ज्ञान सामान्यके आविर्भावसे (पराश्रय मिटकर) स्वरूपका आश्रय हो जाता है। तब पर्यायदृष्टिका अभाव होता है। ऐसी ज्ञानानुभूतिको समस्त जिनशासन कहकर बहुमान किया है। (७२७)



आत्मज्ञानके साथ वैराग्य अविनाभावीरूपसे होता ही है। सर्व स्वरूपज्ञानी धर्मात्मा उदयके प्रति उदासीनभावसे सहज ही वर्तते हैं। उन्होंने सुख आत्मामें देखा है। पुद्गल संयोग सुखसे

रहित-शून्य दिखते हैं। इसलिये पुण्ययोगसे भी सहज त्यागी - दशामें वे रह सकते हैं, या रहते हैं, वैसा त्याग उनके ऐश्वर्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करता है, और वह उनकी अंतरंगदशाके साथ सुसंगत है। इतना ही नहीं दूसरे मुमुक्षुको भी उपकारभूत है ऐसा जानकर श्री भगवानने त्यागकी उत्कृष्टताका उपदेश किया है कि जो अकर्तृत्वसे कर्तव्य है। (७२८)



त्यागकी उत्कृष्टता होनेके बावजूद भी जिसकी इन्द्रियवृत्तियाँ शांत नहीं हुई है, अथवा वारंवार वैसी वृत्ति जोर करती है, अथवा मोहगर्भित, मानगर्भित या लोभगर्भितपनेके कारण, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमें जो अभी त्याग करनेके लिए योग्य नहीं है, जैसे मंदवैराग्यवान जीवको त्याग नहीं लेना चाहिये, ऐसा जैन सिद्धांत कहता है, अर्थात् सिद्धांतमें त्यागका एकांत नहीं है। परन्तु त्याग किस प्रकारसे हुआ हो तो 'यथार्थ त्याग' कहा जाये ? उसका प्रथम विचार करके, शक्ति और देशकाल अनुसार त्याग करना हितावह है।

पुनः त्याग लेनेवालेको 'सर्वथा' अयाचकपना चित्तमें रहने योग्य है। यदि त्यागी होनेके बाद, याचकवृत्ति या अपेक्षावृत्ति दूसरेके प्रति रहा करे तो उसमें ज्ञानीका मार्ग नहीं रहता है, ऐसा समझने योग्य है।

त्याग-दशामें सहज वनवासीपना रह सके, ऐसा तीव्र वैराग्य वर्तता हो, और स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यका आधार तीव्र पुरुषार्थसे लिया जा सकता हो, तो उसे 'यथार्थ त्याग' गिनना योग्य है। (७२९)



जिज्ञासु जीवको पात्रता / यथार्थ मुमुक्षुकी भूमिकाके बारेमें विचार करते वक्त, मुख्य बाबत ऐसा जो मार्गानुसारीपना - उसका विचार करने योग्य है। श्री जिनने उसे संक्षेपमें कहा है, कि जो जीवको सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेमें कोई बाधकभाव नहीं आता हो अर्थात् सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेके लिए अच्छी सी योग्यता प्रगट हो, जैसे गुणवानको 'मार्गानुसारी' गिनना चाहिये।

'बीज रुचि सम्यक्त्व' अर्थात् सत्पुरुषकी (पहचानपूर्वक) स्वच्छंद निरोधपने, आज्ञारुचिरूप निष्काम भक्तिका कारण उक्त मार्गानुसारीपना होता है। 'बीजरुचि - सम्यक्त्व'- स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीतिका - उस रूप सम्यक्त्व सन्मुखका कारण होता है, जो कि निर्विकल्प परमार्थ सम्यक्त्वका अनन्य और निश्चय कारण है। इस प्रकार जिनवचनमें अनन्त भव छेदक कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शनका मूल नजरमें आता है, इस हेतुसे इस वचनको नमस्कार हो ! (७३०)



मुमुक्षुजीवको दर्शनमोहकी प्रबलताका विशेषरूपसे विचार कर्तव्य है। वर्तमानमें क्षयोपशमभावमें समझनेकी शक्ति होनेसे, पारमार्थिक विषयकी समझ (तो), हो सकती है फिर भी उस विषयका मूल्य, दर्शनमोहके कारण भासित नहीं होता है, अथवा दर्शनमोहके कारण आत्मकल्याणमें प्रतिबंधक भावोंसे होनेवाला नुकसान भासित नहीं होता है, इसलिए पारमार्थिक लाभ वास्तवमें दिखता नहीं है। लाभ दिखे तो परमार्थ रस बढ़े, और समझको भी अनुभवगोचर करनेका प्रयास होवे। अंतरसे (समझे हुए विषयका) प्रयास चालू नहीं होनेका या नहीं उठनेका कारण दर्शनमोहसे उत्पन्न - उघाड़में, संतोष है। स्वलक्षी ज्ञानमें ऐसा मिथ्या संतोष नहीं आता, परन्तु प्रयत्नरूप अभ्यास (वारंवार प्रयत्न होना वह) चालू होता है - इस विषयमें स्वलक्षसे विशेष गहराईसे विचार कर्तव्य है, कि जिससे दर्शनमोह मंद हो। (७३१)



सत्पुरुषकी पहचान होना, वह मुमुक्षुजीवको निर्वाणपदका कारण है, यह निःसंदेह है। अतः सत्पुरुषकी पहचानका ऐसा महत्त्व जानकर, पहचानके लिए उत्कृष्ट मुमुक्षुता संप्राप्त करके, तथारूप पात्रता ग्रहण करके प्रयास कर्तव्य है। इस विषयमें पहचाननेकी रीत और ज्ञानदशामें पहचानमें आनेवाले लक्षण - ये दो महत्त्वके मुद्दे हैं। जिन लक्षणोंसे उन्हें पहचाना जा सकता है, वे निम्नरूपसे हैं।

ज्ञानीपुरुषकी दशामें जो समग्ररूपसे ज्ञानीपना है सिर्फ उसे ही पहचाननेका दृष्टिकोण जिसने साध्य किया है, वह ज्ञानदशामें रही उस विलक्षणताकी परख कर सकता है, अर्थात् ज्ञानीपनेके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी - संयोगलक्षी देखना नहीं है - ऐसी पहचाननेकी तीव्र जिज्ञासा / भावनाका होना आवश्यक है। भावज्ञानीपना जाननेमें आये वैसे तीन बाह्यसाधन, जो ज्ञानीपुरुषके संयोगमें है, उसमें मुख्यरूपसे उनकी वाणी, मुद्रा और नेत्र द्वारा उनके भाव मालूम पड़ते हैं, उसमें प्रथम वाणीसे पहचान होनेके बाद मुद्रा और नेत्र द्वारा उनका उपशमभाव ग्रहण हो सकता है।

(१) सत्पुरुषकी वाणी और चेष्टासे देहादिसे भिन्नता और स्वरूप चैतन्यमें आत्मत्व व्यक्त होता हुआ लक्षण है।

(२) पदार्थ-दर्शन होनेसे विरुद्ध धर्मयुक्त पदार्थका निरूपण अविरोधरूपसे व्यक्त होता है।

(३) वाणीमें, अकषाय स्वभाव पर भींस (स्वभावके तीव्र अवलंबनके पुरुषार्थ सहितके परिणाम) से निकलती हुई वाणी, अंतर्मुख पुरुषार्थकी झलकवाली होती है।

(४) दृष्टि अनन्तशांतिके पिंड पर होनेसे अनुभव उत्साह दशा व्यक्त होती है।

- (५) आत्मरससे सराबोर वाणी आती है।
- (६) स्वरूपप्राप्तिकी विधिका सूक्ष्म रहस्य अर्थात् अनुभव-विधिके रहस्य द्वारा तत्सम्बन्धित उलझनका उकेल मिलनेसे वह लक्षण ग्रहण होता है।
- (७) निजस्वरूपकी सर्वस्वरूपसे उपादेयताका आंतरध्वनि वाणीमें रहा होता है।
- (८) (अपने स्वरूपका) भानसहितपना होनेसे आत्मजागृति सूचक वचन, श्रवण करनेवालेको जागृतिमें निमित्तभूत होते हैं।
- (९) स्वरूपकी प्रत्यक्षता, प्रत्यक्ष होनेसे, आशय भेद वाणीमें उत्पन्न होता है। वैसा आशय परोक्ष विचारसे उत्पन्न वाणीमें नहीं आ सकता।
- (१०) स्वरूपसुखकी निराकूलतासे उत्पन्न परितोषपना, मुक्तपना - ज्ञानदशाको प्रदर्शित करता है।
- (११) मुख्य-गौणता प्रकरण अनुसार होने पर भी, संतुलन गवाँये बिना, अनेकांतिक झुकाव सिर्फ ज्ञानदशामें ही वर्तता है।
- (१२) अलौकिक सरलतायुक्त व्यवहार।
- (१३) सम्यक्ज्ञानकी मध्यस्थताके कारण निष्पक्षता, इष्ट-अनिष्टपनेकी बुद्धिका अभाव, समतोलपना - समपना।
- (१४) अंतरंग निस्पृहता - परिपूर्ण स्वरूपका अवलंबन - आधार होनेसे।
- (१५) निर्भयता - अव्याबाध, शाश्वतस्वरूपकी प्रतीति भावके कारण।
- (१६) वर्तमान उदयमें, उदयप्रवृत्तिसे प्राप्त फलमें उदासीनता, नीरसता, निःसार लगता होनेसे कार्यमें असावधानी, विषयोंमें अप्रयत्नदशा - ज्ञाताभाव।
- (१७) निष्कामभावसे परम कारुण्यवृत्ति, सर्व जीवोंके प्रति परमार्थकी प्राप्ति हो - उसरूप भावना।
- (१८) बाह्याभ्यंतर निर्ग्रथदशाकी भावना, अचलितरूपसे स्वरूपस्थितिकी चाहना।
- (१९) लोकदृष्टि / लोकसंज्ञाके अभावके कारण निर्मानता अर्थात् मान-अपमानकी कल्पनाका अभाव। अपनी गुरुता छिपानेवाले।
- (२०) पवित्रता - निर्विकारताके प्रेमके कारण गुण प्रमोदपना।
- (२१) कर्म-नोकर्मरूप समस्त परका सिर्फ ज्ञातापना-साक्षीभावसे, यह ज्ञानीका लक्षण है।

(७३२)



मई - १९९१

सत्पुरुषकी पहचान उत्कृष्ट पात्रतावान मुमुक्षुको उनके जो-जो लक्षण होते हैं, उससे होती है। उसमें भी उन-उन लक्षणोंकी (अपने भावमें) अंतर मिलानपूर्वक (पहचान) होती है, अर्थात् मुमुक्षुकी यथार्थ भूमिकामें प्रयोग द्वारा तत्त्वका भावभासन जितने अंशमें हुआ हो, उन भावोंका अंतर मिलान होकर, अंतरसे उस सत्पुरुषकी पहचान होती है। वह जीव ज्ञानदशाका अधिकारी बनता है। इसलिए निर्वाणपदका भी अधिकारी बनता है।

इस प्रकार उपादानसे निमित्तरूप सत्पुरुषकी पहचान होवे, इसका महत् फल है।

(७३३)



साधकपना अर्थात् जिस दशामें आत्मस्वरूप सधे वैसा पुरुषार्थ - अंतर्मुखी पुरुषार्थ सहितपना हो, उसका नाम साधकपना। साधकदशाका अवलोकन करते हुए ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि साधककी कोई भी भूमिका कि जो तत्सम्बन्धित पुरुषार्थसे प्राप्त हुई हो, उसमें भी ऊपरकी भूमिका प्राप्त हो - उसके लिए पुरुषार्थ चलता है - अर्थात् साधक प्रमादमें नहीं रहते, इसका कारण आत्ममार्गमें जो प्रारम्भ हुआ है वह पूर्णताके लक्षसे हुआ है। और जब तक पूर्णदशा न हो, तब तक अविरतरूपसे सहज पुरुषार्थ परायणता रहा करे, यही वास्तवमें साधकपना है।

(७३४)



त्रिकाली शुद्धात्म स्वरूपके अवलंबनके कालमें ही श्रुतज्ञानमें, ज्ञान सामान्यका आविर्भाव होकर, आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानरूप प्रगट / प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। ज्ञेयाकाररूप ज्ञानविशेष तब सहजरूपसे तिरोभूत हो जाता है। निर्विकल्प स्वानुभव होनेमें ऐसा बनता है, परन्तु मुमुक्षुको पूर्वभूमिकामें त्रिकाली स्वरूप लक्षमें होता है। उसके ऊपर रहा जोर, सामान्यज्ञानके प्रत्यक्ष अंश द्वारा प्रतीति भावमें प्रत्यक्ष कर-करके, बढ़ने पर सहज ही सामान्यका आविर्भाव होकर, स्वसंवेदन प्रगट हो जाता है, (रागकी उत्पत्ति ही नहीं होती है।) - इस प्रकार स्वानुभवकी यह विधि है। सिर्फ विकल्पसे ध्रुव तत्त्वका जोर, परोक्षताको तोड़कर प्रत्यक्ष अनुभव लेनेके लिए समर्थ नहीं है।

(७३५)



ज्ञानीपुरुषकी अंतरंगदशा अलौकिक होती है। यदि मुमुक्षुजीवको वह समझमें आये और पहचानमें आये तो, उससे वह अपना परमार्थ-आत्मार्थको साध सकता है। इसलिए पहचान होना प्रयोजनभूत है।

ज्ञानी और मुमुक्षु दोनोंको पूर्व प्रारब्धकर्मका उदय वर्तता है, अतः बाह्यदशामें प्रायः साम्य है, परन्तु अंतरंगदशामें फर्क है, उस फर्कको समझकर, पहचानकर अनुसरण करे तो, भवपार होनेकी कला हाथ लग जाये। इसलिए जगह-जगह प्रत्यक्ष योगका महत्त्व अतीव हितकारी है - ऐसा दर्शाया गया है। (७३६)



प्रश्न :- ज्ञानीपुरुष प्रारब्धका किस प्रकार वेदन करते हैं ? कि जिससे वे बंधते नहीं ?
समाधान :- ज्ञानी प्रारब्धोदयका सम्यक् प्रकारसे वेदन करते हैं, सम्यक् प्रकारसे यानी कि - अंतर परिणतिसे तो उदयसे भिन्न पड़ गये हैं। मुख्यवृत्ति ऐसी 'आत्मधारा' तो स्वरूपाकार होकर भिन्न ही प्रवर्तती है, उस परिणतिको तो उदयके साथ सम्बन्ध ही नहीं है परन्तु परिणामका जो बाह्य अंश प्रवर्तता है, उसमें भी सहज स्वरूप सावधानी वर्तती है। उसमें भी बाह्य पदार्थोंके साथ एकता / तन्मयता नहीं होती है। इसके अतिरिक्त उस बाह्य अंशके साथ आत्मा तन्मयता / एकताको प्राप्त नहीं होता। (और) इसके उपरांत उदयकालमें ज्ञानीपुरुषका मुख्यरूपसे जो अंतर्मुखी पुरुषार्थ है, वही मुख्यरूपसे नया बंध होनेमें बीचमें आड़े आकर बंधको रोकता है। एक तरफ पूर्व संस्कारसे उदयकी ओर परिणामका खिँचाव होता है तो दूसरी ओर उस परिणामसे विरुद्ध दिशामें पुरुषार्थ कार्य करता है, जो परिणामको बाहर जाते हुए रोकता है, अथवा अंदरकी ओर खींचता है। परिणामतः उस बाह्य परिणाममें जोर नहीं रहता - बिलकुल उदासीनता हो जाती है। वारंवारके पुरुषार्थसे वे निर्बल होते-होते क्षय हो जाते हैं। ज्ञातापना तो कभी नहीं छूटता। (७३७)



प्रश्न :- रहस्यार्थ माने क्या ?

समाधान :- मुमुक्षुजीवको क्षयोपशमके प्रमाणमें शास्त्रवचनका शब्दार्थ, भावार्थ, मतार्थ, आगमार्थ समझमें आता है, परन्तु वह क्षयोपशम अपेक्षित है। जब कि शास्त्र वचन अनुसार रहस्यार्थ समझना वह पात्रता अपेक्षित है। दृष्टांतरूपसे क्षायिकभावको परद्रव्य, परभाव और हेय कहना (नियमसार गाथा - ५०) और 'श्रुतज्ञान स्वयं ही आत्मा है' (स.सार गाथा - १५) ऐसा कहना - इन दोनों वचनोंमें शब्दार्थसे शायद विरोध भासित हो सकता है, परन्तु रहस्यार्थ समझनेवालेको वह अविरोधरूपसे समझमें आता है। और ऐसे रहस्यभूत वचन द्वारा पात्र जीव सर्वत्र आत्महितरूप जो रहस्य, उसका प्रीतिपूर्वक आराधन करता है। (७३८)



ज्ञेयाकार ज्ञान अनेकाकार है, आत्माका स्वरूप जो अवलंबन लेने योग्य है वह एकाकार

है। ऐसा होनेसे अनेकाकार ज्ञान द्वारा एकाकार आत्मा ग्रहण नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ अनेकाकार ज्ञान है, वहीं ज्ञान सामान्य वेदनरूप एकाकाररूप है, अतः ज्ञानके विश्वरूपपनेको गौण करके, ज्ञेयाकारका दुर्लक्ष करके, एकाकार ज्ञानवेदन द्वारा सदृश ज्ञानस्वरूप स्वयंका अवलंबन लेना। यह अंतर्मुख होनेकी प्रक्रिया है। स्वरूपलक्षके अभावमें सिर्फ ज्ञेयाकार ज्ञानकी बहिर्मुखभावसे प्रवृत्ति रहती है। वैसी परिस्थितिमें चाहे कोई भी प्रवृत्ति, व्रत, तप, शास्त्रज्ञान, भक्ति आदि करनेमें आये, तो भी उसका कोई पारमार्थिक फल नहीं है। क्योंकि ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद अनुभवमें आता है और विकल्पकी उत्पत्ति होती है। (७३९)



परिणमनकी दिशा दो ही है, अंतर्मुख और बहिर्मुख। अनादिसे संसारमें जीवका बहिर्मुख परिणमन चल रहा है। अंतर्मुखकी दिशा जीवने देखी नहीं है, इससे सर्वथा अनजान है। परन्तु बहिर्मुख होनेका माध्यम भी ज्ञान ही है। क्योंकि ज्ञानमें अनेक ज्ञेयाकारों स्वाभाविकरूपसे उत्पन्न होनेसे (ज्ञेयमें अपनत्वकी कल्पना करके), विभावभावसे ज्ञान ज्ञेयके प्रति खींचता हुआ बहिर्मुखभावसे परिणमन करता है - फिर भी अंतर्मुख होनेका माध्यम भी ज्ञान ही है। ज्ञान द्वारा ही स्वरससे अंतर्मुख हुआ जाता है, होना संभवित है। ज्ञायक स्वभावके लक्षसे, सामान्य एकाकार ज्ञानका आविर्भाव करनेसे परिणाम अंतर्मुख होते हैं, तब ज्ञान स्वयंका वेदन करता है। और उस वेदनके द्वारा निज अस्तित्वका ग्रहण होता है। सहज प्रत्यक्ष स्वरूपके आश्रयसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अनुभूतिको ही परमपुरुष श्री भगवानने जैनशासन कहा है। (७४०)



ज्ञानकी भूल दो प्रकारसे हुई है, अनादिसे, एक जानने सम्बन्धित और दूसरी अनुभव सम्बन्धित। भूल अर्थात् विपरीतता।

जाननेकी भूल प्रायः तत्त्व-अभ्याससे मिटती है, तब जीव गृहीत मिथ्यात्वसे मुक्त होता है। तत्त्वका अभ्यास द्रव्यश्रुत द्वारा होने पर (आत्महितके लक्षसे) दर्शनमोह अवश्य मंद पड़ता है, और तब बुद्धिपूर्वक हुई समझकी विपरीतता टलती है। इसके बाद भेदज्ञानके प्रयोग द्वारा यदि मिथ्या अनुभवकी भूल टले तो अपूर्व कल्याणकारी सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

अज्ञान अवस्थामें जीव आत्माका तिरस्कार करनेवाले मोह-रागादि भाव और इसके फलरूप शरीरादि परद्रव्योंके साथ घनिष्ट मैत्री - प्रेमपूर्वक एकत्वबुद्धिसे (उसका) अपनेरूप अनुभव करता है। फिर भी वे आत्मारूप नहीं होते। वास्तविक ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावकी पहचान करके, स्वभावके लक्षसे भेदज्ञानका पुरुषार्थ होवे, तो ज्ञानमें अन्यभाव - अन्यद्रव्यके मिथ्या अनुभवरूप अध्यासका त्याग होकर, ज्ञान और विभावका स्वाद भिन्न मालूम होने पर अनुभवकी भूल मिटती

है। और ज्ञानानुभूतिरूप आत्मानुभूति प्रगट होकर भवभ्रमणका नाश होता है। अतः ऐसा सिद्ध हुआ कि 'अनुभूतिका मूल भेदविज्ञान है।' (७४१)



किसी भी कथनकी सत्यता कहनेवालेकी समझ पर आधारित है, अर्थात् जिसकी समझ सच्ची, तद्अनुसार (उसका) वचन भी सच्चा मानने योग्य है। परन्तु (यदि) समझमें भूल हो, वह सच्चा कहे तो भी वास्तवमें सच्चा नहीं है। इसके अलावा भले ही शास्त्र पठन द्वारा, वस्तुका स्वरूप जाननेमें, जानपनेकी भूल नहीं दिखती हो परन्तु अगर परिणामनमें यथार्थता न हो, अर्थात् परमार्थकी साधना नहीं चलती हो तो वज्रन अन्यथा जाता है, अथवा किसी भी प्रकारसे विपर्यास सधता हो या भावसंतुलन नहीं बना रहनेके कारण एकांतिक परिणाम होते हो, तो भी वैसे वक्ताका अनुसरण करना उचित नहीं है। आत्मार्थी जीवको किसी भी तत्त्वकी प्ररूपणा करनेवालेका अनुसरण करनेसे पहले, इस प्रकारसे विचार करके, परीक्षा करके, यहाँ तक गहराईमें जाँच करनेके बाद अनुसरण करना उचित है; वरना विपर्यास होनेकी या उसकी दृढ़ता होनेकी संभावना रहती है। (७४२)



शास्त्र वांचन, श्रवण, विचार आदि बौद्धिक प्रक्रिया, बुद्धिपूर्वकके विपर्यासको मिटाने तक उपयोगी है - ऐसा शुरूसे ही लक्षमें रहना चाहिए; वरना विचारादिकी आदतमें फँस जाना होगा। प्रथमसे ही समझी हुई बातको यदि अंतरमें उतारनेका लक्ष रहा तो विचारादि पर लक्ष ही नहीं रहेगा अथवा वज्रन ही नहीं रहेगा और प्रयास अथवा प्रयोगकी दिशामें आगे बढ़ना होगा। जब अंतर अवलोकनसे प्रयोग चालू होता है, तभी जो समझ हुई थी उसका भावभासन आने लगता है। और ज्यों-ज्यों भावभासन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दर्शनमोह शिथिल होता जाता है; ये प्रक्रिया दर्शनमोहके अभाव तक चलनी चाहिये।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुजीवको विचार भूमिकाका मूल्यांकन उक्त प्रकारसे करना चाहिए, इससे ज्यादा नहीं। (७४३)



अंतर अवलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञानवेदन पर्यंत पहुँचनेसे व्याप्य-व्यापक भावसे स्व-द्रव्यका लक्ष सहज ही होने योग्य है। स्वरूपलक्ष होते ही उत्पन्न चैतन्य-वीर्यकी स्फुरणा द्वारा ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे, स्वसंवेदन प्रगट होता है, तब ज्ञान अर्थात् आत्मा प्रगटरूपसे अनुभवमें आता है।

- इसप्रकार अंतर अवलोकनसे ज्ञान-सामान्य द्वारा ध्रुव तत्त्वका अवलंबन आता है।

समयसारजी गाथा-१५का यह संक्षेप है।

इसीके संदर्भमें कृपालुदेवका वचनामृत उल्लेखनीय है। "आत्मा है, आत्मा अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है।" (पत्रांक ७१०, भादरवा सुदी - १५-१९५२-व.२९) (७४४)



तीर्थकर अथवा तीर्थकर जैसे (भावि तीर्थकर) समर्थ पुरुष जब मूलमार्ग प्रस्थापित करते हैं, तब मार्गका उद्योत विशेषरूपसे होता है। परन्तु इस हुंडावसर्पीणी पंचमकालमें पीछेसे तुरंत ही मार्गका लोप होनेकी परिस्थिति पैदा हो जाती है, अनुयायी वर्ग जुथबंधी और मतमतांतरमें बहुत ही छोटी सी बाबतमें बलवान आग्रह रखकर, दर्शनमोहनीय वर्धमान हो जाय ऐसी प्रवृत्तिमें आ जाते हैं। उसमें मुख्यतया ज्ञानीको और सिद्धांतको अनुशासित नहीं रहते हुए - स्वच्छंदमें वर्तते हैं। अतः ऐसी स्थितिमें समाधान करना बहुत विकट है। लोगोंकी मति विशेष आवरण प्राप्त होने पर ही अल्प बाबतों / कारणोंमें बलवान दुराग्रह होता है - वरना नहीं होता। जैन समाजका विघटन होनेका मुख्य कारण अनुशासनका अभाव है। प्रायः ज्ञानी मिलते नहीं हैं और सिद्धांतका अनजानपना रहता है इसलिए विपरीतता और स्वच्छंद बढ़ते जाते हैं। (७४५)



आत्मा और ज्ञानमें तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है। इसलिए उसमें भेद (भिन्नपना) दिखता नहीं है। इसलिए मोक्षार्थी जीव ऐसा जानकर निःशंकरूपसे ज्ञानमें अपनत्व जानकर प्रवर्तता है। उसका ज्ञानियों द्वारा निषेध नहीं किया गया है। अर्थात् सम्मत करनेमें आया है। खुद भी उस प्रकार द्रव्यार्थिकनयसे प्रवर्तन करके भेदज्ञान कर रहे हैं। इसी तरह रागादि भावोंसे भेदज्ञान करनेमें आता है। परन्तु रागादि विभावमें निःशंकरूपसे अपनत्व करके रहना - यह अनादिका अज्ञान है। इसलिए अंतर अवलोकन द्वारा दोनों भावोंके स्वभावको पहचानकर, रागादिमें जो अपनत्व हो रहा है उसे छोड़ना, मिटाना - ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है। जिसको अत्यंत भक्ति भावसे शिरोधार्य करने योग्य है।

ज्ञानसे सिर्फ पर्यायत्वको लक्षमें नहीं लेते हुए, ज्ञान-तत्त्वसे आत्माका ग्रहण करने योग्य है - वह परमार्थ है। (७४६)



ज्ञानमें 'स्व-पना' होने पर, ज्ञान स्व-पने अनुभवमें आने पर - ऐसे ज्ञानमात्रसे ही बंधका अभाव होता है, क्योंकि अनादिसे रागादिमें स्व-पना करके जीव भाव-बंधरूप परिणमन कर

रहा है।

इसलिए समयसार गाथा - ७१में भगवान् अमृतचंद्राचार्यदेवने 'ज्ञानस्य भवनं खलू आत्मा' - ऐसा विधान किया है। अर्थात् ज्ञानका होना - परिणमन होना वही आत्मा है। यह ज्ञान रागादिसे भिन्नपनेसे वर्तता है। भिन्नतासे रहने पर चित्तशक्तिका सहज विकास होता है, अर्थात् स्वसंवेदनका आविर्भाव होकर, विज्ञानघन होता है।

भेदज्ञान होनेके साथ ही कर्मविपाक शिथिल हो जाता है। बंध भी शिथिल होता है।

(७४७)



जून - १९९१

ज्ञानी ज्ञानवेदनमें, स्वयंका वेदन करनेमें निपुण है। इसलिए राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप उदयको ज्ञानवेदनसे भिन्न / बाह्य जानकर उसरूप जरा भी परिणमन नहीं करते हैं। वही ज्ञानके ज्ञानत्वका परिणमन है। ज्ञानके वेदनके अनुभवसे विरुद्ध ऐसे समस्त रागादि विभावका अनुभवमें सर्वथा भिन्न ही वेदन करते हैं, क्योंकि स्वयंके एकत्वमें, अन्यका एकत्व होना अशक्य ही है। पुनः पुद्गल पदार्थोंकी कुछएक अवस्थाएँ (रूप-रंग) सिर्फ जाननेका विषय बनती है; वहाँ इसके अनुभवका भ्रम नहीं होता। परन्तु कुछएक अवस्थाएँ, जैसे कि (सुख-दुःख) शाता-अशाता, कड़वा-मीठा, इत्यादि स्वादके प्रकार धारण करती है, वहाँ भेदज्ञानके अभावके कारण, जीवको अभेदता वेदनपूर्वक हो जाती है, जो ज्ञानके अज्ञानत्वका परिणमन है। तब जीव ज्ञान पर ज्ञेयकी असर हुई, ऐसा अनुभव करता है। जो कि अनुभवकी भूल है। जानकारी की भूल समझसे मिटती है, परन्तु अनुभवकी भूल टालनेके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए। अंतर अवलोकनका सूक्ष्म अभ्यास चाहिए।

प्रथम, अंतर अवलोकनसे पर विषयको भोगनेका रस टूटता है, बादमें एकत्वरूप अनुभवकी भूल जाननेमें आती है, और जाननेके पश्चात् टलती है। समयसारजी गाथा ९२-९३में यह विषय है।

(७४८)



स्वरूपके विकल्प द्वारा जब तक स्वरूपमें अहंभाव होवे, तब तक आत्मामय परिणमन नहीं है, परन्तु वेदनपूर्वक स्वरूपलक्ष सहितका परिणमन - वह आत्मामय परिणमन है। जब तक विकल्प है, तब तक बाह्यवृत्ति है, वेदनमें स्व-पने अपना अनुभव वह अंतर्वृत्ति है। वेदनसे ही अस्तित्व ग्रहण है। ज्ञानवेदनके सिवाय मात्र स्वरूपके विकल्पमें अस्तित्व ग्रहण नहीं है। इसलिए मोक्षमार्गीको सविकल्पदशामें, परिणतिमें वेदन है। जितना वेदन है, उतना ही धर्म

है और वही मुख्य है। विकल्पकी मुख्यता नहीं है।

(७४९)



(१) संयोगोंकी अनुकूलताके अभिप्रायके कारण अनेक पदार्थोंकी भोगादि कामनासे अग्नि-जिसके परिणाममें, प्रज्वलित है, वह मुमुक्षुतामें ऐसा प्रतिबंध है कि जो भोगमें अनासक्ति और संसार (उदय) के प्रति उदासीनताको रोकता है।

(२) जीवको मान-सत्कारादिकी कामना रहनेसे उसकी वारंवार स्फुरणा होती है। इसलिए मानादिकी न्यूनता जो मुमुक्षुताकी पात्रतामें होनी चाहिए - वह नहीं होती है - यह मान सम्बन्धित प्रतिबंध है। गुप्त रहकर, अप्रसिद्ध रहकर निज-हित कर लेनेकी भावना / वृत्ति मुमुक्षुको रहनी चाहिये।

(३) अशाताके वक्त आकुलता - व्याकुलता होने लगे वह देहके प्रति मूर्च्छा है। जिसका अल्पत्व होना चाहिये (प्रयत्नपूर्वक)।

मुमुक्षुकी भूमिकामें इस प्रकारके गुण, वह आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं। यह खास लक्षमें लेने योग्य है। यदि उक्त प्रतिबंधयुक्त दशा हो तो आत्मज्ञानकी पूर्व-भूमिका नहीं होनेसे, आत्मज्ञान नहीं होता है।

(७५०)



'ज्ञानमात्र' कहनेसे परमार्थ है। जो कि शुभाशुभ भावसे तो रहित है ही, परन्तु नयपक्षसे भी रहित ही है। इसीलिए नयपक्षसे रहित होकर अनुभवगोचर होता है। उसीको 'चिन्मात्र' अथवा 'स्वभाव' ऐसे अनेक नामसे कहा जाता है।

द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इत्यादि नयके विषय हैं, परम पदार्थ, भगवान् आत्मा, निर्भेद और अन-उभय स्वरूप नयातीत है। वेदकता (स्वयंकी) वह उसका परम लक्षण है।

(७५१)



“ज्ञानम् एव परमार्थ मोक्ष कारणम् विहितम्।” ज्ञानको ही आगममें परमार्थरूपसे मोक्षका कारण कहनेमें आया है, किसी शुभाशुभ भावको नहीं।

वह इस प्रकारसे :- ज्ञानका सम्यक्त्वरूप परिणमन जो मिथ्यात्वसे प्रतिपक्षभूत है। अर्थात् जो ज्ञान स्वयंके सन्मुख हुआ वही सम्यक् हुआ (अविनाभीरूपसे प्रतीति होती है।)

ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन वह स्वसंवेदनरूप परिणमन-स्वानुभूतिरूप परिणमन जो अज्ञानसे प्रतिपक्षभूत है।

ज्ञानका चारित्ररूप परिणमन, वह ज्ञानकी ज्ञानमें लीनता / रमणता, जो कषायभावसे प्रतिपक्षभूत

है।

इस प्रकार सुगमतासे प्रयोगान्वित होनेके लिए मोक्षके कारणरूप भाव, भगवंतने निरूपण किये हैं। (७५२)



जीवको खुदको स्वभावसे तो ज्ञातापना है। स्वयंके ज्ञातापनेको अनादिसे भूला हुआ जीव अपने पुरुषार्थको उदयमें रागी होकर अन्य कार्य करनेमें लगाता है, वहाँ कर्तृत्वको / एकत्वभावको प्राप्त होता है और बंधता है। इस प्रकार ज्ञातामात्र ऐसे स्वरूपका अज्ञान ही जीवको राग करनेके लिए प्रेरता है, रागमें उत्साहित करता है यानी कि अपने महानपदके बेभानपनेके कारण, जीव खुदको वर्तमान उदयजनित अवस्थारूप मानता हुआ, अनेक कल्पित कार्योंके लिए स्वामित्वभावसे उत्साहित होकर प्रवर्तता है।

परन्तु ज्ञानी ज्ञातापनेके कारण, उदयके प्रति उनको राग नहीं होनेसे निरुद्यमी होकर, ज्ञातापनेके पुरुषार्थमें वर्तता है। (७५३)



अनउभयस्वरूप ज्ञान अपने स्वरूपरूप जाननक्रियामें प्रतिष्ठित है, अतः जाननक्रियाका ज्ञानसे अभिन्नपना है, उसमेंसे, उसके आधारसे ज्ञानको ग्रहण करना, स्वरूपरूप ग्रहण करना, निजरससे ग्रहण करना और उस प्रकार गृहीत ज्ञानके अवलंबनसे जाननक्रियाका मात्र ज्ञाताभावसे परिणमन होनेसे संवर उत्पन्न होता है, सर्व विभाव भावोंसे भिन्नता हो जाती है, और अनादि रागका आधार छूट जाता है। जब तक रागका आधार नहीं छूटता तब तक पुरुषार्थ रागके साथ जुड़ा रहता है, इससे विपरीतता सधती है। रागका आधार छुड़ानेके हेतुसे, ज्ञानके और रागके प्रदेश अत्यंत भिन्न हैं - ऐसा परमागममें विधान है। जो कि परमार्थका ही प्रतिपादक है, उसमें संशय कर्तव्य नहीं है। (७५४)



प्रश्न :- ज्ञानका अनुभव कैसे करना ?

उत्तर :- ज्ञान स्वयं स्वसंवेद्यमान है, अनुभूति स्वरूप है, परन्तु ज्ञेयोंके निमित्तसे ज्ञानमें अनेक भेद मालूम पड़ते हैं, उसे गौण करके, ज्ञानसामान्यका अवलंबन लेनेसे अर्थात् उसका मुख्यरूपसे अनुभव करनेसे, स्वसंवेदन प्रगटरूपसे अनुभवमें आता है। जब ज्ञानसामान्यका स्वाद लेनेमें आता है, तब ज्ञानके सर्व भेद अपनेआप गौण हो जाते हैं। ज्ञानके सर्व भेद एक ज्ञान ही है। वही एक परमार्थ है, कि जिसकी प्राप्ति करके - अनुभव करके आत्मा निर्वाणको प्राप्त होता है। इसलिए यह ज्ञान ही परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष उपाय है। (७५५)

जो मोह समस्त जगतको उन्मत्त बनाता है, जिसके कारण इस समस्त संसारका विशाल विस्तार है, और जिसे जीतना अति-अति दुष्कर है - ऐसे महा बलवान मोहको भी सहजमात्रमें जो ज्ञान उड़ा देता है, और वचनातीत आनंदकी प्राप्तिसे जो मस्त है, वैसा आत्मज्ञान क्यों वंदनीय न हो ? स्तुति करने योग्य न हो ? पूजनीय क्यों न हो ? (७५६)



ज्ञानवेदनमें रहनेकी श्री जिनकी आज्ञा है। श्री जिनका दर्शन करते हुए यानी कि स्वरूप देखने पर यही प्रतिबोध होता है।

ज्ञानवेदनमें रहते हुए ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होता है। ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे ज्ञानविशेषका सहज तिरोभाव होता है।

ज्ञानविशेषका तिरोभाव होनेसे, जीवको परसंग होनेके भावका अवकाश ही नहीं रहता। परसंग-भावके अभावसे सहज रागका अभाव है। रागके अभावसे बंधका अभाव है, बंधके अभावसे उदय-संसारका अभाव है, जिससे सर्व दुःखका अभाव है।

इस प्रकार जिनाज्ञाका फल अनन्त सुख है। (७५७)



मोक्षार्थीजीवको आचार्यभगवानकी यह आज्ञा है कि 'मैं सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ'- इस सिद्धांतका सेवन करो।

अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि।

यह सारे समयसारका सार अथवा मंत्र दिया है। (७५८)



मतार्थीपना, आत्मार्थीतासे प्रतिपक्षभूत है। आत्मार्थीको असत्यका स्वीकार नहीं होता अथवा सत्यका अस्वीकार नहीं होता; (भयसे, लोभसे या मानसे)।

सिर्फ कुलधर्मका ममत्व हो - वही मतार्थी - यह स्थूल प्रकार है। सूक्ष्मरूपसे विचार करें तो सत्पुरुष या सत् सिद्धांतके बारेमें कोई भी विपरीतताका स्वीकार अथवा यथास्थानमें अस्वीकार हो तब वहाँ मतार्थीपना गिनना चाहिये। ऐसा मतार्थीपना आत्मार्थसे विरुद्ध होनेसे आत्मकल्याणका घातक है। श्रीमद् प्रभु कहते हैं कि :- 'होय मतार्थी जीव ते अवळो ले निर्धार' - इस वचनमृतमें बहुत गंभीरता रही है। सत्देव गुरु-धर्म-सत्पुरुषके विषयमें किसी भी प्रकारका छल ग्रहण करके, विपरीत अभिप्राय हो जाय तो तब आत्मार्थ रहित होनेका बनता है, और दर्शनमोह तीव्र होता है, मतिको अवश्य आवरण आता है, मति कुंठित हो जानेसे, आवरित हो जानेसे, ज्ञान विवेक चुक जाता है।

ज्ञानीपुरुषकी आज्ञानुसार सिद्धांतको ग्रहण करनेके बजाय स्वच्छंदसे अपना मत हो जाना, उसमें आत्मार्थीपना नहीं है, मतार्थीपना है, जिसके कारण कुतर्क होता है, विराधना होती है, इसलिए महान अपराध है। (७५९)



एक ज्ञानमें ही एकाग्र होकर ज्ञानमें ही 'चेत रखना' वह ज्ञानकी संचेतनरूप ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञानकी शुद्धि / निर्मलता होती है, पूर्णता भी उसीसे होती है। मोक्षमार्गके प्रारम्भसे लेकर अंत तक यह प्रकार है, जो मुख्य है।

'जीव एव अेकः ज्ञानं।' जीव ही एक ज्ञान है, इसलिए ज्ञानको और जीवको अव्यतिरेक है, जो निःसंशय है, अर्थात् शंका करने योग्य नहीं है। यह परमार्थकी अपेक्षा योग्य ही है। इसप्रकार जीवको ज्ञानसे कहनेमें पारमार्थिक प्रयोजन रहा है। ऐसा श्रीगुरुका 'आशय' समझने योग्य है।

शुद्ध ज्ञानमय समयसार, वह सत्यार्थ परमात्मारूप है। इसलिए अपने आपको एक ज्ञानमयरूप अनुभव करनेका श्रीगुरुका फरमान है। (७६०)



शुभराग और तदाश्रित त्यागादि, वे अशुद्ध द्रव्यके अनुभवन स्वरूप होनेसे, उसको (व्यवहारको) परमार्थपनेका अभाव है। अतः जिसे व्यवहारका (शुभराग और द्रव्यक्रियाका) ममत्व रहता है, वैसे विवेकशून्य जीव परद्रव्यको ही आत्मा माननेवाले, केवल रागको ही साधते हैं।

तात्पर्य यह है कि व्यवहारका पक्ष (जिसको) है, वह परमार्थके विपक्षमें है। उसे, श्री गुरु आत्माको देखनेके लिए अंध कहते हैं।

इसलिए शुद्धज्ञान एक ही परमार्थकी अपेक्षा अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह शुद्ध द्रव्यके अनुभवन स्वरूप है। ज्ञान द्वारा आत्माका स्वद्रव्यरूप अस्तिरूप अवलोकन करनेमें जो निपुण हैं, वे विशुद्ध ज्ञानप्रकाश द्वारा आत्मामय जीवन जीते हैं - यह पारमार्थिक विवेक है।

(७६१)



ज्ञानमात्र, सदा अस्खलित, एक वस्तुका निष्कंप ग्रहण करनेसे मुमुक्षुको तत्क्षण ही भूमिकाकी (साधकपनेकी) प्राप्ति होती है, अर्थात् ज्ञानमात्र ऐसे अपने स्वरूपका आश्रय करते हैं, वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं। और जो ज्ञानमात्रका आश्रय नहीं करते, उनका संसार परिभ्रमण मितता नहीं है। इस प्रकार सारे 'समयसार'का सार 'ज्ञानमात्र' रूप खुदको ग्रहण करना, अनुभव करना - वह है। मोक्ष-उपायका यह संक्षेप है। वह सुगम होने पर भी, कोई वीरल

जीव ही उसको प्राप्त करता है यह कुदरतकी कोई अद्भुत नियति है। ऐसे वीरल जीव धन्य हैं। (७६२)



ज्ञानीकी आज्ञाका अनुसरण करने जाये तब अथवा आत्मकल्याण विषयक सत्संगादि प्रवृत्ति करते हुए समाज अथवा लोकलज्जा आड़े आती हो तो वह लोकसंज्ञा है। जो आत्म घातक है।

ठीक उसी प्रकार परम फलदायक ऐसा ज्ञानीपुरुषका वचन जो है उसको सम्मत करनेके लिए, पीछेसे बुद्धि शास्त्र आधार लेने जाती हो तो वह भ्रांतिस्वरूप ऐसी 'शास्त्रसंज्ञा' है। जो ज्ञानीपुरुषके वचन सम्बन्धित अश्रद्धाकी द्योतक है, और आत्मस्वरूपको आवरणका कारण है।

ऐसी 'शास्त्रसंज्ञा' विपरीत अभिप्राय अथवा विपरीत निर्णयके कारण उत्पन्न होती है। और वही जीवका स्वच्छंदरूपी महादोष जानने योग्य है। (७६३)



अंतर अवलोकनके बिना ज्ञान परलक्षी रहता है। यद्यपि पूर्णताके लक्षवाला, परलक्षी ज्ञानमें नहीं फँसता और उसी जीवको यथार्थरूपसे अवलोकन रहता है। इस प्रकार अपेक्षितरूपसे अवलोकनको समझने योग्य है। जब तक इस प्रकार पूर्णताके लक्षसे शुरुआत नहीं होती है तब तक तत्त्वज्ञानका अभ्यास परलक्षी रहता है। वैसे प्रकारमें अधिक समय नहीं निकल जाये यह खास लक्षमें रखने योग्य है। क्योंकि वैसा प्रकार यदि अधिक समय चला तो प्रायः शास्त्राभिनिवेश अथवा स्वच्छंद होनेका संभव है। पूर्णताके लक्षवालेको, दृढ मोक्षेच्छा होनेसे 'मार्ग प्राप्ति'का प्रयत्न उस जीवका उत्कृष्ट होता है। अथवा 'मार्गप्राप्तिका अभाव' अर्थात् स्वरूप शांतिके अभावरूप अशांतिकी दशा उसके लिए असह्य बन जाती है। वही उत्कृष्ट मुमुक्षुताकी दशा है, उस वक्त कषाय अति मंद होनेके बावजूद भी शांताकी शांति (?) भी असह्य लगती है, जो यथार्थ भूमिकाका असाधारण लक्षण है। यहाँ पर अपूर्व जिज्ञासापूर्वककी स्वरूप शोध - अंतर शोध होनेसे परलक्षी ज्ञानका प्रकार नहीं बनता। अर्थात् ज्ञान युक्ति-आगममें रुकता / संतुष्ट नहीं होता है। क्योंकि वर्तमान अशांतिसे 'अत्यंत असंतुष्ट' ऐसा परिणमन वर्तता है। अनुभवकी शांति / तृप्ति के बिना परिस्थिति असह्य हो जाती है, उसको ही अनुभव होता है। (७६४)



आत्मकल्याणके एकमात्र लक्ष एवं आशयपूर्वक जब तक यथार्थ सुविचारणाकी सुयोग्य भूमिका नहीं हो, तब तक आत्मार्थीजीवको जिज्ञासामें रहना उचित है। अथवा अत्यंत सरल परिणाम

सहित मध्यस्थ रहना योग्य है। वैसी परिपक्व विचारधारा होनेके पहले धार्मिक विषयोंमें या बाबतोंमें अपना मत देनेका अधिकार ही नहीं है - ऐसा जानकर मत देनेसे दूर रहना हितावह है। वरना स्वच्छंद और मताग्रहकी उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहेगी। ऐसे महादोषमें सहजमात्रमें आना हो जाता है इसलिए सत्पुरुषकी आज्ञाका अनुसरण श्रेयभूत है। यह निःसंशय है।

यद्यपि विद्यमान सत्पुरुषकी पहचान अगर होवे तो आज्ञारुचिरूप, प्रत्यक्ष कारण (समकितका) प्रगट होता है, जो जीवको अनेक प्रकारके संभवित दोषोंसे बचा लेता है। इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ और सलामत मार्ग है, ऐसा सत्पुरुषोंका अभिप्राय, गहरे अनुभवसे प्रसिद्ध हुआ है। आत्मलाभके लिए प्रवृत्ति करनेवाले जीवको जाने-अनजानेमें अनंत नुकसान - नहीं दिखे, नहीं समझमें आये ऐसा बन जाता है। इसलिए अत्यंत दरकार रहनी चाहिए। (७६५)



जुलाई - १९९१

मोक्षार्थीपना वह सामान्य मनुष्यसे नहीं हो सकता। संपूर्ण शुद्धिकी उपासना, जीवन समक्ष सिर्फ एक ही लक्ष / ध्येय रखनेवालेको, लक्षके प्रति आगे बढ़ते वक्त अनेक बार अग्निपरीक्षामेंसे गुजरना पड़ता है।

असाधारण निश्चयशक्ति और प्रियजनोंका अभिप्राय जो कि परमार्थसे प्रतिकूल हो, उसके सामने अडिग रहनेकी अथवा जूझनेकी ताकत, नाहिंमत न होनेकी फौलादी - वज्र जैसी हिंमत और फिर भी निर्दोषवृत्ति, यह मुमुक्षुका सात्विक खुराक है। अनादि अंधकारको भेदकर मार्ग निकालना है। उसमें जल्दबाजी भी नहीं चले और प्रमाद भी नहीं चले। उलझनमें उलझना भी नहीं पुसाता। धीरजसे मार्ग ग्रहण करनेका है। ऐसे निजहितके मार्गके साथ समस्त जीवोंके कल्याणकी भावना होना / रहना अविनाभावी है। ऐसी भावना होते हुए भी लोकसंज्ञा और लोकअविरुद्धताके अटपटे प्रश्नोंके साथ संतुलन बनाये रखनेकी कुशलता और धीरज सहजभावसे रहना अपेक्षित है। मार्गकी गंभीरता होनी जरूरी है। (७६६)



जैन सिद्धांतका वारंवार अभ्यास करनेसे दृढ़ प्रतीति होगी और इससे अनुभव आयेगा, ऐसा बाह्यदृष्टिसे विचार करके अथवा अभिप्राय रखकर अनेक जीव दीर्घकाल पर्यंत सिद्धांत शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं - करते रहते हैं। परन्तु यदि खुदके दर्शनमोहका रस न टूटे तो अनुभव उत्पन्न नहीं होता - ऐसा श्रीगुरुका फरमान है। वास्तवमें तो सिद्धांतज्ञान और उपदेशबोध दोनोंके निमित्तसे यदि दर्शनमोहका रस घटे तो ही उसकी यथार्थता है। तथापि अयथार्थ पद्धतिसे दर्शनमोह नहीं घटता, यह लक्षमें रखने योग्य है।

तत्त्व अभ्यासके साथ-साथ भेदज्ञानका प्रयोगाभ्यास होना चाहिए, तब तो अवश्य दर्शनमोहका रस टूटे। (वरना) यदि भेदज्ञानकी पद्धति चालू नहीं हुई तो तत्त्वाभ्यास निरर्थक जाता है। जिस मुमुक्षुजीवकी दृष्टि प्रयोजन साधनेके लिए तीक्ष्ण होती है, वह सिर्फ शास्त्र वांचनमें न तो अटकता है, ना ही संतुष्ट होता है। चैतन्यस्वरूप तो अनुभव करने योग्य है, नहीं कि सिर्फ विचार करने योग्य। (७६७)



आत्माको चैतन्यरूप, चैतन्यमात्र चिन्ह / लक्षणका अवलंबन लेकर अनुभव करना 'चैतन्यम् आलम्ब्यताम्' - ऐसा परमागममें विधान है। (स. सार. कलश - ४२-४३) अनुभवपूर्ण उक्त विधान, वही श्रीगुरुकी आज्ञा है, आज्ञांकित शिष्यको ऐसा अंगीकार करने योग्य है, वा शिरोधार्य करने योग्य है। अन्यथा अभिप्रायसे प्रवर्तन करना वह मतार्थीपना है अथवा स्वच्छंद है।

“ज्ञानीजनः लक्षणतः जीवम् स्वयं अनुभवति।”

धर्मात्मा इस विधिसे निरंतर भेदज्ञान करते हैं। मुमुक्षुजीवको भी वही कर्तव्य है।

(७६८)



ज्ञान-ज्ञेयकी एकत्वबुद्धिके संस्कारके कारण जीवको ऐसा भ्रम होता है, कि ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिबिंबित होनेसे, ज्ञानमें कुछ असर होती है इसलिए विकृति उत्पन्न होती है, इसलिए ज्ञेय ज्ञानमें जाननेमें नहीं आये ऐसी युक्ति अथवा प्रयत्न करनेमें लगता है। परन्तु अनादि परलक्ष है, तब तक परलक्षपूर्वक परका जानना हुआ करता है, हुए बिना नहीं रहता। आत्माका विचार - वांचन भी परलक्षसे होता है, वहाँ रागादि विकार होना अनिवार्य है। अतः मुमुक्षुजीवको प्रथम स्वलक्ष कर्तव्य है। सर्व शास्त्रोंकी रचना स्वरूपलक्ष होनेके लिए की गई है। यदि स्वलक्ष हुआ तो परप्रकाशनके काल भी, ज्ञायक ही जाननेमें आता है / मुख्य रहता है और पर जाननेमें आ रहा होने पर भी जाननेमें नहीं आता। अर्थात् ज्ञान - ज्ञेयकी एकत्वबुद्धि मिटती है, इसलिए ज्ञेयसे भिन्न होकर ज्ञान वर्तता है। उक्त प्रकारसे प्रथम लक्ष बदले बिना ज्ञानमें से ज्ञानाकारको दूर करनेके लिए कोई ध्यानादिका प्रयोग करता है, वह अविधिसे एकाकार ज्ञानको चाहता है, परन्तु उसमें सफलता प्राप्त नहीं होती। परन्तु सिर्फ एकाकार स्वरूपके लक्षसे, विशेष ज्ञानका तिरोभाव होकर ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे, ज्ञान यानी कि आत्मा प्रगट अनुभवमें आता है। अतः स्वरूप लक्ष ही निर्विकल्प अनुभवका कारण है - ऐसा जानकर प्रथम स्वरूपलक्ष हो उस प्रकारसे प्रयत्न कर्तव्य है। (७६९)



ज्ञान हमेशा लक्ष अनुसार प्रवर्तता है। अनादि संसार अवस्थामें परलक्षपूर्वक ज्ञानकी प्रवृत्ति रही है। इसलिए परका-उदयका अनुसरण सहजरूपसे होता है। इसलिए अगर स्वलक्ष उत्पन्न हो तो, उदयसे भिन्न होनेकी प्रक्रिया होवे। इस स्वलक्षके दो विषय है। एक पूर्णशुद्धि अर्थात् दृढ मोक्षेच्छा और दूसरा तद्जनित भास्यमान प्रत्यक्ष निज सिद्धपद। साधक अवस्थामें उक्त दोनों विषय लक्षमें रहते हैं, (युगपत् रूपसे) और स्वरूपकी मुख्यतामें सहज शुद्धिकी प्रक्रियाकी सिद्धि होने लगती है, इसलिए कभी भी संतुलन नहीं बना रहे, ऐसा नहीं बनता। जिसे संक्षेपमें ज्ञानीपुरुष यथार्थ लक्ष कहते हैं। ज्ञानमें लक्षका विषय नहीं बदलता। परिणामतः उपयोग फिरता है, परन्तु लक्ष नहीं फिरता। उदयभावमें अनेकविधता होने पर भी स्वलक्षपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है। परिणामतः / फलस्वरूप अनुदय भाव उत्पन्न होते हैं, उसका कारण आत्मलक्ष ही है।

(७७०)



जिन्हें अपना द्रव्य-स्वरूप, रागादि मलरहित, शुद्ध ही है, ऐसी प्रतीति अनुभव सहित वर्तती है, ऐसे जो सम्यक्दृष्टि, उन्हें पराश्रित अंशरूप रागांशमें अशुद्धत्व अर्थात् चिकनाई उत्पन्न नहीं होती। कर्म प्रसंग परसे दृष्टि अर्थात् भ्रांति छूट जानेसे, निर्भ्रात दशा-द्रव्य आश्रित वर्तती दशाको, द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमन कर रहा है, ऐसे देखनेमें आता है। जिसकी जाति शुद्ध होनेसे, उनके सभी परिणाम अबंधक होते हैं। सर्व परिणाम मान्यताके आधारसे होते हैं। जैसे संसारीको भवकी प्रतीतिके आधारसे ही सारा परिणमन होता है, वैसे।

अनुभूति सहित, अनन्त सर्व गुणांश व्यक्त होनेसे, जैसे कोई अलौकिक विशेषता, शेष अशुद्धिकी जातिको भी परिवर्तित कर देती है, ऐसी विशेषताका जन्म होता है। इसलिए अन्य संसारी जीवोंके समान क्रिया और रागादि होने पर भी बड़ा परिणमन भेद है, कि जिससे बंधते नहीं।

(७७१)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाला, आत्माके द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेदसे आत्माका निर्णय करनेका प्रयास करता है और रुचि अनुसार आगमके कोई न कोई विषयका पक्षपात करता है। एक, अभेद, अखण्ड तत्त्वकी अनेकरूप कल्पना करता है, उसका नाम पक्षपात है। परन्तु यदि रागका अंशतः अभाव करके, स्पष्ट अनुभवांशसे परमपदार्थकी पहचान, अस्तित्व ग्रहण द्वारा होवे, तो सविकल्प दशामें 'नयपक्ष' में अटकनेका नहीं बनता, क्योंकि पहचानके कारण उत्पन्न अखण्डका जोर अनुभव प्रत्ययी होता है। इसलिए पक्षपात रहित होकर, वेदन द्वारा, स्ववस्तुको प्रत्यक्ष करनेवालेको कल्पनाबुद्धि नहीं रहती - सहज ही मिट जाती है। उसका

कारण प्रत्यक्ष स्वरूपका प्रत्यक्ष स्वाद है। जो तत्त्व अर्थात् निजस्वरूप केवल अनुभवका विषय है, उसे सिर्फ विकल्पगोचर पक्षपात द्वारा रखनेसे क्या फायदा ? ऐसा लगनेसे विकल्प / राग परसे वजन छूट जाता है। (७७२)



एक ही कालमें तेजपुंज शुद्ध चैतन्यघन ऐसा निजस्वरूप, अनुभूति अंशरूप ज्ञानसामान्य, ज्ञेयाकाररूप ज्ञानविशेष, और रागादि भावरूप विभावभाव विद्यमान है। ऐसी वस्तुस्थिति है, वहाँ स्वलक्षके अभावके कारण, एकांत पर ऐसे रागादिका लक्ष (अनादिसे) होनेसे, तेजपुंज ऐसा महापदार्थ होते हुए भी, नहीं होनेके बराबर है ! और जीव अनन्तकाल अँधेरेमें गोते खाता है। दुःखी होकर भटकता है।

प्रगट लक्षण, ऐसा जो अनुभूति अंश, इसके आधारसे यदि एकबार भी तेजपुंजका लक्ष हो जाय, तो उस तेजपुंजके स्फुरण मात्रसे, विकल्परूपी अँधेरा विलयको प्राप्त हो जाये। विकल्प अर्थात् नयपक्षकी कक्षा व्यतीत होकर, तत्क्षण ज्ञानप्रकाशका उदय होता है, अर्थात् शुद्ध चैतन्य मात्र निर्विकल्प प्रकाशरूप वस्तुका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तबसे अशुद्धत्व मिटता है। (७७३)



मोहका अभाव होकर शुद्ध स्वरूपका अनुभव होने पर, सम्यक् ज्ञानरूपी शीतल सुखमय चंद्रका उदय होता है। जिसके ज्ञान प्रकाशमें आकुलतामय सर्वभावोंमें कहीं भी भ्रम (मोह) नहीं होता अर्थात् शुभकर्म सुखदायी और अशुभकर्म दुःखदायी, ऐसा भेद तत्त्वदृष्टि होनेके पश्चात् नहीं रहता। क्योंकि जैसे अशुभ भावरूप संक्लेश परिणाम दुःखमय है, वैसे ही सकषायरूप शुभ परिणाम भी दुःखमय ही है। वैसा प्रत्यक्ष अनुभव निर्मल ज्ञानको होता है। जब तक ऐसा अनुभव नहीं है, तब तक शुभ अच्छा - अशुभ खराब (बुरा) ऐसी मिथ्या श्रद्धा रहती है। परन्तु दोनों ही जीवको बंधन करते हैं। एक समान जैसा; (क्योंकि) दोनोंमें विभाव सामान्य है। विभाव जीवके शुद्ध परिणमनका घातक है। अतः उसकी अभिलाषा - वह मोह है, विपर्यास है। चैतन्य महापदार्थ, परम पवित्र स्वभावके घातककी चाह रखना उचित है क्या ? फिर भी पुण्यके उदयमें जो रंजित होता है, वह अपनी सुध-बुध खोकर, पागल होकर खुशी मानता है, परन्तु महा दुःखी है। (७७४)



स्वरूप निर्णयमें स्वभावकी नित्यता भासित होती है, जिसके कारण सहज ही अनित्य संयोगी पदार्थों पर उपेक्षा, उदासीनता आ जाती है। नित्य, निरुपाधिक, शांत स्वरूप-रस, अनादि

अनित्य देहादिके प्रति रसको मिटाता है। इस प्रकार संयोगोंका मूल्य, निर्मूल्य होकर, स्वरूपका मूल्यांकन होता है, और नित्य, स्थिर स्व-पदार्थके आश्रयसे उपयोगको स्थिर होनेका अवसर आता है। जब तक अनित्य, अस्थिर पदार्थोंकी प्रतीति छूटे नहीं, तब तक उपयोगको स्थिरत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस तरह 'आत्मा नित्य है' - ऐसे यथार्थ निर्णयका उपयोगके स्थिर होनेके साथ अनुसंधान है। इसलिए आत्माके नित्यत्वका निर्णय अति महत्त्वका अंग है - ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है। (७७५)



ज्ञानी उदयका सम्यक् प्रकारसे वेदन करते हैं। वह ज्ञानीका ज्ञानीपना है। यहाँ सम्यक् प्रकारसे वेदन करना माने क्या ?

समाधान :- सामान्यरूपसे संसारमें जीव उदयको भोगते वक्त तदाश्रित राग / द्वेष भावसे परिणमन करके नया कर्मबंध करता है। परन्तु शुद्ध स्वरूपका जिन्हें अनुभव है, उन्हें वैसा नहीं होता। जैसे ज्ञानीपुरुषको शांत स्वरूप-रसका वेदन करते हुए, शुभ या अशुभ उदयका जानना होता है। स्वरूप जागृत्तिपूर्वक ऐसा निश्चय रहा करता है, कि यह उदय मेरा नहीं है, ज्ञानस्वरूपी ऐसे मुझे उदयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पहले सम्बन्धकी कल्पना करके उपाधिमें आकर, बहुत दुःख भोगा, परन्तु अब अनुभवमें भिन्नता अनुभवमें / वेदनमें आती है, इसलिए ऊपर-ऊपरके उपयोगसे जानते हुए, स्वरूपमें विशेष सावधान होनेका सहज बनता है। इस प्रकारको (कि जिसमें) उदयको वेदते हुए निर्जरा हो, उसे सम्यक् प्रकार जानने योग्य है। प्राप्त वीतरागताके कारण रागके निमित्त मिलने पर भी रागकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसी सहजता ज्ञानदशामें रहती है। अभ्यंतर परिणतिमें स्वरूपानुभव सुख वर्तता है, जो अत्यंत मुख्य है। इसलिए अति अल्प रागांशमें बिलकुल रूखापन होता है, उसे भी रोग जानते हैं। उसमें प्रीति - रति दर्शनमोह बिना उत्पन्न नहीं होती, परन्तु ज्ञानीको वैसा व्यामोह नहीं होनेसे, मात्र ज्ञाताभावसे रहना होता है। (७७६)



'चैतन्यशक्ते द्वौ आकारौ ज्ञानकारो ज्ञेयाकारश्च।' (राज वा. १-६-५-३४-२९)

अर्थ :- चैतन्य शक्तिके दो आकार हैं, ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। यह शक्तिका निश्चय स्वरूप है, उसका परज्ञेयाश्रित कथन - व्यवहार वचन है।

वस्तुस्वभावको समझकर हेय-उपादेय अथवा मुख्य-गौण हो सकता है, परन्तु स्वभावको अन्यथा समझनेमें तो दर्शनमोहका प्रभाव ही प्रवर्तता है। जिससे महा अनर्थ होता है। स्वभावको जैसा है, वैसा समझकर प्रयोजनको (यथार्थ विधिसे) साधना चाहिए, जिससे दर्शनमोहका अभाव

हो।

ज्ञान यदि ज्ञेयाकाररूप परिणमन ही न करे, तो अनादि परसे जो एकत्व (भ्रांतिसे) हुआ है, वह होता ही नहीं। और तब तो भेदज्ञान करनेकी विधि भी उपदेशमें नहीं होती अथवा परके निश्चय बिना स्वका निश्चय भी नहीं हो पाता। अतः ज्ञेयपूर्वक हेय-उपादेय रूप विवेक होना संभवित है। (७७७)



ज्ञेयाकार ज्ञानमें, जानपनेकी प्रधानता है और छद्मस्थ जीवको वह कर्मके क्षयोपशम अनुसार होती है। इसीलिए मनःपर्ययज्ञान, कि जो चारित्रकी निर्मलताके निमित्तसे प्रगट होता है, उसको भी अध्यात्ममें विशेषतारूप नहीं गिना जाता। परन्तु ज्ञानाकार ज्ञानमें स्वसंवेदनकी प्रधानता होनेसे, अनुभवके प्रयोजन वश, अध्यात्मशास्त्रोंमें उसकी मुख्यता देखनेमें आती है। फिर भी ज्ञेयाकार ज्ञान, वह कोई ज्ञानकी अशुद्धि या विपरीतता नहीं है - ऐसा जानने योग्य है।

अध्यात्ममें शुद्ध स्वरूपकी अनुभवशक्तिको ज्ञानगुण कहा गया है और पहचान होनेके वक्त भी स्वसंवेदनसे प्रसिद्धिरूप सिद्धि होती है। मोक्षमार्गमें जितना अनुभवरूप आत्मज्ञानका महत्त्व है, उतना आगमज्ञानका महत्त्व नहीं है। ऐसा महान आचार्योंका अभिमत है, कि जो आगमके पारगामी हैं। (७७८)



जिस मुमुक्षुजीवको स्वरूपप्राप्तिकी भावना है, फिर भी स्वानुभव नहीं होनेसे, आयुष्यको व्यय होता हुआ देखनेसे व्याकुलता होती (हो), उसे निम्न दो पहलूकी जाँच करना आवश्यक है।

(१) वर्तमान उदयमें रस / सुख वेदनमें आता है, वैसे अहितरूप भावोंमें परिणमन हो रहा है, जो कि स्वरूप प्राप्तिकी भावनाको प्रतिकूल होनेके बावजूद भी वहाँ जागृतिका अभाव क्यों ? वहाँ तो सहज दुःख लगनेसे नीरसता / उदासीनता आनी चाहिये।

(२) अपनेमें ज्ञान, सुखादि अचिंत्य शक्तिका निधान है, ऐसा जानकारीमें होनेके बावजूद भी अंतरमें उसकी हयातीका स्वीकार क्यों नहीं ? और इससे अन्य सुखकी वांछा रहती है ? इन दोनों प्रश्नोंकी गहराईमें जाना जरूरी है। इसके उपरांत अनुभव - चिंतामणीके हेतु भेदज्ञानके प्रयोगके पुरुषार्थपूर्वक, शुभाशुभ प्रसंगमें सावधानी छोड़कर 'ज्ञानमात्र'में सावधानीका पुरुषार्थ कर्तव्य है। (७७९)



उदयमान गति और इन्द्रियके विषयभोगका अनुसरण कर रहे परिणाम अंशमें आकुलता -

लक्षण दुःखका अनुभव, सम्यक्दृष्टि जीवको होता है, इसलिए उससे छूटनेका भाव सहज रहता है, फिर भी संयोग नहीं छूटता, परवश होकर उदय भोगना पड़ता है। परन्तु जिससे छूटनेका बहुत प्रयास हो उससे सहज विरक्तता आती है, इसलिए परिणाम उसमें रंजित नहीं होते, अतः भावप्रतिबद्धता नहीं होनेसे कर्मबंध नहीं है - निर्जरा है। तथापि उसी वक्त चलते हुए ज्ञानमें भिन्नता - ज्ञानवेदनपूर्वक अनुभवमें आती है। इस अभिन्न ज्ञानवेदनमें (जो वेदन करता है वही अभेदरूपसे वेदनमें आता है) स्वपनेके कारण विज्ञानघन भावमें, वीतरागता, निराकुलता लक्षण सुखादि अनुभवमें आते हैं। ज्ञानदशामें उदयका वेदन इस प्रकार होता है। (जैसे जेलका कैदी सजा भुगतने वक्त काम करता हुआ दिखनेमें आता है, वैसे ज्ञानीकी प्रवृत्ति होती है।) (७८०)



जिस विषयमें हितबुद्धि होती है, उस विषयमें जीवको श्रद्धा उत्पन्न होती है। और जिस विषयमें श्रद्धा उक्त प्रकारसे सहज उत्पन्न हो जाती है, उस विषयमें परिणाम लीन हो जाते हैं। परन्तु जिस विषयमें हित / सुखका निर्णय नहीं हो वहाँसे रुचि हट जाती है और जहाँ रुचि नहीं हो, उस विषयमें रस नहीं आनेके कारण लीनता नहीं हो सकती - इस प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा और ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक चारित्र उत्पन्न होनेका विज्ञान है। तात्पर्य यह है कि आत्मामें सुख है, ऐसा निर्णय होना चाहिए, तो ही आत्मरुचि सहजरूपसे उत्पन्न होगी। और परमें सुख है ऐसा अनादिका निर्णय चला आ रहा है, वह यदि टले तो ही पररुचि मिटे। प्रयोजनके दृष्टिकोणसे देखा जाये तो 'सुख-वही आत्मा है' - इसलिए जहाँ सुखका निर्णय वहाँ स्व आत्माका निर्णय, और वहीं क्रमशः रुचि और लीनता होते हैं। अतः सर्व ज्ञानियोंका आदेश है कि 'हे जीव ! सुख आत्मामें है - यह मत भूल, भ्रांति छोड़ दे।' (७८१)



सम्यक् होने पर बाह्य संयोग तो जैसे थे वैसे ही चालू रहते हैं, परन्तु स्वामीत्वपनेसे ममत्व नहीं रहता, अर्थात् अवांछित भावसे ज्ञानीका प्रवर्तन होता है। संयोगोंके प्रति रुचि अंतरंगमें नहीं है, क्योंकि निज शुद्ध स्वरूपका अनुभव भी रहे और साथमें परद्रव्यमें रुचि भी रहे, ऐसा नहीं बनता। ज्ञातापना और (परका) वांछकपना - दोनों परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। परकी अभिलाषा / रुचि - वह निश्चयसे पूरे मिथ्यात्वके परिणाम हैं - ऐसा श्रीगुरु कहते हैं। आत्मरुचि वह वास्तवमें सम्यक्दर्शन है। (७८२)



प्रयोगका प्रारम्भ, तत्त्वज्ञानकी समझको वर्तमान उदय कालमें लागू करनेसे होता है, ऐसा

करनेमें, अनुभवमें आनेवाले भावोंका अवलोकन होता है। और अवलोकन चालू रहनेसे रागका अनुभव और ज्ञानका अनुभव - इन दोनों भावोंकी अनुभवसे भिन्नता मालूम पड़ती है, ऐसा होने पर भेदज्ञानका विधि - निषेधयुक्त पुरुषार्थ चालू होता है। इस तरह प्रयोगकालमें पुरुषार्थ शुरू होता है। और इससे ही स्वरूपका स्पष्ट अनुभवांशसे भावभासन आता है। जिससे अपूर्व महिमा सहित पुरुषार्थमें वेग आता है और लीनता होती है। (७८३)



अगस्त - १९९१

जिस धर्मात्माको कर्मोदयसे - काययोग वर्तता है, उसमें भिन्नता होनेसे ममत्वका अभाव हुआ है, उन्हें पर जीवके संयोगमें रहे देहके प्रति सुखकी कल्पनापूर्वक अब्रह्मचर्यका प्रकार कैसे होगा ? अतः जिनको अपने शरीरका भी निर्ममत्व हो चुका है, उनको ही वास्तविक ब्रह्मचर्य (निश्चयसे और व्यवहारसे) होता है। ब्रह्म अर्थात् देहाध्याससे प्रतिपक्षभूत स्वभाव; उसमें एकत्व होनेसे, देहभावकी कल्पनाका अभाव होना - वह ब्रह्मचर्य। - इस तरह सम्यक् प्रकारसे वेदोदयका उपशम होना योग्य है, मात्र हठसे वृत्तिदमन कर्तव्य नहीं है। (७८४)



ध्येय शून्य प्रवृत्ति निरर्थक है, लक्ष रहित बाणकी तरह। यद्यपि बाह्य प्रवृत्तिमें उपयोग बहिर्मुख होता है, वह आत्महितको अनुकूल नहीं है, इसलिए उसको भी छुड़ाया है, परन्तु मुमुक्षुकी भूमिकामें अभी तो उपयोग अंतरमें आया ही नहीं (तो) वहाँ प्रथम लक्ष / ध्येय पूर्वक, बुद्धिपूर्वक शास्त्रवांचन, श्रवण, विचारणा, चिंतन, स्मरण इत्यादि होने चाहिये, अन्यथा सिर्फ बाह्य क्रिया ही होती है। जिससे कोई पारमार्थिक सफलता नहीं मिलती। आत्महितरूप पूर्णताके लक्षका विषय यद्यपि परोक्ष है, परन्तु इस लक्षपूर्वकका अवलोकन, परोक्षता मिटानेकी प्रक्रियारूप है। क्योंकि निजावलोकनसे ही प्रत्यक्ष स्वरूपका भावभासन होकर, स्वसन्मुखता होती है, जो स्वसंवेदन - प्रत्यक्षको उत्पन्न करती है। (७८५)



जैसे जीव और पुद्गल-जड़ प्रतिपक्षभूत है, इसलिए जिसे पुद्गलका रस है, उसे आत्मरस उत्पन्न होना मुश्किल है, जिसे इन्द्रियके क्षयोपशमज्ञानका रस चढ़ता है, उसे बहिर्मुख वेग बढ़नेसे अंतर्मुखी अतीन्द्रिय ज्ञानका रस नहीं चढ़ता - वैसे विकल्पमें जिसको रस है, और इसके कारण जो जीव अधिक-अधिक विकल्प करता है, वह उतना-उतना निर्विकल्प अनुभवसे दूर हो जाता है। इसीलिए कृपासागर श्रीगुरु कहते हैं, कि पठन-पाठन, स्तुति, स्मरण, चिंतन आदि अनेक क्रियाओंके विकल्प विष समान हैं, निर्विकल्प अनुभव तो अमृतका निधान है;

इसलिए उपादेय है, विकल्पमात्र हेय है, फिर भी विकल्प रस आता हो तो उसे अशुद्धताका मूल जानकर उसका त्याग करना। (७८६)



प्रयोजनभूत तत्त्वकी समझ करनेके पश्चात् योग्यताकी कुछ मात्रामें क्षतिके कारण, अनुभव उपादेय है - ऐसा लक्षमें होते हुए भी, अनुभवके पुरुषार्थमें जो जीव शिथिल है, वह अनेक प्रकारके विकल्पोंसे संयुक्त होनेके कारण, शुद्धोपयोगी नहीं होता। अतः स्वानुभवके पुरुषार्थकी शिथिलता ही अनेक प्रकारके विकल्पोंको उत्पन्न करती है। ऐसी शिथिलता और विकल्पको अशुद्धिका मूल जानकर वृद्धिगत नहीं हो जाय, इसके लिए जागृत होकर / रहकर, पुरुषार्थवंत होना जरूरी है। प्रमाद महा रीपु है, आयुष्यका प्रत्येक समय चिंतामणी रत्नसे अधिक मूल्यवान है, और रागका एक कण भी विषका कण है - ये सब प्रकारसे जागृत रहकर स्वरूप-सावधानीमें आना आवश्यक है। (७८७)



स्वयंके मूल स्वरूपमें अपनत्व नहीं करके, वर्तमान पर्यायमें जीव एकत्वभावसे - पर्यायबुद्धिसे प्रवर्तता है। इसलिए 'पर्याय मूढाः परसमयाः' कहकर श्रीगुरुने उसका - पर्यायबुद्धिका निषेध किया है। अतः उस प्रकारके एकत्वरूप मिथ्यात्वको छुड़ानेके लिए पर्यायके अकर्तृत्वका ज्ञानियोंने उपदेश दिया है, और 'पर्यायका कार्य पर्याय करती है, मैं - त्रिकाली नहीं' - ऐसे परमार्थका ग्रहण करवाया है। जिसका परम उल्लासपूर्वक स्वीकार करने योग्य है।

त्रिकाली सामान्य कभी विशेष पर्यायरूप नहीं होता, ऐसी निरपेक्ष वस्तुस्थिति समझमें आये बिना, पर्यायके कर्तृत्वकी (प्रमाणकी) अपेक्षा भी यथार्थरूपसे समझमें नहीं आती। पर्यायकी स्वतंत्रताको (कारकोंसे), स्वरूपमें एकत्व हो इस हेतुसे स्वीकार करना, परम उपकारी है। पर्यायरत् जीव मिथ्यात्वभावसे परिणमन करता है। (७८८)



ज्ञानीपुरुषकी वाणी पूर्वापर अविरुद्ध अर्थात् नयात्मक होती है। फिर भी पारमार्थिक हेतुकी मुख्यतासे वस्तुके मूल स्वरूपको - साध्यको - यथार्थरूपसे, विशेषरूपसे, प्राप्त होनेका निमित्तत्व उसमें रहा है। इसलिए वह निर्दोष है। विशेष पात्रतावान मुमुक्षुको ही ज्ञानीपुरुषकी वाणीकी परख आती है। क्योंकि अध्यात्मरसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्राप्त होनेसे, वाणीमें जो अध्यात्मतत्त्व होता है, वह प्रतिभासित होता है। यह भी एक भावभासन है। (७८९)



पुनः नयज्ञान, मिथ्यात्वके अभावसे और शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप सम्यक्त्वसे खिला हुआ

ज्ञान है, अर्थात् स्वयंके ज्ञानभंडारमेंसे प्रगट हुआ ज्ञान है। उसकी चैतन्य जाति है, (जब कि) साथमें रहे विकल्पकी चैतन्य जाति नहीं है।

नय सम्यक्त्व अवस्थामें होता है, जब कि नयपक्ष मिथ्यात्व अवस्थामें होता है।

नयज्ञान साथमें रहे विकल्प / रागांशसे भिन्न वर्तता है, जबकि -

नयपक्षमें ज्ञान और रागका एकत्व होता है- इस प्रकार नय और नयपक्षमें बड़ा अंतर है, फिर भी नयातीतदशाका मूल्य विशेष है, क्योंकि उसमें उपयोग अंतर्मुख / प्रत्यक्ष होकर स्वरूपमें एकाकार होता है, और पुरुषार्थकी बलवत्तरताके कारण, राग / विकल्पकी उत्पत्ति नहीं होती और तब निर्जरा भी विशेष प्रमाणमें होती है, इसलिए अभिप्रायमें वह उपादेय है।

(७९०)



सम्यक् श्रद्धा, त्रिकाल अपरिणामी, ध्रुव परमपारिणामिक भाव स्वरूप निज सामान्यतत्त्वमें अहंपना करके, भावमें अभेदता साधती है। इसके अलावा सर्व व्यवहारनयके विषय - गुणभेद और पर्यायभेदको - श्रद्धा स्पर्श नहीं करती। अतः श्रद्धामें ऐसा रहता है कि परिणाम परिणमन कर रहे हैं, मैं नहीं अर्थात् त्रिकाली अस्तित्वमयी 'स्व'में व्याप्य-व्यापकभावसे अपनत्वकी स्थापना होने पर, परिणाममेंसे अस्तित्वपनारूप श्रद्धाका नाश होता है। परिणाममें अभेदभावसे जो कर्तृत्व होता था, उसका नाश होता है। अतः भावमें, - परिणामका कर्ता परिणाम है - ऐसा आता है; तब वीर्यका जोर नहीं रहता, जोर 'त्रिकाली मैं' - ऐसा रहता है। इस प्रकार पुरुषार्थकी दिशा बदल जाती है, साथ ही साथ चारित्र आदि गुण भी यथासंभव श्रद्धा और पुरुषार्थका अनुसरण करने लगते हैं। यद्यपि प्रमाणज्ञान उसी वक्त त्रिकाली और वर्तमान पर्याय, दोनोंको युगपत् जानते हुए उसमें अहंभावका अभेद अनुभव करता है। उस अपेक्षासे परिणाम अपने अंशरूप अनुभवमें आते हैं। और इस तरह वह सिर्फ जाननेका विषय रहता है। इस प्रकार सम्यक्दर्शनके काल स्वानुभवमें ही निश्चय-व्यवहार (ज्ञान) का (प्रमाणमें गर्भित होनेसे) जन्म एक साथ हो जाता है। इसलिए फिर कहीं पर भी असमाधान नहीं होता - सर्वांग निःशंकता रहती है।

(७९१)



राग-द्वेष, मोहरूप जीवके अंतर शत्रु हैं, उसको एकमात्र, सकल उपाधिसे रहित, जीव स्वरूपके प्रत्यक्ष अनुभवसे ही जीता जा सकता है, इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। जब तक शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं है, तब तक अपने अपराधरूप राग-द्वेष-मोह, कर्म-नोकर्म रूप उदयकी वजहसे होते हैं, ऐसी भ्रांति नहीं मिटती। अतः भेदज्ञान द्वारा, भिन्न

चैतन्य स्वरूपका अनुभव कर्तव्य है। 'मात्र ज्ञान' के अलावा सर्व द्रव्य - भावसे भिन्नताकी प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न हो, उस प्रकारसे पुरुषार्थ और प्रयोजन होने चाहिए। वह स्वानुभवका मूल है। (७९२)



वस्तु स्वरूप भले ही सामान्य-विशेषात्मक हो, भेदाभेद स्वरूप हो, परन्तु जो श्रद्धाका विषय है, वही ज्ञानमें मुख्य होना चाहिए। संसारीजीवका ज्ञान मुख्य-गौण भावसे परिणमन करता है; ऐसी परिस्थितिके कारण अनादि पर्यायबुद्धिके कारण विशेषकी / भेदकी मुख्यता चली आ रही है, और इसी वजहसे संसार है, अब मोक्षाभिलाषीको मूल स्वरूपकी पहचान करके, उस स्वरूपके अलावा, अन्य सर्व (सहजरूपसे) गौण होना चाहिये।

खास करके शास्त्र अध्ययन करनेवाले आत्मारथी जीवको तो, पर्यायका एकत्व मिटानेके लिए, विशेष लक्ष देना चाहिए। सर्व उपदेशमेंसे यही तात्पर्य निकालना चाहिये, अथवा सर्व उपदेशका इस लक्षसे विचार कर्तव्य है। (७९३)



त्रिकाली शुद्धि स्वरूपका अनुभव अर्थात् शुद्ध 'ज्ञानमात्र'का आस्वादन अर्थात् वेदन; ऐसा वेदन दृष्टि बलसे सम्यक्त्व होने पर उत्पन्न होता है। वहाँ रागांश होते हुए भी अनुभवमें आ रहा ज्ञान उससे रहित है, ऐसा प्रत्यक्ष / विशदरूपसे अनुभवमें आता है, इसलिए सुख-दुःखरूप अशुद्ध चेतनासे रहित - ज्ञानमात्रपने स्वयं अनुभवमें आ रहा होनेसे, जब वर्तमान उदयसे परम उदासीन हुआ जाता है, तो भविष्यकी चिंता तो होवे ही कहाँ से ? जिस भविष्यकी चिंतासे मनुष्य छूट नहीं सकता; और जिसके कारण जीव अधोगतिमें चला जाता है, उससे इस प्रकार सहज ही छूटा जा सकता है।

अवलंबनभूत स्वस्वरूप त्रिकाल ज्ञान - और सुखादि वैभवसे पूर्ण और शाश्वत है। उसके (स्वयंके) आधारसे ही उपाधि रहित हुआ जा सकता है। सम्यक्त्वके प्रभावसे सर्व कर्मक्षय होते हैं, जब कि मिथ्यात्वके प्रभावसे कर्मका फैलाव होता है। (७९४)



ज्ञानीपुरुष स्वतः तृप्त हैं, अर्थात् अतीन्द्रिय सुखके अनुभवके कारण तृप्त हैं। इसलिए निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं, कि जो निर्वाणपद वर्तमान अनन्त सुखमय है और भावि अनन्तकाल पर्यंत अनन्त सुखमय है। ऐसा होनेसे पूर्वकर्मके फलरूप वर्तमान उदय, अर्थात् संसार सम्बन्धी सुख-दुःखको भोगनेके भाव - कि जो चैतन्य प्राणके घातक होनेसे विष समान लगते हैं, उसकी वांछा नहीं करते।

जिस संसार प्रसंगमें मिथ्यादृष्टि जीवको मिटास आती है, उसीसे उक्त प्रकारके अनुभव द्वारा / के कारण धर्मात्मा उदासीन है। (७९५)



जो कोई मिथ्यात्व अवस्थामें व्रतादि द्रव्यक्रिया करता है, तथा बहुतसे शास्त्रोंको परलक्षसे पढ़ता है, और इससे कल्याण होगा - ऐसी प्रतीति करता है और इसलिए उसमें ममता रखता है, वह जीव परमार्थ दृष्टिसे शून्य है, अतः 'शुद्ध स्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग है' - ऐसी प्रतीति नहीं करता। अतः वैसे जीवको अंतर्मुख होनेका पुरुषार्थ करनेका अवसर प्राप्त नहीं होता अथवा अंतर्मुख होनेका उसको नहीं सूझता। जिसको उक्त द्रव्यक्रियाके विकल्प बोझारूप लगते हो, आत्मशांतिके अभावमें असंतोष वर्तता हो, उसी जीवको सत्यमार्गकी 'अंतरशोध' चलती है, और वह बाह्य क्रियामें नहीं अटक जाता - ऐसा मुमुक्षुजीवको विचार कर्तव्य है। (७९६)



प्रश्न :- स्वयंका (आत्माका) अनुभव द्रव्यरूप कैसे करना ?

उत्तर :- द्रव्यरूप अनुभव करनेमें 'ज्ञेयका ज्ञान' - ऐसा नहीं देखते हुए (अनुभव करते हुए) बल्कि ज्ञानाकार ज्ञानको द्रव्यरूप देखते हुए / अनुभव करते हुए, ज्ञेयसे भिन्न, मात्र अपने स्वरूप-रूप स्वयं सिद्ध वस्तु सधती है। तभी शक्ति और व्यक्तिका अनेकांतरूप यथार्थ ज्ञान होता है। (७९७)



जैसे खोया हुआ हीरा चमक (पर्याय) परसे मिल जाता है, मिलता है।

जैसे अंध मनुष्य मीठेपनके स्वादसे (पर्यायसे) शक्कर - द्रव्यको ग्रहण करता है, वैसे ज्ञान (पर्याय) से, ज्ञानस्वभावी द्रव्यको ग्रहण किया जाता है। उक्त दृष्टांत अनुसार व्यवहारमें / प्रयोगमें पर्याय द्वारा उस पदार्थको ग्रहण करनेमें आता है। वैसे ही प्रयोग पद्धतिमें ज्ञानवेदन द्वारा ज्ञायक (त्रिकाली) का ग्रहण करनेमें आता है। यह विधि विषयक प्रयोगका सिद्धांत है। (७९८)



अनन्त एवं सर्व दोषका मूल पराश्रय अर्थात् परमें अस्तित्व ग्रहण होना - वह है। परमें अस्तित्वके वेदनसे, परकी आधारबुद्धि सहज, अनिवार्यरूपसे हो जाती है, और इससे सर्व अनिष्ट भावोंकी परम्परा खड़ी होती है। इन सबका मूल पर्यायबुद्धि अर्थात् पर्यायमात्रमें वस्तुत्वकी मान्यता, अर्थात् पर्याय क्षण विनाशी होने पर भी उसमें अस्तित्वका ग्रहण अथवा पर्यायका

एकत्वरूप (पर्याय मूढता) वेदन करना - वह है। वेदन / अनुभवज्ञानके साथ मान्यता होती है। सिर्फ जानकारीसे मान्यता नहीं होती। इसलिए जिसको स्वरूपकी श्रद्धा-सम्यक्दर्शन प्राप्त करना है, उसको स्वरूपानुभवमें आना आवश्यक है।

ज्ञेयाकार ज्ञान वृद्धिगत् होकर अंगपूर्वकी धारणा करने पर भी मिथ्याश्रद्धाका सद्भाव रहता है, जबकि तिर्यच सिंह जैसा प्राणी भी मिथ्याश्रद्धाका अभाव कर सकता है। उसका कारण विचारणीय है। और इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञेयाकार ज्ञान द्वारा श्रद्धामें मिथ्यात्वको पलट करके सम्यक्त्व नहीं हो सकता - परन्तु बिलकुल अल्प उघाड़वाले तिर्यच भी वेदनअंशके आधारसे, प्रतीतिमें स्वरूपको ग्रहण कर सकते हैं, अतः ज्ञानके अंतरंगरूप वेदन द्वारा, ज्ञानपूर्वक श्रद्धाकी उत्पत्ति होनेका नियम है।

व्यवहारिक प्रसंगोंमें भी, प्रत्यक्ष अनुभवसे जो प्रतीति होती है, वह परोक्ष समाचार जाननेसे नहीं होती।

इसके अतिरिक्त शास्त्रज्ञान परोक्ष माहितीरूप है और अनुभवांश प्रत्यक्ष ज्ञान है, कि जहाँ स्वभाव व्यक्त / प्रगट है। जिसके आधारसे स्वरूपका प्रतिभास होने पर पुरुषार्थ समुत्पन्न होकर अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है। (७९९)



अनादिसे जीवको ज्ञेयाकार ज्ञानका परिचय व अनुभव है। अतः जीव स्वरूपकी वैसी ही प्रतीति वर्तती है। अथवा बहिर्दृष्टी अनादि होनेसे जीवकी श्रद्धा भी ज्ञानके बहिरंग (ज्ञेयाकार) रूप ही करता है, जिसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष वर्तता है। मूलमें ऐसी स्थिति होनेसे सर्व दोषोंकी परंपरा उसमेंसे पनपती है। भेदज्ञानसे ज्ञेयाकार ज्ञान और रागादि, ज्ञानवेदन द्वारा गौण होकर, स्वरूपकी प्राप्ति होती है अर्थात् ज्ञान स्वपने वेदनमें आता है। उसमें त्रिकालीका अवलंबन सहज है। (८००)



प्रतिकूल उदयमें सामान्यतः मुमुक्षुजीवको भी थोड़ी-बहुत चिंता होती है; तब आर्तध्यान होता है। जो आत्महितको प्रतिबंधक है और अहितकर भी है। ऐसे प्रसंगमें अहितसे बचनेका उपाय होना - वह मुमुक्षुता है। इस प्रयत्नमें स्वभावके लक्षसे, चिंताका अकार्यकारीपना, नुकसान जानकर - उसका निषेध आना चाहिए। यदि ऐसा यथार्थ परिणामन हुआ तो चिंताका रस मंद होगा, वर्तमानमें ही आकुलताका रस कम हो जायेगा, और फिर जब अनुकूलतारूप फल आयेगा तब उस वक्त भी तीव्र रससे वेदन नहीं होगा। परन्तु यदि उस प्रकार जागृत्तिपूर्वक प्रयत्न नहीं हुआ तो आर्तध्यानका रस बढ़ जायेगा और अनुकूलता होने पर भी तीव्र रससे

वेदन होगा और आत्मभावमें बड़ा नुकसान होगा।

ज्ञानीपुरुषको तो सहज स्वभावके अवलंबनसे - पुरुषार्थके बलसे निषेध वर्तता होनेसे, फलका आदर नहीं होता अर्थात् अनुकूलतामें रसपूर्वक वेदन नहीं होता। (८०१)



सितम्बर - १९९१

ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें 'आशयभेद' होता है, जिससे उनका अनुभवज्ञान व्यक्त होता है। यह 'आशयभेद' किस प्रकार होता है ? इसकी गवेषणा कर्तव्य है। ज्ञानीकी वाणीमें आत्माका अव्यक्त स्वरूप व्यक्तरूपसे भानेसे प्रसिद्ध होता है। क्योंकि स्वसन्मुखतामें स्वरूप प्रत्यक्ष है और स्वरूप भावनाके द्वारा प्रगट परिणमन भी वर्तता है। इस तरह विषय और विषयी दोनोंमें प्रत्यक्षता है, तदुपरांत अव्यक्त जिस प्रकार व्यक्त होता है, इसकी विधि स्वयं चल रही है। जिसकी अभिव्यक्ति उनकी वाणीमें अनूठी पद्धतिसे होती है। जो कि तथाप्रकारकी योग्यतामें अर्थात् ज्ञानकी निर्मलतामें समझमें आती है, अथवा पहचानमें आती है। परन्तु ऐसी दशाविशेषके अभावमें, उस प्रकारका, स्वरूप प्रगट हो ऐसी अनुभवकी विधिसे अनजान जीवको वाणीका योग नहीं हो सकता, अथवा परलक्षी धारणामें इस विषयका ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिए तथाप्रकारसे उसका कहना (भी) नहीं हो सकता। इस तरह अज्ञानीकी वाणी, ज्ञानीकी वाणीसे - आशयभेदके कारण अलग पड़ती है। (८०२)



ज्ञानी जिस विधिसे स्वरूपकी साधना कर रहे हैं, उसमें जो रस और जोश (Force) है, वह उनकी वाणीमें ही सहज स्वाभाविक प्रकारसे व्यक्त होता है, उसे भी ज्ञानीकी वाणीका आशय गिन सकते हैं, क्योंकि वैसी सहज आत्मरससे सराबोर वाणीका ध्वनि अज्ञानदशामें नहीं होता। अज्ञानदशामें जहाँ आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन ही नहीं है, वहाँ प्रत्यक्ष दर्शनके कारण जो रस सहज उत्पन्न हो जाता है, वैसा रस, आत्मस्वरूपसे और मार्गसे अनजान जीवको, उस विषयमें अँधेरा होनेसे सहज कैसे उत्पन्न हो ? इस विषयमें ज्ञानीकी नकल करने जाये तो फर्क पड़ जाता है। और कृत्रिम प्रकारसे, निमित्त-नैमित्तिक भावसे श्रोताको आत्मरस नहीं उत्पन्न होता।

इस प्रकार आशयभेद समझमें आता है।

(८०३)



प्रत्यक्ष परमात्मस्वरूपकी महिमा जिसे आती हो, उसे बंधमार्ग सम्बन्धी और मोक्षमार्ग सम्बन्धी विकल्पका क्या प्रयोजन है ?

स्वरूप महिमामें डूबे रहनेसे पर्यायमें स्वरूपाकार भाव-प्रत्यक्ष अनुभव प्रगट होता है, तब कोई विकल्प विद्यमान नहीं रहते।

मनुष्यको सांसारिक प्रयोजनके विकल्प छोड़कर (देहार्थका विकल्प छोड़कर) आत्मार्थका विकल्प प्रथम भूमिकामें आता है, परन्तु जब तक विकल्प रहता है, तब तक शुद्धस्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। क्योंकि तब तक स्वरूप (विकल्पमें) परोक्ष रहता है। प्रत्यक्षस्वरूपका अनुभव भी प्रत्यक्षभावसे है। (८०४)



आत्माका परमस्वरूप, अनन्त शक्तियोंका सामर्थ्यरूप है। उसमें प्रत्येक शक्तिका सामर्थ्य, असीम अर्थात् बेहद है। उसमें भी जीव आकर्षित हो, वैसे गुण आनन्द और शांति है। भावश्रुतज्ञान, अपने स्वरूपमें रहे गुणोंको अंतर्मुख होकर नापने जाता है, तब उसका अंत (तलवा) नहीं दिखता, ऐसे स्वरूपको (देखकर), देखते-देखते थम जाता है। उपयोग क्षयोपशम भावरूप है और शक्ति पारिणामिक भावरूप है। अमर्याद सामर्थ्यको देखते ही उपयोग थम जाये, ऐसा अद्भुत वचनातीत सुधामय सुखस्वरूप स्वयं ही है। उससे उत्कृष्ट और अधिक कुछ नहीं है। उक्तम्च:

‘आत्मनः स्वभावमहिमा अदभूतात् अदभुतम् विजयते। (स. सार) (८०५)



अनादिसे पर्यायमें एकत्व हो रहा है, उसको मिटानेके लिए और ‘ज्ञानमात्र’ स्वभावमें एकत्व हो, इसके लिए पर्यायसे भिन्नताका और स्वभावकी महिमाका जोर दिये बिना, दृष्टि स्वरूपमें अभेद हो - उसरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। परिणामको परिणामके स्थानमें सिर्फ जाननेका विषय है। यथा-व्यवहार उस कालमें (उत्पादके वक्त) जाना हुआ प्रयोजनवान है’ (स.सार-गाथा-१२)। वह मोक्षमार्गी जीवको सहज जाननेमें आता है, परन्तु इसके ऊपर वजन नहीं जाता।

भावना स्वभाव-स्वरूपकी हो तो ही वह आत्मभावना है। यह आत्मभावना दृष्टिका परिणाम होनेके लिए अनुकूल है। वैसे ही ज्ञानका विषय, अंतर दृष्टिको अनुकूल हो, उस प्रकारसे लक्षमें लेना योग्य है। इससे ज्यादा सर्व न्यायोंका प्रयोजन नहीं है। विपर्यास न हो इसके लिए ज्ञानका विषय जानने योग्य है। (८०६)



अंतर स्वरूपकी दृष्टिमें, स्वरूपकी सर्वस्वपने उपादेयता वर्तती है, इसलिए द्रव्यदृष्टिवानको बहिर्मुख परिणाम अंशरूप प्रवृत्तिका निषेध वर्तता है। राग तो बहिर्मुख है ही, परन्तु इसके

उपरांत रागमें दुःख और मलिनता भी है, तो उसके निषेधकी तो बात ही क्या करें ? परन्तु ज्ञान और वीर्यका अंश बाहर जाये, उसका भी निषेध आना चाहिए। शास्त्र पठन, श्रवण इत्यादि, भले ही प्रथम अवस्थामें यथास्थानमें हो-परन्तु आखिरमें उसका निषेध सहज आना चाहिए, तभी अंतर्मुख होनेका अवसर आता है। (८०७)



सर्वज्ञ वीतरागदेवका स्वरूप पहचाननेसे मोहका क्षय होवे ही होवे - ऐसा नियम है। परन्तु किसी प्रगट कारण (प्रतिमाजी अथवा शास्त्रजी)के अवलंबनपूर्वक, यदि सर्वज्ञको सम्यक्त्वभावसे भी पहचाने जाये, तो इससे जीव मोक्षमार्गके सन्मुख अवश्य होता है।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञ परमात्मा, अथवा प्रत्यक्ष सत्पुरुष या मुनिराजके समागम योगमें (यदि) स्वभावकी सम्यक्ता भासित हुई, तो इससे जीव अवश्य मोक्षमार्गके सन्मुख होता है, वह इसका महत् फल है। जो अपूर्व है। उत्कृष्ट पात्रतावान अथवा सच्ची मुमुक्षुता प्रगट होने पर ही सफलता प्राप्त होती है। (८०८)



संयोगोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलताके प्रकार जीवके परिणामको निमित्तमात्र हैं। वह इस प्रकारसे कि पात्रताके अभावमें जीव दोनों प्रकारके संयोगमें विशेषरूपसे कर्मबंधनको प्राप्त होता है। जब कि पात्रताके सद्भावमें जीव दोनों प्रसंगमें, भिन्नताके अनुभवका सहज प्रयास करता है, उसमें फँसता नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि परिणामन कैसा होगा वह उपादानकी योग्यता पर आधारित है। अवलोकनसे मुमुक्षु खुदकी पात्रताको समझ सकता है। (८०९)



परकी आधारबुद्धि राग-द्वेषकी उत्पादक है, ज्ञानके परिणामनमें अनादिसे (अकारणपने) यह स्थिति बनती आयी है। निःशंकरूपसे (जीव) परकी जानकारी होते ही परका अवलंबन सहज ले लेता है, यह सहज हो चुका है, ऐसा होने पर चारित्रिके परिणामनमें रागादिका होना अनिवार्य है। इसलिए निष्कारण करुणावंत ज्ञानियोंने ऐसा बोध दिया है, कि ज्ञानको निश्चयसे, राग या परके साथ आधार-आधेय सम्बन्ध बिलकुल है ही नहीं। यदि इस सद्बोधको प्रयोगकी कसौटी पर चढ़ाया जाये, तो मुमुक्षुजीवको बोध अनुसार स्वयंकी, स्वतंत्र, निरालंबी स्वरूपकी प्रतीति स्पष्ट अनुभवांशसे होती है। उसमें स्वयंके सामर्थ्यकी पहचान होकर पुरुषार्थ और स्वरूप महिमा जागृत हो जाते हैं। इसतरह आधार-आधेय भावके अवलोकनसे भेदज्ञानकी विधि प्राप्त हो सकती है। अर्थात् भेदज्ञान होनेमें आधार-आधेय भावकी वास्तविकताका अनुभव होकर स्वरूपप्राप्ति होती है। स्वरूप अस्तित्वकी निरपेक्षता अनुभवसे प्रतीतिमें आने पर दीनताका

अभाव होकर, अनंत आत्मबल प्रगट होता है। समयसारजीके संवर अधिकारमें गाथा - १८१, १८२, १८३की टीकामें इस विषयकी बहुत गंभीरता है, विशद एवं बलवान प्रतिपादन है।
(८१०)



सत्पुरुषके हृदयमें विराजमान प्रगट परमतत्त्वका दर्शन, धर्मात्माकी अंतर परिणति द्वारा मुमुक्षुजीवको होता है, तब ओघभक्तिका अभाव होकर सच्ची भक्ति प्रगट होती है। और सत्पुरुष परमात्मारूप दिखाई देते हैं। इस प्रकार सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि आने पर, मुमुक्षुजीवकी पात्रता उत्तम कक्षाकी होती है। यहाँ पर दर्शनमोह भी अत्यंत मंद होता है, इतना ही नहीं जैसे-जैसे सत्पुरुषके प्रति भक्तिके भाव वर्धमान होते जाते हैं, वैसे-वैसे दर्शनमोह सहजरूपसे कमजोर / पतला पड़ता जाता है, और आत्मस्वरूपका भावभासन होनेके योग्य ज्ञानकी (मतिकी) निर्मलता आती है और सहज मार्गप्राप्ति होती है।
(८११)



ज्ञानके 'स्वसंवेदन' रूप-स्पष्ट अनुभवांशसे स्वरूपलक्ष होता है। और लक्षपूर्वक सामान्यका आविर्भाव 'निर्विकल्प स्वानुभूति'को प्रगट करता है। इसलिए ज्ञानमें रहे ज्ञानवेदनसे अनजान रहने योग्य नहीं है, अर्थात् अवलोकनके अभ्याससे - अथवा आधार-आधेयपनेके अवलोकनरूप अभ्याससे (मुक्तिका) मार्ग प्रगट करने योग्य है।

'आधार-आधेयत्वका अवलोकन' यानी कि ज्ञान अपने आधारसे, अपनी शक्तिसे स्वयं ही हो रहा है, उसमें अन्य कोई द्रव्यभावकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा अनुभवगोचर होना अर्थात् वैसे अनुभवका अवलोकन होना। (सिर्फ विचारज्ञानसे सम्मत नहीं करके, चलते हुए परिणमनमें प्राप्त अनुभवका अवलोकन करना।) वारंवार तथारूप अवलोकनसे स्वभाव / शक्तिकी पहचान और आत्मबल प्रगट होता है। स्वभावका निरालंबनपना प्रतिभासमें आये - वह पुरुषार्थ प्रगट होनेमें एक महत्त्वपूर्ण कारण है। जब तक निरालंब-स्वरूप लक्षमें नहीं आता, तब तक सहज पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होता।
(८१२)



ओघसंज्ञासे ज्ञानीपुरुषकी, मोक्षमार्गकी और मोक्षकी महिमा आने पर भी आत्मकल्याणकी दिशामें यथार्थ प्रगति नहीं होती - और इसलिए उक्त परिस्थितिमें मुमुक्षुको बेचैनी भी होती है (तो) क्या करना ? कैसे करना ? यह सूझता नहीं है और काल व्यतीत होता जा रहा है। जिसके कारण आकुलता भी होती है। ऐसी स्थितिमें, उक्त महिमा आनेमें मूल्यांकनकी क्षति समझनी चाहिए और सही मूल्यांकन होनेके लिए, और उस (मूल्यांकन) सहित परिणामकी

गति यथायोग्य सहजरूपसे प्राप्त हो, इसके लिए प्रतिबंधक कारणरूप ऐसे जगतके पदार्थोंका पूर्वगृहीत मूल्यांकन छूटना चाहिए। वहाँ यदि इस प्रकारके फेरफार होने पर लक्ष नहीं गया तो ओघसंज्ञा और बेचैनीकी निवृत्ति होना संभवित नहीं है। यद्यपि अस्तिके प्रयत्नमें अवरोध (नास्ति)का मिटना सहज है। परन्तु ओघसंज्ञारूप दशामें ऐसा नहीं बनता। अतः उस प्रकारके प्रयासमें यथार्थता नहीं है, ऐसा होनेके लिए वर्तमान विपरीत मूल्यांकनकी हानि हो उस दिशामें खचित प्रयत्न होना चाहिए। (८१३)



अनादि अगृहीत मिथ्यात्व भावसे संयोगमें सुखबुद्धिके संस्कार सुदृढ हुए हैं, और इसके कारण जीव हीनसत्त्व हुआ होनेसे, जीवको आत्मिकसुखका मूल्य भासित नहीं होता है और भौतिकसुखका मूल्य हटता नहीं है। इस परिस्थितिमें मुमुक्षुजीवको क्या करना चाहिए ? कि जिससे सांसारिक सुखका व्यामोह कम हो, और वह निर्मूल्य होकर, आत्मसुखका / आत्मकल्याणका मूल्यांकन होवे। इस समस्याका सरल समाधान यह है कि, सरलता, वैराग्य और भक्ति सहित सत्संगकी उपासना करनी चाहिए।

किसी महत् पुण्यके योगसे, जिन्होंने मार्ग देखा है, वैसे अनुभवी पुरुषका योग प्राप्त होवे, तो सर्व साधनको गौण करके, उस सत्संगको परम स्नेहपूर्वक, परम हितकारी जानकर उसकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा होनेसे अवश्य परमार्थका मूल्यांकन होगा, परम प्रयोजनकी प्रधानता होगी, (और) यथार्थता उत्पन्न होकर जिनेश्वरके मार्गमें अग्रेसर हो सकेंगे।

प्रयोजनका मूल्यांकन होना, वह मुमुक्षुजीवके लिए नीवका महत्त्वपूर्ण कार्य है। अतः स्वरूप-निर्णयमें भी स्वरूपका मूल्य भासित होते ही सारे जगतका मूल्य छूट जाता है। (८१४)



अक्टूबर - १९९१

सत्पुरुषके किसी भी वचनमें शंका हुई, इसका मतलब कि उनके ज्ञानीपनेमें ही अविश्वास है, इसलिए उनके प्रति जाने-अनजानेमें अभक्ति हो जाती है, और इस वजहसे मुमुक्षुकी भूमिकाके व्यवहारका नाश होता है। अर्थात् मुमुक्षुता ही नहीं रहती। खास करके सिद्धांतज्ञानका जिसे अभ्यास है, वैसे मुमुक्षुजीवको इस विषयमें बहुत उपयोग सहित (सावधानीपूर्वक) प्रवर्तन करने जैसा है। मुमुक्षु भूमिकामें सिद्धांत विषयक क्षयोपशमके आधारसे ज्ञानीके वचनका तोलन करना न्यायसंगत नहीं है। ऐसा करनेमें (वस्तु-दर्शन बिना) अपनी कल्पना अनुसार, अनादि मति विपर्यास छूटे बिना, ज्ञानीपुरुषका पारमार्थिक दृष्टिकोण लक्ष बाहर रह जानेसे, उन वचनोंका आशय ग्रहण हुए बिना ही स्वच्छंदपूर्वक प्रवृत्ति हो जायेगी, जिससे दर्शनमोहका आवरण गाढ़ हो

जायेगा। इसलिए आत्मार्थी जीवको अहित हो जानेका भय रखना आवश्यक है। (८१५)



हेय-उपादेय सम्बन्धित अनेक भेद-प्रभेदसे विस्तृत उपदेश है, परन्तु परिणामोंका कर्तृत्व - जो कि पर्यायबुद्धिके कारण होता है, वैसा नहीं होना चाहिए, यह सर्वत्र लक्षमें रहना चाहिए। और ऐसा होनेके लिए (सहजरूपसे) अंतर स्वभावमें एकत्व होना, वही एक मात्र उपाय है। स्वरूपमें एकत्व होनेके पश्चात्, भूमिका अनुसार विभाव मर्यादित हो जाता है। वीतरागताके सद्भावके कारण, जो भी गुणस्थान हो उसमें रागका अभाव होकर सहज अकर्ताभावसे हेय-हेयरूप ही भासित होता है, उपादेयकी सहज उपासना होती है। मोक्षमार्गकी कितनी सुंदरता !

उपदेशबोधका अनुसरण कर रहे जिज्ञासुजीवको खचितरूपसे, दर्शनमोहके अभावके हेतुभूत रहस्यमय परमार्थको प्राप्त करते हुए - यह प्रकार लक्षमें रखना चाहिए वरना विवेक अथवा कर्तव्यकी भावनाके वेगमें, कर्तृत्व दृढ़ हो जानेसे, परमार्थकी प्राप्तिसे वंचित रहना हो जाता है और मूल समस्या खड़ी रहती है, पर्यायका एकत्व नहीं छूटता। (८१६)



पर्यायमें सुधार करना है, अवगुण मिटाकर गुण प्रगट करनेका प्रयोजन होने पर भी, पर्यायका आश्रय छोड़नेसे, वैसा (स्वभावका आश्रय) हो सकता है। अनादि पर्यायबुद्धिके कारण पर्यायमें मैं पना चला आ रहा है - पर्यायमात्रका अपनेरूप अनुभव हो रहा है, वहाँ तक स्वभावका जोर किसी भी उपायसे नहीं हो पाता, अर्थात् पुरुषार्थ पर्यायाश्रित परिणमनमें लगता है; और स्वरूप चिंतवन 'करनेके अभिप्रायसे' जो चिंतवनादि किये जाते हैं, उसमें सहज ही ठीकपना लगता है, इसलिए बहिर्मुखता छूटकर अंतरमें आया नहीं जा सकता। 'पर्यायमें ठीकपना रहना' - यही अटकना हुआ - (जो) दर्शनमोहका स्वरूप है।

इसीलिए सर्वप्रथम 'पूर्णताके लक्षसे', स्वरूपप्राप्तिकी भावनासे, स्वभावकी पहचान होनेके बाद, स्वभावके लक्षसे पुरुषार्थ / चैतन्यवीर्यकी स्फुरणासे अंतर्मुख होकर, स्वानुभव होता है। 'स्वभावके लक्ष' बिना अंतर्मुखी पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होता। अतः सर्व प्रथम ज्ञानलक्षणसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करना, यह श्रीगुरुकी आज्ञा है। (८१७)



मैं ध्रुव असंग तत्त्व हूँ। उपयोग स्वभावी होने पर भी निर्लेप हूँ। संसारके कोई सम्बन्ध तो मुझे है नहीं - परन्तु धार्मिक क्षेत्रके कोई सम्बन्ध भी मुझे नहीं है। सबकुछ मेरेसे बाह्य है, भिन्न है।

पुद्गलात्मक शरीरका सम्बन्ध नहीं होनेसे, शरीरकी वेदनासे / शातासे भी मैं भिन्न हूँ -

उसका वेदन ज्ञान वेदनसे भिन्न जातिका -विरुद्ध जातिका प्रत्यक्ष है। मलिन और आकुलतामय है, इसलिए सहज निषेध्य है।

परन्तु मैं एक समयकी पर्यायसे भी भिन्न होनेसे, और मैं परमोत्कृष्ट स्वरूप होनेसे पर्यायकी सावधानी छोड़कर, स्वरूपमें ही मैं सावधान हूँ। द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल सहज है। पर्यायका स्वरूपाकाररूप होना - ऐसा सहज पर्याय स्वभाव है। अतः पर्याय अपने स्वभाव अनुसार परिणामन करे, तो इसमें विशेषता क्या हुई ? मैं सिर्फ परिणाम जितना ही थोड़ा हूँ ? स्वरूप समुद्रके आगे पर्याय बिंदु समान मालूम होती है। (८१८)



परिणामका अवलोकन करनेका कहा जाता है। उसमें भी पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाये, ऐसा विपर्यास नहीं होना चाहिए। यह खास ध्यानमें / लक्षमें रखने योग्य है। अवलोकन द्वारा परलक्षका अभाव करानेका हेतु है। तदुपरांत, स्वभावको पहचाननेके लिए ज्ञान निजावलोकनरूप अनुभवमें आनेवाले भावोंका परिचय करके, स्वभावका निर्णय करे, यह हेतु है। परिचयकी प्रक्रिया (Process) निज भावोंके अवलोकनके सिवा, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकती। परन्तु सिर्फ परिणामको ही देखते रहनेमें, यदि स्वभावका निश्चय करना छूट गया, तो पर्यायके एकत्वरूप मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। ऐसा विपर्यास नहीं हो जाये, यह अवलोकनमें प्रवेश करते वक्त ही लक्षमें होना चाहिए। अवलोकन करनेका कहनेमें आये या अन्य कुछ भी करनेकी बात कही हो, (लेकिन) किसी भी पर्यायकी मुख्यता रहनी / होनी नहीं चाहिए। परन्तु (स्वरूप लक्षसे) सहज वैसा हो जाता है - ऐसा समझने योग्य है। (८१९)



भगवान पद्मनंदि आचार्यदेवने - 'चैतन्य स्वभावकी बात अंतरंग रुचिसे सुननेवालेको भावि निर्वाणका भाजन' कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि, सच्ची मुमुक्षुता अथवा पात्रताके गर्भमें सम्यक्त्वसे लेकर, निर्वाण तककी सभी पर्यायें पड़ी हैं। वाह ! पात्र जीवका आचार्य महाराजने कैसा सत्कार किया है ! तो फिर मुमुक्षुको पात्रताके प्रति कितना आदर होना चाहिए !! इसका गंभीरतासे विचार कर्तव्य है।

पात्रता प्राप्त हुई, उसे सत्पुरुषका योग अवश्यंभावी है। और जैसे ही पात्रता सहित सत्पुरुष / सद्गुरुका योग हुआ उसके भवका अभाव हुए बिना नहीं रहता। सत्पुरुष मिलनेके पश्चात (यदि) आत्मज्ञानकी प्राप्ति न हो, तो वहाँ पात्रताकी ही क्षति समझनी चाहिए।

(८२०)



असंख्य प्रदेशात्मक अखण्ड चैतन्यदलमें व्याप्त स्वभावमें, स्व-पनेसे प्रसर जाने पर, स्वभावमयपनेके कारण, पर्याय मात्र मानो जैसे दिखती ही नहीं है - वहाँ पर्यायका कर्तृत्व, या पर्यायको ऐसे करूँ, इत्यादि कहाँसे रहेगा ? निज स्वरूप-महिमा द्वारा व्याप्य-व्यापकभावसे, अपनत्व होनेका पुरुषार्थ कार्यसाधक होता है। स्वभावके जोर (पुरुषार्थ) बिना शुभाशुभ भावोंमें जीव खींचा चला जाता है। क्षणिक पर्यायमें ही पूरा आ जाता है। (८२९)



प्रश्न :- वस्तुस्वरूप, उपदेश इत्यादि स्पष्ट जानने पर भी जीव मूल स्वस्वरूपमें स्व-पना क्यों नहीं करता ? अथवा 'इस कर्तव्यको' जानते हुए और चाहते हुए भी क्यों परिणमन नहीं हो रहा है ?

उत्तर :- सिर्फ जानकारीसे कार्य नहीं होता। आत्मशांतिकी तीव्र जरूरत न लगे, तबतक वर्तमान जानकारीके साथ मानसिक शांति होती है, उसमें ठीकपना रहता है, उसमें जाने-अनजानेमें संतोष रहा करता है, इसलिए स्वरूप सुखकी जरूरत नहीं लगती। इसलिए वहीं पर अटकना हुआ है। स्पष्टताकी विशेषता लगती है।

इसके अलावा सुखका स्वरूप स्पष्ट अनुभवांशसे जाना नहीं है, तथा वर्तमानमें (मिथ्यात्वमें) 'तीव्र दुःख होने पर भी, वह लगता नहीं है।' यदि लगे तब तो दुःखकी वेदनामें, सच्चा सुख मिले बगैर, संतोष या ठीकपना नहीं होता, (बल्कि) दुःख मिटानेका सहज प्रयत्न अवश्य होता। तब जानकारी कार्यगत् होकर परिणमनरूप होती है। जरूरत बिना पुरुषार्थ नहीं उठता - यह सिद्धांत है। (८२२)



स्वभाव-स्वरूप, यह अवलंबनका विषय है, सिर्फ उसकी जानकारी करनेसे, स्पष्टता होनेसे परलक्षी ज्ञान, आत्मसुखको उत्पन्न नहीं करता। आत्मस्वभावका स्पष्ट ज्ञान, परलक्षी जानने / विचार करनेसे होता भी नहीं, क्योंकि यह अनुभव ज्ञानका विषय है, और इसीलिए स्वभावके अनुभवांश बिना उसका निश्चय यथार्थरूपसे नहीं होता। इतना ही नहीं स्वभाव तो सुखरूप है, और सुख तो वेदनका विषय है - जाननेका / विचार करनेका नहीं। अतः सिर्फ विचारमें इसके स्वादकी स्पष्टता होवे भी कैसे ? अर्थात् हो ही नहीं सकती।

अतः ज्ञानलक्षण द्वारा अर्थात् वेदन अंश द्वारा अनन्तसुखकी खानका पता लगे तो ही त्रिकाली शाश्वत, अनन्त गुणनिधानका मूल्य भासित होवे और स्वभावमेंसे स्वभावका स्वभावके प्रति जोर उत्पन्न होकर अनादि पर्यायका एकत्व छूटकर सुख प्रगट होवे।

सिर्फ विचार करते रहनेसे क्या प्राप्त होगा ? विकल्पकी मुख्यतासे जो जानना होता

है, वह सच्चा ज्ञान नहीं है।

(८२३)



आत्मवस्तु भेदाभेद स्वरूप है। उसमें मूल / परमार्थ स्वरूप तो शक्तिरूप त्रिकाल स्वभाव है। उस परमार्थका - स्वभावका अवलंबन लेना - यह प्रयोजन है। इस प्रयोजनकी सिद्धि हेतु शास्त्र-प्रवचनरूप ज्ञानीपुरुषोंके - शास्ता पुरुषोंके वचन हैं। इन वचनोंकी पद्धति भिन्न-भिन्न प्रकारकी देखनेमें आती है; अर्थात् दृष्टिप्रधान, ज्ञानप्रधान, पुरुषार्थप्रधान, सुखप्रधान, आचरणप्रधान, द्रव्यप्रधान, अभेदप्रधान, भेदप्रधान - इत्यादि अनेक प्रकारसे वचन होते हैं फिर भी परमार्थको साधते-साधते निकले हुए सर्व वचन प्रमाण है। उसमें शंका-विकल्प मुमुक्षुजीवको कर्तव्य नहीं है; परन्तु चाहे कैसी भी ज्ञानीकी शैली, वह किस तरह परमार्थ-प्राप्तिके हेतुभूत है, यह एकमात्र दृष्टिकोण धारण करके पारमार्थिक आशय ग्रहण करने योग्य है। अन्यथा उलझन या विपर्यास होनेका संभव है। आशय ग्रहण होनेसे, सर्व शैलीमें अपूर्वता भासित होगी।

कारण-कार्यके निरूपणमें गुणका गुण (स्वभाव) और क्रम आदि समझना आवश्यक है, जिससे कि क्रम विपर्यास न हो।

(८२४)



विचार, चिंतन, चर्चा - इत्यादि सर्वार्थसिद्धिके क्षायिक समकीर्ति देव, ३३-३३ सागर पर्यंत करते हैं, फिर भी ऊपरके - पाँचवे गुणस्थानको प्राप्त नहीं करते, परन्तु अनुभवमें एकाग्रता सधे तो अंतमुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्रगट हो जाये। इस प्रकार विचारज्ञान और अनुभवज्ञानके बीच कार्यसिद्धिमें बड़ा फर्क है। इसलिए अनुभवज्ञानका महत्त्व / सामर्थ्य समझना आवश्यक है। पुनः विचार आदिमें स्थूल राग है, जो दुःख है। (जब कि) स्वानुभवमें तो अतीन्द्रिय सुख है, परमपदार्थ प्रत्यक्ष है।

(८२५)



जब छठे-सातवें गुणस्थानधारी आचार्य महाराज भी अनुभवकी एकाग्रता हेतु मुनिसंघकी बाह्य प्रवृत्ति छोड़कर, एकांतमें स्वरूप साधना करने हेतु, साधुपद पर बिराजमान होकर आत्महितकी साधना कर लेते हैं, तो नीचेकी स्थितिवालोंके लिए तो इस प्रकारका प्रसंग स्वयं बोधरूप है। अर्थात् शासनकी बाह्य प्रवृत्तिका विकल्प गौण करने योग्य है, और आत्महित शीघ्रातिशीघ्र कर लेने योग्य है, वरना आत्म-वंचना होकर, ध्येय छूटकर, मार्गान्तर हो जानेमें देर नहीं लगेगी। यह बाबत बाह्य प्रवृत्तिके उदयवाले जीवको खचित मुख्यरूपसे लक्षमें लेने योग्य है।

अतः सिर्फ आत्मलक्षी सत्संग कर्तव्य है। सत्संगके अभिप्रायवाली बाह्य प्रवृत्ति प्रायः अहितका कारण नहीं होती।

(८२६)

ज्ञानसामान्यकी मुख्यतामें ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे स्वसन्मुखता आती है। इस प्रकार स्वरूपलक्षसे उत्पन्न स्वसन्मुखतामें स्व-वेदन सहजरूपसे उत्पन्न होता है। जो तारतम्यतासे वृद्धिगत होकर स्वसंवेदन / निर्विकल्पता तक पहुँचता है। यहाँ विकल्प शांत होनेका कारण-वेदनमें वस्तु 'प्रत्यक्ष' है। जहाँ ज्ञानका विषय परोक्ष हो, वहीं पर विकल्प सहित ज्ञान प्रवृत्ति करता है, परन्तु जहाँ खुद ही खुदको प्रत्यक्ष हो, वहाँ विकल्पकी आवश्यकता या अवकाश नहीं है। उसमें भी निर्विकल्प - निर्भेद और स्वयं प्रत्यक्ष हो, वहाँ सहज एकाकारता होनेसे, विकल्पकी उत्पत्ति ही न हो - यह बिलकुल स्वभाविक है। अहो ! मार्गकी गंभीरता और गहनता ! अहो ! अहो !

(८२७)



गुरुगम बिना, पात्रता बिना, महान परमागमोंमें प्रतिपादित बोध किस प्रकार है ? कैसी योग्यतावाले जीवके लिए है ? कहाँ पर क्या आशय है ? कहाँ पर कितनी गंभीरता है ? कहाँ पर आगमकी कौनसी शैली है ? एक ही ग्रंथकर्ताकी विभिन्न शैली, विभिन्न आगमोंमें होनेके पीछे क्या कारण है ? इत्यादि समझमें नहीं आता, जिसके कारण अन्यथा ग्रहण होनेकी संभावना रहती है और लाभ होनेके बजाय नुकसान होनेकी संभावना रहती है। अथवा विपर्यास हो गया, तो दर्शनमोह और नयी भ्रांति हुई तो बड़ा नुकसान भी हो जाता है। इसलिए सत्पुरुषकी आज्ञा अनुसार, चरण समीपमें आगम-परमागममेंसे श्रुतकी - आत्माकी उपासना कर्तव्य है। कौनसा विषय, कौनसे स्तरका, कौनसे स्तरके जीवके लिए है, यह समझमें आये बिना भी अस्थानमें विधि-निषेध हो जानेसे, विपर्यास हो जाता है।

(८२८)



स्वभाव और विभावकी पहचान बिना भेदज्ञान नहीं हो सकता, और भेदज्ञान बिना स्वरूपानंदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मात्र स्वरूप चिंतन (भेदज्ञान बिनाका) से मानसिक शांति या आनंदको आत्मानंद या आत्मशांति हुई ऐसा भ्रमसे माननेमें आये, तो गृहीत मिथ्यात्व होता है। अतः स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा उत्पन्न शुद्धोपयोगमें, सर्व प्रदेशसे अंतर्मुख अतीन्द्रिय आनंद उत्पन्न होता है, समकालमें मिथ्यात्वका अभाव होता है; इसके पहले और बादमें सविकल्पदशामें, रागका जो कि मानसिक शांति-शांताके उदयरूप होता है, तथा बहिर्मुख भावसे होता है, उसका निषेध वर्तता है, वैसा लक्षण भ्रामकदशामें नहीं होता, अर्थात् जहाँ भ्रम होता है वहाँ आत्मभाव और अनात्मभावको भिन्न करनेकी प्रक्रिया / प्रयोग नहीं होता। फिर भी बुद्धिपूर्वककी भूल / भ्रम हो जाय तो ज्ञान स्थूल हो जाता है। अंतरमें विवेक नहीं हो पाता। सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

(८२९)

अपने स्वक्षेत्रमें अपने अनन्त सामर्थ्यकी हयाति प्रत्यक्ष दिखे, तो वहाँ आनंदकी उत्पत्ति कैसे न हो ? पुनः अनन्त सामर्थ्यमें अनंत आनंदका सामर्थ्य भी मौजूद है, जिसका परमानंदरूप परिणमन करनेका स्वभाव है। अतः उसके स्वीकारमें तत्काल आनंदका परिणमन हो जाता है, इतना ही नहीं, उस आनंदकी मस्ती चढ़ती है। इसलिए उस मस्तीके कारण, आनंदकी बात आये बिना नहीं रहती।

जीवको स्वभावसे ही आनंद जैसा आकर्षणका दूसरा कोई कारण जगतमें नहीं है।

(८३०)



परिणामकी सावधानी रखनेसे परिणाम नहीं सुधरते, परन्तु परिणाम स्वरूपकी सावधानी करते हैं तो स्वयं सुधर जाते हैं। स्वरूपमय होनेके कारण परिणामका लक्ष नहीं होने पर भी उसमें, सहज सुधार अनुभवगोचर होता है। फिर परिणामकी चिंता करनेकी (जरूरत) नहीं रहती। स्वरूपकी सँभाल होते ही सब सहजरूपसे यथार्थ है। त्रिकालीको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। द्रव्यदृष्टिमें साधक-बाधक पनेकी दरकार सम्यक्पने नहीं रहती। जो कि अपूर्व घटना है।

(८३१)



अध्यात्मका विषय अंतर-अनुभवका है, स्वरूप आश्रयसे अध्यात्मकी प्राप्ति है। अतः उसकी समझ मात्र परलक्षी बहिर्मुख ज्ञानसे, यथार्थरूपसे नहीं होती, परन्तु स्वसन्मुखताके बिना प्रायः सिर्फ कल्पना हो जाती है; सही समझ नहीं आती - ऐसा (यदि) शुरूसे ही विचारणाके दौरान लक्षमें रहे - तो मात्र विचारको लंबाते-लंबाते आगे बढ़नेकी चेष्टा नहीं होगी, और वैसा भूल भरा अभिप्राय भी नहीं होगा। स्वसन्मुखताके बिना अध्यात्ममें प्रवेश नहीं है, प्रगति होना तो दूरकी बात है।

(८३२)



'जिसकी दृष्टि अनन्त शांतिके पिंड पर है, वह ज्ञानी है' - पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी। उक्त वचनमृतको चर्चाके दौरान ज्ञानीकी पहचान होनेके सम्बन्धित स्पष्टीकरण देते हुए पू. श्रीने प्रकाशित किया था। यह ज्ञानीपुरुषका अंतरंग लक्षण - निश्चय लक्षण है। यानी कि जो ज्ञानी हैं, उन्हें निरंतर खुदमें अनन्त शक्ति विद्यमान है, ऐसा भान रहता है। अपनी अव्याबाध शांतिकी हयाति देखनेवालेको तद्रूप परिणति सहज रहती होनेसे, अध्यासित अशांति नहीं होती। उन्हें कोई चिंता नहीं होती, जब कि अज्ञानी चिंतामुक्त नहीं होता। (८३३)



स्वस्वरूपका लक्ष एवं अनुभव हुए बिना ज्ञानका झुकाव नहीं बदलता। सहज अंतरकी ओर झुकाव होनेमें ये दोनों अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ हैं।

ज्ञान सामान्यमें वेदन है, परन्तु ज्ञानविशेष, जो कि ज्ञानका बहिरंग है, उसका अंतरकी ओर झुकाव हुए बिना वेदनका ग्रहण नहीं होता। अतः ऐसी सूक्ष्म विषयक बाबत समझते हुए भी, कृत्रिमतासे काम नहीं होता, परन्तु लक्ष होनेसे सहज होता है। इसीलिए महापुरुष (श्रीमद् राजचंद्रजी) ने कहा है, कि 'लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदायी'।

संसारकी उत्पत्तिकी घटना भी कैसी है ? ज्ञानकी एक ही पर्यायका बहिरंग, बाह्यदृष्टिके कारण, अपने ही अंतरंगको छोड़कर प्रवर्तता है ! अर्थात् ग्रहण नहीं करता ! अरे ! ग्रहण करना भी कठिन लगे ! अपनेमें ही अपने सम्बन्धित दुर्लभता ! (८३४)



प्रश्न :- ध्यान - योगादि प्रयोग करने पर भी आत्म स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उत्तर :- स्थिर - ध्रुव स्वरूपमें एकत्व हुए बिना परिणामोंका अस्थिर भावोंमें अनादि एकत्व - पर्यायबुद्धिके कारण होनेसे स्थिरता नहीं हो पाती। स्थिर ध्रुव तत्त्वके अवलंबन बिना परिणाम स्थिरताको प्राप्त नहीं होते। अस्थिर भावोंमें अपनत्व सहित जब तक अवलंबन वर्तता है तब तक स्थिरता नहीं आ सकती। ध्रुवके अवलंबनसे सहज स्थिरता होती है - वृद्धिगत होकर पूर्ण स्थिरता प्रगट होती है। प्रथम श्रद्धा द्वारा आश्रय होना चाहिए। (८३५)



नवम्बर - १९९१

न्याय, युक्ति, आगमसे आत्मस्वरूपकी जो महिमा आती है, वह ऊपर-ऊपरसे ओघे-ओघे आती है; अर्थात् ऐसे प्रकारसे जगतमें जो-जो वस्तु और कर्मप्रसंगकी महत्ता दे दी है, वह नहीं छूटती परन्तु यदि सचमुच पहचानपूर्वक महिमा आये, तो जगतका महत्त्व छूट जाता है और खुद प्राप्ति न हो तब तक पीछे पड़ जाता है, प्रयत्न छूटता ही नहीं। अथवा स्वरूपकी महिमा उल्लासपूर्वक ऐसी आती है, कि वह कायम रह जाती है - उसकी असरसे छूट ही नहीं सकता। तब फिर अप्राप्तिका कोई कारण नहीं रहता। अवश्य प्राप्ति होती ही है।

(८३६)



स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ स्वरूपका सीधा प्रतिभास आये बिना नहीं उठता, परन्तु यदि यथार्थ प्रतिभासपूर्वक पुरुषार्थका अंतर्मुखी वेग चालू हुआ, तो छः महिनेके अंदर-अंदर (किसी तीव्र पुरुषार्थवानको तो घंटोंमें) शुद्धोपयोग आ जाता है। यद्यपि स्वरूपलक्ष इस प्रकार होता है,

कि जैसे द्रव्यदृष्टि पर्यायको नहीं देखती है वैसे - शुद्धोपयोग सम्बन्धित आर्त परिणाम वहाँ नहीं होते। बहुभाग (तो) उसका (शुद्धोपयोगका) विकल्प ही नहीं होता, परन्तु यदि अधिक समय निकल जाये, और विकल्प आ जाये तो वह कार्यसाधक नहीं है, परन्तु बाधक है। यद्यपि यहाँ पर मुमुक्षुजीवको प्रश्न हो सकता है, कि स्वसन्मुखतामें कैसे आना ? उत्तर इस प्रकार है कि : ज्ञान लक्षणसे ज्ञानस्वभावी आत्माका प्रयोग द्वारा स्पष्ट अनुभवांशसे, प्रतीतियुक्त निर्णय होने पर स्वसन्मुखता आती है, दूसरा तो कोई उपाय नहीं है। - अपूर्व आत्मभावनापूर्वक स्वरूप लक्ष कर्तव्य है। यह 'बीजज्ञान' है, जो कभी निष्फल नहीं होता - नहीं जाता।

अनन्तकालसे अनभिज्ञ ऐसा उपाय प्राप्त होनेमें, प्रत्यक्ष सत्पुरुषका योग, अपूर्व हितस्वी जानने योग्य है। (८३७)



अनादि विपरीत संस्कारोंसे संस्कारित ऐसी जीवकी दशा है, और वैसा ही वर्तमानमें असत्संग है, ऐसी स्थितिमें सन्मार्गकी प्राप्ति अति दुर्लभ हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, फिर भी जो जीव एक निष्ठासे 'एकमात्र आत्महितार्थ ही' जीना चाहता है, उसके लिए दुष्कर नहीं, परन्तु सुगम है। ऐसा आत्मार्थी जीव, मोक्षाभिलाषी होकर सत्पुरुषको खोजता है, उसे अवश्य सद्गुरुरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है, जिनके चरणका निवास और स्वरूप प्राप्तिकी अपूर्व भावना, सफलताको संप्राप्त होते हैं।

इस प्रकार सत्-सत्का मार्ग सरल एवं सुगम है। (८३८)



जैसे असंज्ञी प्राणीको खुद शरीरसे / वर्तमान देहात्मबुद्धिरूप अवस्थासे भिन्न कोई वस्तु है या नहीं ? ऐसा तर्क भी उत्पन्न होनेकी योग्यता नहीं है - इसलिए प्रायः वह प्राप्त इन्द्रियों द्वारा विषयोंकी पूर्ति हेतु ही घूमता रहता है। जिसके कारण मनरहित अवस्थावाले ही अनन्त भव धारण करनेकी स्थिति आ पड़ती है, उसमें ही अनन्तकाल बीत जाता है।

वैसे ही - जो मन सहित मनुष्य होते हुए भी, मात्र (देहात्मबुद्धि वश) इन्द्रिय विषयोंकी पूर्ति करनेके पीछे, उत्पन्न वेगके कारण अपने मूल स्वरूपको जाननेके लिए कौतूहली नहीं होता है, वह मन सहित होते हुए भी मन रहित असंज्ञी जैसे भावमें होनेसे, द्रव्यसे भी असंज्ञीपनेको प्राप्त होकर, अनन्तकाल पर्यंत दुःखी होता है।

जीव क्यों संज्ञीमेंसे असंज्ञी होता है ? वह उक्त न्यायसे समझने योग्य है। (८३९)



आत्मा वस्तुरूपसे साक्षात् प्रत्यक्षरूप हयाति रखता है; इसलिए उस विषयमें सिर्फ कल्पना

करना, सिर्फ अनुमान करते जाना - उसका सत्पुरुषोंने निषेध किया है। जो वस्तु परोक्ष हो उसका यदि विचार / अनुमान करे तो ठीक है, परन्तु प्रत्यक्ष वस्तुके लिए वैसा होना आवश्यक नहीं है। इसलिए 'सिर्फ विचार करनेवाला' बहुत - चाहे कितना भी विचार कर ले, तो भी स्वरूप - ग्रहण नहीं होता। परन्तु प्रत्यक्ष अंश द्वारा उस रूप होकर / तन्मय होकर व्याप्य-व्यापकभावसे, प्रसर जानेसे अनुभव संप्राप्त होता है। (८४०)



अंतरमें अनन्त पुरुषार्थके सामर्थ्यरूप खानका पता लगनेसे, (अपनेरूप मालूम होते ही), उसका अवलंबन लेनेमें आ जाता है। उसमें अंतर्मुखी पुरुषार्थका परिणामन शुरू हो जाता है, इसलिए वहाँ पुरुषार्थको 'करनेकी' आकुलता और समस्या नहीं होती - नहीं रहती, अतः ज्ञानीपुरुषोंने अनन्त सामर्थ्य-स्वरूपको पहचाननेकी देशना दी है और कृत्रिम पुरुषार्थका निषेध किया है। स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यकी दृष्टिमें, पर तरफके आंशिक परिणामका जोर नहीं रहता - टूट जाता है, और जो सहज पुरुषार्थ वर्तता है, वह भी एक समयकी पर्याय होनेसे, उसकी भी गौणता ही रहती है। पर्यायमात्रकी गौणता द्रव्यदृष्टि होनेसे हो जाती है। पर्यायका एकत्व ही मिथ्यात्व-मूल है। इसलिए उसका - एकत्वका अभाव करनेके हेतुसे, पर्यायका निषेध किया जाता है। उसमें पर्यायका अभाव करनेका हेतु नहीं है। यद्यपि विभावके निषेधमें विभावका नाश करनेका हेतु है, और विभावके एकत्वको भी मिटाना है - इस तफावतमें भूल नहीं होनी चाहिए। (८४१)



स्वरूप प्रत्ययी पुरुषार्थ, रुचि या भावनाके बिना तत्त्वकी बात, चर्चा, श्रवण आदि सब मनोरंजन अथवा विषय सेवनवत् हो जाता है। अतः मुमुक्षुजीवको तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्तिमें अपने भावोंकी जाँच करनी चाहिए, वरना स्वयंको छोड़कर, यह प्रवृत्ति कि जो बाह्य विषय यानी कि बहिर्मुख भावका विषय है, वही वंचनाबुद्धिसे चलती रहेगी; उसीकी (बाह्य प्रवृत्तिकी ही) मुख्यता रहेगी। परन्तु बाह्य प्रवृत्तिके काल भी बाह्य प्रवृत्तिकी गौणता और स्वरूपकी मुख्यता रहनी चाहिए, तो ही तत्त्वरुचि है। अंतरतत्त्वकी रुचि होती है वहाँ शुरूआतसे पर्याय गौण हो जाती है। फिर भले ही पर्यायमें प्रतिक्षण विकास सधता हो तो भी, इस पद्धतिसे, वह गौण ही रहती है। इसलिए यह यथार्थ पद्धति है। (८४२)



ज्ञानदशामें ध्रुवतत्त्वकी जागृतिमें शरीरादि अनित्य संयोग स्वप्नवत् भासित होते हैं। जैसे स्वप्नका कोई मूल्य नहीं है, वैसे ध्रुव निज स्वरूपके आगे, संयोगोंका कोई मूल्य नहीं है।

फिर राग-द्वेष-मोह किस कारणसे होंगे ?

अनुभव ऐसा बोलता है कि "मैं मेरेमें अचलरूपसे वैसा का वैसा हूँ - मेरेसे बाहर स्वप्नकी माफिक ये सब हो रहा है। अनादिसे वर्तमान पर्यंत भूतकालका भी एक लंबा स्वप्न ही था - जो कि पूरा हो चुका।" - वास्तविकरूपसे संयोगोंके किसी भी फेरफारसे मेरेमें कोई फेरफार हुआ ही नहीं - स्वप्नके माफिक। स्वयंकी स्वरूप जागृतिपूर्वक भिन्नता रहे, यह ज्ञानदशाकी वास्तविकता है। (८४३)



सुदीर्घकालसे ज्ञेयाकार ज्ञानरूप ज्ञानविशेषका आविर्भाव होनेसे, उसका परिचय होनेसे, मुमुक्षुजीवको वह समझमें आता है, परन्तु ज्ञान सामान्य तिरोभूत रहा होनेसे, और उसका परिचयरूप अभ्यास भी नहीं होनेसे, जीवको उसका स्वरूप यथार्थरूपसे पकड़में नहीं आता। पुनः ज्ञानसामान्य वेदनरूप होनेसे, उसका आविर्भाव होने पर वह वेदन अनुभवगोचर होता है, सिर्फ विचारमें लेनेसे वेदनका विषय ग्रहण नहीं हो सकता। अतः स्वभावकी प्राप्तिके लिए विचारसे आगे बढ़कर, प्रयोग द्वारा - वेदन द्वारा स्वभावको लक्षमें लेने योग्य है। अतः यह फलित होता है कि, स्वभाव और स्वभाव सदृश ज्ञानसामान्य, वह सिर्फ विचार कोटिका विषय नहीं है, परन्तु तत्त्व विचार करनेवाले जीवको, विचारसे आगे बढ़कर, वेदन-कक्षामें प्रवेश करके, उसकी प्राप्ति करने योग्य है, सिर्फ विचार करनेसे स्वभावकी प्राप्ति संभवित नहीं है।

(८४४)



तत्त्व सम्बन्धी थोड़ी विपरीतता दिखती हो, परन्तु वह पूरी विपरीतताकी तरह प्रतिबंधक होती है।

अभिप्रायमें थोड़ी भूल वह पूरी भूल है। जैसे कि पर्यायमें 'अहंपना' छोड़े बिना स्वरूप ध्यानका कृत्रिम उद्यम / पुरुषार्थ करना। वह इस प्रकार कि मैं आत्माका ध्यान करता हूँ; वहाँ ध्यान करनेवाला स्वयंको पर्यायरूप मानता है और आत्मा (भूलसे) पर तत्त्वके स्थानमें रह जाता है।

अतः तात्त्विक भूल और विपर्यासको हलकेरूपमें लेकर उसको गौण नहीं करके, उसके नुकसानकी गंभीरताको लक्षमें लेना चाहिए। (८४५)



(१) वैराग्य, उपशम, मुमुक्षुता प्राप्त होनेके लिए उपदेशबोधका ग्रहण होकर (२) वस्तुके स्वरूपज्ञानके निरूपणरूप सिद्धांतबोधका ग्रहण कि जो उपदेशबोधको अनुकूल हो, उस प्रकारसे

समझमें आये, इसके उपरांत (३) अध्यात्मबोधके सिद्धांतोंके यथार्थ ग्रहणपूर्वक तद्अनुसार पुरुषार्थ और प्रयोग चले तो अवश्य आत्महित होवे, यानी कि प्रथम आत्महितके लक्षसे कषायरस और दर्शनमोहका अनुभाग कम हो, तो आत्मार्थीतामें स्वच्छंद निरोधरूपसे सिद्धांतबोधका ग्रहण, उपदेशके अनुरूप होगा। अर्थात् सिद्धांत ग्रहण होनेमें कल्पना या विपर्यास नहीं होगा। अथवा स्वरूपनिर्णय करनेके लिए प्रयोगकी कसौटीपूर्वक आगे बढ़ेगा, सिर्फ तर्क, अनुमान या युक्तिके आधारसे निर्णय नहीं करेगा, परन्तु यदि भेदज्ञानके प्रयोगपूर्वक स्वरूपनिर्णय हुआ, तो अध्यात्म अथवा स्वरूप आश्रयरूप सम्यक्एकांतको प्ररूपित करनेवाले सर्व सिद्धांतोंका अविरोधरूपसे अवगाहन होकर, आत्महित सधता है। (८४६)



सिद्धांतज्ञानमें अनेक सिद्धांत और भेद-प्रभेदका निरूपण है। उसमें सिर्फ जानकारी हेतु (विपर्यास नहीं हो जाय उतना ही प्रयोजन होनेसे) और वज़न नहीं देनेमें आ जाये इसके लिए कौनसे सिद्धांत और वज़न अथवा जोर देने योग्य (अवलंबन लेनेके लिए) कौनसे सिद्धांत हैं, उसकी छँटनी होनी चाहिए। वरना जानकारी सही होने पर भी वज़न देनेकी भूल हुई तो, पूरी भूल होकर विपरीतता हो जाती है।

दृष्टांत : क्रमबद्ध पर्याय सम्बन्धित है। उसमें पर्यायकी क्रमबद्धता सिर्फ जाननेका विषय है। जिसका जोर (अवलंबन) ज्ञायक पर होता है, उसको (पर्यायकी उपेक्षा होकर) इसकी क्रमबद्धता उपेक्षाका कारण होती है। वैसे ही भेद-प्रभेद सिर्फ जानकारीका विषय है। अवलंबन / आश्रय तो अभेदका रहे और वह तो सिर्फ जानकारीके लिए होना चाहिए।

छद्मस्थ अवस्थामें, गुणभेद और पर्यायभेद, वस्तुके अंग होने पर भी, लक्ष जानेसे विकल्प / रागकी उत्पत्तिका कारण होते हैं, इसलिए उक्त नीति (वज़न नहीं देनेकी) यथार्थ है।

(८४७)



मार्गका-परमार्थका रहस्य ढूँढनेके लिए प्रयासवंत जीव प्रायः आगम और आध्यात्मिक साहित्यका परिचय करके समय और शक्तिका व्यय करते हैं, जब कि कोई श्रवण और ध्यानादि क्रियाके पीछे समय - शक्तिका व्यय करते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष सत्पुरुषके बिना (पूर्व संस्कारी आत्माको छोड़कर) बीजज्ञानकी प्राप्ति किसीको नहीं हुई है। यद्यपि सत्पुरुषकी पहचान होकर, परमेश्वरबुद्धि आना वह प्रथम बीजज्ञानका भी बीज है। इस बीजके बिना उद्धार नहीं है। ऐसा लक्षगत् हुए बिना, जीव जो भी व्यय करता है वह यथार्थ विवेक रहित प्रयास है। वास्तवमें उसको परमार्थकी अंतर जिज्ञासा हुई है, ऐसा कहना भी मुश्किल है। यदि प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी

खोज रहती है, तो काललब्धि भी पक गई, ऐसा समझमें आता है। अनेक जीवंत दृष्टांतसे इस बातका बोध मिलता है, फिर भी जीवोंका ध्यान नहीं जाता है, यह आश्चर्यजनक है। अनन्तकालके बाद भी प्रत्यक्ष-योगका मूल्य समझने पर ही छूटकारा है। (८४८)



द्रव्यदृष्टि उत्पन्न होनेके अंतरंग कारणकी गवेषणा करते हुए, ऐसा निश्चय होता है, कि वर्तमानमें पर्यायदृष्टिके कारण दोषदृष्टि चल रही है, (विकारी मैं) यह तोड़नेके लिए, उसका निषेध यथार्थरूपसे आना जरूरी है।

“अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां ह्युं;

ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे श्युं ?।।”

परमकृपालुदेवके अनुभवपूर्ण उक्त वचनानुसारेण वाच्य-वेदनमें वर्तमान दोषदृष्टिका उग्र निषेध वर्तता है, इस अंतर वेदनामें - 'विकारका अहम्' तोड़नेका साधन - द्रव्यदृष्टि की खोजरूप मूल रहा है।

जिसे निर्दोष होना ही है, उसे सहज निर्दोष रह सके, उस प्रकारके आलंबनकी खोज चलती है। क्योंकि विकार भी सहज परावलंबनसे हो रहा है, यह अनुभवगोचर है। सत्की अंतर खोजमें सत्पुरुषके अनुभव-वचन अपूर्व उपकारी हो जाते हैं।

जिससे सत्की पहचान होकर, सत्की महिमा द्वारा, दृष्टि प्रगट होती है। (८४९)



धर्मप्राप्तिका फल महान है, शाश्वत कल्याणका मार्ग है, फिर भी यह मार्ग परम गंभीर है। यद्यपि ज्ञानमार्ग दुराराध्य है, फिर भी उसके बिना निस्तार नहीं है। यद्यपि ज्ञानदाता ऐसे सत्पुरुषकी इस कालमें परम दुर्लभता है, फिर भी पुण्ययोगसे श्रीगुरुने मार्ग प्रकाशित किया है, और मार्गके रहस्यको खोल दिया है। जिसका ग्रहण होनेके लिए तथारूप पात्रता अपेक्षित है, क्योंकि अमूल्य ऐसे सिद्धांतज्ञानका यह व्यापार है। जिसमें यदि प्रयोजनकी संधि हो गई तो जीव तिर जाये वैसा है। वरना तो प्रयोजनभूत विषयमें, मतिदोषके कारण, यथायोग्य पात्रता नहीं होनेके कारण, विपर्यास होनेसे जीव गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाता है। अतः परमतत्त्व निज पदके विषयमें और स्वरूपप्राप्तिके - साधनके - विषयमें, कहीं पर भी कल्पना नहीं करके, जिज्ञासामें रहना ज्यादा बेहतर है। ज्ञानीकी आज्ञानुसार, स्वच्छंद निरोधपने, मोक्षाभिलाषीको पूरी सावधानी, सरलता और धीरजसे आगे बढ़ने जैसा है। अगंभीरता, अधीरज, असरलता नुकसानकारक है। (८५०)



मुमुक्षुजीवको आत्महितके / परमार्थके मार्ग पर चढ़नेके लिए एक ही रास्ता है और गिरनेके या गोते खानेके अनेक स्थान हैं, ऐसी स्थितिमें श्रीगुरुने करुणा करके महासिद्धांतका प्रदान किया है।

‘पूर्णताके लक्षसे शुरुआत’ करनेकी आज्ञा की है।

इस वास्तविकताका उल्लंघन करके कोई भी जीव परमार्थमें आगे नहीं बढ़ सकता, इतना ही नहीं यह मार्गदर्शन मुमुक्षुकी सर्व समस्या और उलझनोंका उकेल लानेमें समर्थ और पर्याप्त है। पूर्णताके ध्येयसे / लक्षसे शुरुआत करनेवाला सुरक्षित हो जाता है। अर्थात् ध्येय विरुद्ध भावमें जागृति आ जानेसे, वहाँसे पीछेहट हो जाती है।

जिसका साध्य सच्चा, उसका साधन सच्चा - इस न्याय अनुसार, पूर्णताका ध्येय सर्वांग श्रेष्ठ होनेसे, उसका साधन भी तद्अनुसार और तद्अनुरूप उत्पन्न होता है। उसीको सम्यक्त्व कहा है। (८५१)



सर्व शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष सद्गुरु-योगका महत्त्व गाया है, जो कि अनुभवपूर्ण हकीकतकी प्रसिद्धि है। मुमुक्षुजीवको परमार्थ प्राप्तिके लिए वह परम आधार है; इस विषयमें परमकृपालुदेवका निम्न वचनामृत बहुत मार्मिक है।

“स्वरूप सहजमें है। ज्ञानीके चरणोंकी सेवाके बिना अनन्तकाल तक भी प्राप्त न हो ऐसा विकट भी है।” (वचनामृत - ३१५)

जीव खुद विपर्यास छोड़ दे तो सहजात्मस्वरूपकी प्राप्ति भी सहजमें ही है। परन्तु ज्ञानीके चरण-सेवनसे सर्व विपर्यासका मिटना संभवित है, वरना मिटनेके बजाय प्रायः मानादिक बढ़नेकी संभावना रहती है। अथवा खुदको ही लक्षमें नहीं आये उस प्रकारके दोष और अज्ञानकी स्थितिमें, सद्गुरु आज्ञा अनुसार चलनेसे सहजमात्रमें ही दोष टलना संभवित है, ऐसा जानकर, सर्व प्रकारसे परिमार्जन करनेवाले श्रीगुरुका मूल्य करनेके लिए जगतमें कोई पदार्थ नहीं है।

(८५२)



ज्ञान-सामान्य, आबाल-गोपालको, सदा लक्षणरूपसे मौजूद है। इसलिए ‘अज्ञानी हूँ’ ऐसी उलझन मिट जाती है। अज्ञानीको लक्षणसे स्वभावकी पहचान कराकर, श्रीगुरुने स्वभाव-दर्शन करवाया है, बीजज्ञान दिया है।

यहाँ पर शायद ऐसा प्रश्न हो सकता है कि, ज्ञानमात्र ऐसा ज्ञानसामान्य सम्यक् है या मिथ्या ? अज्ञानीको तो मिथ्याज्ञान होता है ? उसमें स्वभावगत् लक्षण कैसे संभवित है ?

समाधान इस प्रकार है कि, जहाँ सम्यक्-मिथ्यात्वरूप विशेषता नहीं है, वह सामान्यका स्वरूप है, इसलिए यह विकल्प यहाँ लागू नहीं होता। कोई भी जीव पात्र होकर, ज्ञानमात्ररूप स्वयंका अवलोकन करे तो अवश्य, स्वसंवेदनरूप लक्षणसे लक्षकी सिद्धि होती है। पात्रता यहाँ पर अपेक्षित है। इसके बिना परसन्मुख भावोंका रस छूटनेके योग्य नहीं होता, जिसके कारण स्वसन्मुखमें पहचान / लक्ष नहीं होता है। तदुपरांत परलक्षी उघाड़ भी सामान्यमें रहे प्रगट वेदनका अवलोकन करनेके लिए सक्षम नहीं है।

- इस प्रकार पात्रताके बिना बीजज्ञान नहीं है। पात्रताका मूल्य बहुत है। (८५३)



दिसम्बर - १९९१

स्वरूपकी श्रद्धा, विवेक और पुरुषार्थ अविनाभावीरूपसे साथमें ही रहते हैं। इसलिए भावसंतुलन बना रहता है और कहीं भी एकांतीक परिणाम नहीं होते। 'त्रिकाली अपरिणामी में हूँ' - ऐसी श्रद्धाके कालमें, वैसे स्वरूपज्ञानके उपरांत, ज्ञानमें शुद्धि, अशुद्धि, और अशुद्धिके निमित्त सम्बन्धी विवेक रहता है, इसलिए निश्चयाभास नहीं होता।

पुनः अंतर्मुखी पुरुषार्थका जोर स्वरूप स्थिरता और आनंद उत्पन्न होनेमें कारणभूत होता है, इसलिए अनुभवदशावानको असमाधान भी नहीं होता। दृष्टि और लक्ष स्वरूपका रहे, इससे स्वरूप लक्षपूर्वक, स्वरूपकी मुख्यता होकर सहज परिणामन वर्तता है, जो सम्यक् होता है।

(८५४)



आत्मस्वरूप परिपूर्ण एवं कृतकृत्य है। सम्यक् श्रद्धाभावमें- 'मेरेमें कुछ कर्तव्य नहीं है, मैं तो कृतकृत्य ही हूँ' - ऐसा वर्तता हो, तब वैसे ही भावमें ज्ञानादि सर्व गुण परिणामन करने लगते हैं, वह परिणाम अपेक्षासे उत्कृष्ट कर्तव्य होनेसे, और वह सहज स्वयं परिणाम द्वारा किया जाता है, इसलिए दूसरा कुछ करनेका ज्ञानीको विकल्प नहीं होता। परिणाम तो सहज स्वयं होते रहते हैं। मेरा (स्वरूपका) अनुसरण करे तो उसके (परिणामके) लाभकी बात है। तात्पर्य ऐसा है, कि जिसे द्रव्यमें अपनत्वकी स्थापना हुई, उसे कोई असमाधान नहीं रहता। सर्वांग समाधान रहता है। मुझे देखनेवाले परिणाम स्वयं पुरुषार्थादिरूप होते हैं।

(८५५)



वीतरागी शांतरस और वीररसमें एक प्रकारका साम्य है। शूरवीर पुरुष जैसे डरते नहीं, बल्कि आत्मसमर्पण भी कर देते हैं, उस प्रकार शांतरसमें ऐसी ताकत है कि सारा जगत

प्रतिकूल हो जाये या शरीर छूटनेका प्रसंग आ जाये, तो भी धर्मात्माको भय नहीं होता, तथापि वे मार्गसे या सिद्धांतसे विचलित नहीं होते। अंदरमें शाश्वत, अव्याबाध स्वरूपका अवलंबन होनेके कारण, ज्ञानी अभेद आत्मगढ़में निर्भय है। पूर्ण ऐश्वर्य और आत्मसंपदावान होनेके कारण, उन्हें कहीं पर भी दीनता नहीं होती। (८५६)



उपदेश अनुसार अमुक कार्य करने चाहिए अथवा अमुक नहीं करने चाहिए - यह सब जाननेका विषय है। परन्तु उसमें हेय-उपादेयकी विवक्षा होनेसे, उसके ऊपर जोर / वजन देनेमें नहीं आ जाये, यह स्वरूपके जोरवाले साधकके लक्षमें रहता है, परन्तु जिसका लक्ष / जोर पर्याय पर होता है, वैसे जीवको ऐसी उपदेश पद्धतिसे, उलटे और कर्तृत्वकी दृढ़ता हो जाती है। इस प्रकार अनजानपनेके कारण भी यथार्थ विधिसे वंचित रहना हो जाता है। और कर्तव्य-अकर्तव्यकी समझ अनुसार जीव कृत्रिम प्रयत्न अथवा कर्ताबुद्धिसे परिणामको सुधारनेका प्रयास करता है, जो कि यथार्थ नहीं है।

पुनः उपदेश / आदेशकी भाषाका प्रकार भी ऐसा होता है, कि तथारूप कर्तव्य पर वजन रहनेका संभव है। फिर भी 'व्यवहार उस वक्त जाना हुआ (अवलंबन नहीं लिया हुआ) प्रयोजनवान है,।' - ऐसा जो शास्त्र वचन है, उसका लक्ष रखकर, उपदेशका अवधारण कर्तव्य है, अन्यथा पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जायेगी। (८५७)



निश्चय आत्मस्वरूप अवलंबन लेने योग्य है। वह अवलंबन स्वरूप प्रत्ययी जोर / पुरुषार्थ द्वारा लिया जाता है। प्रयोजनकी सिद्धि इसप्रकारके पुरुषार्थ आधारित है।

आत्मस्वरूप अनन्त सामर्थ्यवंत है। उसके स्व-रूप ज्ञानमें तथारूप आत्मबल उत्पन्न होना सहज और स्वाभाविक है।

ऐसे पुरुषार्थके जोरमेंसे निकले हुए ज्ञानी धर्मात्माके वचन निश्चय प्रधान होते हैं, उसमें पुरुषार्थकी तीखाश होती है। जिसका परम प्रेमसे आदर कर्तव्य है, सत्कार करने योग्य है। इसके द्वारा आत्मरुचि और आत्मबलको वेग मिलता है।

ऐसे वचनके प्रतिपक्षरूप व्यवहारके विषयकी अपेक्षामें स्वरूप प्रत्ययी जोर टूट जाये, ऐसा नहीं होना चाहिए। समझके विपर्यासकी वजहसे, वैसा अपेक्षाज्ञान पुरुषार्थको रोकता है, ऐसा समझने योग्य है। भले ही वैसा अपेक्षाज्ञान सिद्धांत विरुद्ध नहीं हो, फिर भी उसमें पुरुषार्थकी विरुद्धता हो जाये - ऐसा विपर्यास है। सच्चा ज्ञान तो वही है, कि जो पुरुषार्थको उत्पन्न करे या वृद्धि करे। ज्ञानका विपर्यास तो सम्यक्त्वको रोकता है। (८५८)

बहिर्लक्षी उघाड़ज्ञानसे कोई आत्मलाभ नहीं होता। वैसा ज्ञान आत्मशांति उत्पन्न होनेके काममें नहीं आता अथवा अशांति हो, तब उसे मिटानेके लिए उपयोगी नहीं होता। विकार - राग, द्वेषको वह रोक नहीं सकता। अज्ञानतामें ही उसमें रस आता है, अथवा उसकी विशेषता या महत्ता लगती है, जो कि स्वभाव रस उत्पन्न होनेमें बड़ा अवरोध है; जैसे जीवको स्वभावकी महत्ता नहीं भासित होती, (अर्थात्) भासित नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानमें उस वक्त मल बढ़ता है, जो निर्मलतामें बाधक है। यहाँ पर दर्शनमोह भी तीव्र होता है। ज्ञानीको तो स्वलक्षी निर्मल ज्ञानका उघाड़ बढ़ता है, फिर भी स्वभावकी अपेक्षा, वह अनन्तवे भाग जितना समझमें आता है। इसलिए उघाड़रूप ज्ञानका मद होता ही नहीं। (८५९)



तत्त्वरसिक जीवको ज्ञानके उघाड़में रस नहीं आता, और जिसको बाह्य ज्ञानमें रस आता है, उसको गहरे अंतर तत्त्वमें रस नहीं आता। उघाड़वालेकी वाणी शुष्क होती है, जब कि तत्त्वरसकी रसिकता कुछ और ही होती है। इसलिए आत्मरसपूर्वक निकलती वाणी अलग ही मालूम पड़ती है। तत्त्वरसिक श्रोताको अपने रसके साथ उसका अनुसंधान होने पर, रसवृद्धिमें निमित्त होती है। (८६०)



विकारीभाव दुःखभाव है, फिर भी जिसको उसमें दुःख नहीं लगता, वह दुःखसे छूट नहीं सकता - यह नियम है।

भेदज्ञानके प्रयोगमें लगे तब वास्तविकरूपसे वह दुःख समझमें आता है। (८६१)



स्वरूपके अभेद अनुभवमें, सर्व भेद-प्रभेदका ज्ञान गर्भित है। फिर भी ज्ञानीको भेदकी अपेक्षा नहीं है - उपेक्षा है और अभेदकी अपेक्षा है।

अनन्त भेदमेंसे स्वकालमें, किसी (एक) भेदका प्रकाशन होता है, वास्तवमें उसकी महिमा नहीं है। अभेदकी महिमासे लीनता प्रगट होती है। (८६२)



ज्ञानमें जो स्पष्टता होती है वह विकल्पका या संतोषका कारण नहीं होनी चाहिए, परन्तु वह स्पष्टता स्वरूपकी महिमा और मुख्यता होनेमें कारणभूत होनी चाहिए। वरना स्पष्टताके बहाने भी नुकसान होगा। (८६३)



परज्ञेयोंके आकाररूप ज्ञानका अनेक आकारमें - ज्ञानाकार परिणमन होना, वह विभाव -

दोष नहीं है, गुण स्वभाव है। परन्तु ज्ञेयोंके भेदसे अभेदज्ञानमें भेद मालूम होना - अनुभवमें आना वह दोष - भ्रान्ति है। जो विकल्पको उत्पन्न करती है। अभेद ज्ञानमें भेदकी कल्पना हुई, वहीसे सूक्ष्म भूल (मिथ्यात्वकी) हुई। यह जानकारीकी भूल नहीं है, परन्तु अनुभवकी भूल है। फिर एक भूलमेंसे अनेक भूलकी परम्परा होती है। भ्रान्तिसे जीव पहली सीढ़ी चूकता है, जिसमें अपने मूल स्वरूपका अन्यथा अवधारण करता है। इस स्थितिमें अमाप भूल होनेका अवकाश है। (८६४)



ज्ञेयोंके आकारसे तभी रागादि विकार नहीं होते, कि जब ज्ञानानुभूतिमें रहना होवे। (८६५)



परिणाम अंतर्मुख कैसे हो ?

ज्ञान (स्वलक्षसे) ज्ञानका (स्वयंका) वेदन करे, तब उसमें परिणाम (ज्ञानकी बहिर्मुखता छूटकर) अंतर्मुख होते हैं। (८६६)



क्रोध - प्रीति एवं प्रिय वस्तुका नाश करता है।

मान - विनयका नाश करता है।

माया - मित्रताका / विश्वासका नाश कर देती है।

लोभ - सर्व गुणोंका नाश करता है। (प्र. रति. प्र-२५ दश वै ८/३७) (८६७)



* मुमुक्षुका साधना क्रम :

- * पूर्णताके लक्षसे, तथाप्रमाण भावना और लगन।
- * भावना और लगनपूर्वक सुविचारणा, अवलोकन और अपूर्वजिज्ञासा।
- * अवलोकनके अभ्याससे स्वभावका भावभासन।
- * भावभासनके कारण स्वरूप महिमा।
- * अपूर्व स्वरूपमहिमा द्वारा स्वसन्मुख रहकर पुरुषार्थ।
- * स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ सहित भेदज्ञान, अभेद वेद्य-वेदकपने।
- * भेदज्ञानके फलस्वरूप स्वानुभूति।

(मार्ग प्राप्तिकी सप्तपदी)

(८६८)



विचारदशामें वस्तु-विषय परोक्ष है। अवलोकन / प्रयोगमें वस्तु प्रत्यक्ष है। (८६९)



परज्ञेयोंको ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है - वह झूठ नहीं है, परन्तु स्वका कथन परसे किया जाता है, इसलिए उपचार संज्ञा हुई। वस्तु शक्ति उपचार नहीं है। ऐसा निश्चय स्वरूप है। (८७०)

आत्मा स्वयं परम स्वभावसे-प्रत्यक्ष है। परम पवित्र होनेसे नमन करने योग्य है। स्वयं ही स्वयंके लिए नमस्कार करने योग्य है। स्वानुभूतिसे निरंतर प्रकाशमान होकर अपनी विद्यमानताको प्रसिद्ध कर रहा है। सर्वत्र स्वयंकी ही ऊर्ध्वता है, अधिकता है। (८७१)



लक्ष / पहचानके बिना भक्तिआदि शुभ व्यवहारके परिणामोंमें कृत्रिमता होती है। सहजता नहीं होती। क्योंकि समझमें 'ऐसा करना चाहिए' - वैसे उपदेशकी धारणा कर रखी है, इसलिए कर्तृत्व और रागकी भावना होती है। तत्त्वदृष्टिसे वह आश्रवकी भावना होनेसे मिथ्यात्वका कारण है। अतः सर्व प्रथम लक्ष / निर्णय कर्तव्य है। उसका बहुत महत्त्व है। (८७२)



'सुख आत्मामें है' - ऐसा समझना, एक बात है, और 'अपनेमें सुखका भासित होना' - वह दूसरी बात है। भावभासनमें 'सुख लगता है' - 'अस्तित्व-ग्रहण' होता है। जहाँ सुख लगे, वहाँ जीवकी वृत्ति दौड़ने लगे - यह जीवका स्वभाव है। इसलिए स्वरूपका भावभासन होने पर ही पौद्गलिक विषयों प्रति वृत्तिका झुकाव - यथार्थरूपसे बदलता है। सिर्फ ऊपर-ऊपरकी समझसे, आत्मवृत्तिमें फर्क नहीं पड़ता अर्थात् विषयसुखका आकर्षण नहीं मिटता। उदयकालमें रस लेनेमें आ जाता है। (८७३)



स्वरूप-निश्चय होने पर खुदके विषयमें मिथ्याअभिप्राय (Mis Conception) पूरा बदल जाता है। इसीलिए स्वरूप-निश्चयका बहुत महत्त्व है। अभिप्रायमें से 'संसारपना' नष्ट होता है, अभिप्रायमें 'परमेश्वर' पद स्थापित होता है। तत्पश्चात् ही वैसी दशा होनेके लिए यथार्थ प्रयास सहज चलता है। आस्त्र भव्यजीवको 'वर्तमानमें ही मैं परिपूर्ण हूँ' - ऐसा श्रवण होते ही अंतर - उल्लास आता है। जैसे आजन्म दरिद्रीको निधान दिखानेवाले मिलते ही उल्लास आता है। (८७४)



स्वसन्मुखताके प्रयास बिना, तथारूप साधनके अज्ञानमें, जीव बाह्य साधनकी मान्यतामें आ

जानेसे वांचन-श्रवणादिमें अटक जाता है, प्रायः बुद्धिपूर्वककी भूल विधिके विषयमें करता है। इसलिए बहिर्मुखतासे छूटकर अंतर्मुख नहीं हो सकता। मुमुक्षुकी भूमिकाकी यह एक बड़ी विपत्ति है। अतः बाह्य साधनमें प्रवर्तते हुए भी, बाह्य भावोंका निषेध सहज होना चाहिए, वरना बाह्यभावोंका रस और महिमा होने लगेगी, अथवा अभिप्रायकी भूल सहित बाह्य प्रवृत्ति चलेगी। यथार्थ क्रमकी शुरुआत करनेवालेको ऐसी विपत्ति नहीं होती। इसलिए क्रमका महत्त्व बहुत है - और क्रम विपर्याससे विपत्ति भी बहुत है। (८७५)



जैसे ऊपरके गुणस्थानमें - देशविरत और सर्वविरत प्रतिज्ञाबद्ध हुए बिना, स्वरूप स्थिरता प्राप्त नहीं होती, सविकल्प प्रतिबंध मिटता नहीं, अर्थात् सविकल्प निर्बलता चालू रहती है, वैसे 'पूर्णताका ध्येय' बाँधे बिना यथार्थरूपसे अवलोकन - प्रयोगादि नहीं हो पाते, चालू नहीं रह सकते। तथापि 'सच्ची मुमुक्षुता' प्रगट ही नहीं होती। जिसके कारण आत्म-कल्याण साधनेमें अनेक प्रकारसे संभवित भूलें रह जाती हैं। (८७६)



पूर्णताके ध्येयपूर्वक शुरुआत किये बिना, प्रायः तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेमें जीव भेदबुद्धिमें खड़ा होनेसे, भेदोंकी जानकारी करके, परलक्षी ज्ञानमें, जो कुछ धारणा कर लेता है, उसमें अभेदका प्रतिभास / लक्ष नहीं हो सकता। अभेदवस्तुकी जो धारणा कभी होती है, वह कल्पनारूप होती है, यानी कि वास्तवमें खुदका अभेद स्वरूप जाननेमें आता ही नहीं। उसका कारण क्रमविपर्यास है। अथवा वास्तविकरूपसे शुरुआत नहीं होनेसे, भूमिकामें यथार्थताका अभाव है, पहचान नहीं होती, नहीं हो सकती। (८७७)



दर्शनमोहका यथार्थ प्रकारसे गलना होवे, उसमें सत्पुरुषके प्रति भक्ति सबसे सुगम कारण है। धन्य हैं वे, और परम उपकार है, वैसे सत्पुरुषका कि जो मुमुक्षुजीवको निष्कारण करुणा द्वारा सन्मार्ग पर चढ़ाते हैं।

दर्शनमोहकी मंदता भी जीवको अनेकबार हो चुकी है, परन्तु यथार्थ प्रकारसे नहीं हुई - 'ज्ञानीकी आज्ञानुसार नहीं हुई।' जिसके कारण अभावको प्राप्त होनेके पहले वृद्धिगत होकर जीव संसार परिणामी हुआ है। आत्महितकी सावधानीमें यह महत्त्वपूर्ण बात है। जिसको 'ज्ञानीकी आज्ञा पर' चलना है, वह सबसे बड़े दोषसे - स्वच्छंदसे बच जाता है और क्रमशः सर्व दोषसे मुक्त होता है। (८७८)



आगम-वचनमें विवक्षा अर्थात् परमार्थसे कही गई बातका महत्त्व है। मतिदोषसे वह अन्यथा ग्रहण होनेसे मिथ्यात्व होता है। जैसे कि 'ज्ञान परको नहीं जानता' - इस वचनमें स्व-पर प्रकाशक स्वभावका निषेध करनेका हेतु नहीं है। परन्तु ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोषका निषेध है। समयसार कलश टीका - २७१ कलशमें, टीकाकार ऐसा कहते हैं कि, 'आत्मा ज्ञाता है और छः द्रव्य ज्ञेय हैं' - ऐसी भ्रांति अनादिसे चली आ रही है। उसमें परज्ञेयका अवलंबन छुड़ाकर स्वज्ञेयका अवलंबन लेनेकी विवक्षा है, परन्तु स्व-परप्रकाशकपनेका निषेध नहीं है। वैसा निषेध करनेवालेको स्वरूपज्ञान नहीं है, परन्तु कल्पना हुई है, जो कि गृहीत मिथ्यात्व है - इस प्रकार अन्यत्र भी लक्षमें रखते हुए, विपर्यास न हो जाये इसकी जागृति, आत्महितके लक्षपूर्वक रहनी आवश्यक है। (८७९)



मुमुक्षुकी भूमिकामें सरलताका उत्पन्न होना अत्यंत जरूरी है। सरलताके कारण अनेक प्रकारके दोष तो उत्पन्न ही नहीं होते। आत्महितकी साधनामें भी असरलता एक बड़ा प्रतिबंध है। इसलिए अगर परमार्थसे सरलता रखी जाये तो इसका महत् फल है। आत्मबोध परिणमित होनेमें - असरलता, आत्मगुण रोधक है। सरलतासे ही मध्यस्थता, विशालता आदि प्राप्त होते हैं, जिसके कारण अनेक प्रकारके विपर्यास मिटते हैं। यथा :

- * सरल परिणामी जीव मनुष्यत्व प्राप्त करता है।
- * सरल परिणामी जीव निष्पक्ष होकर निजदोषका अवलोकन कर सकता है।
- * सरलतावान मुमुक्षु ज्ञानीकी आज्ञामें चलनेकी क्षमता / योग्यता रखता है। आज्ञापालनके लिए तत्पर रहता है।
- * आत्महितका ही एकमात्र लक्ष, वह पारमार्थिक सरलता है।
- * सत्पुरुषके चाहे कैसे भी वचनमें विश्वास रहे, वह सरलताका लक्षण है।
- * सरल परिणामी जीव सत्पुरुषके आशयको ग्रहण करनेके लिए पात्र है।
- * सरलतापूर्वक निजदोषका मध्यस्थभावसे देखना - यह दोषके (गुप्त) अनुमोदनका अभाव करता है। जिससे दोषभाव निराधार होकर, शक्ति-रस हीन होकर नष्ट होता है।
- * मुमुक्षुकी भूमिकाके प्रायः सर्व प्रकारके दोषके नाशका सरलता सबसे बड़ा शस्त्र है।
- * सरलतासे विरुद्ध ऐसे वक्रता, कृत्रिमता, दंभ, कुटिलता, माया, छल, कपट, हठ, ज़िदके परिणाम मुमुक्षुजीवको अहितकारी जानने योग्य है, और त्याग करने योग्य है।
- * 'रागका कर्ता जीव है' और 'रागका कर्ता पुद्गल है, जीवके परिणाम नहीं' - दोनों आगम वचन हैं। उसमें प्रयोजन वशात् मुख्यता-गौणता होनी चाहिए। अविरोधरूपसे उसमें आत्महित

‘सरलता’ से ही सधता है। विरोध जाननेवालेको सरलताका अभाव है।

* आगम-अध्यात्मके बीच विरोध, असरल परिणामके कारण लगता है - यह पारमार्थिक असरलता है, जो कि छोड़ने योग्य है।

* सरलतापूर्वक सत्संग होता है तो ज्ञानीको पहचान सके वैसी योग्यता प्राप्त होती है। सत्य / गुण / तत्त्वका ग्रहण होना सुलभ होता है।

* सरलता स्व-पर कल्याणक है, असरलता स्व-पर कल्याणमें बाधक है।

* यह उपयोगकी सरलता है, कि अंतरमें रागको नहीं स्पर्श करते हुए - तिर्यक् / तिरछी गति नहीं करके - सरलतापूर्वक, अंतर्मुख होकर खुदको ग्रहण करे। असरलता अंतर्मुख होनेमें बाधक है।

* सरलता बिना मुमुक्षुता शून्य है।

* पर्यायबुद्धि असरलताका मूल है।

* त्रिकाली भगवान आत्माकी अधिकताको छोड़कर, एक समयकी पर्यायको या शुभाशुभ उदयको महत्त्व देना - वह परमार्थसे असरलता है।

* सत्य श्रवण होनेके पश्चात् भी यदि जिनदेवकी आज्ञाकी अवहेलना होती हो उसमें सरलता कहाँ रही ? (८८०)



जनवरी - १९९२

यदि पर्यायके षट्कारकका स्वीकार करनेमें नहीं आये तो स्वसंवेदनमें वेद्य-वेदकभावका अभाव हो जाय। परन्तु स्वसंवेदन तो वेद्यवेदक भावरूप प्रत्यक्ष है। और उसमें वेदकरूप - कर्तारूप कारक जो पर्याय है - वही पर्याय वेद्यरूप - कर्मरूप कारकके रूपमें है। उसमें वेदन करनेवाला ज्ञान स्वयं ही वेदनमें आता है। अतः पर्यायके कारकके अस्वीकारकी श्रद्धामें, स्वसंवेदनका अस्वीकार होता है, और स्वसंवेदनरूप स्वानुभवके अस्वीकारमें, आत्माका ही अस्वीकार है अथवा घात है। स्वसन्मुखता वेद्य-वेदकभावसे शुरू होती है। (८८१)



ज्ञानी और मुमुक्षु अंतर परिणामकी निवृत्ति हेतु बाह्य निवृत्तिको चाहते हैं। परन्तु वह पूर्वकर्म अधीन है, फिर भी प्रवृत्तिकी प्रतिकूलतामें पुरुषार्थवंत रहकर ज्ञानी / मुमुक्षु स्वकार्यको साधते रहते हैं।

कोई-कोई तीव्र पुरुषार्थी धर्मात्मा तो वैसे प्रसंगमें, निवृत्तिकालसे भी अधिक निर्जरा करते हैं। अतः उनको तो पारमार्थिक दृष्टिसे प्रतिकूलता ही विशेष अनुकूलता बन जाती है। यथार्थ

ही कहा है कि 'जो छूटना चाहता है, उसे कोई बाँधनेवाला नहीं है।' इसलिए अनुपयोग परिणामी नहीं हो जाये, यह लक्षमें लेनेकी सत्पुरुषकी आज्ञा है। (८८२)



परमार्थका कथन आत्मभावके तथारूप आविर्भावपूर्वक होना चाहिए। अथवा आत्मभावका आविर्भाव होनेके हेतुसे, परमार्थ विषयक वचन-व्यवहारमें प्रवर्तनका उद्देश्य हो, तो वह यथार्थ है।

यदि उस प्रकारसे वचन-प्रयोग नहीं होता, तो उसमें कृत्रिमता होती है, अथवा उद्देश्य अन्यथा होनेके कारण, प्रायः कल्पना होती है। अतः विचारवान मुमुक्षुजीव और ज्ञानी वैसी प्रवृत्ति नहीं करते। (८८३)



आगम और अध्यात्मका विषय योग्यता हो तो समझमें आता है, फिर भी उसमें यथार्थता, जब समझ अनुसार प्रयोगरूप प्रयत्न करनेमें आये, तब आती है, वरना समझ होते हुए भी ओघसंज्ञा चालू रह जाती है।

प्रयोगमें लगनेवाले मुमुक्षुको ही लोकसंज्ञा आदि अनेक दोषोंकी निवृत्ति होकर स्वरूप-निर्णय होनेकी योग्यता प्राप्त होती है, यानी कि आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमें कल्पना नहीं होती बल्कि ज्ञान अनुभव पद्धतिसे कार्य करनेमें सक्षम होता जाता है, अतः अनुमान, तर्क, युक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं रहती, आगम वचनका मिलान अनुभवके साथ होता रहता है। जो प्रतीतिका कारण बनता है। (८८४)



परमपदार्थ शुद्ध आत्मस्वरूपके अलावा अन्य कोई द्रव्य / भाव अवलंबन लेने योग्य नहीं है - ऐसा जानकर उसके ऊपर वज्रन / जोर देनेमें आता है, उसमें दो प्रकार है। एक भावभासनपूर्वक, दूसरा उस प्रकारकी जानकारी होनेसे - ओघसंज्ञापूर्वक। ओघसंज्ञामें भावभासन बगैर चाहे कितना भी जोर देनेमें आये, फिर भी उसमें रागका बल / प्रधानता होनेसे कृत्रिमता होती है। जिसके कारण परसन्मुखता चालू रहकर, राग वृद्धि होगी, परन्तु सम्यक्त्व और वीतरागता प्रगट नहीं होंगे। भावभासनसे सहज ज्ञानबल वृद्धिगत् होकर, स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा, स्वानुभव प्रगट होता है, जो यथार्थ विधि है। प्रथम प्रकारमें जानकारी यथार्थ होने पर भी विधि यथार्थ नहीं है। परन्तु जिसका वज्रन पर्याय या भेद पर जाता है, वह तो यथार्थतामें ही नहीं है। तो वहाँ स्वरूप प्रगट होनेका तो बनेगा ही कैसे ? (८८५)



सत्पुरुषोंकी अंतर आचरणारूप चारित्र-परिणतिका अवलोकन करना - वह दर्शनमोह टूटनेका और आत्मभावना-वृद्धिका कारण है। ज्ञानीपुरुष भी वैसा करते हैं - जिससे मुमुक्षुजीवको बोध लेने जैसा है। (८८६)



धारणा और विचारमें निज स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार परद्रव्य और परभावको, इसकी भिन्नता होने पर भी जीव ग्रहण करके उपाधि भोगता है, वैसे स्वद्रव्यको लक्षण द्वारा-वेदन द्वारा ज्ञानमें स्वके रूपमें ग्रहण करने पर अनुभव हो सकता है। इसलिए निमित्त, राग, परलक्षी उघाड़, धारणा - इत्यादिकी अपेक्षा छोड़कर निजावलोकनमें आना चाहिए। रुचि द्वारा पदार्थका ग्रहण होता है। (८८७)



दोम - दोम साह्यबी - वैभव जिसके पास है, उसको दीनतापूर्वक भीख माँगनेकी जरूरत नहीं होती, वैसे जिसके प्रदेश-प्रदेशमें अनन्त अनन्त, अपार सुख भरा है, उसको कहीं ओरसे सुखकी अपेक्षा क्यों होगी ?

सर्वज्ञ-वीतरागके इस वचन पर विश्वास नहीं है क्या ?!

अंतरसुख चाहे कितना भी भोगनेमें आये, फिर भी आत्मा अक्षयपात्र है। कम भी नहीं होगा। इसलिए हे जीव ! प्रमुदित हो !! प्रमुदित हो !! (८८८)



स्वरूप प्राप्तिकी भावना-रुचि जिसे हो, उसे स्वानुभवके लिए निज अवलोकन द्वारा, भेदज्ञान (प्रयोगात्मक) करना चाहिए।

भेदज्ञान है सो स्वरूपके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेकी प्रक्रिया (Process) है। विचार, धारणा वह अनुभव होनेकी प्रक्रिया नहीं है। इसलिए साधनकी भूल नहीं होनी चाहिए। कल्पना नहीं होनी चाहिए। - यह अनुभवी महात्माओंका वचन है। (८८९)



प्रश्न :- स्वरूपमहिमा कैसे आये ?

उत्तर :- आत्मामें अनन्त सुख और सुधामय शांति अनन्त- अनन्त भरी है। इससे आत्माकी महिमा है। महिमा होनेका यह मुख्य कारण है। इसीलिए स्वरूपके अनुभवसे जो महिमागम्य होता है, वह अन्यथा नहीं होता। महिमा विचारका विषय नहीं है, परन्तु वेदनका विषय है। इसी वजहसे श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यदेवने कहा है, कि 'आत्मानुभव 'गम्य' एक महिमा' (स. कलश-१२) अर्थात् स्वरूपके सुखानुभवसे जो महिमा आती है, वह अद्वितीय होती है। यह सुखरस -

आत्मरस परिणतिको उत्पन्न करता है। तब जगत तृणवत् हो जाता है। (८९०)

रागसे भिन्न ज्ञान है, ऐसा समझमें आ जाये और वैसा विकल्प / विचार होनेसे कोई कार्यसिद्धि / अनुभव नहीं होता। परन्तु राग और ज्ञानके भिन्न-भिन्न अनुभवको अवलोकनमें लेकर अपना अस्तित्व जो ज्ञानमें है, उसे मैं पनेसे ग्रहण - करनेका प्रयास होना चाहिए। मध्यस्थ होकर रागमें 'मैं-पने'के अध्यासको देखते ही वह भूल मिटती है। 'भूल दिखे वहाँ भूल नहीं रहती' - यह ज्ञानकी वास्तविकता है। 'जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ मैं' - इस अंतर अभ्यास द्वारा, ज्ञानकी स्वपनेसे मुख्यता होती है और ज्ञानानुभव / ज्ञानवेदनसे आत्मलक्ष होता है। आत्मलक्षी ज्ञान यथार्थरूपसे - वास्तविकरूपसे रागको भिन्न करता है, अनुभव करके। परलक्षीज्ञानमें रागका भिन्न अनुभव करनेकी ताकत नहीं है। (८९१)



शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय एक निज परम, ध्रुव स्वभाव है, और पर्यायार्थिकनयका विषय अनेक भेद तथा शुद्धाशुद्ध पर्यायें हैं। इस प्रकार दोनों नयके विषय (भिन्न-भिन्न और कथंचित्) विरुद्ध होने पर भी, उद्देश्यकी अपेक्षासे, एक स्वरूपलक्षसे प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए उनमें अविरोधता है। और यह नयज्ञानकी वास्तविकता है। परमार्थ प्राप्तिमें, यथास्थानमें दोनों उपकारी है। (८९२)



शास्त्रके शब्दका अर्थ करनेमें सिर्फ क्षयोपशमकी आवश्यकता है, जो कि लौकिक जनमें भी होता है। परन्तु उसका भाव समझकर उसकी खतौनी करना वह अलग विषय है, जो पात्रता आधारित है।

शास्त्र-अनुभवी, स्वरूपदृष्टिवान महत् पुरुषों द्वारा रचित हैं। अतः उसके अर्थकी यथार्थ खतौनी, स्वरूपदृष्टि प्राप्त धर्मात्मा ही कर सकते हैं, अन्य नहीं। शब्दार्थका महत्त्व नहीं है, खतौनीका महत्त्व है।

सर्वस्वरूपसे उपादेय शुद्धात्माकी दृष्टिपूर्वक प्रवर्तता ज्ञान, यथार्थरूपसे खतौनी करता है, कर सकता है। रागकी उपादेयतावाला जीव खतौनीमें भूल करता है। (८९३)



स्पष्ट अनुभवांशसे, अभेदता, निर्विकल्पता, प्रत्यक्षता, स्वसन्मुखतामें आये (भास्यमान हुए) बिना, स्वभावकी अभेदता भी एक भेदरूप कल्पनामें आती है। भेदबुद्धिमें खड़े जीवको ऐसा सहज होता है, अतः उस प्रकारसे स्वरूप-निश्चय करना योग्य नहीं है, वैसी परलक्षी ज्ञानकी, तत्त्व अभ्यासकी प्रवृत्तिमें निर्विकल्पता और प्रत्यक्षता तो वास्तवमें ज्ञानमें आती ही नहीं, क्योंकि

वह वेदनका विषय है (विचारका विषय नहीं है।) अतः उस विषयमें तो जीव प्रवेश होनेके पहले बिलकुल अँधेरेमें ही खड़ा है, फिर भी अभेदकी कल्पनामें यदि यथार्थता लगे तो गृहीत मिथ्यात्वमें आकर, मिथ्यात्व दृढ़ करता है। इसीलिए सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेकी शिक्षा दी गई है। उसमें बहुत गंभीरता और ज्ञानियोंकी करुणा-अनुग्रह समाविष्ट है। (८९४)



जैसे देहकी गंभीर बिमारी होती है तो, मनुष्य शीघ्र ही कुशल डॉक्टरके पास जाकर, डॉक्टरकी संपूर्ण ताबेदारीका स्वीकार करके वर्तता है। वैसे ही जिस आत्मार्थी जीवको भवरोगकी गंभीरता भासित होती है, वह सत्पुरुषकी आज्ञारुचि पूर्ण भक्तिसे उपासना करता है। यदि ज़रा सा भी स्वच्छंद या निजमतके आग्रहका सेवन नहीं करता हो, तो उसे आज्ञारुचिरूप समकित जानने योग्य है। यह प्रकार सत्पुरुषकी पहचानपूर्वक बहुमान द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिए वहाँसे आत्मार्थ समझमें आता है, और स्वरूपकी पहचान - स्पष्ट अनुभवांशसे होकर, परमार्थ सम्यक्त्वकी समीपता होती है। मार्गप्राप्तिका यह क्रम अनन्त ज्ञानियों द्वारा अनुभव पूर्णतापूर्वक विहित है। इसलिए मुमुक्षुजीवको निःसंदेह होकर उसका सेवन करने योग्य है।

(८९५)



ज्ञान स्वयंका अवलोकन करे अर्थात् स्वयंके अनुभव पर उपयोग देवे, कि जिसके कारण परप्रवेशभाव मिथ्या लगे, - पर / रागके वेदनरूप अध्यास / भूल भासित हो तो भूल छूटे, अनुभव सम्बन्धी भूल मिटे। सच्ची समझ इस प्रकारसे होनी चाहिए।

स्वरूप-निश्चयके लिए स्वभावकी खोजके उद्देश्यपूर्वक अवलोकनका प्रयोग-अभ्यास होना आवश्यक है।

सूक्ष्म अनुभवदृष्टिपूर्वक ज्ञानसामान्यके अवलोकनमें प्रसिद्ध / प्रगट स्वसंवेदन द्वारा ज्ञानस्वभाव लक्षमें आता है, स्वभावकी निर्विकल्पता, प्रत्यक्षता, निर्विकारता आदि भासित होते हैं। अनन्त सुखादि अनन्त सामर्थ्यके अस्तित्व ग्रहणसे स्वरूप महिमा उमड़ पड़ती है, अत्यंत आत्मरसको यहाँ सुधारसकी संज्ञा मिलती है। तदुपरांत स्वसन्मुखी पुरुषार्थ शुरू होता है - यह स्वरूप निश्चयकी विधि और यथार्थ परिणामन है। स्वरूप निश्चय होनेके पश्चात् - सर्व परिणाम स्वरूपलक्षपूर्वक ही होते हैं। परिणामोंमें शुभाशुभ भावोंका महत्त्व नहीं है, परन्तु लक्ष किसके ऊपर है ? तदनुसार आराधना-विराधनाका आधार है। स्वानुभव, स्वरूपके उक्त निश्चयके साथ प्रतिबद्ध है।

(८९६)



फरवरी - १९९२

सजीवनमूर्ति - ऐसे देव-शास्त्र-गुरु और सत्पुरुषमें मुमुक्षुजीवके लिए संसार छेद - परिभ्रमणका नाश - धर्मप्राप्तिका निमित्तत्व एक सरीखा है। अतः मुमुक्षु ज्ञानी / गुरुकी भक्ति परमात्मावत् करता है। जिसे संसारसमुद्रसे डूबनेसे बचनेकी इच्छा हो, उसे वह साम्यता समझमें आती है। दूसरे उनके उपादानके अंतरको मुख्य करते हैं, उनको उपरोक्त निमित्तत्व समझमें नहीं आया होनेसे, वे लोग भक्ति-शून्य होकर स्वच्छंदमें आ जाते हैं। परन्तु जिसे निमित्तत्व (भी) समझमें नहीं आया और (उसका) विवेक भी उत्पन्न नहीं हुआ (स्थूल विषयमें भी), तो उसे सूक्ष्म उपादानकी समझ और विवेक तो होवे ही कहाँसे ? (८९७)



विकल्पमें - भावमें दोष होता है, तब मुमुक्षुजीवको उसका विचार आता है, और वैचारिक भूमिकामें उसका निषेध भी आता है, परन्तु बार-बार वही दोषका पुनरावर्तन होता है, अथवा ऐसे निषेधभावका विचारबल नहिवत् होनेसे, वह भाव चाहते हुए भी टिकता नहीं, क्योंकि दोषभावके साथ विपरीत प्रयोगका बल प्रवर्तता है, उसमें विपर्यासका बल बहुत-विशेष है, जिसके आगे विचारबलका कोई सफलपना नहीं हो सकता। अतः विपरीत प्रयोगबलके सामने अविपरीत प्रयोगबल ही कार्यकारी होता है, जो कषायरसको तोड़नेके लिए समर्थ है। तात्पर्य यह है कि, चलते हुए परिणमनका अवलोकनरूप प्रयोग होनेसे दर्शनमोह और कषायका अनुभाग टूटता है। चलते हुए उलटे प्रयोगका घातक सुलटा प्रयोग ही है, विचार नहीं। सुलटे प्रयोगका बल अवश्य सफल होता है। (८९८)



विराधनाके परिणाम अधोगतिका कारण है। (विराधक) जीव अनन्त दुःख भोगता है। वह करुणाके पात्र है, परन्तु द्वेषके पात्र नहीं। स्वभावकी मुख्यतासे वह भी भगवान है, यह विस्मरण करने योग्य नहीं है - यह महापुरुषोंका हृदय है अथवा महानता और विशालता है। मुमुक्षुजीवको उसका अनुसरण कर्त्तव्य है। द्वेषभावसे अनुकम्पाका नाश होता है, कषाय तीव्र होनेसे नुकसान होता है। (८९९)



स्वानुभव मति-श्रुतज्ञानमें मन द्वारा होता है, वह कथन आगम पद्धतिका है, अध्यात्ममें तो ज्ञानमें मति-श्रुतकी उपाधिरूप भेदका निषेध है। क्योंकि अनुभवमें ज्ञानका भेद हो ही नहीं सकता - ऐसा अभेदका अनुभव होता है। इसीलिए मति-श्रुतकी परोक्षता अनुभवको लागू नहीं होती। ज्ञान तो स्वरूपसे प्रत्यक्ष ही है, ऐसा जानकर सर्व प्रकारके भेदके पूर्वग्रहका त्याग

करने योग्य है। पुनः अंतर्मुख परिणमनमें अनन्त सर्व गुण स्वरूपमें एकाग्रतापूर्वक व्याप्य-व्यापक होकर प्रवृत्ति करते हैं। उनको अन्य कोई अवलंबन नहीं है। (९००)



सहजता दो प्रकारसे है, स्वाभाविक और अस्वाभाविक। जिस प्रकारके शुभाशुभ परिणाम अनेकवार होते हैं, उससे जीव उसका आदी हो जाता है, तब जीवको वैसे परिणाम सहज हो रहे हैं, ऐसा लगता है। परन्तु दोष जीवका स्वभाव नहीं होनेसे, वह वास्तवमें सहजता नहीं है, बल्कि कृत्रिमता है। जब कि निर्दोषता जीवका सहज स्वभाव होनेसे, पूर्णताके लक्षसे सहजताकी शुरुआत होती है और स्वरूपलक्ष होते ही, सहज परिणति और सहज उपयोग होता है। सहजता होती है, वहाँ थकान नहीं लगती, कृत्रिमता होती है, वहाँ थकान लगती है। ज्ञानीका जीवन - परिणमन सहज होता है। ज्ञानी कृत्रिमताके निषेधक है। कृत्रिमतासे लोकसंज्ञाका आविर्भाव होता है अथवा पुष्टि होती है, उससे कोई गुण नहीं होता।

(९०१)



सत्के सच्चे जिज्ञासुको पूर्वग्रह छूट जाता है। मिथ्या आग्रहरूप पूर्वग्रह पात्रताका दुश्मन है। इसी वजहसे आत्मार्थी कभी मताग्रही नहीं होते। जिसको सिर्फ आत्मा ही चाहिए, उसको अनात्माका - दोषका आग्रह-पक्ष कैसे हो सकता है ?

जो जीव पूर्वग्रह / मिथ्या आग्रह नहीं छोड़ते हैं, वे वास्तवमें जिज्ञासु नहीं है। इसलिए प्रथम तो वे जिज्ञासामें आये, यही कर्तव्य है। वैसे जीवको सीधा विधि-निषेधसे उपदेश या आदेश देना योग्य नहीं है। ऐसा करनेसे बहुभाग विपरीत परिणाम आता है। (९०२)



सनातन सन्मार्गके प्रवर्तक और प्रभावक महात्माओंने हमेशा निस्पृही एवं निरपेक्षवृत्तिसे प्रवर्तन किया है। उसमें जितनी कसर रही, उतना शासनको नुकसान हुआ है। जिन्हें कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है, वैसे ज्ञानी धर्मात्माको स्पृहा या अपेक्षा कैसे हो सकती है ? सिर्फ निष्कारण कारुण्य - सहज वृत्तिसे उनका प्रभावना उदय होता है। अंतर आराधनाकी मुख्यतापूर्वक वह भी गौण है, यह उनकी विशेषता है। (९०३)



विधिका विषय धारणाज्ञानमें नहीं आ सकता, क्योंकि वह अनुभवज्ञानका विषय है। इसलिए परलक्षी ज्ञानवाले जीव उसे कहनेमें असमर्थ है, या सुनकर ग्रहण करनेमें असमर्थ है।

अनुभवी ज्ञानी धर्मात्माकी वाणीमें स्वरूप प्राप्तिकी विधिका विषय कथंचित् वचनगोचर होता

है, जो कि उत्कृष्ट पात्र मुमुक्षुके लक्षमें आता है। अतः उसे सिर्फ धारणाका विषय नहीं बनाकर, प्रयोग करके इसकी सिद्धि करता है। परलक्षी धारणामें उसका ग्रहण अशक्य होनेसे, प्रयोगमें लगनेकी अर्थात् अनुभवसे प्रमाण करनेकी श्रीगुरुकी शिक्षा-आज्ञा है। जो जीव प्रयोग पद्धतिमें ही नहीं आता, उसे विधिका विषय कभी समझमें ही नहीं आता, भले ही ज्ञानका उघाड़ बहुत हो, फिर भी वह इस परम प्रयोजनभूत रहस्यसे अनजान रहता है। (९०४)



देहकी पीड़ा आदिका दुःख वेदन - अनुभवका विषय है, सिर्फ विचारका विषय नहीं, तो फिर उसके निवारणके लिए, सुख या आत्माका विचार करने मात्रसे वह दुःख मिट जाये ऐसा कैसे बने ? उसके लिए तो सुख स्वभावका परिणमन होना चाहिए। किसी एक विचारको विरुद्ध विचारसे बंद किया जा सकता है, परन्तु वेदनकी बलवत्तरता होनेसे, उसे सिर्फ विचारसे रोक सके या बंद कर सके, ऐसा नहीं हो सकता। दुःखका वेदन सुखके वेदनसे ही मिटाया जा सकता है, सुख स्वभावका ग्रहण होनेसे, कल्पना मात्रसे उत्पन्न हुआ दुःख, कल्पना छूट जानेसे मिट जाता है। अतः ज्ञायकका विकल्प या चिंतन दुःखका नाश करनेके लिए असमर्थ है। सुखका वेदन ही दुःखका उपाय है। (९०५)



ज्ञानसामान्यके आविर्भावपूर्वक ज्ञानवेदनमें स्वपने - स्वसंवेदनभावमें रहना इष्ट है, अन्यथा संस्कार नयसे, ज्ञेयपदार्थके संस्कार ग्रहण होना अनिवार्य होनेसे दुःख-आपत्ति भोगनी ही पड़ेगी - यह समझते हुए भी, और ऐसा चाहते हुए भी, जबतक उदयसे भिन्नताका अनुभव करके उदासीनता नहीं होती या नहीं आती, तबतक उक्त समझ और भावना सार्थक नहीं हो सकती, यानी कि वह समझ और भावना सिर्फ ऊपर-ऊपरकी ही होती है। इसलिए समझते हुए और भावना होने पर भी क्यों स्वकार्य नहीं हो रहा है ? वैसा असमाधान वर्तता है। उसके लक्षमें, उदयमें चल रही अपेक्षावृत्तिके प्रति जागृति नहीं है और वैसा खयाल भी नहीं है। (९०६)



देहादिमें और रागादिमें सुखबुद्धि, ममत्व और कर्तृत्व - ये मिथ्यात्व और अज्ञानके मुख्य लक्षण हैं। जो आत्मभान होने पर ही टलते हैं। (९०७)



विकल्पकी सत्तामें आत्माकी सत्ता नहीं है - ऐसा अनुभव (भिन्नसत्ताका) जिन्हें वर्तता है, वैसे ज्ञानीपुरुषको विकल्प मिटानेकी मिथ्या चिंता नहीं होती। विकल्पसे भिन्नता सहज रहती

होनेसे - उस सहज विकल्पके नाशका उपाय खयालमें होनेसे, असमाधान भी नहीं होता। विकल्प मिट नहीं रहा है, ऐसा असमाधान विकल्पके एकत्वके कारण रहता है; (अज्ञानतामें)। (९०८)



सर्व धर्मात्माएं एक ही परमतत्त्वकी महिमा करते हैं, और उस परमपदको एक ही विधिसे प्राप्त करते हैं, इसलिए सर्व एक ही बात करते हैं। फिर भी किसीको अमुक कथनकी रीत-शैली रसकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत होती है, इसलिए उसकी प्रशंसा करता है। परन्तु कोई धर्मात्माकी शैली बराबर नहीं है, ऐसा कभी नहीं लगना चाहिए। फिर भी ऐसा कहीं पर लगे, तो वह यथार्थ नहीं है। उसमें भाषाका मोह है। यदि भावकी समझ हो तो भावके आकर्षणमें भाषाकी मुख्यता नहीं होती। भाषाका राग - वह पुद्गलका राग है। जो द्वेष सहित होता है - यानी कि किसी भी धर्मात्माकी शैलीके प्रति अरुचि होना, वह महा अपराध है। उसे कोई शैली अच्छी लगती हो, तो भी उसमें यथार्थता नहीं है। (९०९)



परसे शून्य होनेसे, परमेंसे सुख या कुछ और, खुदको लेना तो है नहीं, अतः परकी चिंतवना भी व्यर्थ ही है। स्वयं अनंत सुखसे भरपूर होनेसे, स्वयं ही सुखधाम है। दुःख - आकुलतासे रहित होनेके लिए, संक्षेपमें इस परमार्थका सेवन कर्त्तव्य है। (९१०)



साधना मात्र बुद्धि / विचारसे साध्य नहीं है। यद्यपि उसका मूल 'अंतरकी भावना'में रहा है। फिर भी वास्तवमें वह प्रयत्न साध्य है। अंतरंग भावनाके बगैर जीव विचारमें अटकता है अथवा विचार द्वारा स्वरूपकी प्राप्ति करना चाहता है, परन्तु वैसा होना अशक्य है। अंतरकी भावना / रुचि जीवको प्रयोग - प्रयत्नमें लगाती है। तथा प्रयत्नवंत जीवको प्रयत्नके कालमें आराधना कैसे करनी ? उसका प्रयोग (- विधि) समझमें आती है। इसके सिवा आराधनाकी रीत समझनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। फिर भी अन्य उपाय करनेवाला जीव विधिकी भूल करता है। अर्थात् कल्पित उपाय करके गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाता है। और सच्ची-वास्तविक रीतिसे दूर हो जाता है। ऐसी भूल ऊपर-ऊपरकी भावनावाले जीवको होना संभवित है। (९११)



श्रद्धा और ज्ञानके बीच अत्यंत मैत्री है। अर्थात् घनिष्ट निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथा :
* ज्यों-ज्यों ज्ञानमें भावभासन होता जाता है, त्यों-त्यों दर्शनमोह शिथिल होता जाता है,

अथवा दर्शनमोहका अनुभाग घटता जाता है।

* दर्शनमोह मंद होनेसे ज्ञानमें निर्मलता आती है, और निजस्वरूप अवभासित होवे, वैसी क्षमता प्राप्त होती है।

* स्वानुभवमें अनुभवमें (ज्ञानमें) आये हुए स्वरूपकी प्रतीति होती है कि, 'मैं ऐसा ही हूँ।'

* अपने द्रव्य-स्वरूपमें दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है, इसके सिवा ज्ञानको प्रमाणता प्राप्त नहीं होती, भले ही अंगपूर्वका ज्ञान हो तो भी।

- ऐसा होनेसे कभी ज्ञानकी मुख्यतापूर्वक, तो कभी श्रद्धाकी मुख्यतापूर्वक वचनप्रयोग होता है। इसमें वस्तुस्वरूपके ज्ञाताको संदेह या भ्रम नहीं होता। इतना ही नहीं दोमें से एकको छोड़कर, दूसरेका पक्ष या एकांत करने योग्य नहीं है। अपने-अपने स्थानमें सभीका मूल्य समझने योग्य है। पुरुषार्थकी दिशा सम्यक् होनेमें श्रद्धा-ज्ञान कारण है, और इसीलिए स्वरूप एकाग्रतारूप चरित्र प्रगट होता है।

* संसार अवस्थामें पररुचिसे ज्ञान-विवेक निर्बल होकर, आवरित होता है, स्थूल हो जाता है।

(९१२)



मार्च - १९९२

सिर्फ विचार करते रहनेसे प्रयोग करनेकी समझ नहीं आती। परन्तु अवलोकनसे प्रयोग समझमें आता है, क्योंकि परिणमनमें जो उलटा प्रयोग चल रहा है, वह अवलोकनसे समझमें आता है, और सुलटा प्रयोग करनेकी सूझ इससे आती है। पुनः सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वभाव विचाररूप स्थूल ज्ञानमें ग्रहण नहीं होता। अवलोकनके अभ्याससे ही स्वभावका भासन हो सकता है, इसलिए अवलोकन प्रयोगका अंग है, उसमें ज्ञानकी प्रयोजनभूत रूपसे सूक्ष्मता बढ़ती जाती है।

(९१३)



संप्रदाय (पद्धतिसे) अनुसार मूलमार्गकी प्रवर्तना करनेसे काफी लोगोंको परमसत्य सुनने मिलता है, परन्तु मार्गकी रचनाको सांप्रदायिक स्वरूप देना योग्य / यथार्थ नहीं है। ऐसा करनेमें विकृति पैदा होती है, बहुभाग जीव मतके मंडन-खंडनमें लग जाते हैं।

श्री जिनके मत अनुसार आध्यात्मिक रीतिसे, मार्ग कोई-कोई वीरल जीवोंको ग्रहण होता है, उपकारी होता है। अतः मार्ग प्रवर्तनकी नीति-रीतिका निर्णय अत्यंत विवेकपूर्वक करने योग्य है। धर्मात्माएं प्रायः धर्मकी प्रवृत्ति करनेमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर चलते हैं अथवा

गुप्त रहते हैं। स्वधर्मकी मुख्यता होनेसे उसमें अविवेक नहीं होता। संप्रदायमेंसे आये हुए जीवोंमेंसे पात्रतावान जीवको प्रोत्साहन देनेसे नीतिकी रक्षा होती है। मूल सिद्धांतकी रक्षा होने पर ही आत्महित होता है, ऐसी कार्यपद्धतिका आयोजन संप्रदायके लोगोंके बीच रहकर करने जाये तो उसमें अनेक प्रकारसे रूढ़िवादियों द्वारा अवरोध होनेके प्रसंग खड़े होते हैं। परिणामतः शांतिके रास्ते पर चलनेवाला सामाजिक प्रवृत्तियोंसे दूर हो जाता है, कोई निडर और हिम्मतवान पुरुष क्रांति फैलाकर, अध्यात्ममार्गका प्रचार कर सकता है, वहाँ पुण्य और पवित्रताका सुमेल होना जरूरी है। (९१४)



मुमुक्षुजीवका जीवन ऐसा होना चाहिए कि, उसके सहवास / समागम द्वारा अन्य मुमुक्षुके भावमें - अंतरंगमें निर्मलता हो या निर्मलतामें वृद्धि हो। - यह प्रकार स्व-पर हितकारी है। सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी यह शिक्षा परम आदर करने योग्य है। ऐसा होनेमें कृत्रिमता नहीं हो, यह लक्षमें रखने योग्य है। (९१५)



वर्तमानमें धार्मिकक्षेत्रमें देव, गुरु, शास्त्रकी महिमा जीव करते हैं, जो प्रायः ओघसंज्ञासे होती है। (जिसे) आत्मकल्याणकी सच्ची भावना होती है, वह तो प्रत्यक्ष सत्पुरुषको ही खोजता है।

ओघसंज्ञावानको सत्पुरुषका - उनकी विद्यमानताका महत्त्व लक्षमें नहीं आता है। इतना ही नहीं, उस विषयमें समझानेवाले मिलने पर भी लक्ष नहीं जाता है, वहाँ ओघसंज्ञा, लोकसंज्ञा और असत्संगके कारण दर्शनमोहकी बलवत्तरता समझने योग्य है। आत्मार्थी जीवको वैसा नहीं होता।

धर्मप्रवृत्ति होते हुए भी आत्मार्थीता नहीं होनेसे ही, प्रत्यक्ष सत्पुरुषके विषयमें खोज करने जितना भी लक्ष नहीं जाता और परिणामतः जीव स्वच्छंदपूर्वक प्रवृत्ति करता है। जिसके कारण दर्शनमोह बढ़ जानेसे कल्याणके बजाय अकल्याण होता है। (९१६)



ज्ञान (मोक्षमार्गमें) श्रद्धा अनुसार स्वरूपकी आराधना करता है, वह ज्ञानका मुख्य कर्तव्य है। परन्तु मुमुक्षुकी भूमिकामें सत्पात्रता आये बिना, अनादि विपरीत श्रद्धा स्वरूप सन्मुख नहीं होती। यह ज्ञान, विवेककी भूमिकामें, आचरण, पुरुषार्थ, इत्यादि अनेक गुणोंके कार्योंको और कार्य-पद्धतिको समझकर, विवेक (अंतर-बाह्य प्रवृत्ति सम्बन्धित) करता है, उसमें अभिप्राय श्रद्धाके साथ रहता है, फिर भी आचरणके क्रममें उत्सर्ग-अपवादके विवेकका स्वीकार करता है, कि

जिससे वैसा अनेकांतिक परिणमनका झुकाव भी सम्यक् एकांत ऐसे निजपदकी प्राप्तिमें हेतुभूत हो, इस प्रकार ज्ञान, श्रद्धा और चारित्रके विभिन्न परिणमन स्वभावके बीच संतुलन बनाये रखनेका कार्य, ज्ञान द्वारा होता है, जिसके फलस्वरूप सम्यक् प्रकारसे आत्महित सधता है - इस अपेक्षासे मार्गकी दुर्लभता समझमें आती है, फिर भी प्राप्तिका एकमात्र लक्ष हो उसके लिए सुलभ भी है। (९१७)



दर्शनमोह मंद करते हुए पात्र मुमुक्षुके योग्य चारित्रमोह - कषाय उपशांत होवे, यह यथार्थ कार्यपद्धति है, परन्तु दर्शनमोहके अनुभागको मंद करनेके प्रति दुर्लक्षका सेवन करके, जो कषाय मंद करते हैं, वे कषायका उपशमन नहीं करते, परन्तु दमन करते हैं, जो कि यथार्थ कार्यपद्धति नहीं है। अतः तीव्र कषायसे बचना चाहता हो, उस मुमुक्षुको उपरोक्त कार्यपद्धतिका विचार कर्तव्य है अथवा लक्षमें लेने योग्य है। प्रायः इस प्रकारसे जो अनजान हैं, वैसे जीव कृत्रिमतासे - कर्ताभावसे कषायकी मंदता, दमनपूर्वक व्यवहार प्रवृत्ति द्वारा करते हैं, जिससे दर्शनमोह तीव्र होता है - यह विधिका विपर्यास है। एक भी विपर्यास रहे तबतक सम्यक्मार्ग प्रगट नहीं होता। ऐसा ज्ञानीपुरुषका अभिमत है। (९१८)



निजावलोकनरूप प्रयोगका, परलक्ष मिटानेके लिए और स्वलक्ष प्राप्त होनेके हेतुसे अनुभवी महात्माओंने बोध दिया है। उसमें प्रगट भावोंके अवलोकनके अभ्यास द्वारा, स्वभावके अवलोकन तक ले जानेका आशय है। मुमुक्षुजीवको इस प्रकारसे मार्ग तक पहुँचनेका प्रयास कर्तव्य है। (९१९)



यथार्थ समझ यदि आत्मकल्याणके हेतुसे हो, तो वह दर्शनमोहके और चारित्रमोहके अनुभागको तोड़ती है। इस प्रकार ज्ञान प्रारंभसे ही श्रद्धा और चारित्रको घड़नेमें साधन है। बाह्यसाधनका उपदेश अनेकविध होने पर भी उपरोक्त अंतरंग साधन - ज्ञान गौण नहीं होना चाहिए। ज्ञानीके मार्गको छोड़कर सर्वत्र अन्यप्रकारसे चारित्रमोह मंद करनेका प्रयत्न होता है, जो यथार्थ नहीं है। (९२०)



मुमुक्षुकी भूमिकासे लेकर पूर्णता पर्यंत आरंभ और परिग्रह प्रतिबंधक हैं, ऐसा लक्ष रहना चाहिए। यद्यपि 'पूर्णताके लक्षसे शुरुआत' करनेवाले जीवको, यह लक्ष सहज होता ही है। फिर भी महात्माओंने इसके सम्बन्धित जागृतिका जगह-जगह प्रतिबोध किया है, जो यथार्थ

है। क्योंकि उस बाबतमें ज़रा भी अगंभीर न रहनेकी उसमें सूचना है।

आरंभ-परिग्रहके रसमें अत्यंत अपेक्षावृत्तिका प्रागट्य है। जो 'उपेक्षा करने योग्य' संबंधित विपर्यास है। इसकी गंभीरता ज्ञानीपुरुषको भास्यमान होनेसे उसका निषेध जगह-जगह किया है। और वह वास्तवमें हितोपदेश है - ऐसा जानकर उसका अंगीकार करने योग्य है।

(९२१)



पूर्व प्रारब्धवशात् ज्ञानी धर्मात्मा - निवृत्ति चाहते होने पर भी, प्रवृत्तिमें रहकर आराधना / पुरुषार्थ करते हैं। यद्यपि (व्यवहारसे) सांसारिक प्रवृत्ति आराधनाको अनुकूल नहीं है, बाह्य निवृत्ति ही निवृत्त स्वभावकी प्राप्तिके लिए, निवृत्तिके लिए अनुकूल है, फिर भी किसीका मुख्य अपराध होता दिखे अथवा उपकारके प्रति कृतघ्नीता होती हो तो वहाँ हठपूर्वक त्याग कर्तव्य नहीं है। (जहाँ मुनिदशा-योग्य वीतरागता / पुरुषार्थ हो वहाँ होनेवाले त्यागको हठ गिनना नहीं चाहिए) परन्तु अपनी सिर्फ बाह्य अनुकूलताके खातिर अन्यकी प्रतिकूलताका दुर्लक्ष या अवहेलना करके निवृत्तिमें रहना वह तो व्यवहारसे भी न्यायसंपन्न नहीं है। श्री जिनके पवित्र और निर्दोष मार्गके साथ सुसंगत भी नहीं है। इसलिए प्रवृत्तिकी प्रतिकूलतामें रहकर ज्ञानी (पुरुषार्थ) आराधना बढ़ाते हैं, महापुरुषका चित्त-चरित्र इतना उदात्त होता है, जो वंदनीय है। ज्ञानीपुरुषको प्रवृत्तिमें देखकर शंका या भ्रांतिमें पड़ने जैसा नहीं है।

(९२२)



संसारमें निवृत्तिका उदय हो तो संसारकी पापरूप प्रवृत्तिसे बचा जा सकता है, इसलिए निवृत्ति इच्छनीय है, फिर भी ज्ञानीको भी प्रारब्ध अधीन प्रवृत्ति होती है, परन्तु वह अकर्ताभावसे, राग-द्वेष और अज्ञान रहित होनेसे, उसका कारण सिर्फ उदय गिनना चाहिए। जो प्रवृत्ति राग-द्वेष और अज्ञानयुक्त हो, वहाँ कर्ताबुद्धिसे होनेवाली प्रवृत्तिको 'संसार' गिनना चाहिए।

(९२३)



सर्व धर्मात्माओंका ऐसा अभिप्राय होता है, कि प्रथम निजस्वरूपमें लीन रहकर, निजसुखका उपभोग करना, फिर व्यवहार प्रभावना तो द्रव्य, क्षेत्र, काल अनुसार जैसा प्रारब्ध योग होता है, उस प्रकारका विकल्प सहज ही आता है और जो होने योग्य होता है वैसे सभी परिणाम अथवा कार्य परमें (अन्य जीव और पुद्गलमें) होते हैं। निमित्त होते हुए भी ज्ञानी उसके कर्ता नहीं होते, उन्हें परमें ममत्व नहीं है।

(९२४)



शाश्वत, अव्याबाध, परिपूर्ण सुखादि ऐश्वर्य संपन्न स्व-रूपका यथार्थ विश्वास आना ज़रूरी है। श्रीगुरुके वचन अनुसार इसके लिए प्रयास होना चाहिए। स्वरूपका भरोसा ही बीजज्ञान है। पुरुषार्थ उसके अवलंबनसे उपडता है। (९२५)



कृत्रिम पुरुषार्थ / प्रयासका अभिप्राय छोड़ने जैसा है। वैसे अभिप्रायमें विधिकी भूल है। यथार्थ ज्ञान द्वारा सहज पुरुषार्थका उत्थान होता है। अथवा ध्येयके प्रति यथायोग्य प्रकारके परिणाम सहज होने लगे (लगन, जागृति, दर्शनपरिषह इत्यादि), वह यथार्थताका लक्षण है। कृत्रिमताका अभिप्राय अयथार्थताका लक्षण है। इसलिए कृत्रिमता कर्तव्य नहीं है, तथा अनुमोदन करने योग्य भी नहीं है। (९२६)



पुरुषार्थका स्वरूप सहज उद्यमरूप है। स्वाभिमुख उद्यम सम्यक् संज्ञाको प्राप्त होता है। जिसका फल सुख है। कृत्रिम पुरुषार्थ आकुलता पैदा करता है। कृत्रिम पुरुषार्थके अभिप्रायमें कर्तृत्वका बंधन है, जो कि मुक्तिके भावसे विरुद्ध है। सहज पुरुषार्थ परिणामको अंतर्मुख करता है, जब कि कृत्रिमतामें सिर्फ बहिर्मुखता रहती है। (९२७)



प्रमाणज्ञान सामान्यतः वस्तुके बंधारणीय स्वरूपको प्रसिद्ध करता है, परन्तु उसका हेतु सिर्फ उतना ही नहीं है। प्रमाणज्ञान निश्चयका आश्रय होने पर प्रमाणताको प्राप्त होता है, इसलिए मुख्यतः उसका हेतु निश्चयको प्रकाशित करनेका है। - यह प्रमाणकी विशेषता है। यदि ऐसा नहीं हो तो वह (प्रमाणका) प्रमाणाभास है; ऐसा जानने योग्य है। प्रमाणके पक्षपाती नियमसे व्यवहाराभासी अथवा उभयाभासी होते हैं, क्योंकि वे प्रयोजनमें भूले हुए हैं।

(९२८)



कोई भी जीव प्रत्यक्ष आत्मज्ञानस्वरूप, सजीवनमूर्ति सत्पुरुष / आप्तपुरुषको पहचाने बिना, पहचानपूर्वक वचनकी प्रतीति, अपूर्व आज्ञारुचि और स्वच्छंदनिरोधरूपसे उनकी भक्ति होनेरूप योग्यता प्राप्त किये बिना, निजस्वरूपको अंतरंग लक्षणसे पहचान नहीं सकता, और स्वरूप निर्णयके बिना, स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। (९२९)



अप्रैल - १९९२

स्वपनेसे - 'ज्ञानमात्र' में 'मैं'पनेके वेदनकी सन्मुखतामें - जो निश्चय होता है, वह अपूर्व

आत्मरुचिको जगाता है। आत्मरुचि अनुसार पुरुषार्थ (वीर्य), सभी अनन्त गुणोंकी स्वरूप रचना करता है, उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनंद इत्यादि सर्व यथासंभव शुद्ध परिणमन करते हैं। अतः मुमुक्षुजीवको (मोक्षार्थीको) सर्वप्रथम, अपने स्व-रूपको लक्षमें लेना चाहिए; उस हेतुसे अनेक शास्त्रोंकी (मुख्यरूपसे) रचना हुई है।

स्वरूपज्ञानसे सर्व आत्मगुणोंका कार्य - 'मैं पूर्ण - कृतकृत्य हूँ' - ऐसी सहज भजना होने लगती है, इसलिए उसे करनेके विकल्पकी आवश्यकता नहीं लगती। इस प्रकारसे कर्तृत्वका नाश होता है, और कमजोरीके कारण होनेवाले राग / विकल्पका निषेध आता है। इन सभीका मूल स्व-रूपका दर्शन होना वह है। (९३०)



देहादि परसंयोगका सम्बन्ध राग द्वारा जीव करता है।

असंग-अपरिणामी स्वरूपके अज्ञानके कारण, जीव रागादिमें एकत्व करता है और रागकी मलिनतासे जीवको दुःख होता है। अतः विधिदर्शक / अनुभवी महा-पुरुषोंने सर्वप्रथम रागसे भेदज्ञान करवाया है। (समयसारजी संवर अधिकार) (९३१)



ज्ञान और सुख अविनाभावी है। सुख रहित ज्ञान, वह शुष्कज्ञान है। निश्चयकी प्रधानता यथार्थरूपसे होने पर सुख उत्पन्न होता है, अयथार्थरूपसे (भावभासन बिना) होती है तो शुष्कता पैदा होती है, यह नियम है। अतः ज्ञानी सदा सुखी है, उन्हें उपाधिमें भी समाधि है। क्योंकि वे निज सुखधामका निरंतर अनुभव करते हैं, इस प्रकार सुखकी परिणति द्वारा ज्ञानीका निश्चय होता है, और इसलिए वे शुष्कज्ञानीसे अलग पड़ते हैं। (९३२)



अपेक्षा = आशा, आकांक्षा।

अपेक्षासे कहना / जानना = अमुक दृष्टिकोण मुख्य करके जानना - कहना।

अपेक्षा = मर्यादा, सीमा, इस प्रकार अनेक अर्थ हैं, इसलिए :-

जहाँ जिस प्रकरणमें योग्य अर्थ हो, उसप्रकार अर्थघटन करने योग्य है। कोई भी शास्त्रवचन, आत्म हितार्थ कहा गया होनेसे आत्महितके लक्षसे ही विचार कर्तव्य है। ऐसा सर्व सत्पुरुषोंका अभिमत है। (९३३)



पात्रता प्राप्त करनेके लिए, मुमुक्षुजीवको सत्संगका सेवन करना वह सर्वोत्तम उपाय है। निर्दोष होनेके लक्षसे 'बोधभूमिका' में रहना (योग्य है), जिससे जो-जो दोष साधारण हो चुके

हो, उसको मिटाने सम्बन्धित जागृति आये। (९३४)



पूर्ण निर्दोषता वह हमारा आदर्श-ध्येय है। मंदिरजीमें, मनमंदिरमें (निर्धारसे) हमने उसकी स्थापना की। निर्दोष होनेकी प्रथम सीढ़ी अपने दोषकी कबूलात है, उसके सिवा निर्दोष परमात्माका भजन या दर्शन नहीं होता। निज निर्दोष परमस्वरूपके दर्शनार्थीको अपने दोषका परदा हटानेकी सूझ आती है। तब उसका दोष भले ही पूरापूरा गया नहीं हो, परन्तु वह मनसे दूषित-मलिन नहीं रहता। दंश छूटे तो दोष छूटे।

दोष देखनेवाला आदमी, स्वभावदृष्टि-आत्मदृष्टिको नहीं प्राप्त कर सकता। वह कौएकी शवको नोचनेकी रुचिकी माफिक दूसरोंके दोषोंको नोचता रहता है, जो तीव्र परलक्षका लक्षण है। दूसरोंको सुधारनेका दुराग्रह वह खुदका बड़ा अवगुण-दोष है। अन्य जीवके दोषके साथ खुदका कोई प्रयोजन नहीं होनेसे, उसका दुर्लक्ष कर्तव्य है। (९३५)



जीव निज शुद्धात्मस्वरूपका अनुभव करनेके लिए योग्य कब होता है ?

जब शरीर और रागादिमें अपनत्वकी विपरीत बुद्धिका त्याग करे या विपरीत बुद्धि छूट जाये तब अनुभवके योग्य होता है। एकत्वबुद्धिसे परमें अपनत्व होता है, जिसके कारण स्वरूपमें एकत्व नहीं हो सकता; नहीं कर सकते। जिस अवस्थाके रागका अपनेरूप अनुभव है, वह रागका एकत्व है, वहाँसे हटकर जो ज्ञान स्वरूपमें स्वयंका अनुभव करता है, वह ज्ञानी है।

(९३६)



आरंभ-परिग्रहके त्यागका, परिग्रहबुद्धि मिटानेके लिए अथवा उसका स्वामित्व छुड़ानेके लिए ज्ञानियोंने उपदेश दिया है। सिर्फ त्याग करनेके लिए त्यागका उपदेश नहीं किया है। परिग्रहका ममत्व अभिप्रायपूर्वक छूटनेसे आरंभ और आरंभपूर्वक आगे होनेवाले दोष पनपते नहीं हैं। आरंभ - परिग्रहके उदयमें भी नीरसता सहज रहनेका यह कारण है। (९३७)



उदयकी प्रवृत्तिमें प्रवृत्ति करते-करते भी निज हित-अहितका सतत सहज लक्ष रहे तो आत्मार्थीता है। आत्मार्थके लक्षपूर्वककी प्रवृत्ति, उदयभावके रसको तीव्र नहीं होने देती। मोहका अनुभाग घटनेकी यह प्रक्रिया है। ज्ञान / विवेकको बलवान और निर्मल होनेकी भी यही प्रक्रिया है। जिसे आत्मकल्याण करना ही है, उसे अवश्य उक्त प्रकार उत्पन्न होकर, आत्मकल्याण होता ही है।

अंतरमें निजहितके लक्षसे उत्पन्न जागृति, यथार्थ उदासीनता, वैराग्य और उपशम होनेका कारण बनती है, जो कि मुमुक्षुकी यथार्थ भूमिका है। यहाँ पर दर्शनमोहका रस घटता है।

(९३८)



‘चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोगः’ उपयोगकी ये परिभाषा स्वभावकी प्रधानतासे है। यानी कि स्वभावकी मुख्यता जिसमें है, ऐसे स्वभावलक्षी परिणामनमें, उपयोगको स्वभाव सदृश - स्वभाव अंश जानकर, रागादि विभावसे अंतरंगमें भिन्न करके भेदज्ञान करानेके आशयसे यह व्याख्या समझने योग्य है।

चैतन्य स्वभाव ‘प्रगट’ है। वह तद्अनुविधायी परिणामसे दिखता है, अर्थात् उपयोगमें चैतन्यका अनुविधायीपना (विधिपूर्वक अनुसरण करके परिणामन करनेवाला - यायी) प्रत्यक्ष दिखता है, धारावाही परिणामनमें स्वयंके एकत्वको - एकरूपताको उपयोग प्रगट करता है, प्रसिद्ध करता है।

अत्यंत गंभीर भाव व अनुभवकी गहराईमेंसे इस वचनमृतका अवतरण हुआ है। (९३९)



तत्त्व-श्रवण, वांचन और विचारके समय, उन भावोंके अनुभवका दृष्टिकोण मुख्य रखनेसे यथार्थ समझ होती है अथवा भावभासन होता है। अनुभवका दृष्टिकोण लागू करना चाहिए, जिससे परिणाममें अनुभवपद्धतिसे कार्य होगा। तत्त्वअभ्यासकी यही सच्ची रीत है। अन्यथा प्रकारसे तत्त्व-अभ्यास करनेसे गुण नहीं होता, परन्तु ‘मैं जानता हूँ’ - ऐसा प्रायः अभिमान हो जाता है।

(९४०)



मनुष्यको अशांति और तनाव रहते हैं उसका क्या कारण है ?

उसका कारण वस्तुस्थिति अथवा कार्यक्षेत्रकी मर्यादाका अज्ञान है। अज्ञान कभी आशीर्वादरूप हो ही नहीं सकता। धर्मके बहाने अज्ञानसे वृत्तियोंका दमन करवाया जाता है, परन्तु इससे आत्माकी शक्तिका घात होता है, और फिर भी वृत्तियों पर जय तो प्राप्त होता ही नहीं।

शांतिसे जीनेके लिए तो ज्ञानका प्रकाश चाहिए, उसके बिना वृत्ति-दमन तो सहज शांतिमय जीवनका नाश करके, मनुष्यको दंभी बना देता है। इससे, अच्छा नहीं हुआ जा सकता, परन्तु अच्छे होनेका दिखाव किया जाता है। अतः एक दूषण मिटाने जाये, तो वह तो नहीं मिटता, बल्कि उलटा दंभ नामका दूसरा दूषण जन्म ले लेता है।

(९४१)



प्रश्न :- पुरुषार्थका अंतर्मुख परिणमन होनेके लिए कैसी प्रक्रिया होनी चाहिए ?

उत्तर :- प्रगट ज्ञानवेदनके अनुभवांशसे, परमार्थ स्वभावकी प्रत्यक्षताके आधारसे - अवलंबनसे उत्पन्न प्रतीति द्वारा वारंवार सहज उग्रता आये - वेग बढ़े और विकल्प तथा परसन्मुखता शांत होकर स्वसंवेदनका आविर्भाव हो, उस प्रकारसे अंतर्मुख पुरुषार्थकी गति-विधि है। जो कि मोक्षमार्गका रहस्य है। (९४२)



आत्मस्वभावको - स्वयंको स्वरूप प्रत्यक्षरूपसे अवलोकनमें / भानेमें आते ही चैतन्य-वीर्यकी स्फुरण होती है। यह सिर्फ विचारसे सम्मत करनेका विषय नहीं है, परन्तु तथारूप प्रयत्न / प्रयोग द्वारा अनुभवमें लेकर, वारंवार उसका अभ्यास कर्तव्य है। आत्मवीर्य जागृत होनेका यह प्रयोग है। निज अवलोकनमें पुरुषार्थ तत्काल ही उत्पन्न होता है। इसलिए आत्महितमें एक क्षणकी भी देर लगे - ऐसा नहीं है। (९४३)



हेय-उपादेयता द्विविध है। व्यवहारसे और निश्चयसे। दोनोंमें ज्ञान और आचरणकी मुख्यता है। व्यवहारके कालमें विचाररूप ज्ञान और रागका मिश्रण है। यथास्थानमें वह होता है, इसलिए उसे विवेक भी कहा जाता है। उसकी तीक्ष्ण भूमिकासे, आगेकी भूमिकामें विचारसे आगे बढ़कर पुरुषार्थके झुकावकी उत्पत्तिपूर्वक, विधि-निषेध निर्विकल्पभावसे चलता है। (विचारके कालमें विधि-निषेध विकल्पभावसे चलता है।) यहाँ पुरुषार्थके झुकावमें स्व प्रतिका सहज खिँचाव और परसे हटनेकी वृत्ति (गौणतापूर्वक, उदासीनतापूर्वक) है, जिसकी प्रगाढ़ता होनेसे निर्विकल्प समाधिमें, निज परमात्मा साक्षात् उपादेय वर्तता है। अमृतरसका पान होता है, निर्द्वंद्व भावसे।

(९४४)



निजस्वरूपग्राही ज्ञानसे, 'ज्ञानमात्र'का - शुद्धस्वरूपके अनुभवसे - वेदनसे - रागादि विभावसे भिन्नता होती है, इसके सिवा रागादिसे भिन्न होनेका कोई उपाय नहीं है।

अज्ञान(दशा)में, क्रोधादिभाव ज्ञानमें (अपनेमें) होते हुए मालूम पड़ते हैं। अतः उन दोनोंका भिन्न-भिन्न अनुभव कठिन है, फिर भी अशक्य नहीं है। क्योंकि राग और ज्ञान हमेशा भिन्न ही रहे हैं, कभी एक हुए ही नहीं, होते भी नहीं। इसलिए निजस्वरूपग्राही ज्ञान-वेदनसे उसका भिन्न अनुभव होता है। (९४५)



मई - १९९२

मिथ्यात्वकी भूमिका ही ऐसी है कि कर्मका उदय प्राप्त होने पर जीव अशुद्ध परिणामसे परिणमन कर लेता है। यहाँ कर्मका उदय निरंतर चालू है, इसलिए प्रायः अशुद्धताको जीव छोड़ नहीं सकता और उदयमें अपनत्व करके दुःखी होता है।

ऐसी स्थितिमेंसे यदि जीव उदयसे भिन्न होकर, सुखी होनेके उपायमें जुड़ता है, तो शुद्ध स्वरूपका अनुभव करता हुआ, उदयमें रंजित नहीं होता। अतः शुद्ध स्वरूपके अनुभव हेतु पुरुषार्थ होना जरूरी है। जो कि मिथ्यात्वकी भूमिकामें उदयको अनुसरण करनेके झुकावसे विरुद्ध गतिमान होनेसे, जीवको अनउदयभावसे परिणमन कराता है और दुःख मुक्त करता है। ऐसे पुरुषार्थको धन्य है। (९४६)



‘ज्ञानमात्र’की अंतर सावधानी - उस रूप पुरुषार्थमें विकल्पबुद्धिका अभाव होकर स्वरूप सधता है। अर्थात् स्वरूपमें तन्मय हुआ जाता है।

विकल्पबुद्धि वह कल्पनाबुद्धि होनेसे ‘वस्तुमात्र’के अनुभवसे विरुद्ध है। अतः तत्त्वगवेषणा - निर्णयके प्रयत्न कालमें, भेद / युक्तिका सहारा लेनेमें, विकल्पबुद्धिका पोषण न हो जाये, इसकी जागृति आवश्यक है। (९४७)



मिथ्यागृहीत, मिथ्याआग्रहसे असमाधान रहता है। अनेकान्तवादरूप वाणीसे मिथ्या समझका नाश होकर वैचारिक समाधान होता है। अनेक भेदोंसे वैसा समाधान, असमाधानसे उत्पन्न अशांतिको दूर करता है। फिर भी सम्यक् एकांत ऐसे निजपदकी प्राप्तिमें - अनेक भेद अपेक्षाके विकल्पका अतिक्रान्त होना आवश्यक है। यही सर्वांग समाधानकी फलश्रुति है। अन्यथा अपेक्षाज्ञानका कोई साफल्य नहीं है। (९४८)



ज्ञान द्वारा परकी ओर तन्मयता रहनेसे, स्वयंको चुक जाता है; और परमें अपनत्व भासित होता है अथवा एकांत पर भासित होता है। परन्तु वही ज्ञान अगर अपनी ओर देखे तो ज्ञानमें निज (खुद) है - पर नहीं, ऐसा भासित होता है। ऐसी निज दृष्टि सुखकारी है। निजदृष्टि निजमें निज अस्तित्वका ग्रहण करती है। परमें निजका ग्रहण तो दुःखदायी है। (९४९)



द्रव्यश्रुतरूप शब्दसे आत्माका स्व-रूपमें भावभासन होने योग्य है। भावभासन होते ही

आत्मरस / ज्ञानरस सहज ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन होना चाहिए। जिसमें अनन्त सामर्थ्यका यानी कि स्वभावका अवलंबन आता है, जिसके कारण पूर्णता प्रगट हो जाती है। (९५०)



आत्महितके लक्षसे हेय - उपादेय जानने योग्य है। उस दृष्टिकोणमें राग-द्वेष मिटानेका हेतु होनेसे, राग-द्वेष वृद्धिगत नहीं होते, परन्तु शांत होते हैं।

यद्यपि हेय-उपादेयके अपेक्षित भंग-भेद बहुत हैं। परन्तु उसमें अंततः तो स्वयंका निर्विकल्प स्वरूप ही सर्वस्वरूपसे उपादेय है। अन्य समस्त हेय अर्थात् उपेक्षाका विषय है। और स्वरूप तो निर्विकल्प समाधिमें ही वास्तवमें उपादेय होता है। इस प्रकार हेय-उपादेयतासे निर्विकल्प निजरस पीकर अमर हुआ जाता है, तृप्त हुआ जाता है। (९५१)



'जनपद'का त्याग करनेकी शिक्षा सर्व महापुरुषोंने दी है, कि जिससे लोकसंज्ञासे बचा जा सके। ज्ञानीपुरुष उसे विकल्पवृद्धिका - चंचलताका कारण जानकर अलिप्त रहते हैं।

अलिप्त ऐसे ज्ञानी इसी वजहसे स्वरूपध्यान कर सकते हैं। मुमुक्षुजीवको किसी भी प्रकारसे 'जनपद' ग्रहण करनेसे दूर रहना - यह हितावह है। (९५२)



जितने रससे जीव उदयका वेदन करता है, उतना ही भेदज्ञानके प्रयोगको विघ्न है, ऐसा समझने योग्य है। अतः जिसे भेदज्ञानके प्रयोगमें सफलता अथवा सातत्य प्राप्त करना हो, उसे उदयरसको अवलोकन द्वारा तोड़ना चाहिए, तद्उपरांत पूर्णताके लक्षमें आना चाहिए। भेदज्ञान करनेकी इच्छा सफल नहीं होनेका क्या कारण ?

समाधान :- उदयप्रसंगमें अभेदभावसे परद्रव्यके प्रति रंजित परिणमन रहनेसे या करनेसे (इस विपरीत प्रयोगसे) भेदज्ञानका अविपरीत प्रयोग करनेकी शक्तिका घात होता है। अतः भेदज्ञानकी इच्छा सफल नहीं होती और अशांता वेदनीसे छूटना नहीं हो पाता; अनिवार्यरूपसे वेदना भोगनी ही पड़ती है। (९५३)



मुमुक्षुकी भूमिकामें प्रथम ही, सुविचारणामें, यथार्थ समझपूर्वक यानी कि आत्महितकी मुख्यतापूर्वक यथार्थ अभिप्राय घड़ना चाहिए, तभी विपरीत श्रद्धाका बल कम होगा।

अभिप्रायकी यथार्थता हुए बिना, विपरीत अभिनिवेशमें जीव वर्तता है, अतः सर्व (बाह्य) साधन बंधनरूप होते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मकार्योंमें अयोग्य अथवा विपरीत निर्णय लेनेमें

आ जाते हैं। अतः धार्मिक कार्योंमें यथार्थ निर्णय होनेके लिए, यथार्थ अभिप्राय होना - यह नीवका विषय है। अभिप्राय विरुद्ध परिणाम आत्महितकी भावनाको सफल नहीं होने देते। अतः आत्महितकी सफलताके लिए आत्महितका अभिप्राय प्रथम होना चाहिए - ऐसा लक्षमें लिये बिना प्रायः क्रम विपर्यास होता है। (९५४)



जो महाभाग्य आत्माके आनंद अमृतके आस्वादका अनुभव करता है, उस धर्म-जीवका अभिप्राय सहज स्वभावसे ऐसा हो जाता है, कि सर्व जीव इस निजानंदको प्राप्त हो ! उसके कारणको और कारणके कारणको भी अनवकाशरूपसे प्राप्त हो ! श्री तीर्थकरदेव इस सिद्धांतके साक्षात् मूर्तिमंत सबूत है। जिनशासन इस कारण विशेषसे प्रवर्तित है। यद्यपि मोक्षमार्गमें समस्त व्यवहार गौण ही है। तथापि बाह्यांश स्वस्थानमें सहजरूपसे जैसा है वैसा जानना जरूरी है। (९५५)



ज्ञानके परिणमनमें, अभिप्राय प्रधान है। तद्अनुसार योग्यता स्वयं हो जाती है। यह प्रक्रिया स्वभावगत है। दृष्टांतरूपसे धर्मप्राप्तिके अभिप्रायमें धर्मीके प्रति बहुमान - भक्ति होना सहज है तथा अधर्मका निषेध सहज है। अभिप्रायका विपर्यास सबसे बड़ा विपर्यास है, क्योंकि इससे मिथ्यात्व नहीं मिटता। आगमके अभ्यासीको भी कहीं कोई प्रयोजनभूत भूल हो जाती है, उसका कारण मूलमें अभिप्रायकी भूल रह गई होती है। अभिप्राय ('आत्महित' का) हुए बिना शास्त्रका पठन प्रायः अभिनिवेशरूप होता है। किसी भी मनुष्यके अभिप्रायको जाने बिना उसके शब्दोंका या प्रवृत्तिका सही मूल्यांकन नहीं हो सकता।

अभिप्रायपूर्वक किया गया दोष अक्षम्य है, वरना क्षम्य है।

अभिप्रायमें जैसे ही स्वभावकी अधिकता हुई, (पहचान होनेसे) कि अन्य पदार्थ प्रतिके विकल्प / परिणामका शांत होना सहज है, क्योंकि परकी अधिकता छूट जाती है। (९५६)



जो-जो बाह्यसाधनरूप निमित्त हैं, इसकी (सत्संग, शास्त्र अध्ययन) प्रवृत्ति करते हुए, तथा अंतरंग साधनरूप परिणामोंकी मुख्यता हो जानेसे, साधन अपने स्वस्थानमें साधनरूप नहीं रहता, परन्तु वह साध्यके स्थानमें आ जाता है, जिससे साध्य छूट जाता है - यह साधनका विपर्यास है। साध्यके लक्षसे साधन गौण रहना चाहिए। (९५७)



स्वानुभवके बिना, शास्त्रमें अनुभवकी गहराईकी बात खयालमें नहीं आती। उसकी गहराईके

विषयमें जिज्ञासा रहनी चाहिए, मुमुक्षु यदि वैसी जिज्ञासाको छोड़कर, सिर्फ अपेक्षाओंको समझ ले तो उसमें - धारणामें फँसना हो जाता है, इसके लिए जागृत रहना चाहिए। अतः अनुभवी महात्माओंके शास्त्र-प्रवचन, अनुभवकी गहराईमें जानेके लिए उपकारी जानकर, उस दृष्टिसे उसका अवगाहन करने योग्य है। पात्रता / योग्यता अनुसार गहराईमें जा सकते हैं।

(९५८)



‘वर्तमान परिणाम ऊपरकी दृष्टि झूठी है।’ (पू. सोगानीजी - ३५८)

‘वर्तमान परिणाम जैसा / जितना मैं’ - ऐसी श्रद्धा, वह झूठी श्रद्धा है, क्योंकि वास्तवमें खुद वैसा नहीं है, उतना ही नहीं है, क्षणिक नहीं है, अपूर्ण नहीं है।

सत्यदृष्टिसे खुद पूर्ण और कृतकृत्य त्रिकाल होनेसे, ‘करूँ-करूँ’ की आकुलता एवं अभिप्राय मिटते हैं।

(९५९)



पर्यायदृष्टिके कारण परिणाम पर पकड़ रहती है। जो कि स्वरूपकी अनन्त अगाध शक्तिको भूलनेका कारण है। अतः परिणाममात्रको गौण करके स्वरूपको सँभालना आवश्यक है। शक्तिको भूलनेसे दीनता आती है। जो आगे जाकर संयोगोंकी अपेक्षावृत्तिको जन्म देकर समस्त संसारको उत्पन्न करती है। अतः समस्त संसारका मूल पर्यायदृष्टि ही है।

(९६०)



जून - १९९२

‘मिथ्यात्व दिशाभ्रमरूप है’ - यह दिशाकी प्रधानतासे मिथ्यात्वका उल्लेख है। (श्रीमद्जी- ७६८)। परिणामकी दो ही दिशा है, एक अंतर्मुख, दूसरी बहिर्मुख। मिथ्यात्वके कारण बहिर्मुख भावमें भी लाभ माना जाता है, जिसके कारण बहिर्मुख झुकाव रहा करता है। बाह्यसाधनमें उपयोगकी प्रवृत्तिके कारण अंतर्मुख होनेकी दिशा-सूझ नहीं आती। शाता और स्पर्शादि विषयोंका अनुभव मिथ्या होने पर भी, उसमें वास्तविकता लगती है। अतः अंतरंगमें ‘ज्ञानानुभूति’ के प्रति झुकनेका अवसर नहीं आता - बाह्य साधनके प्रति लगे परिणामकी दिशा बदलनेके लिए अंतर्लक्ष होना चाहिए; और बहिर्मुख भावोंमें उपेक्षा होनी चाहिए। अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे ज्ञानवेदनमें वेद्य-वेदक भावसे दिशा बदले तो दशा बदले और ‘दिशाभ्रम’ मिटे। (९६१)



स्वरूपकी तीव्र भावना स्वरूप-बोधका कारण है। भावना तीव्र होने पर परिणति हो जाती है, और परिणति उपयोगको ले आती है।

निष्कंप, गंभीर, ध्रुव स्वभाव है। उसमें अभेदभावसे, व्याप्य व्यापकतासे, एकाकार होकर, तन्मय होकर, गहराईमें उतरने पर सहज अनुभूतिसे सर्वार्थ सिद्धि है। स्वभावका खिँचाव रहनेसे - पर्यायका खिँचाव बंद हो जाता है। (९६२)



ज्ञानका पर्याय-अभिप्राय और श्रद्धा अविनाभावी है, इसलिए प्रायः अभिप्राय द्वारा श्रद्धाको समझी जाती है। मुमुक्षुजीवको ज्ञानाभ्यास द्वारा प्रथम यथार्थ अभिप्राय गढ़ना चाहिए, जिससे कि विपरीत अभिप्राय बदल जाये। शास्त्र अध्ययनसे अपने अभिप्रायका पोषण नहीं करना चाहिए, परन्तु शास्त्रकर्ताके अभिप्राय अनुसार अपने अभिप्रायको गढ़ना चाहिए, वरना बड़ा नुकसान हो जाये। अभिप्रायकी भूल सुधरनेके बजाय दृढ़ नहीं हो जाये, यह लक्षमें रखने योग्य है, क्योंकि प्रायः ऐसी भूलसे जीव अनजान रह जाता है। अशुभभावका दोष पकड़में आता है, परन्तु अभिप्रायका दोष पकड़में नहीं आता। (९६३)



बुद्धिगम्य हुआ हो तद्अनुसार जीव भावनापूर्वक उपदेश ग्रहण करनेके लिए उद्यम करता हो, उसमें यदि अनादि पर्यायबुद्धि दृढ़ हो गई, तो सम्यक्दर्शनकी समीपता भी नहीं होगी, (फिर) भले ही बाहरमें स्वाध्याय आदि मुमुक्षुके योग्य परिणाम हो। अतः शुरुसे ही सहजता रहे / हो, ऐसी कार्यपद्धति होनी चाहिए। और वह 'पूर्णताके लक्ष' से ही उत्पन्न होती है, उसका दूसरा विकल्प (Alternative) नहीं है। 'पूर्णताके लक्षसे' उत्पन्न भावना, लगन, अवलोकन इत्यादि सहज होते हैं, जो स्वरूप-निश्चय पर्यंत चालू रहते हैं। फिर आगे स्वरूप लक्षपूर्वक भेदज्ञान, स्वरूप-महिमा, स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ सहज ही होते हैं, जिससे पर्यायदृष्टिका अभाव होकर द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है। (९६४)



जैनमार्ग तो पुरुषार्थप्रधान है। संयोगोंकी प्रतिकूलताके भयके कारण जो 'मार्ग भक्ति' से दूर रहते हैं, वे जीव वीर्य हीन होते हुए, स्त्रीवेद अथवा नपुंसकवेदको प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु वर्तमान स्त्रीवेद होने पर भी, जो निडरतासे मार्गको अनुकूल प्रवर्तन करे, वह जीव पुरुषवेदमें आ जाता है। बाह्यसंयोग पूर्वकर्म - पुण्य-पाप अनुसार होते हैं। उतना विश्वास और समझका बल भी जिसके पास नहीं है, वह अंतरके अलौकिक पुरुषार्थपूर्वक, निर्विकल्प तो हो ही कैसे सकता है ? यह साधारण विचारबलका प्रकार है, ऐसा आत्मार्थीको लगता है।

(९६५)



अनादि अनन्त पर्यायोंका पिंड द्रव्य है, स्वयं है। तो फिर कौनसी पर्यायको करनी है ? कौनसी पर्यायकी चिंता करनी है ? द्रव्यमें मैं - ऐसी दृष्टि होने पर सभी पर्यायें स्वकालमें होती रहेगी - ऐसा सर्वांग समाधान रहता है।

'मैं अपरिणामी हूँ' - ऐसी दृष्टिमें स्वकालकी पर्यायें सहज ज्ञानादिकी हो रही हैं, शक्तिरूप योग्यताकी व्यक्ति स्वकालमें होती है - ऐसा वस्तुविज्ञान जिन्हें द्रव्यदृष्टिपूर्वक वर्तता है, उन्हें असमाधान नहीं होता। (९६६)



आत्मश्रेयका मार्ग / उपाय आध्यात्मिक है, स्व - आश्रयी है। परन्तु स्व-आश्रयकी विधिसे जीव अनादिसे अनजान है। उसका जानना कुछ मात्रामें सत्संग और सद्ग्रंथों द्वारा होता है, वहाँ भी विपर्यास अथवा कल्पना होनेकी संभावना रही है। ऐसा नहीं हो इसके लिए, गुणवान महात्मा और जिनेश्वरादि पुराण पुरुषोंके प्रति बहुमानरूप भक्ति, निष्काम भावसे होनेमें रहस्य है। अनादि जिन-प्रतिमाकी स्थापनामें भी अध्यात्मका ही रहस्य है, जो अध्यात्मके व्यामोहको अथवा शुष्कताको उत्पन्न होनेसे रोकता है। अनेक ज्ञानियों और मुनियोंने आत्म-आश्रयसे प्राप्त बोधको भी सहज भावसे, श्रीगुरु अथवा जिनेश्वरकी देनके रूपमें गाया है। वह भी उक्त रहस्यको ही दर्शाता है। अध्यात्मकी तीखाश यथार्थरूपसे जहाँ होती है, वहाँ उच्च कोटीके - उत्कृष्ट भावसे भीगे हुए भक्तिभाव भी देखनेमें आते हैं - यह निश्चय-व्यवहारका सुमेल (संधि) है।

(९६७)



अनादिसे जीवका (भावमें) रागके प्रति झुकाव है। उसे पलटकर वीतरागताकी उपलब्धि होवे इसके लिए अंतर्मुख होना - रहना वही उपाय है, परन्तु मुमुक्षुता और नीचेके गुणस्थानमें (मुनिदशा आनेके पहले) परिणमनका बहुभाग बहिर्मुख (अनिवार्यरूपसे) वर्तता है, ऐसेमें वीतरागी महात्माओं एवं वीतरागीदेवोंके वीतरागभाव स्वरूपको स्मरणमें - ज्ञानमें लेकर नमस्कार - बहुमानके भाव होना सहज हैं। यद्यपि परद्रव्य प्रतिके परिणाम बहिर्मुखताके कारण उपादेय नहीं है। परन्तु 'लक्ष'में वीतरागता होनेसे, रागका और बहिर्मुखताका निषेध वर्तता है, परन्तु शुष्कता नहीं होती। प्रकारांतरसे शुष्कताकी संभावना रहती है। यथार्थतामें उक्त भक्ति सहज होती है।

(९६८)



जीवको निजकल्याणकी वृत्ति जन्म हो, और वह वृत्ति वर्धमान होवे, तो ही उसको सत्पुरुषकी-कल्याणमूर्तिकी पहचान होती है। वरना पूर्व प्रारब्धयोगसे संयोग होने पर भी - 'यह सत्पुरुष

है' - वैसा ध्यान आश्रयभावनापूर्वक नहीं जाता। अतः वह 'योग' विषम परिणामी जीवको अयोग समान हो जाता है, 'प्रत्यक्षयोग'की दुर्लभता समझमें नहीं आनेसे आत्मकल्याणकी तक चुक जाता है।

जो जीव सत्पुरुषके वियोग कालमें 'आश्रय भावना'में नहीं आता, उसे प्रत्यक्षरूपसे संसार परिभ्रमणके दुःखका भय नहीं है। छूटनेका कामी (इच्छुक) तो 'सत्पुरुषकी खोज' किये बगैर रह ही नहीं सकता। (९६९)



आत्मा चैतन्य-प्रकाशका पुर है अर्थात् आत्मामें चैतन्यका अनन्त प्रकाश भरा है। ज्ञान-दर्शनका प्रकाश प्रगट अनुभवगोचर है, उसके सातत्य और स्वातंत्र्यसे उसका अनन्त सामर्थ्य प्रतीत होता है। तथापि स्वरूपके अनुभवके प्रकाशमें - अचिंत्य प्रकाशमें, अचिंत्य ऐसा परमेश्वरपद, अचिंत्य ऐसा केवलज्ञानका स्वरूप, मोक्षमार्ग - बंधमार्ग आदि सर्व जैसे हैं, वैसे प्रकाशमान होते हैं। इस चैतन्यरत्नको चिंतामणी रत्नकी उपमा कम पड़ती है। ऐसे रत्नका प्रकाश सिर्फ देहार्थमें ही खर्च हो जाये, तो दुःख दारिद्र्य कभी नहीं मिट सकता। अतः विवेकपूर्वक आत्मार्थकी साधना कर्तव्य है। (९७०)



दर्शनमोहके कारण सुख रहित जड़ पदार्थमें जीवको व्यामोह होता है, अथवा अनात्म द्रव्य / भावमें इष्ट-अनिष्टपनेकी कल्पना होती है, जिसके कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्वके परिणाम होते हैं, जो अनन्त दुःखमय है।

सम्यक्त्व द्वारा स्वाभिमुख होने पर, वास्तविक सुखानुभवकी उपलब्धि होनेसे कर्ता-भोक्ताकी आकुलता शांत हो जाती है। और अविनाशी परमसुखका बीजारोपण हो जाता है। (९७१)



जब ज्ञान निजमें निजको देखनेके उद्देश्यसे देखता है, तब ज्ञानमें पर (है ऐसा) मालूम नहीं होता। यद्यपि ज्ञानमें परका अस्तित्व है भी नहीं। ज्ञानमें तो सिर्फ ज्ञानका ही अस्तित्व है। इसलिए ज्ञानमें ऐसा ही मालूम पड़ता है। परपदार्थके प्रतिभासके कालमें भी ज्ञान ही ज्ञेयाकाररूप हुआ है; ऐसे ज्ञाननिष्ठ होना सुखदायक है। इस ज्ञानमें स्वको देखनेका उद्देश्य है, जिसके कारण पर जाननेमें आने पर भी उसमें स्वपनेकी भ्रांति अथवा परप्रवेशभाव नहीं होता। पर पररूप भासित होवे तो उसमें विकृति होनेका अवकाश नहीं है, क्योंकि उस समय ज्ञानमें स्वपनेका वेदन होता है। सम्यक्ज्ञानके परिणामनकी यह रीति है। जिसमें निर्दोषता है, निराकुलता है, इसलिए विसंवादके योग्य नहीं है, विवादके योग्य भी नहीं है। (९७२)

साधकदशामें अपूर्णता अर्थात् अल्प शुद्धि-अशुद्धि है, परन्तु दृष्टि पूर्ण है और पूर्णताके लक्ष सहित भावना है। तद्अनुसार साधकदशाका वर्णन आता है। वहाँ दृष्टि और अभिप्रायके विषयको समझकर प्रधानता करने योग्य है, जिससे परस्पर विरुद्ध दिखते वचनमें भी अविरोध मालूम होगा। व्यवहारके विवेकपूर्वक हेय-उपादेयको जाने - फिर भी निश्चय प्रधानतासे उसमें समभाव व्यक्त होवे, परन्तु इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है; यदि अभिप्राय समझमें आये तो।

(९७३)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले मुमुक्षुको मुख्य-गौण करनेमें, अभिप्रायकी भूल न हो जाय, इसका विचार कर्तव्य है। व्यवहार और परमार्थ पर वजन जानेसे साधन, साधन नहीं रहता, परन्तु वह साध्य हो जाता है।

अभिप्रायकी ऐसी भूल दिखनेमें अल्प भूल दिखती है, परन्तु वह पूरी भूल है। उसमें व्यवहार निश्चयके स्थानमें और पर्याय आश्रयके स्थानमें आ जाते हैं। ये विपर्यास है, जो परमार्थमें प्रतिबंधक है।

(९७४)



मिथ्यात्वके सद्भावमें जीवको अपनेमें अपनत्वका अनुभव करनेकी योग्यताका अभाव होता है। जब कि सम्यक्त्वके सद्भावमें, परमें अपनत्वका अनुभव करनेकी योग्यताका नाश हो चुका है, इसलिए शरीरादि संयोगोंमें पूर्वकर्म भोगते हुए भी अपनत्व नहीं होता।

निजसिद्धपदके प्रत्यक्ष अनुभवरससे जिनका परिणमन भरितावस्थ है, उन्हें जगतके रम्य (!) पदार्थ मोहक नहीं लगते। परन्तु किसी भी पदार्थ पर उपयोग खींचता है तब दुःख-दाह होता है। वरना रम्य पदार्थोंमें मोहभाव हुए बिना नहीं रहता। सारांश (तात्पर्य) यह है कि ज्ञानीके दर्शनमें, स्वभावदर्शन करने योग्य है।

(९७५)



अंतरमें निर्मोही परमतत्त्वकी महिमा व पुरुषार्थकी तीखाश जिनको वर्तती है, उनको बाह्यमें भी मोहको जितनेवाले ऐसे वीतरागी देव, गुरु और सत्पुरुषके प्रति परम भक्ति और बहुमान व्यक्त हुए बिना नहीं रहता। ऐसा बाह्य लक्षण निश्चयाभासी शुष्क अध्यात्मीको, अध्यात्मके व्यामोहके कारण, नहीं होता।

(९७६)



ज्ञानदशामें अपने बेहद सामर्थ्यकी प्रतीत रहती होनेसे, दीनताका नाश हो जाता है, इसलिए सन्मार्गके प्रारम्भसे ही अयाचकपना रहता है। इसके अलावा परिपूर्ण स्वरूपके अवलंबनसे उत्पन्न

वैराग्य भी (ज्ञानीको) याचनावृत्तिमें आने नहीं देता। ज्ञानी अल्प राग हो, तब तक प्रारब्धकर्मकी निर्जरा हेतु प्रवृत्तिमें होते हैं, ममत्वके कारण नहीं ऐसा समझने योग्य है। (९७७)



सत्पुरुषको संसारके संयोगोंके साथ आत्मिक बंधनपूर्वक सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् देहकी अनुकूलता हेतु, धनादि पदार्थकी प्राप्ति हेतु, प्राप्त सामग्रीके भोग हेतु, लौकिक किसी भी प्रकारके सुखके हेतु या किसी भी प्रकारके स्वार्थके हेतु, वे संसारमें नहीं रहते। ऐसा जो इनका अंतरंग है, उसका भेद (रहस्य) कोई निकट मोक्षगामी जीव ही समझ सकता है, अन्य नहीं। यानी कि सत्पुरुषके अंतरंगको समझनेवालेको मोक्ष निकटमें वर्तता है, यह निःसंदेह है। (९७८)



प्रश्न :- भेदज्ञानका प्रयोग रागकी भिन्नता द्वारा ही क्यों ? परद्रव्यकी भिन्नता द्वारा क्यों नहीं ?

उत्तर :- (१) परद्रव्यसे अभिन्नता रागके द्वारा ही होती है, अतः रागसे भिन्नता होते ही, परद्रव्यसे सहज भिन्नता हो जाती है।

(२) प्रयोग वर्तमान प्रवृत्तिके कालमें ही हो सकता है। ज्ञान और राग निरंतर मौजूद होनेसे प्रयोग निरंतर हो सकता है। परद्रव्यकी प्रवृत्ति निरंतर संभवित नहीं है, यद्यपि बाह्यत्यागसे भेदज्ञानकी उत्पत्ति भी नहीं होती।

(३) तीव्र मुमुक्षुतारूप मोक्षार्थीजीव ही भेदज्ञानका प्रयोग कर सकता है। वैसे जीवको परद्रव्य (विषयों) और देहादिमें तीव्र आसक्तिके परिणाम नहीं होते। आत्मरुचि वश उपयोग सूक्ष्म हुआ होनेसे, अंतरमें ज्ञानसामान्यके वेदनको ग्रहण करनेकी योग्यता द्वारा 'यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ' - ऐसे भेदज्ञानका - रागसे, सूक्ष्म रागसे भी भिन्नताका प्रयोग कर सकता है। जो स्वानुभवका कारण है। - यह विधिका क्रम है। (९७९)



जैसे ही ज्ञानवेदनसे स्व-रूपमें ज्ञानका अनुभव हुआ कि तब श्रद्धा द्वारा स्वरूपका आश्रय हो जाता है। स्वरूपकी पहचानपूर्वक महिमा वर्तती हो वहाँ इस प्रकार ज्ञान-श्रद्धान होना सहज ही है।

स्वरूप-निश्चयपूर्वक सहज पुरुषार्थमें उक्त प्रकारसे श्रद्धा-ज्ञानमें एकसाथ स्व-आश्रय हो जाता है। मोक्षार्थी जीव मोक्षमार्गको इस विधिसे प्राप्त करता है। (९८०)



सिद्धांतका मूल्य आयुष्यादि प्राणसे भी अधिक होना चाहिए, क्योंकि वे जिन शासनके प्राण हैं। सिद्धांतका घात होनेसे जिनशासनका विनाश होता है, ऐसा समझनेवाला आत्मार्थी प्राणकी आहुति देकर भी सिद्धांतकी रक्षा करता है - ऐसा जिनागममें श्रीगुरुका फरमान है। (९८१)



अखण्ड आत्मधुनके एकतार प्रवाहपूर्वक, एकांत आत्मभावमें रहना - वह भावना है। ऐसा सहज नहीं रहे तब महा ज्ञानीपुरुषकी अंतरदशाका स्मरण, उनके प्रचंड पुरुषार्थके माहत्म्यकी अतिरसपूर्वक चर्चा, आत्मभावके अलावा दूसरा अवकाश नहीं है, वैसे उनके आत्मचारित्र्यकी अत्यंत भक्ति, आत्मरससे सराबोर उनकी वाणी, उनके सिद्धांत बल द्योतक वचन, एवं अपूर्व स्वभावको व्यक्त कर रहे अपूर्व भावोंको ध्यानमें लेनेकी आतुरता रहती है। (९८२)



परिणामकी शक्ति रसमें है। जिसका (शक्तिका) खर्च करनेमें विवेक रहना आवश्यक है। जो जीव उदय भावमें शक्ति (रस) का खर्च कर डालता है, उसके पास आत्महितार्थ खर्च करनेके लिए शक्ति नहीं बचती।

वास्तवमें तो मुमुक्षुको पूरी शक्तिसे आत्महित करनेका निर्धार करना चाहिए। जिससे कि तत्काल पात्रता प्रगट हो, योग्यता प्राप्त हो। (९८३)



इस अल्प आयुषी दुष्कालमें निजहितका सुदृढ उपयोग होना जरूरी है। निवृत्ति लेकर आत्मभावको पोषण मिले वैसी प्रवृत्ति कर्तव्य है। अन्यथा प्रमाद ही - अनिवार्यरूपसे अहित होनेमें - हो जाएगा, इसे रोक नहीं सकेंगे। (९८४)



उपदेशबोध-मार्गमें कषायकी मंदता होने पर भी, उस उपदेशमें सिद्धांतबोधके बिना टिक नहीं सकते, ऐसा ज्ञान नहीं होनेके कारण जाने-अनजानेमें सिद्धांतबोधका निषेध - अनादर हो जाता है। और सन्मार्गकी प्राप्तिसे वंचित रहना हो जाता है। भावना होने पर भी यथार्थता नहीं आती।

सिद्धांतबोधकी मुख्यता करनेवाला, यदि उपदेशके हेतुभूत सिद्धांतोंके अध्ययनमें, उपदेश-ग्रहणको गौण करने लगा तो प्रायः शुष्कतामें आकर, प्रलापवृद्धि हो जाती है। अतः इन दोनोंका यथार्थ ग्रहण निजहितके लक्षसे, आध्यात्मिक प्रधानतासे होना चाहिए। जिससे कि आगम-अध्यात्म और निश्चय-व्यवहारका अवरोधपूर्वक आराधन हो सके। उपदेश बोध और सिद्धांतबोधके

बीच अध्यात्मका सेतु आवश्यक है।

(९८५)



मुमुक्षुजीवके परिणाम उत्तरोत्तर दर्शनमोहको मंद करे, उस प्रकारके होने चाहिए; यदि दर्शनमोह तीव्र हुआ तो मुमुक्षुताका नाश होनेका अवसर आयेगा, यह लक्षमें होगा तब तो दर्शनमोह सम्बन्धित परिणामोंको समझकर उस-उस प्रकारमें जागृति / सावधानी रहेगी। जिसकी प्रयोजनकी दृष्टि तीक्ष्ण होती है उसका दर्शनमोह वृद्धिगत नहीं होता है।

(९८६)



मोक्षमार्गमें स्वरूप-सावधानीका उपयोग अभ्यंतरमें सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण होता है। - ऐसा धर्मात्माका स्वरूप मुमुक्षुको बोध लेने जैसा है। धर्मात्माको - अंतर पुरुषार्थ द्वारा विषमभावोंको मिटाकर, समभावकी रक्षा एवं वृद्धि करते हुए बाह्यप्रवृत्तिका संक्षेप करनेका भाव एवं चिंतना रहा करती है। परलक्ष नहीं होनेसे दूसरोंको बोध प्राप्त करानेकी प्रवृत्तिमें भी उदासीनता रहती है।

(९८७)



द्रव्य सामान्यका - स्वभावका यथार्थ लक्ष, ज्ञानसामान्यके आविर्भावका यानी कि स्वसंवेदनकी उत्पत्तिका अनन्य कारण है। अतः स्वरूपलक्षसे ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होना - यह विधि है। इस प्रकार स्वभावके लक्षसे - अवलंबनसे भेदज्ञान (परद्रव्य एवं परभावसे) होता है। (कि) जो स्वभाव अंतरंगमें प्रगट है, प्रत्यक्ष है और अनुभवगोचर है।

(९८८)



प्रश्न :- तत्त्वका अभ्यासी जीव, आत्मस्वरूपका निश्चय करके, त्रिकाली ध्रुवको खयालमें लेकर महिमा करता है, फिर भी पुरुषार्थ जागृत होकर अभेदभावसे अनुभव नहीं होता है, इसका क्या कारण ?

उत्तर :- परलक्षीज्ञानमें परोक्ष रहकर, रागकी प्रधानतामें (रागके आधारसे) जो निश्चय होता है, वह यथार्थ पहचानरूप प्रतिभास नहीं होनेसे और उसमें स्व-रूपमें अस्तित्वका ग्रहण प्रत्यक्ष अंशसे-अनुभवांशसे नहीं होनेके कारण वस्तुदर्शनका अभाव होता है, इसलिए उसमें स्वसन्मुखता (दिशाफेर) नहीं होती है और अपूर्व महिमा भी उत्पन्न नहीं होती। अतः उसमें तथारूप पुरुषार्थका अभाव रहता है, सहजताका भी अभाव रहता है, विधिका भी अनभिज्ञपना रह जाता है। वहाँ प्रायः कृत्रिमताको सहजता और दृष्टिका जोर मानकर कल्पित प्रयत्नमें रहना हो जाता है, इसलिए अनुभव नहीं होता। वस्तुदर्शन बिना, ओघसंज्ञासे (स्वरूपकी) कल्पना होती है। यह गंभीरतासे लक्षमें लेने योग्य है। जिज्ञासु रहे तो ऐसी कल्पनासे बच पाता

है। वास्तवमें तो ज्ञानक्रियाके आधारसे ज्ञानस्वभावी - ध्रुवतत्त्वका निश्चय होना चाहिए।

(९८९)



स्वरूपप्राप्तिकी सही भावना, जीवको स्वरूपकी पहचान करनेकी वृत्तिमें प्रेरित करती है, और परिणामतः स्वरूपकी पहचान होती है। जो जीव बिना पहचान, ओघे-ओघे स्वरूपकी महिमा करके, प्राप्तिकी आशा रखता है, उसको क्रम विपर्यासके कारण अनुभव नहीं होता, ऐसा अविधिका अभिप्राय जिज्ञासाका अभाव करता है। वैसे जीवकी दृष्टि प्रयोजन पर रहती / होती नहीं है। अतः वह स्वरूपकी पहचान करनेकी दिशामें (उद्यम किये बिना) प्रायः उपेक्षित रहता है।

(९९०)



अगस्त - १९९२

जो-जो परिणाम विषय-कषायमें लगते हैं, वे अशुद्ध अर्थात् मैले होते हैं, उन्हीं परिणामोंको निज निरंजन तत्त्वमें लगानेसे, पवित्र और शांत - निरंजन होते हैं। निरंजन परमतत्त्वमें एकरस - समरस परिणाम नहीं हो तब तक ही देहकी वासना जीवको सताती है। अतः गुणनिधान परमपदका, एक ही का ध्यान कर्तव्य है। वही सार है और परमार्थ है।

(९९१)



बुद्धिकी विशालता और उदारता सत्यका स्वीकार करती है। यह स्वीकार होनेमें मध्यस्थता होना अति आवश्यक है। जो जीव मध्यस्थ होता है, वह खुदके निर्णयसे विरुद्ध बातका विचार कर सकता है। स्थिर चित्तसे विचार करके योग्य-अयोग्यको समझ सकता है। यथार्थताकी प्राप्तिमें मध्यस्थताका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसलिए मुमुक्षुको अभिप्रायपूर्वक मध्यस्थताका अवधारण करना चाहिए। मध्यस्थताके अभावमें अपने अभिप्राय विरुद्ध हकीकत सत्य होने पर भी उसका निषेध आता है। और इसके कारण सहज असरलता हो जाती है और निष्पक्षरूपसे विचार करनेकी योग्यताकी हानि होनेसे अयथार्थ निर्णय लेनेमें आ जाता है।

(९९२)



'धर्मात्माका सर्व आचरण वंदनीय ही है' - यह मुमुक्षुजीवको विस्मरण करने योग्य नहीं है। अतः इसके सम्बन्धित टिप्पणी या वैसी चर्चा मुमुक्षुओंके लिए स्व-पर अहितकारी होती है। आत्मार्थकी गौणता होकर, बाह्य-क्रियाके मतांतरमें जीव उलझ जाता है, जो योग्यताकी रुकावटका कारण होता है। यहाँ पर स्वच्छंद-महादोष उत्पन्न होता है, जिससे मुमुक्षुको भय लगना चाहिए। पुनः किसी भी दो महात्माओंके बाह्याचरणकी तुलना विषयक चर्चा करना,

वह भी मुमुक्षुके लिए अनअधिकृत चेष्टा / प्रवृत्ति है, जिसे स्वच्छंद और अभक्तिका कारण जानकर, उससे जागृत रहने योग्य है, ऐसी चर्चा जहाँ पर होती हो वहाँसे दूर रहना हितावह है। (९९३)



प्रश्न :- सामान्यज्ञानके आविर्भावसे और विशेषज्ञानके तिरोभावसे ज्ञानका प्रगट अनुभव होता है, (स.सार. - गाथा - १५) आगम अनुसार इस विधिको जानते हुए भी सामान्यका आविर्भाव क्यों नहीं होता है ?

उत्तर :- लक्ष स्वरूपका नहीं होनेसे और परलक्षके सद्भावके कारण विशेषज्ञानका आविर्भाव नहीं मिटता, जिसके कारण सामान्यज्ञान (ज्ञानवेदन) तिरोभूत रहता है। इस प्रकार परिणाम लक्षके अनुसार चलते हैं। यह परिणामका विज्ञान है। इसीलिए प्रथम स्वभावका लक्ष करनेका श्रीगुरुका उपदेश है। लक्ष बिनाके परिणाम 'लक्ष रहित बाण' जैसे हैं। परिणामोंका मूल्य भी लक्षको गिनतीमें लेकर करना चाहिए। (९९४)



सूर्यको अंधकारने घेर लिया हो - ऐसा कभी किसीने देखा है ? या सुना है ? वैसा चैतन्य सूर्य जिनको प्रगट है, ऐसे आत्मज्ञानीको कर्मका उदय घेर ले, ऐसा कभी नहीं बन सकता। (भव्यामृत श. ९९)

ध्रुवतत्त्वमें उपाधिकारक संयोगोंका और तद् निमित्तक उपाधिभावका प्रवेश ही नहीं है, ऐसा अनुभव स्वरूपज्ञानीको रहता है। पुनः निज ध्रुव सुखधामका अनुभव स्वयं सुखमय परिणामन है। कर्म इससे अति दूर है। अनुभवीको शंकाकी गुंजाइश नहीं है। (९९५)



सर्वोत्कृष्ट कारणपरमात्माकी भावना भाते हुए (नियमसार गाथा-५०), क्षायिक आदि भावोंको परद्रव्य, परभाव कहकर हेय कहें हो, तो उदयभावकी मुख्यता करनेकी तो परिस्थिति ही कहाँ रहती है ? - ऐसा विचार करके स्वरूप-लक्ष पूर्वक, सर्व पर्याय परसे वजन उठा लेना चाहिए। अथवा सहजात्म स्वरूपकी महानता भावमें इस प्रकारसे सहज भानेमें आनी चाहिए कि क्षायिक भाव पर भी वजन नहीं जाये ! स्व तत्त्वकी रसिकता ही कोई विलक्षण प्रकारकी है। धन्य है वे महात्माएं, जो आत्मभावना भाते-भाते परमपदको प्राप्त होंगे !! परम भक्तिसे उन्हें नमस्कार हो ! (९९६)



सच्ची आत्मभावना प्रयोजनकी सूक्ष्मदृष्टिको उत्पन्न करती है। जिससे अप्रयोजनभूत विषयमें

अटकना नहीं होता। जो जीव अप्रयोजनभूत विषयमें अटकता है, उसे सच्ची भावना नहीं है। अथवा भावनाकी क्षतिके कारण प्रयोजन छूट जाता है। अनन्तकालमें अनन्त बार ऐसा बना है, अतः उसके प्रति अत्यंत जागृत रहना आवश्यक है। अप्रयोजनभूत पर लक्ष जानेसे / रहनेसे प्रयोजनभूत विषय सामने आने पर भी लक्ष नहीं जाता - यह बड़ा नुकसान है।

(९९७)



जिसको सत्पुरुषकी पहचान हुई हो, उसको उनके किसी भी वचनमें अविश्वास नहीं होता, शंका भी नहीं होती। यदि शंका हुई तो पहचान हुई ही नहीं। जिसको संप्रदायबुद्धि होती है, उसको भी सत्पुरुषकी पहचान नहीं हो सकती। संप्रदायबुद्धिवाला जीव सत्पुरुषको ओघे-ओघे मानता है, इसलिए उसे अंदरसे विश्वास नहीं है, जिसके कारण कहीं न कहीं उसे संदेह हो जाता है। संप्रदायबुद्धिके कारण 'मैं समझता हूँ' ऐसा रहता है, जो कि पहचान होनेमें बड़ा प्रतिबंध है। वह किसीका ओघसंज्ञासे स्वीकार करता है, तो किसीका ज्ञानी होते हुए भी उनका स्वीकार नहीं करता है।

(९९८)

शुद्ध अंतःकरणसे जिसे दुःखमुक्त होना है, उसे सत्पुरुषोंका अंतर्मुख होनेका मार्ग समझमें आता है, और वह तथा प्रकारके पुरुषार्थमें जुड़ता है। जब तक अंतःकरणकी शुद्धि नहीं होती, तब तक जीव बाह्य क्रिया और बहिर्मुख परिणाममें भ्रमसे आत्म-कल्याण मानकर अटकता है।

(९९९)



लक्षके महत्त्वका, बोधके परिणमन हेतु विचार कर्तव्य है। यथा, परलक्षवाला ज्ञान, ११ अंग और ९ पूर्व तकका होने पर भी स्वानुभवको प्राप्त नहीं होता। परन्तु जिनको 'स्वरूप लक्ष' हुआ है, वह अल्प उघाड़वान होता है तो भी 'स्वरूपकी प्रत्यक्षता' के अवलंबनसे स्वरूपका आराधन करता है। लक्ष विहिन जानकारीमें (यथार्थ) निजस्वरूप ज्ञानमें भासित ही नहीं होता, जिसके कारण उसकी महिमा सहजरूपसे उत्पन्न नहीं होती, वीर्यकी दिशा भी स्वसन्मुख नहीं होती। ऐसी स्थितिमें रागका अनादिसे जो आधार है, वह चालू ही रहता है। अतः तत्त्वविचारमें मुख्यतया रागकी ही प्रवृत्ति होती है। स्वरूपलक्षमें तो वेदन - प्रत्यक्ष द्वारा आत्मरस और आत्मआश्रय (आत्मामें 'मैं पना') का बल वृद्धिगत् होता हुआ आत्माको साधता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानका मूल्यांकन 'लक्ष'की गिनतीपूर्वक हो - उसमें यथार्थता है, अन्यथा अयथार्थता है।

(१०००)



स्वरूपलक्षमें निज परमपदकी महानता लक्षगत् होती है। आत्मस्वरूप ही ऐसा-इतना महान है कि लक्षगत् होते ही उसकी मुख्यता रहा ही करे, वह यहाँ तक, कि पर्यायकी शुद्धतामें उपशमसे लेकर क्षायिक पर्यंत चरमसीमा होने पर भी स्वरूपकी मुख्यता नहीं छूटती। वास्तवमें तो पूर्ण पर्यायसे आत्म-स्वभाव अनन्तगुण समृद्ध है, इसलिए उसीकी मुख्यता रहे। यह सहज है। (१००१)



मुमुक्षुजीवको तत्त्वरुचि होनेसे वह स्वाध्याय, सत्संग इत्यादिमें प्रवर्तता है। वैसी रुचि वृद्धिगत होने पर उसकी प्रवृत्ति भी विशेष प्रमाणमें हो, यह संभवित है, परन्तु उसमें आगे बढ़कर प्रयोग पद्धतिसे भेदज्ञानपूर्वक भावभासन होना चाहिए, जिससे कि स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ प्रगट होवे और अपूर्व रुचि प्रगट होवे। यदि उक्त प्रकारसे प्रयोग पद्धतिमें प्रवेश नहीं हुआ तो तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्ति और अभ्यासमें अनजानेमें संतुष्ट होनेका या अटकनेका बन जायेगा और शायद आत्मरुचि मंदताको प्राप्त होगी। अतः सामान्य रुचिमें दीर्घकाल व्यतीत होने देना उचित नहीं है। (१००२)



जिस संगसे आत्मकल्याणका - परमार्थका जीवको रंग लगे, उसे सत्संग जानने योग्य है। महापुरुषोंने सत्संगको आत्मोन्नतिका मूल कहा है, उसके जैसा हितस्वी साधन इस जगतमें नहीं है। पवित्र होनेके लिए, प्रथम यमनियमादि अन्य साधनका आग्रह गौण करके (सहज हो सकते हो तो, हठ बिना होवे उसे छोड़ देना - वैसे नहीं) सत्संगकी उपासना करनी चाहिए। संसारकी उपासनाका आत्मभाव सर्वथा छोड़कर, अपनी सर्व शक्तिसे, पूर्वग्रहसे मुक्त होकर, परम विनयसे जो सत्संगकी उपासना करता है, वह अमर होनेके लिए अमृत पी रहा है। उसका मूल्य अन्यथा किस प्रकारसे हो ? संक्षेपमें, सत्संगका अन्य पर्याय (Alternate) है ही नहीं। (१००३)



आत्मार्थीको तत्त्व-अभ्यासमें प्रयोजनभूत विषयकी गहराईमें जानेके लिए हमेशा जिज्ञासावृत्ति सतेज रखनी चाहिए, कि जिससे भावभासन हुए बिना निर्णय होनेकी / करनेकी भूल नहीं हो। यदि धारणामें समझ हुई, तो उसीके भावभासनके लिए जिज्ञासा होनी चाहिए, परन्तु परलक्षी ज्ञानसे जिज्ञासा शांत नहीं होनी चाहिए। इस जगह जिज्ञासाका अभाव होनेसे धारणामें संतोष होकर, उसमें अहम्भाव होकर, अटकना हो जाता है, और दर्शनमोह वृद्धिगत होकर, भावभासनका पुरुषार्थ उत्पन्न ही न हो, ऐसी स्थिति हो जाती है। इसके अतिरिक्त खुदकी

धारणासे निश्चित हुई बातकी सम्मति प्राप्त (Confirm) करनेके लिए, उस पद्धतिसे भी प्रश्न कर्त्तव्य नहीं है। उस प्रकारसे प्रश्न चर्चा करनेमें खुदकी बातमें 'मैं जानता हूँ' - ऐसे भावका पोषण होता है और उसके ऊपर ज्यादा वज़न चला जाता है, जो अटकनका कारण होता है। ऐसा होनेसे सच्ची धारणा होने पर भी वहाँ अयथार्थता उत्पन्न होती है। ऐसे प्रसंगमें ज्ञानी सच्ची धारणाका भी निषेध (अयथार्थतासे बचानेके लिए) करते हैं, जो योग्य ही है। तब सच्ची धारणाका प्रत्युत्तर अनुकूल नहीं मिलनेसे, प्रश्नकारको प्रायः असमाधान होता है, और इसके कारण उत्तरदाताके प्रति बहुमान नहीं आता या घटता है। यदि उत्तर मिलने पर खुदकी पुछी हुई बात पुष्ट होगी तो उस पर वज़न (जानकारी पर वज़न) बढ़ जानेसे नुकसान होगा - (ऐसा ज्ञानी जानते हैं।) इसलिए उक्त प्रकारकी प्रश्न पद्धति ही छोड़ने योग्य है। (१००४)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास आत्मस्वरूपके श्रद्धान हेतु करनेमें शुष्कता नहीं हो जाये, इसके लिए परिणामोंमें भावना-भावुकता-आत्मरस होना आवश्यक है। अतः स्वाध्याय भावना प्रधान होना चाहिए। वास्तवमें तो भावना-भावुकता-आत्मरस स्वाध्यायके अंगभूत सहज-स्वाभाविक होने चाहिए। जिसके कारण श्री तीर्थकरदेव अथवा श्री गुरुवादिक महापुरुषोंके अलौकिक गुणोंका महिमारूप श्रवण, कीर्तन होने पर विनय, पात्रता आदि गुण प्रगट होवे।

ज्ञानीपुरुषको भी, महा मुनिराजको भी, निश्चय दृष्टिका जोर और आत्मस्वरूपकी बलवान भावनाके साथ देव-गुरुकी भक्तिके तीव्र भावुकतामय / आत्मरसमय परिणाम देखे जाते हैं और वह सुसंगत है। अन्यथा विसंगतता जाननी चाहिए। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' और 'श्री नियमसार' परमागम इसके प्रगट दृष्टांत हैं। दोनों शास्त्रोंमें निश्चयके तीखे वचन और परम भक्तिभावका सुभग संगम देखने मिलता है और उक्त सुसंगतताका मार्गदर्शन प्राप्त होता है। उपलक्षणसे - जहाँ उपदेश / स्वाध्यायकी यथार्थ प्रणालिका प्रवर्तित हो, वहाँ दानादिका समर्पण सहज होता है। उसके लिए याचना नहीं करनी पड़ती। तात्पर्य यह है कि यथार्थ तत्त्व निरूपण हो वहाँ भावना प्रधानताके कारण, मुमुक्षुजीवको समर्पणबुद्धि सहज उत्पन्न होती है। शुष्कतामें समर्पणका अभाव होता है। (१००५)



सितम्बर - १९९२

आत्मभावना :- मैं ज्ञानमात्र हूँ, वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ, प्रत्यक्ष अनन्त सुखधाम हूँ, ध्रुव - शाश्वत परम शांत सुधामय रस-कंद हूँ, अव्याबाध परम आनंद स्वरूप हूँ, केवल निर्विकल्प

अनुभूति स्वरूप हूँ। समस्त जगतसे शून्य हूँ। ॐ शांति।

(१००६)



बाह्य उपयोग होना, शुक्लध्यानकी श्रेणीके पहले, अनिवार्य है, अतः मुमुक्षु / धर्मात्मा बाह्य (उस) प्रवृत्तिका विवेक करते हैं, और बाह्य धर्मसाधनमें प्रवर्तते हैं। उस वक्त भी उससे (अभिप्रायमें) लाभ जानते - मानते नहीं है। बाह्य प्रवृत्ति अर्थात् तत्त्व-श्रवण, वांचन, भक्ति-पूजा आदि होने पर भी, अभिप्राय एकांत अंतर्मुख रहनेका होनेसे, उसका सहज निषेध वर्तता है। जिन लोगोंसे अभिप्रायपूर्वक शुभराग 'करनेमें आता' है - उसका व्यवहार श्रद्धान भी नहीं है, अर्थात् विधिकी बुद्धिपूर्वक भूल होनेसे दर्शनमोह वृद्धिगत होकर, तब उसे गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न हो जाता है - इस तरह अभिप्रायकी भूलके कारण तत्त्वका अभ्यास (जो दर्शनमोह मंद होनेमें निमित्त है) दीर्घकाल पर्यंत करने पर भी, उसका सम्यक् फल नहीं आता। अभिप्रायके विपर्यास - सम्बन्धित उक्त भूल सूक्ष्म होनेसे प्रायः जीवको रह जाती है। अतः इसके लिए जागृत रहने योग्य है। शुभोपयोग सर्व, बाह्य उपयोगसे ही उत्पन्न होता है, और उपयोग बाहर जाने पर नियमसे रागकी उत्पत्ति होती है, इसी कारणसे रागके माफ़िक परसत्ता अवलंबित ज्ञानका बाधकपनेके कारण निषेध है।

(१००७)



परिणामका परिणामन सहज हो रहा है। जिसमें 'करूँ-करूँ'-का भाव कर्तृत्वको (मिथ्यात्वको) और एकत्वको उत्पन्न करता है, स्वयं परिणामन कर रहे परिणामकी वास्तविकता, श्रद्धा और अभिप्रायमें नहीं रहती। परन्तु 'मैं तो अक्रिय ही हूँ' - इस अभिप्रायमें अर्थात् अपरिणामीके अभिप्रायमें, कोई क्रिया करनेका अभिप्राय नहीं रहता होनेसे सहज निरूपाधि - स्वरूपाकार भावसे - द्रव्यसे रहा जाता है। प्रत्येक गुण अपना-अपना कार्य करते हुए दिखते हैं। इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ समाविष्ट है। ध्रुवके लक्षसे परिणामका ज्ञान यथार्थ होता है। सत्शास्त्रों ध्रुवका लक्ष होनेके लिए ध्रुवकी महिमा गाते हैं। वही सर्वोत्कृष्ट है, एकांत सर्वोत्कृष्ट है।

(१००८)



परमगुरु श्री तीर्थकर सर्वज्ञदेव और निर्ग्रथगुरु भावलिंगी संत - ये दो पद उपदेशकके है। अंतरबाह्यदशाके कारण उनका उपदेश और दशा दोनों अविरोधताको प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं, स्वयंने मार्ग देखा होनेसे धर्मात्मा नीचेके गुणस्थानमें मार्ग (जिज्ञासुको) दिखाते हैं, परन्तु उपदेशकपना नहीं करते। तो फिर जो मुमुक्षु अभी मार्गसे अनभिज्ञ है, अभी तो उपदेश लेनेके पात्र है, वह यदि उक्त मर्यादाके अज्ञानके कारण उपदेशक बनकर

प्रवृत्ति करे, तो स्वच्छंदी होकर, अपना बड़ा नुकसान करता है - यह निःसंदेह है। विद्वान वक्ताको नुकसानीसे बचनेके लिए इस बातका गंभीरतासे विचार कर्तव्य है। (१००९)



भावुकता और आत्मकल्याणकी सच्ची भावनामें अंतर है। शुद्ध अंतःकरणसे जो संसारसे मुक्त होना चाहता है, वह कहीं भी भूला नहीं पड़ता। परन्तु भावुकतामें कोई मुमुक्षु सत्संग - असत्संगका विवेक चुक जाता है, या तो कोई सिद्धांतज्ञानके अभावमें भूलता है और पर्यायबुद्धि दृढ़ कर लेता है। परिणामतः आत्महितसे वंचित रह जाता है। अतः भावुकताका बाह्य दिखाव अच्छा होने पर भी वह विश्वसनीय नहीं है। उसमें प्रयोजनकी दृष्टि सूक्ष्म / तीक्ष्ण नहीं होती। परन्तु सच्ची भावनासे प्रयोजनकी दृष्टि सूक्ष्म होती है। मुमुक्षुजीवको यह विचार करने योग्य है। (१०१०)



भावुकताका प्रकार आवेशके उफान जैसा है, जो कि प्रकृतिगत है, शीघ्र उत्पन्न होकर, शीघ्र लयको प्राप्त होता है अथवा दीर्घकाल तक नहीं चलता। फिर भी उसमें कोमलता और रस प्रागट्यका / वीर्योल्लासका गुण है। वह केवल अवगुणका प्रकार नहीं है, उसके प्रतिपक्षमें शुष्कता और कठोरता, शिथिलता अवगुण है, परन्तु अंतरकी भावनामें तो स्वभाव प्रगट होनेका मूल है। उसका प्रकार प्रतिदिन वृद्धिगत होनेका है। विभावरसकी वह निषेधक है। साध्यकी शक्ति, भावनामें, अनन्त होनेसे ही उसकी निष्फलता असंभवित है। सच्चे मुमुक्षुका हृदय भावनाके रससे हमेशा भीगा हुआ रहता है। - ऐसा ज्ञानीपुरुषका वचनमृत है। (१०११)



अनादिसे जीव भेदवासितबुद्धि है। ऐसी स्थितिमें अगर परलक्षी क्षयोपशम विशेष प्रमाणमें हुआ तो उस क्षयोपशमके सामर्थ्य द्वारा अनेक न्याय, वस्तुके अनेक पहलू (सिद्धांतबोध) और उपदेशबोधकी अनेक युक्तियाँ जाननेमें आती हैं। उसमें भेदप्रधानता रह जानेसे, मंद कषाय सहित वह ज्ञान वृद्धिगत होता है, तो भी भेदकी दृष्टिके कारण, भेदकी मुख्यता / महिमा रहती है और अपने अखण्ड अभेद स्वरूपको जानना-अनुभव करना रह जाता है। तत्त्व-अभ्यास करते हुए भी इस प्रकारकी सूक्ष्म विधिकी भूल रह जाती है अथवा हो जाती है। ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें तो अभेद स्वरूपकी प्रधानतारूप आशयपूर्वक भेदका ज्ञान करानेका उपदेश / वचन होता है। इसलिए विद्वतजनको तत्त्व प्रतिपादनके कालमें भेदप्रधान अभिप्राय / वचन जाये, उस प्रकारसे प्रवर्तन नहीं हो, इसकी जागृति रखनी चाहिए, वरना भेदप्रधानता बढ़

जानेसे स्व-पर अहित होनेकी संभावना रहती है। इस जवाबदारीकी गंभीरता समझ लेने योग्य है। (१०१२)



सर्वज्ञ स्वभावके अवलंबनसे आत्मारूप हुए धर्मात्माको केवलज्ञानकी लब्धि प्रगट होती है। उसमें से आश्चर्यकारी भाव / न्याय प्रगट होते हैं। अतः बारह अंग - संपूर्ण द्रव्यश्रुतधारी जो न्याय निकाले, वह समकिति धर्मात्मा निकाल सकते हैं। लब्धिमेंसे उपयोग, बिना विकल्प हो जाता है। यह लब्धज्ञान नहीं है, परन्तु साधक अवस्थामें प्रगट हुई ऋद्धि है। लब्धज्ञान तो श्रुतज्ञान पर्यायका अंश है, अवयव है, जो उपयोगपूर्वक उत्पन्न हुई परिणति है। वह ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंको हमेशा होती है। ज्ञानीको स्वरूपाकार - स्वरूपके वेदनरूप होती है। वह स्मृति या धारणारूप नहीं है। (विचार और धारणामें स्वरूपका अनुभव करनेका सामर्थ्य नहीं है।) परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष शुद्धोपयोगसे प्राप्त लब्धज्ञानकी 'ज्ञानधारा' है। अज्ञानीको उदय अनुसार विभावरसयुक्त विभावरूप कर्मधारा है। (१०१३)



महामुनिवरों - आचार्यदेवों द्वारा रचित महान परमागमों या अनुभवी सत्पुरुषोंके वचनरूप सत्शास्त्रों - जिसे जिनवाणी कहते हैं, वह पूर्वसंस्कार संप्राप्त जीवको स्वरूप अनुसंधानमें निमित्तभूत होती है, परन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि, स्वभाव - संस्कार रहित जीवको परोक्ष जिनवाणीका वैसा उपकार नहीं होता, उसके लिए तो प्रत्यक्ष, सजीवनमूर्ति ही चाहिए। यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञानी भी वाणीके माध्यम द्वारा ही बोध देते हैं, फिर भी वहाँ ऐसी क्या विशेषता है ?

समाधान :- दोनों जगह वाणी तो वाणी ही है। परन्तु 'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगमें' उस वाणीके साथ / उपरांत जागृत 'चैतन्यकी चेष्टा' (इस चेष्टाकी क्रियाके साथ प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चैतन्यसे प्रभावित वचन होते हैं) होती है, जिसके द्वारा पात्रजीवको आत्मभावके दर्शन होते हैं, अर्थात् सम्यक् स्वभावका भावभासन होता है। प्रथम तो सत्पुरुषके चरणमें आज्ञारुचिरूप पात्रता प्रगट होनेका सौभाग्य प्राप्त होता है, जो सम्यक्त्व होनेका प्रत्यक्ष कारण है - प्रथम ऐसा प्रकार 'प्रत्यक्ष योग' के बिना संभवित नहीं है। अमुक आत्मभाव - (अंतर्मुखता, स्वसंवेदकता, शांतता, सम्यक्ता, इत्यादि) जो कि वाणीसे व्यक्त नहीं होते अथवा वक्तव्य नहीं हैं, वे चेष्टासे विशेषरूपसे - व्यक्त होकर भावभासनमें निमित्तभूत होते हैं। अंतरध्वनि - आशय प्रत्यक्ष बोलनेमें जितना आ सकता है, उतना लेखनीमें नहीं आ सकता। इत्यादि कारणोंसे अनुभवी पुरुषोंने 'प्रत्यक्षयोग' समान किसीको उपकारी नहीं जाना है। इसके सिवा आत्मज्ञान - दूसरोंको हो सके ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। 'पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थित।' (१०१४)

आत्म-कल्याण वाञ्छु - सुबुद्धि जिसे प्रगट हुई है, वैसा मोक्षार्थी जीव अपूर्व जिज्ञासासे अपने मूल स्वरूपको अंतरमें खोजता है। क्षतियुक्त योग्यताके कारण अंतर खोजमें सफलता मिलनेमें यदि देर लगे तो अत्यंत बेचैन होकर, निज परमात्माके वियोगमें तरसता है। जिससे क्षति / अयोग्यता दूर होकर, ज्ञानक्रियामें (अनुभूतिमें) अनुभूतिस्वरूप सम्यक् स्वभाव जो वेदनसे द्योतमान है, उसका स्वयंके रूपमें लक्ष होता है। अनुभवसे ही (विकल्प-विचारसे नहीं) जिसकी महानता मालूम पड़ सकती है, ऐसे निज परमपदका परम पुरुषार्थ द्वारा आराधन कर्तव्य है। सम्यक् स्वभावकी एकरस सम्यक् अवस्था पर पहुँचनेका यह अनन्य कारण है। (१०१५)



आत्मा सुखका अक्षयपात्र है। प्रदेश-प्रदेशमें अनन्त सुख-शांति भरे हैं। कितना भी सुख पीया जाये, परन्तु सुखधाममें से ज़रा सा भी कम होनेवाला नहीं है। सिर्फ जीवको इस विद्यमान सुखकी प्रतीति होनी चाहिए।

भ्रांतिगत् रूपसे जिन-जिन प्रसंगोंमें और पदार्थोंमें सुख भासित होता है, वह स्थिति आत्मामें सुखकी प्रतीति होनेमें बाधक है। सत्पात्रता आने पर भ्रांतिमें फर्क पड़ता है - कमज़ोर होती है और परभावमें दुःख लगना शुरू होता है। स्वरूप-सुखकी खोज भ्रांतिको कमज़ोर करती है। तब सुखको खोजनेवाला ज्ञान निजावलोकनमें 'ज्ञान स्वयं सुखरूप है' - ऐसी 'सुख-खान'का पता कर लेता है। अवलंबनभूत ऐसे सुखनिधानके अस्तित्वको देखते ही - ग्रहण करते ही, सुखप्राप्तिकी अनादिसे अपेक्षित वृत्ति ज़ोर करने लगे यह सहज और स्वाभाविक है - इस प्रकार आत्मिक सुखकी उपलब्धि है। (१०१६)



अनित्य और मलिन भावोंमें एकत्व होनेसे, नियमसे भय उत्पन्न होता है - वृद्धिगत् होता है। परन्तु पवित्र नित्य स्थिर निज चैतन्य स्वरूपमें एकत्व होने पर निर्भयता छा जाती है। 'मैं ध्रुव चैतन्य वज्र हूँ' - जिसमें पर्यायका भी प्रवेश नहीं है, तो अन्य द्रव्य-भावका तो विकल्प ही कहाँ है ? निज परमात्माके दर्शन होते ही विभाव कम (शांत) हो जाते हैं। ऐसा मैं अद्भुत परम निर्विकार चैतन्य रत्न हूँ। (१०१७)



द्रव्यानुयोग - चारों अनुयोगमें परम गंभीर है। वीतराग प्रभुने वीतरागी प्रवचनका रहस्य उसमें भरा है। मुमुक्षुजीवको धर्मात्माके प्रति परम विनयसे प्राप्त यथार्थता, निर्मलता और दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे द्रव्यानुयोगमें प्रवेश पानेकी क्षमता / योग्यता प्राप्त होती है। एकत्व - विभक्त

ऐसे द्रव्यकी, सम्यक् स्वभावकी सूक्ष्मता व गहराई अगाध है। परमार्थ संयमके बलसे, आत्माराम परिणामी, परमवीतराग दृष्टिवंत महात्माएं स्वभावकी गहराईमें अंदर ही अंदर विचरते हैं। उनकी समाधिका रहस्य, उनको द्रव्यानुयोग परिणमित हुआ है - वह है। (१०१८)



अनन्तकालमें कई बार आत्मकल्याणकी भावनासे बहिर्मुख भावसे जीवने धर्म-क्षेत्रमें प्रवृत्ति की है। ज्ञानके क्षयोपशमसे और वीर्यके क्षयोपशमपूर्वक अत्यंत मंद कषाय हुआ है, फिर भी दिशा नहीं बदली है। बहुभाग तो दिशा बदलनेका लक्षमें आया ही नहीं। कभी कोई बार अंतर्मुख परिणाम करने योग्य है - ऐसा सम्मत होने पर भी अंतर्मुख होनेकी रीतको नहीं समझा, उसका क्रम अर्थात् परिणामके कारण-कार्यकी परम्परामें उतरनेके विज्ञानसे अनजान रहनेसे बाहर ही बाहर सब करता रहा। सच्ची भावनाके अभावके कारण ऐसा हुआ है। (१०१९)



ज्ञानीको स्वरूपलक्षपूर्वक मुनिदशाकी, पूर्णदशाकी भावना होती है। इसलिए स्वरूप-आश्रय होता है। उसमें फर्क नहीं पड़ता और यथार्थता बनी रहती है। अतः मुमुक्षुको भी पर्यायके लक्षसे कोई उच्च कोटिकी पर्याय - प्राप्तिकी (सम्यक्दर्शन-स्वानुभव इत्यादि) भावना नहीं होनी चाहिए। क्योंकि स्वरूपके लक्षसे ही सहज ऊपर-ऊपरकी पर्याय प्रगट होती है। पर्यायके लक्षसे पर्यायका कर्तृत्व हो जाता है, जो कि विपरीतता है। विपरीतता या कर्तृत्व दृढ़ नहीं हो जाये, इसकी सावधानी न रहे तो दर्शनमोह मंद होनेके बजाय तीव्र हो जाता है। (१०२०)



अक्टूबर - १९९२

संसारके त्रिविध तापाग्निमें जल रहे जीवको परम कारुण्यमूर्ति सत्पुरुषका बोध / संग ही शीतल जल है। परन्तु वैसा योग अति दुर्लभ है। फिर भी जो जीव छूटना चाहता है, उसको उसीकी भावना - जिज्ञासा और परम भक्ति रखनी चाहिए। परम भक्ति वह प्राप्तिके लिए पूरी गरजरूपी पात्रता है। अतः उसीकी प्राप्तिके लिए अहोरात्र रटन रखना चाहिए। और ऐसे योगके विरहमें रहकर, वैरागी और सरल चित्तवाले मुमुक्षुका संग करना चाहिए, जो कि चित्त शुद्धिका कारण है। रंगरागके रसवाले और वक्र परिणामवाले मनुष्यके संगमें नहीं रहना चाहिए। तथापि सुपात्र मुमुक्षुके संगसे संतुष्ट नहीं होकर, विरहकी वेदना वृद्धिगत् होनी चाहिए, विरहाग्नि जलनेसे उसका फल साक्षात् प्राप्ति है, संत एवं परम निजस्वरूपके विषयमें, यह नियमबद्ध है। (१०२१)

* परद्रव्यसे भेदज्ञान करनेका हेतु यह है कि, उसमें सुखबुद्धि और ममत्व नहीं हो, अहम्भाव नहीं हो, पर मात्र पर रूप - भिन्न ही भासित हो, एकत्व मिटे, कर्तृत्व मिटे, आश्रय मिटे।

* रागसे भेदज्ञान करानेका हेतु यह है कि, वह मलिन व दुःखरूप भाव होनेसे, उसका निषेध होने पर वह अभावको प्राप्त हो; और रागके एकत्वका, कर्तृत्वका अभाव हो।

* परलक्षी अथवा इन्द्रियज्ञानका निषेध करनेका हेतु यह है कि, वह रागकी उत्पत्तिका कारण होनेसे बंधसाधक है, वह ज्ञान आत्मसाधक नहीं है। अतः परकी ओर झुक रहे उपयोगको स्वसन्मुख करना; अर्थात् दिशा बदलनेका उसमें आशय है।

* पर्यायमात्र (क्षायिकभाव भी) से भिन्न स्वद्रव्यको भानेका - उपासनाका हेतु स्पष्टरूपसे ऐसा है कि, सर्व क्षणिक भाव अवलंबनके योग्य नहीं हैं। शुद्ध पर्याय तो त्रिकाली स्वभावके अवलंबनसे ही ज्ञानीको प्रगट होती है। मुमुक्षुका वजन पर्याय पर रहा तो पर्यायबुद्धि अर्थात् मिथ्यात्व दृढ होगा। द्रव्यदृष्टि प्रगट होनेमें वह बाधक है। ज्ञानी-मुनि निज कारण परमात्माकी भावना हेतु सर्व पर्यायसे भिन्न स्व-रूपको भाते हैं, दृष्टिका पुट देते हैं। उक्त प्रकारसे भेदज्ञान विषयक विधि-निषेधका अवगाहन करने योग्य है। (१०२२)



ज्ञानमें, अवलंबनभूत 'ज्ञानमात्र' प्रसिद्ध है, और 'ज्ञानमात्र'की प्राप्ति स्वसंवेदनसे है। आत्माकी सर्व पर्यायोंमें और सर्व गुणोंमें, एकरूप निश्चल, अभेद (द्रव्य-पर्यायके भेदसे पर - अनउभय) स्वरूपका ग्रहण, स्वसंवेदनके द्वारा होने पर परिणामकी दिशा अंतर्मुख होती है। आत्मधर्म अंतर्मुख परिणामसे अंतःतत्त्व-पारिणामिक भावके अवलंबनसे होता है। कोई भी बहिर्मुख भावमें धर्म नहीं है। श्रीगुरुका यह (परमार्थ) उपदेश है। (१०२३)



मात्र स्वरूपस्थित धर्मात्मासे आत्मा / धर्मका श्रवण करने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है, आराधन करने योग्य है। अपनी कल्पनासे या 'कल्पना प्राप्त' पुरुषसे आत्मा श्रवण करने योग्य नहीं है, प्राप्त होने योग्य नहीं है। कल्पना प्राप्त जीव गृहीत मिथ्यात्वमें है। ये सत्पुरुषका - परम कृपालुदेवका वचनामृत (पत्रांक - ४०३) मुमुक्षुजीवको विस्मरण करने योग्य नहीं है। सत्पुरुषके वियोगमें विरह वेदनापूर्वक, मुमुक्षुओंको उनके वचनके आधारसे, विकल्पसे सुपात्र जीवोंके साथ सत्संगमें रहकर स्वरूपकी गवेषणा कर्तव्य है, स्वरूपकी जिज्ञासा, प्राप्तिकी भावना कर्तव्य है। (१०२४)



श्री वीतरागदेव निरूपित सर्व सिद्धांत केवल आत्महितके हेतुभूत हैं। फिर भी शुद्ध अंतःकरणसे इसका अवगाहन अगर नहीं किया गया तो मति विपर्यास होकर, जीवका उन्मार्ग पर जाना बनता है। अतः पूर्वके ज्ञानीपुरुषोंने जब जो भी सिद्धांतका निरूपण किया है, उस वक्त संभवित विपर्यासके निरोध हेतु, यथायोग्य मार्गदर्शन देकर परम उपकार किया है। नमस्कार हो उनकी कारुण्यवृत्तिको !

प्रतिपादित सिद्धांत द्वारा आत्मलाभ किस प्रकारसे हो, और वही सिद्धांतका अयथार्थ ग्रहण करनेसे, किस प्रकारसे विकृति उत्पन्न हो जाती है अथवा एकांत हो जाता है, इत्यादि चारों पहलूसे मुख्य-गौण, कारण-कार्यका क्रम, आगम-अध्यात्मकी अविरोधता, आदिकी स्पष्टताको (आत्मलक्ष सहित / सम्यक् प्रकारसे) प्रकाशित करनेवाले महात्माओंका अनुपम उपकार है।

(१०२५)



अंतर अवलोकन बिना, सिर्फ विचार-तर्कणासे प्रयोगका विषय समझमें नहीं आता। राग और परद्रव्यके साथ एकत्व हो रहा है - यह विपरीत-उलटा प्रयोग निरंतर चालू है, हो रहा है। जो अवलोकनसे समझमें आने पर मिटता है और सुलटा प्रयोग करनेकी रीत भी समझमें आये, तब भेदज्ञानका प्रयोगाभ्यास चालू होता है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेमें भेदज्ञानका प्रयोग उत्कृष्ट साधन है, वह स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ है।

(१०२६)



जो एकरूप ज्ञानाकाररूप प्रगटरूपसे प्रकाशमान है, जो सर्वदा अचल और निराबाध रहता है, ऐसा जीवका स्वरूप ज्ञायकता अत्यंत अनुभवका कारण है - अनुभूतिस्वरूप है। परकी ओर देखनेसे अर्थात् अपनेमें अपने आपको नहीं देखनेसे, परन्तु अपनेमें - पर नहीं होते हुए भी - परको देखनेसे (परके प्रतिभासमें परके अस्तित्वका भ्रम होनेसे) खुद अपनी विद्यमानताको भूलता है। परन्तु अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य, जो जीवका स्वरूप, वह जीवके प्रति (स्वयंके प्रति) उपयोग मोड़नेसे प्रगट दिखता है - वेदनमें आता है। खुद अपनेसे परोक्ष कैसे रह सकता है ? खुद तो प्रत्यक्ष ही है, प्रत्यक्षको प्रत्यक्षरूपसे देखनेसे वेदनप्रत्यक्षता आविर्भूत होती है। अनन्त ज्ञानी प्रतीतिमें स्वयंको प्रत्यक्ष कर-करके अजर-अमर हुए - यह स्वमें अभेदज्ञानका प्रयोग है।

(१०२७)



अपनेमें / निजमें परके अस्तित्वका भ्रमसे अनुभव करनेवाले, (अपनेमें) स्वयंके सम्यक् स्वरूपकी विद्यमानताको भूले हुए जीवको, सम्यक्मार्ग पर चढ़ानेके लिए, पर प्रकाशनके कालमें,

परलक्षका निषेध करनेके हेतुसे 'वास्तवमें पर जाननेमें नहीं आता' - ऐसा निजमें निजका ग्रहण करानेके हेतुभूत ज्ञानीपुरुषोंका यह प्रयोगका विधान है, अध्यात्म पद्धतिके इस कथनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण कर्तव्य है (अन्य प्रकारसे नहीं)।

जिनेश्वरका सनातन मार्ग सदा जयवंत वर्तो !! (१०२८)



अध्यात्मका विषय परम गंभीर है, उसका अगंभीरतासे कथन करना अथवा श्रवणकालमें अगंभीरतासे सुनना यह जीवका बड़ा दोष है, उसमें गुप्त अनादर / उपेक्षा (स्वच्छंद) हो जाता है, ऐसा जानते हैं। अतः हे जीव ! स्वाध्यायके वक्त गंभीर उपयोग रख।

संसारमें एक मरण-प्रसंगमें भी तद्योग्य गंभीरता रखी जाती है, तो यह अनन्त मरणके निवारण प्रसंगकी विचारणाके विषयमें अगंभीर परिणामसे प्रवर्तन करना, यह बालबुद्धि नहीं है क्या ? ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञासे यह दोष सहजाकाररूप होता है।

परम गंभीर अध्यात्मतत्त्वके प्रतिपादक श्रीगुरुकी गंभीर गुरु-गिराके प्रति अगंभीर वर्तना-उसे स्वच्छंदका प्रकार समझने योग्य है। वह शास्त्र और गुरुका अविनय है। दर्शनमोहके आवरणका कारण है। (१०२९)



'राग तो पर्यायदृष्टिमें है, अज्ञानी पर्यायदृष्टि होनेसे - उसको राग है। स्वभावदृष्टिमें राग नहीं है, इसलिए ज्ञानीको राग नहीं है।' - पू. गुरुदेवश्री।

उक्त वचनामृतमें बहुत गंभीरता / गहराई है। पर्यायमात्रका अपनेरूप अवधारण - उस रूप पर्यायदृष्टिके कारण, पर्यायमें रागरूप खुदका अनुभव हो रहा है। अतः यह मिथ्या अनुभवरूप अज्ञान जिसे वर्तता है, उसे राग है, वह रागी है, क्योंकि खुदको रागी मानता है। हर्ष-शोक पर्यायदृष्टिमें है। परन्तु पर्यायमें रागांश होते हुए भी, जिस स्वभावदृष्टिवंतको उसमें अपनत्व - अपना अस्तित्व अनुभवमें नहीं आता है, राग जिसे परज्ञेयरूप मालूम पड़ता है, ऐसे ज्ञानीको अपनेमें राग नहीं है, अतः स्वभावदृष्टिसे राग नहीं है। दृष्टि रागको कबूल नहीं करती। उन्हें हर्ष-शोक नहीं है। (१०३०)



'किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नहीं है।' - (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक - ४६०)

ऐसा होते हुए भी जीव संसारमें अनेक कारण प्राप्त होने पर क्लेशित होता है। इसका कारण अविचार और अज्ञान है। अज्ञानसे, मोह और दुर्गतिके दुःख उत्पन्न होते हैं।

संसारके किसी भी कारणसे इस आत्माको नुकसान नहीं हो सकता है, खुद ऐसा असंग तत्त्व है, इस निश्चयके अभावमें जीव बाह्य प्रसंगमें खुदको कारण / कार्यरूप मानकर, वैसा चिंतवन करके क्लेशित होता है। आत्मा सर्वसे सर्व प्रकारसे भिन्न केवल असंग चैतन्य होने पर भी - अकारण-कार्यरूप होने पर भी - मोहसे भूलकर सम्बन्धकी कल्पना करता है, जिसका फल दुःख है। क्लेशकी निवृत्ति हेतु सत्पुरुषकी आज्ञाका विचार करके - अंगीकार करके आत्मज्ञानकी प्राप्ति करना यह एकमात्र उपाय है। किसी भी कारणवशात् स्वरूपका विस्मरण नहीं होना चाहिए। आत्मस्वरूपसे अधिक इस जगतमें कुछ है ही नहीं। सर्व क्लेशसे मुक्त होनेका उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। (१०३१)



जीवकी अनादिसे परपदार्थमें सुखबुद्धि होनेसे (ज्ञानमें) परलक्षी ज्ञानकी प्रवृत्ति चलती रहती है। उसमें ज्ञेयाकार ज्ञानका अर्थात् ज्ञानविशेषका आविर्भाव होकर ज्ञानसामान्यका तिरोभाव होता है। इस स्थितिको जीवकी ज्ञेयलुब्धता अर्थात् ज्ञेयमें आसक्ति जानने योग्य है। स्वरूपमें सुखका निश्चय होने पर ज्ञान स्वलक्षी होता है। ऐसे स्वलक्षपूर्वक ज्ञानसामान्यका अर्थात् ज्ञानवेदनका आविर्भाव करनेमें आये तो प्रगट आत्मा स्वसंवेदनमें आता है। स्वलक्षसे यह प्रक्रिया सहज है, क्योंकि अनन्त सुखका निधान स्वयं ही है। इसलिए परिणामकी इसके प्रति गति सहज हो जाती है। स्वाभाविकरूपसे ही जीवकी वृत्तिमें हमेशा सुखकी अपेक्षा है। अतः 'सुखनिधान' के प्रति जानेवाले परिणामको रोका नहीं जा सकता। (१०३२)



सत्पुरुषकी वाणीमें आत्महितका - परमार्थका विषय चाहे कितना भी स्पष्टरूपसे व्यक्त हुआ हो, फिर भी जिस मुमुक्षुने आज्ञांकितपने सत्संगकी उपासना नहीं की हो उसे परमार्थ समझमें नहीं आता। आज्ञांकितपनेके कारण मुमुक्षुकी मति परमार्थ समझनेके लिए निर्मल-सरल होती है। अतः ऐसा नियम सिद्ध होता है कि, अगर मुमुक्षुजीव सत्संगकी उपासना आज्ञांकितपने करे तो ही सत्संग सफल होता है, अन्यथा नहीं; क्योंकि इसके बिना स्वच्छंद जो महादोष है उसकी हानि नहीं होती। आज्ञांकितपना मुमुक्षुके दर्शनमोहके रसको कम करता है, जिससे वह उपशांत होनेके योग्य होता है। (१०३३)



मुमुक्षुकी भूमिकामें दर्शनमोहकी प्रधानता नहीं हो जाये, इसकी सावधानी रखना ज़रूरी है। वरना कषायकी मंदता करनेका प्रयास होता रहेगा और जो मंदकषाय होगा उसे 'मुमुक्षुकी भूमिका' मान लेनेसे - दर्शनमोहकी वृद्धि होगी। अथवा विधिकी भूल हो जायेगी।

यद्यपि दर्शनमोहका रस कम होनेसे चारित्रमोहका रस सहज अपनेआप मंद पड़ता है। फिर भी चारित्रमोह - मंदरस और मंदकषाय सर्वथा एक नहीं है, अथवा उसमें समव्याप्ति भी होती है और विषमव्याप्ति भी होती है। मोहकी शक्ति मोहके रसमें होनेसे रसकी मंदता और अभाव कर्तव्य है। अवलोकनपद्धति द्वारा मोहरस मंद पड़ता है, और निजहितकी जागृति वृद्धिगत होती है, जो यथार्थ भूमिका है। (१०३४)



मुमुक्षुजीवका कोई भी सत् साहित्यके वांचन, विचारमें आत्मगुण प्रगट होनेका मुख्य दृष्टिकोण - उद्देश्य होना चाहिये। शास्त्र-वचनमें उपदेश पर्यायकी प्रधानतासे होता है और निश्चयके उपदेशमें सभी पर्यायें गौण कराई जाती हैं। इन सबमें केवल हितबुद्धिसे वांचन-विचार करनेमें मुमुक्षुका प्रयोजन होता है। इसलिए कहीं पर भी उलझन, अनर्थ या अविवेक नहीं होता। अंततः सर्व विभावमें अध्यासके कारण ऐक्यता हुई है, इसलिए सर्वथा अपनी भिन्नताका प्रत्यक्ष अनुभव करके, स्वस्वरूपकी पूर्णता, शुद्धता, सम्यक्ता, अत्यंत शांतता - आनंदपना, अविनाशीपना दृष्टिगोचर करने योग्य है। संपूर्ण माहत्म्यका स्थान ऐसे निजस्वरूपकी महिमामें डूब जानेसे, समस्त जगतका विस्मरण सहज हो जाता है, यही भावना है। (१०३५)



नवम्बर - १९९२

महात्माके योगमें समष्टिगत उपदेश प्राप्त होने पर भी आत्मार्थीजीव इससे संतुष्ट नहीं होकर, अपने प्रयोजन हेतु व्यक्तिगत उपदेशग्रहणकी आवश्यकता महसूस करके, महापुरुषका सामीप्य चाहता है। तब उस जीवकी वर्तमान योग्यताको लक्षमें लेकर महापुरुष बोध देते हैं, जो कल्याणकारी होता है। अतः व्यक्तिगत उपदेशका महत्व विशेष समझने योग्य है। ऐसी समझ असाधारण विवेक - विचारवान जीवकी ही होती है, यह देखकर महापुरुषके चित्तकी प्रसन्नता उत्पन्न होती है, वही उनकी 'कृपादृष्टि' समझना। बाह्य प्रभावनामें समष्टिगत उपदेश विशेष कार्यकारी है। (१०३६)



आत्मार्थीजीवको स्व-दोष देखकर सहज खेद होता है। उसमें विभावरस मंद होता है। फिर भी कोई-कोई दोष बारंबार हो जाते हैं और मिटते नहीं, (तब) अकुलाहट (उलझन) हो जाती है। ऐसी परिस्थितिमें स्वदोष प्रगट करने योग्य सत्संगके योगमें - वैसे संगकी चाहत रखना और दोषका निवेदन करनेका स्थान, उसे दोष टालनेका उपाय जानकर, वैसे संगको उपकारी जानना। पूर्ण निर्दोषताके अभिलाषी जीवकी ऐसी आचरणा होती है। जिनेश्वर देवका

मार्ग लोकोत्तर निर्दोष - पवित्र है। पूर्ण पवित्र निज स्वरूपको निहारनेके लिए ऐसी तैयारी होती है। पवित्रताकी रुचि वह आत्मरुचि है। जिसकी रुचि, उसकी सावधानी रहती है। पवित्र स्वभावकी सावधानीमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होनेका कारणपना है। कारण-कार्यकी परम्पराका ऐसा क्रम है। (१०३७)



परपदार्थको जाननेका आत्माको कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी स्व-पर प्रकाशक शक्तिके कारण, दर्पणवत् ज्ञानमें परपदार्थका प्रतिबिंब उठता है, अतः परका मालूम होना अनिवार्य है। अनादिसे भेदविज्ञानके अभावके कारण, जीवको अपने ज्ञानमय भिन्न अस्तित्वका ज्ञान नहीं होनेसे, पर मालूम होते ही परसे एकत्व हो रहा है। ऐसी स्थिति होनेसे 'परको पररूप जानना' - यह जरूरी है, जिससे परका ममत्व / एकत्वका दोष मिटे - यह प्रयोजनभूत है। दोषको नहीं जाननेमें (नहीं समझनेमें) आये तो, उसका क्षय करनेका सम्यक् उपाय नहीं हो सकता। कल्पितरूपसे अथवा युक्ति द्वारा 'पर सर्वथा जाननेमें नहीं आता है' - ऐसा दृढ करनेसे, पदार्थके स्वरूपज्ञानका विपर्यय होता है। भेदज्ञान - प्रयोग द्वारा निज अस्तित्वको ग्रहण करनेके पुरुषार्थमें, निजमें मात्र निजका ही वेदन करके जानना, कि जिससे भावमें परसे एकत्व मिटे। 'जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ में ऐसा दृढ भाव, वह सम्यक्त्व है।' (-अनुभवप्रकाश) (१०३८)



सत्श्रुत प्राप्त होने पर भी जीवको निजस्वरूपका यथार्थ निश्चय होनेमें, यानी कि स्वरूपकी पहचान होनेमें अंतरायरूप जीवका मति विपर्यास है। ये मति विपर्यास, परमें सुखबुद्धिके कारण उत्पन्न हुए रसके कारण है। अंतरसे आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक, इस विभावरसको ज़हर जानकर, कमजोर (फीका) किया जाये तब वैराग्य और उपशम प्रगट होते हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे विभाव भावोंमें नीरसता होनेके पहले, स्वरूपको समझने जानेमें, जाने-अनजानेमें स्वरूपका अन्यथा - कल्पित निर्धार हो जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व पतला नहीं पड़ा। अतः परमें सुखबुद्धि वही आरंभ - परिग्रह है, कि जो यथार्थ वैराग्य-उपशमरूप आत्मार्थीकी यथार्थ भूमिकाके वैरी हैं, विरोधी और घातक हैं। आत्मार्थी जीवको सर्व उपदेश व सिद्धांतका उपशम हेतु (विभावरस तोड़नेके लिए) ग्रहण करने योग्य है और इसीमें यथार्थता है। (१०३९)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाला जीव अगर अवलोकन पद्धतिमें नहीं आये तो अध्यात्मके विषयका जानकार बन जाता है, फिर भी वेदन-अनुभवके विषयसे अनभिज्ञ रहता है। अतः विधिके विषयमें 'जानकारीकी प्रधानता' सम्बन्धित (स्थूल) जानकारी हो जाने पर भी, अनुभवकी

सूक्ष्म, यथार्थ विधिसे अनजान होता है, क्योंकि विचारकी पहुँच ज्ञानसामान्य या जहाँ ज्ञानवेदन है, वहाँ तक नहीं है। इतना ही नहीं अवलोकनके बिना परलक्ष मिटनेकी दिशामें कोई भी वास्तविक प्रक्रिया शुरू नहीं होती। अतः सर्व जानकारी परलक्षी होती है।

उसमें न्यायादि आगम अनुकूल होने पर भी यथार्थता उत्पन्न नहीं होती, अध्यात्मका आशय बुद्धिगम्य होने पर भी, भाव भासित नहीं होता। अतः 'स्वलक्षी अवलोकनमें' बहुत गंभीरता है। भावभासन बिना सन्मुखताका पुरुषार्थ शुरू नहीं होता। (१०४०)



अध्यात्मका आशय बुद्धिगम्य होनेसे, त्रिकाली परमपारिणामिक ज्ञायक स्वभावका, आश्रय-अवलंबन - लक्ष - अंतर्मुखता-इत्यादि होनेमें इसके हेतु, न्याय, युक्तियाँ, आगम-आधार इत्यादि - समझना और समझानेका बन सकता है। परलक्षी ज्ञानमें इतनी मर्यादा तक परमार्थका विषय संभवित है। परन्तु यथार्थता तो स्वलक्ष होने पर ही आती है, वहाँ तक उक्त विषयका भाव भासित नहीं होता। ऐसी स्थितिमें प्रायः यथार्थता मान लेनेका बन जाता है, जो यथार्थताको प्रतिबंधक है। यथार्थता सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अंग है, यानी कि पूर्वभूमिका है - यह विषय सूक्ष्म है, क्योंकि यथार्थता आये बिना इस समझमें कल्पना होकर, कल्पित भावमें संतोष - मिथ्या संतोष / समता आती है। परन्तु स्वभावकी अपूर्व रुचि और विभावकी अरुचि प्रगट नहीं होती। फलतः योग्यता रुक जाती है। (१०४१)



आत्मारथी प्रारब्धके प्रसंगमें अपनत्वका रस कम करनेके लिए जागृत होता है। ऐसी जागृति निज कल्याणकी बलवान भावना वश उत्पन्न होती है। गुणजिज्ञासापूर्वक सत्संगका महत्त्व भासित होना, सरलता और वैराग्य - उपशम आदि यथार्थ भूमिकामें हो, तो आत्मस्वरूपका विचार - खोज यथार्थरूपसे चलते हैं, स्वभावकी सम्यक्ताके (सूक्ष्म) स्वरूप तक उपयोग पहुँच पाता है। ज्ञानीपुरुषकी दशामें स्वभावकी सम्यक्ता प्रगट है। जिसके द्वारा यदि स्वरूपकी अभिमुखता और अप्रतिबद्धताकी 'प्रयत्नदशा' समझमें आये, तो आत्मारथ समझमें आये; और ज्ञानी महात्माकी अपूर्व भक्ति प्रगट होवे। (१०४२)



स्वरूपकी भावना निरंतर रहे, वृद्धिगत होती रहे, तो अवश्य स्वरूपकी प्राप्ति होती ही है। भावनासे दर्शनमोह और ज्ञानका विपर्यय-मल इत्यादि अवरोध दूर होते हैं, अथवा गल जाते हैं, तब उपयोग द्वारमें चैतन्यका प्रकाश दिखता है। आत्मामें सहज प्रत्यक्षता अनन्त है - उसका दर्शन - वही चैतन्यप्रकाश है। जो भावनाके द्वारा प्राप्त हो सकता है। सच्ची

भावनाके अलावा दूसरे किसी भी प्रकारसे प्राप्त होना असंभवित है। (१०४३)



प्रश्न :- पूर्णताका लक्ष्य-ध्येय हुआ है, इसका लक्षण-स्वरूप क्या ?

उत्तर :- स्वरूपकी भावना निरंतर रहे, लगन / चटपटी लगे, उसे प्राप्त करके ही छोड़ना है, वहाँ तक चैन नहीं हो, प्राप्तिके ही कारण खोजता रहे, सच्चे मोक्षार्थीकी ऐसी परिस्थिति होती है। ऐसा प्रकार भूमिकाकी यथार्थताको उत्पन्न करता है। जो यथार्थता विकसित होकर सम्यक्त्वको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थता उत्पन्न होने पर, वह अपने प्रयोजनके विषयको, प्रयोजन (आत्महित) सधे उस प्रकार पूर्णताके लक्ष अनुसार जानता है।

(१०४४)



सामान्यके आविर्भारूप ज्ञानवेदन तक जिसकी पहुँच नहीं है, वह अध्यात्मके विषयका अध्यात्म शास्त्र अनुसार, न्याय - युक्ति (अनुभवके दृष्टांत) अनुसार अवधारण करे, तो भी उसमें जानकारीकी प्रधानतासे कथन तो आ सकता है, परन्तु वेदन प्रधानता अथवा वेदन सम्बन्धित कार्य पद्धति और उस विषयमें हो रही विपरीतता - अविपरीतता आदि - (सभी पहलूसे विषयकी अनभिज्ञताके कारण) कथनमें नहीं आ सकते। यद्यपि वेदनका विषय अधिकांश अवक्तव्य है, फिर भी जितना अल्प अंशमें वक्तव्य है, उसे व्यक्त होनेमें उस दशाके अनुभवकी झलक अनुभवरस सहित होती है। अतः वहाँ तक जिसकी पहुँच नहीं है, उसके वक्तव्यमें तफ़ावत रहता है, जो उस विषयके अनुभवीको समझमें आता है, साधारण मुमुक्षुको या मध्यम कोटिके मुमुक्षुको इस प्रकारका भेद समझमें नहीं आनेसे, वह भ्रांतिमें पड़ता है। (१०४५)



प्रश्न :- यदि पूर्णताका लक्ष नहीं बंधा हो तो क्या करना ? ध्येय बाँधना है, लेकिन उसके लिए क्या करें, यह उलझन है ?

समाधान :- ध्येय शून्य प्रवृत्तिका मूल्य शून्य जानना, जिससे निरहंता रहेगी और धार्मिक प्रवृत्तिमें रुकावटका कारण उत्पन्न नहीं होगा। सत्संगको अमृत जानकर, संसारके सभी प्रसंगोंकी गौणता हो जानी चाहिए। संसारकी सर्व महत्वाकांक्षाओंको बिलकुल छोड़ देना चाहिए (और तीव्र अपेक्षा कहीं पर भी नहीं रखनी चाहिए।

सत्संगमें भी 'पूर्णताका लक्ष' नहीं हुआ है, इसकी खटक रखते हुए, उसी हेतुसे सर्व विचारणा - मंथन चले, उसीका प्रयत्न चालू रहे - वही 'उसका' कारण है। कारणमें कार्यको गर्भित समझना। जिसको छूटना ही है, उसे कौन बांध सकता है ? ऐसा शुद्ध अंतःकरण

है कि नहीं ? इसकी जाँच करना। जाँच करने पर अभिप्राय (नियत) पकड़में आयेगा, और तब अंतःकरणकी मलिनता मिटेगी, तभी तो 'पूर्णताका लक्ष' हो सकेगा। (१०४६)



शास्त्र-अभ्यासके प्रसंगमें हमेशा जाननेके विषयको गौण करके, प्रयोजनभूत विषयको मुख्यता देनी चाहिए, और जितना भी प्रयोजनभूत विषय है, उसमें भी अपने दोष और विपर्यास टालनेमें उपयोगी हो, इसके अलावा दूसरे विषयको गौण करना चाहिए। उसमें भी वर्तमान स्थितिको लक्षमें रखकर आगे बढ़नेमें वर्तमानमें जो उपयोगी हो, उसे मुख्य करके प्रयोजनको साधना चाहिए। यह पर्याय नयसे, बात निजहितकी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टि विषयक है, जो ध्येयका / पूर्णताके लक्षका अनुसरण करते हुए सहज होनी चाहिए। आश्रयभूत परमभाव परम प्रयोजनभूत है। वहाँ तक पहुँचनेकी यह श्रेणी कही। (१०४७)



लक्षणसे और वेदनसे जिसका स्वरूप प्राप्तिकी विधिके विषयमें प्रवेश नहीं है, उसका वास्तवमें आध्यात्मिक विषयमें प्रवेश नहीं है। फिर भी अध्यात्म तत्त्वकी प्रधानता होती है, तो वह ओघसंज्ञासे होती है। तत्त्वकी अंतर रुचि द्वारा ओघसंज्ञा निवृत्त होने पर आत्मलाभ होता है, यथार्थ आत्मकल्याणका लक्ष हो तो कहीं पर भी अटकना नहीं होता, ओघसंज्ञामें विशेष काल चला नहीं जाता। यदि ओघसंज्ञामें विशेष रहना हुआ तो उसमेंसे विकृति वृद्धिगत हो जाती है। बाह्यलक्षी सर्व प्रवृत्ति मात्र शुभोपयोगकी रह जाती है। विषय अध्यात्मका होनेसे, उसमें यथार्थताका अथवा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानका भ्रम होता है। अतः इस जगह वैसा नहीं हो, इसकी जागृति होनी चाहिए, विचार होना चाहिए। (१०४८)



यदि आत्महितकी जागृति जीवको नहीं रही तो अनादिसे वर्तमान तक (सर्व) प्रवृत्ति, जिस प्रकार परमार्थकी अपेक्षा निर्लक्ष और निष्फल गई है, वैसा ही होगा। अतः ऐसे सुयोगमें कि जहाँ परमसत् टपकता हो, वहाँ आत्मजागृत्तिकी दृढतासे भावना करके, लोकभय और लौकिकभावका त्याग करके रहना चाहिए। जिससे कि सर्व साधन निजहितमें ही निमित्तभूत होवे। सत् साधन (निमित्त) में तो आत्मश्रेयका ही निमित्तत्व है, परन्तु वह उपादानकी योग्यता होने पर ही सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, यह भी लक्षमें रखने योग्य है। सर्व साधनमें सत्संग सर्वोत्तम है, यह सर्व आगम और ज्ञानियोंको सम्मत है। (१०४९)



जो भेदज्ञान और स्वानुभव परिणत है, जिन्हें प्रारब्धयोगसे परभावके उदयप्रसंगमें प्रवर्तते

हुए हितबुद्धि या प्रमादबुद्धि होना संभवित नहीं है, वैसे ज्ञानी भी व्यवसायादिक सांसारिक प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी भावना करते हैं, तो फिर मुमुक्षुजीवको निजज्ञानके परिचय - पुरुषार्थ हेतु निवृत्तिकी चाहत रखना, यह विचारवान जीवका विवेक है। इस प्रकारके विवेकका अभाव - परभावकी रुचिका द्योतक है। सच्ची मुमुक्षुतामें तो उदय-प्रसंगमें असारता भासित होती है, वृथा समय खोना पड़ रहा है, - ऐसा जानकर निवृत्तिकी तीव्र चाह रहा करती है और पूरी शक्तिसे आत्मार्थके पीछे समय व्यतीत हो, वैसा उपयोग रहता है। (१०५०)



दिसम्बर - १९९२

अनुपम चिद्रूपको - निज परमेश्वरपदको अंतरमें जिन्होंने व्यापक(रूपमें) निहारा, उनको रागादिमें स्वपदका भ्रमभाव मिटा। रागकी मिटास छूट गई, क्योंकि अशुचि व दुःख लगनेसे, अपेक्षा छूटकर उपेक्षा हुई। जिसे रागकी उपेक्षा हुई, उसे रागके विषयभूत देहादि और इन्द्रिय विषयोंकी माया छोड़ना सहज है। शाश्वतपदमें निवास होनेसे, भवउदासी होकर निजसुखराशीको प्राप्त होता है। पूरे भवसे उपेक्षाबुद्धि हुई है, वहाँ भवके पेटाभेदरूप उदय प्रसंगोंमें भी गौणता होना सहज है। सत्संगको निष्फल करनेवाले लौकिकभावको तो इस अलौकिक सन्मार्गमें जरा भी अवकाश नहीं है। (१०५१)



अहो ! सत्पुरुषके हृदयका गांभीर्य ! मान-अपमानकी बुद्धि नहीं होने पर भी, अपना आत्मा बाह्य माहत्म्यको नहीं भजने लगे, इसके लिए जो अत्यंत जागृत हैं, (और) अन्य महात्माओंके प्रति और पात्रतावान उत्कृष्ट मुमुक्षुके प्रति वे सहज बहुमानपूर्वक विनम्रतापूर्ण व्यवहारसे प्रवर्तते हैं। दृष्टि सम्यक् होनेसे जिन्हें महा विवेक प्रगट हुआ है। धर्म प्रभावना करते हुए, मुमुक्षुओंको 'आश्रयमार्ग' का बोध देते हुए भी, प्राप्त महत्त्वसे जो अंतरसे निस्पृह रहते हैं, फिर भी अंतेवासी सुपात्र जीवकी भक्ति-भावनाका केवल निष्कारण करुणासे अनुमोदन करते हैं, स्वदोषको भी प्रगट करके जो आपसमें ऐक्यताको वृद्धिगत करते हैं, ऐसी स्व-पर कल्याणक विचक्षणताके धारक धर्मात्माके प्रति हृदय नत्मस्तक हो जाता है। वास्तवमें वे आश्चर्यकी प्रतिमा ही है। जितना - जितना उनके सम्यक् चरणके समीप जाना होता है, हृदय वारंवार बहुमानसे पुकार उठता है - अहो...! अहो...! (१०५२)



अवगुणके प्रति अनगमा होना वह प्रशस्त द्वेष है। चाहे वह स्वका हो चाहे परका। गुण जिज्ञासा - चाहनाकी भूमिकामें ऐसा हुए बिना नहीं रहता। सम्यक् वीर्यकी उत्पत्ति होनेके पहलेका

यह क्रम है। अनादिसे अवगुणके प्रति जीवका पुरुषार्थ चल रहा है, जो कि वास्तवमें नपुंसकता है अथवा सिर्फ गुस्सा होना वह नपुंसकता है। आत्मजागृति अथवा समाजजागृतिके हेतु पुण्यप्रकोप सवीर्य होता है, पौरुषी होता है। अवगुणके सामने आत्मा तीव्ररूपसे व्यथित हो जाये, तो वह सद्गुण है, दोष नहीं। दंभके दौर पर राचनेवाले, प्रभावनाके नामसे प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले, सूईका दान करके सोनेकी चोरी करनेवालोंके प्रति किये गये कटाक्षको कटुता नहीं गिने, बल्कि उसमें करुणता होती है। संतोंकी वाणीमें भी वह देखनेको मिलता है। (१०५३)



गुण और गुणवानके प्रति बहुमान वह भक्तिका सच्चा स्वरूप है। ऐसी सच्ची भक्ति गुणप्राप्ति और ज्ञानप्राप्तिका हेतु है। इस भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मलज्ञान मोक्षका हेतु है। भाषाज्ञानसे या विद्वत्तासे निर्मलज्ञानकी कक्षा ऊँची है, अलग प्रकारकी है। (१०५४)



अपरमार्थके विषयमें परमार्थका आग्रह दृढ होनेसे (अथवा) (दर्शनमोह वृद्धिगत होनेसे), सम्यक्बोध प्राप्तिके योगमें भी, उस बोधका प्रवेश हो, वैसा भाव उत्पन्न नहीं होता है, ऐसी दिक्कत मुमुक्षुजीवको उपरोक्त कारणसे हो तब, परम दीनभावसे परमात्माके प्रति याचना कर्तव्य है कि 'हे नाथ ! इस परिभ्रमणसे निवृत्तिका सर्वोत्तम उपाय ऐसा जो सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योग - उसका शरणभाव मुझे उत्पन्न हो - ऐसी कृपा कर।' इस प्रकारके भावसे भरे हुए बीस दोहे परम कृपालुदेवने श्री लल्लुजीको बोधरूपमें दिये थे, जिसकी गुण आवृत्तिके हेतुसे आत्मार्थी जीवको अनुप्रेक्षा कर्तव्य है। (१०५५)



जिसने अंतःतत्त्व - निज पदार्थको देखा नहीं, अंतर्मुखी मार्गको जाना नहीं, ऐसा जीव अंधत्वसे उस पदार्थको और उसकी प्राप्तिके मार्गको दिखा नहीं सकता। इसके बावजूद भी कल्पनासे अपरिणामी रहकर मार्गको कहे, तो महा अनर्थकारी दशा खुदकी होती है - ऐसा विचार करके दूसरोंको उपदेश करते वक्त, उपरोक्त विषयकी गंभीरता लक्षमें रखने योग्य है। इस वजहसे मुमुक्षुजीवको जिनवाणीके आश्रयमें रहकर, उपदेशक नहीं बनकर, सत्संगकी उपासना कर्तव्य है, गुणजिज्ञासु बनकर रहना (उचित है)। (१०५६)



अन्य द्रव्य-भावमें तादात्म्यपना भासित होता है, वह जन्म-मरण और परिभ्रमणका कारण है, जिसकी निवृत्ति स्व-स्वरूपका लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे तादात्म्यरूपसे अनुभव करनेसे सहज हो सकती है। परमें स्वपनेकी भ्रांति - वही संसार है, वही सर्व दोषोंका मूल है।

जिसको छोड़नेका उपाय सर्वप्रथम कर्तव्य है, उसको गौण करके, छोटे-छोटे दोष छोड़नेमें समय व शक्तिका खर्च करना उचित नहीं है। (१०५७)



'ज्ञानमात्र'से वेदनगोचर हो रहा जो निज अस्तित्व - वही आत्मा है; जो प्रत्यक्षतासे (द्वारा) साक्षात्कार होकर निःशंक प्रतीतिको पैदा करता है। आत्मवेदन शांत सुधामय होनेसे उसमें थम जाना - जमना सहजरूपसे होने योग्य है।

'ज्ञानमात्र' भावमें अनंत निज ऐश्वर्यका अवलंबन है, वीर्यकी स्फुरण है। (१०५८)



उदय प्रसंगोंमें अपेक्षावृत्तिके कारण दीनता होनेसे निज सामर्थ्यका सहज अस्वीकार हो जाता है, जो अज्ञानीका लक्षण है। जब कि स्वयंके अनंत सामर्थ्यके स्वीकारके कारण, निरालंब, निर्पेक्ष परम तत्त्वके आधारसे उदयमात्रमें उदासीनता रहे, वह ज्ञानीका लक्षण है। इसीलिए ज्ञानी हमेशा असंगताकी ही भावना भाते हैं, जो असंगदशाकी प्राप्तिका कारण है। मुमुक्षुजीवको शुभयोगकी प्रवृत्ति करते हुए अगर द्रव्यादिकी वांछा रही, तो वह मुमुक्षुताका नाश कर देती है। इस प्रकारकी वांछाके परिणाम वह भूमिकासे बाहरके परिणाम हैं। (१०५९)



अनुभवज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न हुआ निश्चय बदलता नहीं है, कि दूसरे पदार्थके संगसे प्रवर्तन करनेमें आस्रव है और आत्मपरिणामकी अस्वस्थता अर्थात् असमाधि है। जितनी आत्मपरिणामकी स्वस्थता, उतनी ही समाधि है। इसी वजहसे सर्व संग-प्रसंगमें ज्ञानी उदास हैं। मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति दो कर सकते हैं, एक ज्ञानी और दूसरा ज्ञानीके आश्रयमें वर्तता हो, वह। सर्व उद्यमसे असंगतासे, आत्मभाव साध्य हो उस प्रकारसे प्रवर्तन करनेकी श्री जिनेश्वरकी आज्ञा है। (१०६०)



बाह्यमें खुदका माहृत्य दिखे, वैसा कुछ भी करना, करवाना, या अनुमोदन करना - यह ज्ञानीको प्रिय नहीं होता, बाह्य दृष्टिवानको प्रिय होता है। मनुष्य पर्यायमें मानको जीतना अति दुष्कर है। उसका सुगम - सरल उपाय सत्पुरुषका चरण-आश्रय है। इसके सिवा मानसे मुक्त होना अति दुष्कर है। - इस दुष्कर कार्यकी सिद्धिका अद्भुत उपायका संतोंने बोध दिया है। जिसकी मुमुक्षुजीवको परमहितका मूल समझकर उपासना कर्तव्य है। (१०६१)



सम्यक्प्रकारसे अनुकम्पाकी उत्पत्ति होने पर सर्व जीवके प्रति भेदभाव बिना निर्वैर्यबुद्धि

होती है, जो आत्मशांतिका कारण है। जब तक एक जीवके प्रति भी वैमनस्यका शल्य रहे, तब तक आनन्दकी उत्पत्ति होनेमें आत्माको प्रतिबंध है। इतनी संकुचितता है। जहाँ संकुचितता है वहाँ वैसी वृत्ति आत्माको बेभान जैसा बना देती है। वैसी कुंठित दशामें आनंदका उद्भव कैसे हो ? किसी भी प्रकारके भेदभाव बिना सर्वात्माका पूर्णहृदयसे स्वीकार - सत्कार होनेसे, अलौकिक दशा प्रगट होती है। (१०६२)



अनुभूतिस्वरूप होनेसे आत्मा अत्यंत प्रत्यक्ष है। आत्मामें सहज प्रत्यक्षता अनन्त है। निरंतर चल रहे ज्ञान वेदनसे इसकी सिद्धि और प्रतीति है। प्रत्यक्षताके आधारसे उत्पन्न प्रतीति, निःशंकता और पुरुषार्थको सहज उत्पन्न करती है। प्रत्यक्षताके अवलंबनसे आत्मरस प्रचुर होता है, वीर्यका उछाला आता है। वीर्यका स्वाभाविक कार्य स्वरूप रचना है। (१०६३)



ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे और ज्ञानविशेषका तिरोभाव होनेसे, ज्ञानमात्र ऐसे स्व-स्वरूपका अपने रूप अनुभव होता है। अन्यपदार्थमें सुखबुद्धि मिटनेसे - आसक्ति मिटनेसे - ज्ञेयाकार ज्ञान नीरस होनेसे, ज्ञानका बाह्य पदार्थके प्रति खिंचाव कम हो जानेसे, और आत्मिक सुखके प्रति आसक्त होनेसे, ज्ञानविशेष तिरोभूत हो सकता है अथवा होता है। (१०६४)



ज्ञानीपुरुषके समागमकी उपासना किये बिना, जीव स्वच्छंदसे स्वरूपका-सिद्धांतका निश्चय करे, तो वह छूटनेका मार्ग नहीं है, ऐसा करनेमें विपर्यास होनेका संभव है। जीवका परमात्मपना सर्व श्रुतज्ञानका सार है, परन्तु जब तक यह स्वरूप यथातथ्य प्रगट नहीं हो, तब तक जिज्ञासु रहना (उचित है), मोक्षार्थी रहकर सत्पुरुषके आश्रय अनुसार - आज्ञा अनुसार निश्चय करना, वह मोक्षके लिए बीजभूत है। वरना परमात्मपनेके अभिमानकी प्रवृत्ति होती है, जो वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी अशातनारूप है - इस गंभीरताका विचार कर्तव्य है। (१०६५)



जनवरी - १९९३

महात्माओंकी अंतर-बाह्य जीवनचर्या देखते हुए, उपदेशमार्गका प्रवर्तन करनेमें सहजरूपसे अप्रतिबंध भावमें जागृत रहकर उन्होंने प्रवृत्ति की है, परन्तु उदीरणभावसे वैसी प्रवृत्ति नहीं की है। यदि ऐसा करे तो अवश्य प्रतिबंध हो जाये। जिस आत्मामें गुण प्रगट हो, वह अवश्य भक्ति करने योग्य है, फिर भी अविरतिरूप उदय होनेसे, लोगोंको कठिन पड़ता है; और किसी न किसी अंशमें विराधना होनेका कारण बनता है, इतना ही नहीं पूर्वके परम ज्ञानी-

विरतिका अनुक्रम टूटने जैसा प्रवर्तन खुदसे नहीं हो, इत्यादि लक्षमें रखकर प्रवर्तन करना चाहिए। उदयमें उदासीनता आये बिना आत्मजागृति संभवित नहीं है। (१०६६)



लोकसंज्ञाका श्रद्धाके साथ सम्बन्ध है। जो लोगोंके अभिप्राय अनुसार जीता है, उसे खुदके ऊपर श्रद्धा नहीं है। जिसे खुदमें श्रद्धा है, उसे लोगोंकी दरकार नहीं होती। खुदकी निर्दोषता ही निःशंकताका आधार होनी चाहिए। सत्यको यदि दूसरेके सर्टिफिकेटकी जरूरत पड़े, तो वह पंगु / अपंग हो जाये। लोगोंके अभिप्रायको खरीदनेवाले सत्यको बेचकर, आत्मघात करते हैं। ऐसे जीवनमें शांति नहीं होती। सम्यक्मार्ग पर चलनेवाला स्वतंत्र विचारक, किसीकी भी परवा किये बिना, मस्तीमें जीता है। उसे कोई भी घटना या दुर्घटना चलीत नहीं कर सकती, बल्कि सर्व प्रसंग मार्गकी दृढता होनेमें ही उसे, उपकारी होते हैं। सच्ची समझका ऐसा स्वभाव है। (१०६७)



परमार्थसे आत्म-स्वरूप असंग है। वैसी स्वरूपाकार दशाकी-असंगदशाकी प्राप्ति होना, वह मोक्ष है। ऐसी दशाकी प्राप्तिके उपायसे जो अनजान है, उसे मार्गके अनुभवी पुरुषके सत्संगकी उपासना करनी चाहिए - ऐसा अनुभवी महात्माओंने कहा है, जो अत्यंत सत्य है। निर्वाणमार्ग अगम और अगोचर है। श्रीगुरुके आश्रय बिना वह मार्ग मिलना अशक्य है। यद्यपि जिन्हें मार्ग प्राप्त है, वे भी सत्संगकी उपासनाको आवश्यक समझते हैं, अन्यथा प्राप्त बोध स्थिर रहना विकट है, तो आत्मार्थीको तो इसकी आवश्यकता विशेषरूपसे भासित होगी ही - यह निःसंशय है। (१०६८)



निजदोष देखनेके दृढ निश्चयके कारण तथारूप लक्ष रहता हो, जिससे स्वच्छंद रहितता हुई हो, वैसा मुमुक्षुजीव शास्त्र पढ़ सकता है, इसके पहले शास्त्रज्ञान करनेसे, शास्त्रीय अभिनिवेश हो जानेका प्रायः संभव है। स्वच्छंद रहित जीवको आत्मा समझनेके लिए शास्त्र उपकारी होते हैं। अनेकविध शास्त्र वचनोंमें पूर्वापर अविरोधता, क्रमभंग रहित यथार्थता, एवं योग्य प्रकारसे वज़न हीनाधिक देना - इत्यादि सूक्ष्म प्रकारको, सत्संग बिना समझना दुर्गम है।

'पूर्णताके लक्षसे' प्राप्त उपशमदशा द्वारा जीव शास्त्रका अवगाहन करनेके लिए अधिकारी बनता है। अनअधिकारी जीवके लिए शास्त्र, वह शस्त्रके बराबर हो जाता है। (१०६९)



ज्ञानीको स्वरूपमें स्थिरता वर्धमान होनेसे वीतरागताके कारण सहज त्याग वर्तता है, जो

इनके ऐश्वर्यको व्यक्त करता है। श्री तीर्थकरदेवने इस प्रकारके त्यागकी उत्कृष्टता प्रकाशित की है। जो सर्व जीवोंके लिए उपकारी है - उपकारभूत है। जिस-जिस प्रवृत्तिके योगमें उपयोग विशेष चलायमान होता हो, उससे छूटनेके लिए ज्ञानीका सहज उद्यम होता है। अकर्तृत्वभावसे त्याग होना इष्ट है। सम्यक्प्रकारसे प्रवर्तित त्यागमें दीनताका अभाव होता है। वीतरागताके सद्भावमें और प्रमाणमें, रागका - विकल्पका अभाव होता है, अतः रागके विषयको तदनुसार सहज (आर्तध्यान बिना) छोड़ सकते हैं अथवा छूट जाता है। उसमें प्रतिज्ञाका भाव / विकल्प निमित्त होता है। (१०७०)



सर्वकार्यमें मुमुक्षुको कर्तव्य एकमात्र आत्मार्थ ही है। उस आत्मार्थरूपी प्रयोजनका लक्ष एवं भावना रखनी चाहिए। शुद्ध अंतःकरणसे उत्पन्न भावनामें ध्येयप्राप्ति गर्भित है। यह कारण-कार्यकी परम्पराका नियम है - संधि है। (१०७१)



* परलक्षी विचारकी पहुँच ज्ञानसामान्यरूप ज्ञानवेदन - अंतरंग तक नहीं है। स्व अवलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञानवेदन पकड़में आता है।

* आत्मार्थीता और आत्मजागृतिके बिना आत्मकल्याणका आशय वाणीमें व्यक्त नहीं हो सकता, अर्थात् वह आशय वक्ताकी चतुराईका विषय नहीं है।

* पदार्थ दर्शन बिना वस्तुस्वरूपका निरूपण कल्पनायुक्त और पूर्वापर विरोधी होता है; और संतुलित नहीं होता। सिर्फ आगम अभ्याससे पूर्वापर अविरोधता प्राप्त नहीं हो सकती।

* स्वरूपलक्ष हुए बिना मुख्य-गौण करनेमें यथार्थता नहीं रह पाती। भावमें हीनाधिक वज्रन देनेसे नयकी अपेक्षा टूटती है और विपर्यास सधता है। (१०७२)



प्रश्न :- स्वानुभूतिको आवरण करनेवाले परिणाम कौन-कौनसे हैं ?

समाधान :- अनुभवज्ञानमें परप्रवेशभावरूप देहादि अध्यास और अन्य पदार्थ (राग व रागका विषय)के प्रति अहंता-ममताके परिणाम स्वयंके वेदनको आवरित करते हैं। उक्त परिणामोंको मिटाकर उपयोग स्वभावमें परिणमन करे और ज्ञान स्वरूपपना भजे अर्थात् स्वयंका ज्ञानमात्ररूप संचेतन हो - इससे ज्ञान निरावरण होता है, अथवा शुद्ध होता है।

‘ज्ञानस्य संचेतया ज्ञानं अतीव शुद्धं प्रकाशते।’ (समयसार कलश-२२४) (१०७३)



दर्शनमोहकी शक्ति कम होनेके लिए, सत्संगका आश्रय करनेकी ज्ञानीपुरुषोंने मुमुक्षुजीवको

आज्ञा की है, और जगह-जगह पर सत्संगका माहत्म्य दर्शाया है, साथ ही साथ असत्संगसे दूर रहनेकी हितशिक्षा भी दी है। इसका यथार्थ लक्ष नहीं होनेसे जीव उसका विस्मरण कर जाता है। अतः परिणाम अखण्ड नहीं रहते। आत्मरुचि वृद्धिगत् हो ऐसी इच्छावान मुमुक्षुको दूसरे सर्व बाह्य साधनको गौण करके सत्संगकी उपासना कर्तव्य है। जिसे ऐसा विवेक नहीं है, उसे निमित्तका भी विवेक नहीं है, तो उपादानका विवेक तो उसे होगा ही कहाँसे ? फिर भी उपादानका नाम लेकर जो सत्संगको गौण करता है, वह ज्ञानीकी आज्ञाकी विराधना / उल्लंघन करके स्वच्छंदका सेवन करता है। यह निःसंशय है। (१०७४)



मनुष्यपना अनन्तबार प्राप्त हुआ है, परन्तु आत्महितार्थ उसकी सफलता हुए बिना प्रायः देहार्थ प्रवृत्ति करनेमें व्यतीत हुआ है। जिसमें जन्म-मरणका नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिनको वर्तता है, ऐसे ज्ञानीपुरुषकी पहचान करके, आश्रय किया, वह मनुष्यपना सफल है। जिस आश्रयसे जीव अनेक प्रकारके मिथ्याग्रहसे मुक्त होकर, उस भवमें अथवा समीपके अल्पकालमें स्वस्वरूपको प्राप्त करेगा। ज्ञानीपुरुषके आश्रय बिना, जीवको धर्मप्रवृत्ति करनेमें, ऊपर चढ़नेके बजाय गिरनेके अनेक स्थान हैं, अटकनेके शुभयोगके अनेक हेतु हैं। जीवकी दृढ मोक्षेच्छा, उसे सत्पुरुषकी खोज एवं आश्रयभावनाके लिए प्रेरित करती है। तभी जीव सर्वापणभावसे आज्ञाश्रित रहनेकी योग्यताको प्राप्त होता है। विचारवान जीव इस प्रकार स्वरूपप्राप्तिकी परम अवगाढ भावनामें - दशामें आकर मार्ग पर चढ़ता है। (१०७५)



लोकसंज्ञाका दोष अति भयंकर है। 'लोगोंमें स्वयंकी महत्ता होना'-वही जिसका आत्मा है, वह इसके लिए देव, गुरु, शास्त्रकी विरोधरूप विराधना सहजमात्रमें कर बैठता है। विद्वता और शास्त्रज्ञान होने पर भी, मति-मूढताके कारण यह महादोष होता है। परन्तु लोक समूहको गौण करनेवाले सामान्य मुमुक्षुसे (भी) ऐसी भूल नहीं होती। योग्यताकी इस विलक्षणताका गहराईसे विचार कर्तव्य है। इतना ही नहीं लोकसंज्ञा जीवको गृहीत मिथ्यात्वमें ले जाती है, यह भी विशेषरूपसे लक्षमें रखने योग्य है। जीवके परिणाममें लोकसंज्ञा मल वृद्धि करती है और इस वजहसे जीव आत्मकल्याणसे दूर हो जाता है। (१०७६)



धर्म-अधर्मके विषयसे जो अनजान है, वह शुभ परिणामसे धर्म क्यों नहीं होता ? इस समस्यामें उलझता है, जब कि अधर्म होनेमें मुख्य कारण सिर्फ अशुभ परिणाम ही नहीं है, परन्तु मुख्यतः अज्ञान और मिथ्यात्व सहित सर्व आचरण / परिणामन वह अधर्मका स्वरूप

है। उसी तरह धर्ममें तीनों मुख्य गुणोंकी शुद्धि एकसाथ होती है, इसलिए किसी एक गुणके परिणमनसे धर्म प्रगट करनेकी समझ भूलवाली है। धर्मका मूल तो श्रद्धा है, जो ज्ञानपूर्वक होती है। अतः धर्म जिज्ञासुको प्रथम उसकी अर्थात् श्रद्धा-ज्ञानकी मुख्यतासे धर्मकी विचारणा कर्तव्य है, नहीं कि सिर्फ शुभभावकी मुख्यतासे। (१०७७)



सत्पुरुषके प्रति 'अनन्य आश्रय भक्ति'का रहस्य ऐसा है, कि इससे उनके आत्म हितकारी वचनोंका यथार्थ ग्रहण होनेकी योग्यताकी प्राप्ति होती है। अथवा जो मोक्षार्थी जीव है उसे सत्पुरुषके आत्म-कल्याणी वचनोंका यथार्थ ग्रहण होता है। उसको प्रतीति सहित सत्पुरुषकी 'अनन्य आश्रय भक्ति' उत्पन्न होती है, जो कि दर्शनमोहके अनुभागको विशेष प्रमाणमें कम करनेमें और वचनबोध परिणमित होनेमें उत्कृष्ट कारणरूप होती है। परद्रव्य, परभावमें अहंपनारूप अनादि महादोषको छेदनेके लिए, मूलसे मिटानेके लिए, सम्यक् ज्ञानदशा चाहिए, परन्तु इसकी उत्पत्तिके पहले ये दोष कमजोर होते हैं और वैसी कमजोरी लानेमें ऊपरके दो कारणोंको मुख्य आधारभूत जानकर, उसका लक्ष रखकर - उसकी निरंतर मुख्यता रखते हुए, परिणति होनी / करनी चाहिए।

यह बात लक्षमें रखनी चाहिए कि उदयभावोंमें नीरसता - आत्महितकी जागृतिपूर्वक बनी रहे, ऐसा हुए बिना, सत्पुरुषके वचनका ग्रहण हो वैसी विचारदशा अथवा समझकी यथार्थता प्राप्त नहीं होती। वैराग्य, उपशम, इन्द्रिय निग्रह, अनासक्ति, इत्यादि यथार्थ नीरसता / उदासीनताके पर्याये हैं। (१०७८)



जब किसी भी जीवको अंतरकी गहराईमेंसे आत्मकल्याणकी भावना उत्पन्न होती है, तो सर्वप्रथम उसे प्रत्यक्ष ज्ञानीके चरणमें जानेका भाव आता है। जो कि इस भावनाकी वास्तविकता है और वह जीवकी पात्रता है। इस प्रकारसे भाव हुए बिना जो आत्मकल्याणार्थ धर्मप्रवृत्ति करता है, उसे सच्ची आत्मभावना हुई ही नहीं है। वह तब तक ऊपर-ऊपरसे ही प्रवृत्ति करता है। जो पूर्वानुपूर्व है, उसमें वास्तविकता नहीं है। सिद्धांत भी ऐसा है कि प्रत्यक्ष सत्पुरुष, कि जिन्हें आत्मस्वरूप प्रगट है, जो मूर्तिमान मोक्ष स्वरूप है, ऐसे पुरुषसे आत्मा जाने बिना दूसरा कोई कल्याणका उपाय नहीं है। अतः मुमुक्षुजीवको ऐसे आत्मारूप पुरुषके सत्संगके लिए निरंतर आतुर रहकर, उदयमें उदासीनतासे रहना चाहिए। (१०७९)



तृष्णाका अंत नहीं है। इसलिए तृषावान जीवके संसारका भी अंत नहीं है। वह तृष्णा

तब तक जीवन्त रहती है, जब तक भोगोपभोगमें अनासक्ति नहीं होती और लौकिकमें अपनी विशेषता - संयोगोंसे दिखानेका अभिप्राय रहता है। अतः मुमुक्षुजीवको लौकिक मानकी तुच्छता समझमें आये और सत्पुरुषके वचन द्वारा आसक्तिके परिणाममें नीरसता आये, तो तृष्णाका पराभव हो सकता है; वरना तृष्णाके कारण जीवको अनेक प्रकारसे आवरण प्राप्त हो वैसे परिणाम होते ही रहते हैं। लौकिकमानकी कल्पनाके पीछे कितना अहित हो जाता है ? इसका विवेक खचितरूपसे होना चाहिए। (१०८०)



फरवरी - १९९३

अनन्तकाल बाद महँगा ऐसा मनुष्यपना मिला है। उसमें देहार्थकी सर्व बाबतोंको गौण करके, एक आत्मार्थको ही मुख्य करके, आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना चाहिए, - ऐसा अखण्ड निश्चय होने पर आत्मार्थीता प्रगट होती है। देहार्थसे सुखी होंगे - यह केवल कल्पना है, ऐसा यदि यथार्थरूपसे भासित होगा तो, जीव संसार मार्गसे पीछे हटकर परमार्थमें अग्रेसर होगा और सर्व शक्तिसे आत्महितका ही पुरुषार्थ करेगा। संयोगोंकी चिंता एकांत आत्मगुणरोधक है, यह विस्मरण करने योग्य नहीं है। (१०८१)



जब तक स्वच्छंद है तब तक बोधबीज योग्य भूमिका नहीं है। स्वच्छंद अनादिसे जीवका महादोष है। उसे मिटानेके दो उत्तम उपाय हैं। एक उपादान सापेक्ष और दूसरा निमित्त सापेक्ष। अपने दोषोंको अपक्षपातरूपसे देखनेसे स्वच्छंदकी अवश्य हानि होती है। जब तक उस प्रकारसे निजावलोकनरूप आत्मजागृति उत्पन्न नहीं हो, तब तक स्वच्छंदपूर्वक ही जीव धर्मप्रवृत्तिमें जप, तप, शास्त्रवांचनादिमें प्रवर्तता है, परन्तु इससे आत्महित नहीं होता। दृढ मोक्षेच्छावानको स्वयंके अवलोकनका प्रकार उत्पन्न होता है।

दूसरा उपाय :- प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगमें, उनकी आज्ञाका एक निष्ठासे आराधन करनेसे सहजमात्रमें स्वच्छंद दबता है - यह सुगम उपाय है। परन्तु सत्पुरुष मिलने चाहिए और उनका आश्रय करनेका निश्चय होना चाहिए। 'प्रत्यक्षयोग' का महत्त्व स्वच्छंद मिटानेके लिए समझना आवश्यक है। अर्थात् जिसे 'प्रत्यक्षयोग' का महत्त्व भासित नहीं हुआ, उसे वास्तवमें आत्महित करना ही नहीं है, यह निश्चित होता है और वह महास्वच्छंद ही है। क्योंकि निज छंदसे अनन्तकाल परिश्रम करने पर भी मार्ग प्राप्ति नहीं हुई है। 'स्वच्छंद निरोधपने सत्पुरुष / आप्तपुरुषकी भक्ति' को समकितका प्रत्यक्ष / अनन्य कारण जानकर, उसे एक न्यायसे समकित कहनेमें आया है, जो यथार्थ ही है। (१०८२)

स्वरूप-प्राप्तिकी भावनाकी प्रधानता आत्मार्थीको होती है, फिर भी पर्यायका अहम् उत्पन्न न हो, यह यथार्थ भूमिकाकी विलक्षणता है। दृष्टिके विषयभूत द्रव्यस्वभावका जोर होने पर भी, निश्चयाभास नहीं होता है और द्रव्य-पर्यायका संतुलन बना रहता है, अगर वहाँ 'पूर्णताके लक्षसे शुरुआत' हुई होगी तो। अन्यथा संतुलन बनाये रखना संभवित नहीं है। सत्संग यथार्थताकी प्राप्तिमें परम उपकारी है। (१०८३)



सत्संगमें प्राप्त बोधकी असर होनेसे, मुमुक्षुजीवके प्रकृतिदोष पर प्रथम प्रहार पड़ता है, अर्थात् प्रकृति कमजोर हो जाती है - यह एक शुरुआतका शुभ चिन्ह है। शुरुआतमें ऐसा फर्क यदि नहीं पड़ा तो उसे हलकेसे लेकर गौण नहीं करना चाहिए, बल्कि अति गंभीर अयोग्यता समझकर, प्रकृतिदोष हानिको प्राप्त हो उस हेतुसे उपाय करनेके लिए गंभीरतासे विचारणा कर्तव्य है। क्योंकि वीतरागी बोध, प्रकृतिके नाशका अमोघ शस्त्र है, उसके निष्फल जानेके बाद कोई साधन नहीं बचता। श्री समयसार (गाथा-३१७) में आचार्य भगवंतने कहा है कि - 'भली भाँति शास्त्र अध्ययन करने पर भी, अभव्य प्रकृतिको नहीं छोड़ता है।' कितनी गंभीर बात कही है ?! प्रकृति नहीं छूटती हो उसके लिए। गुणग्रहणरूप सरलताके अभावमें ऐसा बनता है। जहाँ सरलता नहीं, वहाँ मध्यस्थता कहाँसे होगी ? होती ही नहीं।

(१०८४)



प्रश्न :- ज्ञानका पाचन (परिणमन) किसे होता है ?

उत्तर :- जिसने जन्म-मरणसे छूटनेका निर्धार किया हो और इससे जिसका कषायरस मंद हुआ हो, इसके अलावा रागरस घटनेसे विरक्ततारूप अंतर वैराग्य जिसे उत्पन्न हुआ हो; ये दो प्रकारकी दशा, ज्ञानका पाचन होनेमें पाचकरस जैसा काम करती है। साथ ही साथ तत्त्व और गुणको ग्रहण करनेकी तत्परतारूप सरलता और सत्या-सत्यकी तुलना करनेके लिए मध्यस्थता - निष्पक्षपातता जिसमें हो, उसे आत्मार्थीपना उत्पन्न होता है। अंतर निरीक्षणसे इन भावोंके सद्भावको समझना चाहिए। (१०८५)



जिस सत्-शोधक जीवको जब प्रत्यक्षयोगमें ज्ञानी पहचानमें आते हैं, तब उसे ज्ञानी रागादिसे भिन्न परिणमन करते हुए दिखाई देते हैं। रागांश होते हुए भी इससे भिन्नरूप चल रहे पुरुषार्थमें जिसे सम्यक्त्वका - सम्यक् स्वभावका दर्शन होता है, वह नियमसे क्रमशः आगे जाकर ज्ञानी बनता है। सूक्ष्म और निर्मल स्वभावके दर्शन तथारूप निर्मल व सूक्ष्म उपयोगसे हो सकता

है। 'मात्र मोक्ष अभिलाष' में से ऐसी निर्मलताका जन्म होता है। (१०८६)



स्वयंका ज्ञानानुभवन ही सुखाभासरूप भ्रमणाकी निवृत्तिका प्रयोगसिद्ध उपाय है, एकमात्र उपाय है। वेदना - दुःख निवृत्तिका भी यही उपाय है। यह उपाय सिद्ध-प्राप्त होने पर जीव संसार तिर जाता है। ऐसा ज्ञानानुभवन वह स्व-का अभेदज्ञान है और पर-का परसे भेदज्ञान है। (१०८७)



आत्मारथी जीवको सर्व प्रथम यह विचार करना चाहिए कि कोई भी कर्तव्यका ग्रहण और अकर्तव्यका त्याग करते वक्त तत्सम्बन्धी 'अहम्' उत्पन्न ही न हो, वैसी सहज स्थिति रहे, ऐसे उपायकी गवेषणा कर्तव्य है। वरना पर्यायदृष्टिपनेके कारण दर्शनमोह तीव्र हो जानेसे, सहज ही 'अहम्' हो जानेकी संभावना रहती है। इसलिए महात्माओंने सर्व प्रथम 'पूर्णता' का 'लक्ष' करनेको फरमाया है। यह लक्ष रहनेसे पूर्ण शुद्धि पर्यंत अतिपरिणामीपनेके कारण उत्पन्न होनेवाला 'अहम्' भाव उत्पन्न नहीं होता, परन्तु 'बहुत बाकी है'- ऐसा ही लगता रहता है। (१०८८)



आत्मारथी जीवको प्रयोग पद्धतिके विषयको समझनेके लिए जल्दबाजी या जानकारी करनेके लोभसे पहलेसे ही धारणामें लेना हितावह नहीं है। परन्तु प्रयोग द्वारा ही उसका Practical ज्ञान करनेका प्रयत्न करना चाहिए, वरना प्रायः धारणामें अटकना हो जायेगा। अतः समझनेमें प्रयोग पद्धति रखना ही उत्तम है। अर्थात् प्रयोग द्वारा ही प्रयोगको समझना उचित है। बिना प्रयोग किये प्रयोगकी पर्याप्त जानकारी हो भी नहीं सकती। इतना ही नहीं परन्तु जानकारी करनेका लोभ, जानकारी होने पर संतोषमें परिवर्तित होता है, जो कि प्रयोगमें आने नहीं देगा। यह भी लक्षमें लेने योग्य है। (१०८९)



अध्यात्ममें कुछएक सिद्धांत विभिन्न कोटिके साधक-अधिकारी आत्माओंके लिए होते हैं, जिसके द्वारा उन जीवोंका आत्मकल्याण शीघ्र सधता है। तथारूप योग्यताके बिना प्रायः उस विषयका श्रवणयोग होने पर भी, उसका पारमार्थिक लाभ होना संभवित नहीं है। बिना योग्यता और तत्सम्बन्धित प्रयत्न दशाके बिना, सिर्फ धारणा करनेमें, उस विषयमें कल्पित निश्चय होता है, जो अभिनिवेशका हेतु होता है। अतः वैसे प्रसंगमें प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञामें चलना हितावह है। दृष्टांत रूपसे :-

श्री नियमसार परमागममें गाथा-१५की टीकामें 'कारणशुद्धपर्याय' का प्रतिपादन किया है। वहाँ उसे 'पूजित पंचमभाव परिणति' कहा है, उसमें उक्त रहस्य अर्थात् शुद्ध परिणमनका साक्षात् कारणका निर्देश है। जिसका तद्योग्य अधिकारी होकर ग्रहण करने योग्य है। इसके पहले धारणामें जाना उचित नहीं है। (१०९०)



सहजात्मस्वरूप प्रत्यक्ष - अनन्त प्रत्यक्ष है। जिसकी प्रत्यक्षता मात्र प्रत्यक्ष अनुभव संपन्न सत्पुरुषके 'प्रत्यक्षयोग'में ही प्रकाशित होती है, जो उत्कृष्ट पात्र जीवको परोक्षतामें से प्रत्यक्षतामें प्रवेश करा देती है। जैसे दीयेकी बत्ती दीयेमें परिवर्तित होती है वैसे।

स्वरूप सम्बन्धित चाहे कितना भी वांचन, विचार - चिंतन जीव परोक्षतामें रहकर करे, परन्तु इससे प्रत्यक्ष अनुभव प्रगट नहीं होता। इसलिए निष्कारण करुणाशील महात्माओंने संत-चरणका प्राधान्य दर्शाया है, उसमें पारमार्थिक उक्त आशय निहित है। संत चरणका मूल्य मोक्ष है। (१०९१)



स्वरूप प्रत्यक्षताका प्रकाशन सत्पुरुषके बिना असंभवित है, और इसके अप्रकाशनमें, मुमुक्षुको निमित्त-नैमित्तिक भावसे सत्की प्राप्ति कैसे होवे ? इसी वजहसे जैसे जड़से चेतनकी उत्पत्ति अशक्य है, वैसे अज्ञानी द्वारा आत्माको अर्थात् प्रत्यक्ष स्वरूपको प्रकाशित करना अशक्य है। इस वजहसे सत्पुरुषकी विद्यमानता एवं उनकी आज्ञाकारीताका महत्त्व शास्त्रोंमें जगह-जगह पर दर्शाया है - प्रसिद्ध है। स्वरूप प्रत्यक्षता प्रत्यक्ष अंशसे ग्रहण होनेसे आत्मरसकी उत्पत्ति सहज ही होती है। यह स्वरूपपरस उत्पन्न होनेका अनन्य कारण है। ऐसा जानकर तथा प्रकारसे प्रयास होना चाहिए। (वेदन प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्य-व्यापकभावसे निज भावमें भावान्वित होना चाहिए)।

सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगका रहस्य यह है कि, उनको आत्मा प्रत्यक्ष है, जो अन्यको प्रत्यक्षता प्रगट करनेके लिए समर्थ है। उसका दूसरा पर्याय नहीं है, उसका दूसरा उपाय नहीं है - ऐसा जिसे समझमें आता है, उसे इसका मूल्यांकन होता है। (१०९२)



मार्च - १९९३

'कारणशुद्धपर्याय' को भगवान पद्मप्रभमलधारीदेवने 'पूजित पंचमभाव परिणति' कहकर अनन्त करुणा की है। वहाँ, स्वरूप सन्मुखताके पुरुषार्थमें वर्तते जीवको वर्तमान स्वाकार भावसे स्वयंके अनन्त सामर्थ्यके अवलंबनसे निष्पन्न शुद्ध कार्य सहित, - स्वरूप परिणमन शक्ति(को) अनन्य कारणरूपसे वर्तती हुई, कार्यकी संधि सहित देखी है। जिसका तथारूप परिणामकी योग्यतामें

रहकर / प्रवेश करके अवगाहन कर्तव्य है। इसके पहले परलक्षी विचारमें उसकी कल्पना होनेका संभव है। ऐसे गंभीर विषयको अधीरजसे, अपरिपक्व दशासे समझनेकी कोशिश करनेसे कल्पित निश्चय होता है, जिससे दूर रहना उचित है। (१०९३)



उपाधिमय उपयोग, ज्ञानसामान्यको तिरोभूत करता है, इसीलिए श्री जिनेश्वरदेवने वैराग्य और उदासीनताका उपदेश दिया है। निरुपाधि ज्ञान ही ज्ञानवेदनरूप ज्ञानसामान्यके प्रति झुकनेके लिए सक्षम है। अतः सर्व अन्य द्रव्य-भावसे अपनी असंगताका अवलोकन करके उपाधि रहित होकर, अव्याबाध अनुभवरूप ऐसे खुदको प्रत्यक्ष करनेमें सर्व ज्ञान समाहित है। द्वादशांगीके विस्तारका यह सार है। केवल असंग और अनन्त प्रत्यक्षकी प्रतीतिमें सम्यक्दर्शन समाविष्ट है। स्वरूपाकार वीतरागीदशामें सर्व चारित्र समाविष्ट है। ऐसी दशा जिन्होंने प्राप्त की, उन भगवानरूप पुरुषको नमस्कार। (१०९४)



जिस मार्ग पर चलकर ज्ञानी ज्ञानदशाको प्राप्त हुए, उस ज्ञानीके मार्ग पर चलनेका अगर निश्चय हो तो वह योग्यताका सही एवं बहुत अच्छा लक्षण है। प्रायः अनेक शास्त्रों पढ़नेके बाद भी ऐसा निश्चय किसी वीरल जीवको होता है। जिस जीवको ऐसा निश्चय होता है, वह जीव अवश्य तिर जाता है। 'श्री सोभागभाईका ज्ञानीके मार्ग प्रतिका निश्चय अद्भुत था' - ऐसा कृपालुदेवके ज्ञानमें था - (पत्रांक-७८३)। और इसी वजहसे उनकी प्रसन्नता / कृपा श्री सोभागभाईके प्रति थी। इस कारणसे उनमें मुमुक्षुताके अद्भुत गुण प्रगट हुए थें, इसी कारणसे कृपालुदेवका पारमार्थिक बोध वे अंगीकार कर सके थे। आत्मार्थीको मुख्यतया यह बात लक्षगत करने योग्य है। (१०९५)



सत्पुरुषके चरणमें निवास वह परम सत्संग है। इसके जैसा हितकारी साधन जगतमें दूसरा कोई नहीं है। सत्पुरुष अर्थात् मूर्तिमान मोक्ष - ऐसा जिसे भासित हुआ है, उसे सच्ची पहचान हुई है। अन्यथा ओघसंज्ञासे सत्पुरुषकी मान्यता है। सच्ची पहचान होने पर, बिना समझाने पर भी जीवको स्वरूप स्थिति होना संभवित है। यह सत्संगका अद्भुत एवं अलौकिक चमत्कार है। ऐसा दर्शानेके आशय / हेतुसे ही सर्व जिनागममें जगह-जगह पर सत्संगकी महिमा गायी है। जीवको विवेकपूर्वक सत्संगका, सर्व प्रसंगको गौण करके, आराधन कर्तव्य है। (१०९६)



* द्रव्यानुयोगके सिद्धांत वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करते हैं।

* करणानुयोगके सिद्धांत विभाव, विभावके फल, एवं उसके भोग्यस्थानोंका प्रतिपादन करते हैं।

* चरणानुयोग मोक्षमार्गके बाह्याभ्यंतर (व्यवहार-निश्चय) आचरणको एवं आचरणके क्रमका निरूपण करता है। इस प्रकार जिनागमके सिद्धांत संपूर्ण विज्ञानकी अभिव्यक्ति द्वारा, विभिन्न प्रकारके बुद्धिपूर्वक होनेवाले विपर्यासको दूर करते हैं। विपर्यासका अभाव होनेसे जीव स्वसन्मुख होनेके लिए योग्य बनता है।

* अध्यात्मके सिद्धांत द्वारा अध्यात्मतत्त्वमें-निज स्वरूपमें-अभेद आश्रय करानेका हेतु है। वहाँ सर्वत्र यथास्थानमें कारण-कार्यके नियम जीवके हितार्थ निरूपण किये गये हैं, जिसकी संकलना अद्भुत और सुव्यवस्थित है। इसी उत्कृष्टतासे इसकी शोभा है। (१०९७)



यदि प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके समागम और आश्रयकी भावना जीवको नहीं वर्तती हो, तो शुद्ध अंतःकरणसे आत्महित करनेकी जीवको इच्छा ही नहीं है, यह सिद्ध होता है। अथवा प्रत्यक्षरूपसे जीव संसार परिभ्रमणसे भयभीत नहीं हुआ है। स्वच्छंदसे प्रवृत्ति करनेका वहाँ अभिप्राय है। (१०९८)



असारभूत ऐसे उदयप्रसंगमें सारभूत प्रयोजनकी माफिक प्रवर्तते हुए भी, जो महापुरुष निज स्वभावमें अचल रहे, उनके भीष्म पुरुषार्थका स्मरण भी आत्मारथीको आत्मारथ उत्पन्न कराता है, अथवा पुरुषार्थकी प्रेरणा करता है।

बाह्यदृष्टिमें ऐसा महान पुरुषार्थ समझमें नहीं आता। महापुरुषोंका चरित्र गूढ़ पारमार्थिक रहस्यको समझनेके लिए जीवंत दृष्टांत है। यह मुख्य हेतु कथानुयोगकी रचनाके पीछे है। (१०९९)



यथार्थ उपकारी अमृतपान दातार पुरुषप्रत्यक्षके प्रति अनन्यभक्तिरूप एकत्वभावना मुमुक्षुजीवको उत्कृष्ट आत्मशुद्धिका कारण है। अतः उनके समागमकी निरंतर भावना रहा करती है। (११००)



अल्प व्रत भी नहीं होते हुए और चारित्रमोहके अटल उदयमें संदेह उत्पन्न हो जाये ऐसी दशामें होने पर भी, सम्यक्दर्शनका सामर्थ्य दर्शानेके हेतुसे कथानुयोगमें महापुरुषके प्रसंगोंका

वर्णन किया गया है, वहाँ विषय कषायका पोषण या अनुमोदन नहीं हो जाये, इसकी जागृति रखना जरूरी है। विपरीत रुचिसे किसी एक दृष्टांतको ग्रहण कर लेनेसे, अभिप्रायपूर्वक दोष हो जाता है, (और) शुद्ध परिणामकी हानि हो जाती है। अर्थात् दोषदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) बलवान हो जाती है। (११०१)



प्रश्न :- प्रयत्नदशाकी शुरुआत किस प्रकारसे करनी चाहिए ?

उत्तर :- चलते हुए उदय प्रसंगमें इष्ट-अनिष्टबुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्टपनेका अनुभव हो रहा है, वहाँ समझको लागू करके उदयको 'मात्र ज्ञेय' रूप अवलोकनमें लेना; और प्रथम परपदार्थ संबंधी इष्ट-अनिष्टपनेका अभिप्राय मिटाना चाहिए। अभिप्रायका पलटना हुए बिना 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' - वैसा अस्तिका पुरुषार्थ चलेगा नहीं और राग-द्वेष होनेके कालमें जागृतिपूर्वक सहज भावसे निषेध आयेगा नहीं। अभिप्राय बदलनेके बाद सर्व उदय प्रसंगमें ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् साक्षीभावसे रहनेका पुरुषार्थ करना है।

इष्ट-अनिष्ट लगना वह मात्र काल्पनिक है - ऐसा प्रयोगके कालमें लगे तो विपरीत अभिप्राय मिटता है। जबतक कल्पना, कल्पना न लगे तबतक उसकी जाँच चालू रखनी है, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक प्रसंगमें। (११०२)



परमार्थकी प्राप्ति करनेमें जीवको अपार अंतराय है। किसी भी भूमिकामें निर्विघ्नपने आगे बढ़नेमें सत्संग जैसा दूसरा कोई साधन नहीं है। सत्पुरुषके संगको इसलिए अपूर्व जानकर उसका आराधन करना चाहिए और सत्पुरुषके वियोगमें, शुद्ध अंतःकरणसे केवल परमार्थको ही चाहनेवाले मुमुक्षुओंके समागममें रहना चाहिए, जिससे कि असत्संगसे बचा जा सके। इस कालमें सत्पुरुषका संग तो अत्यंत दुर्लभ है ही, परन्तु मोक्षार्थीका संग भी दुर्लभ जानकर, उसका उपकारीपना जानकर, दासत्व भावसे रहना चाहिए। ऐसे दासत्वका स्वीकार करना, यह परमार्थ प्राप्तिकी परम योग्यताका द्योतक है। ज्ञानीपुरुष भी ऐसे अभिप्रायका सेवन करते हैं, जो मोक्षार्थीको बोधका निमित्त है। परसंगके योगसे जीव भूला है, यह विस्मरण करने जैसा नहीं है। (११०३)



बंधबुद्धिसे प्रवर्तित जीव, अपने विषयमें अबंध (ज्ञायकशुद्ध) स्वरूपकी कल्पना करे, वह निश्चयाभास है। अतः प्रथम विपरीत अभिप्रायको-सुखाभासको टालनेका प्रयास करना चाहिए, इसके बिना अस्तिका - ज्ञायकका पुरुषार्थ (सहज संवेग) उत्पन्न नहीं होगा। फिर भी कृत्रिम

ज्ञायकका जोर - विकल्पमें करनेसे उसमें सफलता प्राप्त नहीं होती। मुक्त होनेके अभिप्राय बिना बंधबुद्धि नहीं टलती। परमें सुखबुद्धि भावबंधका मूल है। वह जीवको बहिर्मुख रहनेमें और अंतर्मुख नहीं होने देनेमें मुख्य कारणरूप है और उदासीनताकी रोधक है।

(११०४)



जिसको परम उत्कृष्ट ऐसे जिनदेवका केवल अंतर्मुखताका मार्ग श्रवण-प्राप्त भी नहीं हुआ है, वैसा हीनपुण्य जीव संसारके भयंकर दुःखोंसे मुक्त न हो सके, यह तो सहज है, परन्तु जिस जीवको परम सत्य लक्षमें आया है, वह क्षुद्र उदय प्रसंगों और साधारण विकल्पोंमें स्वयंके महान स्वरूपको रोक रखता है, वह प्रमादमें रति है। प्रमादमें रति करने जैसा कुछ है ही नहीं। अतः हे जीव ! त्वरासे स्वयंके महान पदको सँभालकर अंतर्मुख हो ! अंतर्मुख हो !

क्षुद्र विकल्पोंको सिद्ध करनेमें लगे रहना, यह आत्माको आवरणकर्ता है, अविवेक है। संसारके प्रति तीव्र उदासीनतासे और सत्समागमसे प्राप्त विशुद्ध (निर्मल) मतिसे कुछ एक जीवको केवल अंतर्मुख होनेका, वह मार्ग समझमें आता है, जो कि सर्व दुःखक्षयका उपाय है। जिसको समझमें आता है, वह निष्प्रमादरूपसे उसका अहर्निश आराधन करता है।

(११०५)



दोष करना, करवाना या अनुमोदन करना - सामान्यतः उसका फल सरीखा गिननेमें आता है। परन्तु विशेषरूपसे विचार करने पर अथवा अभिप्रायके दृष्टिबिंदुसे विचार करने पर, दोषका अनुमोदन अभिप्रायपूर्वक होता है। उसमें दोषका प्रमाण अधिक है। दोष करनेवालेको कभी-कभी दोष करनेका अभिप्राय नहीं भी होता है फिर भी दोष हो जाता है, परन्तु प्रायः करवानेमें और अनुमोदनमें नियमसे अभिप्रायपूर्वक दोषका परिणमन होता है। अतः उसका विचार गहराईसे करने योग्य है।

(११०६)



आत्मस्वरूपमें शांत सुधारस भरा है। वह प्रगट होवे उस शैलीसे श्री सत्श्रुतकी रचना है। आत्मशांतिमें निमग्न पुरुषोंके शांतरसप्रधान वचन वह सत्श्रुत है। वैसे सत्श्रुतका परिचय स्वभावकी निर्मलता हेतु कर्तव्य है।

(११०७)



आत्माको गुण प्रगट हो, इसके लिए सत्श्रुतसे भी बलवान निमित्त प्रत्यक्ष सत्पुरुषका समागम है। अल्पकालमें आत्मलाभ हो, इसके लिए प्रत्यक्ष गुणातिशयवान पवित्र पुरुष विशेषके

आत्मवृत्तिसे और आत्माकाररूप होती हुई चेष्टासे प्रभावित वचन परम उपकारी होते हैं। प्रत्यक्ष प्रगट आत्मवृत्तिका बोध आत्मार्थीको, शीघ्र रुचि उत्पन्न होकर, असर करता है। तथा सत्पुरुषका आत्माकाररूप वर्तता पुरुषार्थ, आत्मार्थीके आत्मवीर्यको जागृत करता है, अथवा आत्मजागृतिको उत्पन्न करता है, अनुभव-उत्साहकी प्रेरणा करता है - ऐसे परम सत्संगको अत्यंत - अत्यंत भक्तिसे नमस्कार। जयवंत वर्तो प्रत्यक्षयोग !! (११०८)



आत्मदर्शनके लिए सारे जगतसे उदास होकर, अंतरलक्ष करनेकी जिसकी अत्यंत तत्परता रहती हो, वैसे उत्कृष्ट पात्र जीवको, प्रत्यक्ष मूर्तिमान आत्मज्ञान स्वरूप, गुणातिशय जिनको प्रगट हुआ है; पवित्रता जिनकी शोभा है, जो दिव्यगुणोंसे दिव्य मूर्तिरूप दृश्यमान हो रहे हैं, वैसे पुरुषरूप भगवानके, आत्मस्वरूपको प्रत्यक्ष करनेवाले वचन-अमृतधारा-अंतरमें प्रदेश-प्रदेशमें प्रसर जाती है। क्योंकि वह सुपात्र जीव दिव्यामृतको प्रदेश-प्रदेशसे चाहता हुआ खड़ा है। वह पुरुषप्रत्यक्षकी आत्मवृत्ति एवम् आत्मजागृति आत्मार्थी जीवको बिना कहे भी बोधका निमित्त होती है, वहाँ वाणी दिव्यध्वनि ही भासित होवे उसमें क्या आश्चर्य है ? (११०९)



अध्यात्ममार्गमें ज्ञानकी साधन अपेक्षासे प्रधानता है। ज्ञानवेदनका आविर्भाव होनेसे स्वानुभूति समुत्पन्न होती है, स्वानुभूति सम्यक्त्व उत्पन्न होनेका कारण है। और सम्यक्त्व होते ही आत्माके अनन्त-सर्वगुण सम्यक् होकर - आत्माभिमुख होकर, जात्यांतर होकर, परिणमन करने लगते हैं, जो भव निवृत्तिका - परम कल्याणका एकमात्र कारण है। इसलिए सम्यक्त्वकी अनन्त महिमा श्री जिनने गायी है। सर्व धर्मात्माओंने सम्यक्भावकी अभिवंदनाकी है, उसे अभिनंदित किया है। (१११०)



अप्रैल - १९९३

स्वरूपका अनुभव नहीं होनेमें अंतराय दर्शनमोहका है। दर्शनमोहका अनुभाग अधिक मात्रामें घटने पर स्वरूपदृष्टि सहजमें परिणमती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेके लिए आत्महितके लक्षपूर्वक सत्संग, वीतरागश्रुत चिंतवना, गुण जिज्ञासापूर्वक अंतर अवलोकन और स्वरूपके लक्षसे भेदज्ञान अर्थात् स्वसन्मुखका पुरुषार्थ होना जरूरी है। (११११)



जो महत्पुरुष निर्मल सम्यक्दर्शनसे और परमार्थ संयमसे परम पवित्र आत्मस्वरूपमें स्थित हैं, उनके चरणोंकी उपासनासे निर्ग्रथ प्रवचनका रहस्य ग्रहण होनेकी योग्यताकी प्राप्ति होती है।

सर्व भावसे विराम पाकर स्वरूप समाधिमें रहना - वह द्रव्यानुयोगका तात्पर्य है। जिनशासन जयवंत वर्तो !! (१११२)



प्रश्न : लक्ष किसे कहते हैं ? वह कौनसे गुणकी पर्याय है ?

उत्तर : लक्ष ज्ञानकी पर्याय है। इसके तीन प्रकार हैं। (१) प्राप्तिका अंतिम स्थान-ध्येय। जैसे कि 'पूर्णता'। सूत्र - 'पूर्णताके लक्षसे शुरुआत वही वास्तविक शुरुआत है'

(२) आश्रयभूत स्थान - जैसे कि 'स्वरूप लक्ष'। धर्मात्माका पूराका पूरा परिणमन - वचन 'स्वरूप लक्षपूर्वक' होता है।

(३) लक्ष माने उपयोग। - जैसे कि शास्त्र स्वाध्यायमें लक्ष अर्थात् उपयोग रखना चाहिए। उस वक्त दूसरे कहीं पर भी लक्ष (उपयोग) नहीं जाना चाहिए। (१११३)



पारमार्थिक श्रुतका विषय परमार्थतत्त्व परम पवित्र ऐसा निज स्वरूप है। जो अनन्त सुखका निधान है। जिसके अवलंबनसे मनोजय और इन्द्रिय जय होकर शुद्धात्म स्थितिकी उपपत्ति होती है। यह 'सहज प्रत्यक्ष' परमतत्त्व वीर्योल्लासका मुख्य आधार है।

वृत्ति शिथिल हो जाये तब महत् पराक्रमी पुरुषोंके अद्भुत आचरणका स्मरण करने योग्य है। (१११४)



अन्य जीवको उपकार हो वैसी, धर्म-प्रभावना योग्य, बाह्य प्रवृत्ति भी प्रारब्धयोग अनुसार शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक होनी चाहिए। निष्कारण करुणासे महापुरुषोंने परमपदका उपदेश दिया है। यह उपदेशका कार्य महान् होने पर भी अंतर आराधनामें अप्रमत्त भावसे प्रवर्तन करते-करते, ये बाह्य कारुण्यवृत्ति भी जिनकी उपशांत हुई है, वैसे महत् पुरुषकी साधनाको वंदन हो ! अंतर आराधनामें अप्रमत्तभावसे रमणता करनेवालेके बाह्य योगका सहज स्वभाव सर्व जीवके प्रति दयाका रहता है। और उनका आत्मस्वभाव तो सर्व जीवको परमपदके प्रति आकर्षित करनेवाला हो, इसमें कौनसा आश्चर्य ! उस प्रगट आत्मस्वभावके द्वारा अन्य तथारूप योग्यतावान जीवको आत्मस्वभाव प्रगट होता है अथवा स्वरूप स्थिरता प्राप्त होकर, अंतमें परमपदकी प्राप्ति होती है। उसका मूल्यांकन किससे हो ? (१११५)



सरलता, मध्यस्थता, शांतता, वैराग्य, आत्मजागृति आदि गुणोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो, वैसे सद्वर्तनसे ज्ञानीपुरुषकी भक्ति प्राप्त होती है। इसके पहले अवगुणदशामें जो भक्तिका शुभराग होता है वह यथार्थ भक्ति नहीं है अथवा वह ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें नहीं होनेसे ऐसी भक्ति

ज्ञानीकी दृष्टिमें मान्य नहीं है। 'गुणकी उपासना और भक्ति अविनाभावी है' अथवा कारण-कार्यरूप है। सद्वर्तनरूप गुणका आचरण वह ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है। अगर जीव इसकी उपासना करे तो बहुत शास्त्रोंके अभ्याससे प्राप्त होनेवाला फल, सहजमें उपरोक्त भक्तिसे प्राप्त हो सकता है। क्रमशः आगे जाकर इससे आत्मनिष्ठता प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके चरणकमलकी उपासना जिसका मूल है, ऐसे मार्गका क्रम, इस प्रकार जानने योग्य है।

(१११६)



गंभीर उपयोगसे व अविक्षिप्त चित्तसे परम-शांत श्रुतका अनुप्रेक्षण होना चाहिए। अपूर्व स्वभावकी अंतर सावधानी प्रेरक, स्वरूप प्रत्यक्षता-दर्शक महत्पुरुषोंके वचनमृतोंका गहरा अवगाहन आत्माको सम्यक् पुरुषार्थमें लगाकर परमश्रेयके मूलको दृढीभूत करता है और क्रमसे आगे जाकर परमपदकी संप्राप्ति होती है। स्वाध्याय पद्धति और स्वाध्यायका विषय - इस प्रकारसे इच्छनीय है। तद्अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वांछनीय है।

(१११७)



वर्तमान जीवन - व्यवहारकी स्थिति ऐसी है कि प्रायः उसमें चित्तविक्षेप रहा करता है। अविक्षिप्त चित्त रहना दुर्घट है। ऐसेमें सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शांत रह सके - ऐसा अमुक अंशमें होनेके लिए, कल्याणरूप अवलंबन (ऐसे) - सत्संगका महत्व - उसकी आवश्यकता, समझमें आनी भी उनको कठिन है। शुद्ध अंतःकरणसे जीवको आत्मकल्याणकी भावना होती है, तो वह सत्संगके लिए गरजवान बनता है। जो सत्संगके महत्वको नहीं समझते हैं, उनको वास्तवमें आत्मकल्याण करना है - ऐसा कहना (भी) कठिन है।

(१११८)



जबतक बाह्य पदार्थमें सुख - अभिप्रायपूर्वक अनुभवमें आता है, तबतक परिणामकी दिशा - वृत्तिका प्रवाह बहिर्मुख जाता है और अंतर्मुख नहीं हो सकता। भेदज्ञानके प्रयोग पूर्वक जड़-चेतनकी भिन्नताका अभिप्राय घड़नेके अभ्याससे चैतन्यतत्त्वकी प्रतीति द्वारा जीवकी वृत्तिका प्रवाह विषयसे उदासीन होकर, शुद्ध चैतन्यके प्रति सहजरूपसे जाता है। क्योंकि स्वयं अनन्त अर्चित्य अव्याबाध सुखसे भरितावस्थ है। सहज प्रत्यक्ष स्वरूपको प्रगट दिखानेवाले अनुभवीपुरुषके वचनके श्रवणसे उल्लासित होनेवाला जीव दर्शनमोहके रसको तोड़कर निज स्वरूपकी यथार्थरूपसे प्रतीत करता है। तत्त्वश्रवणकी उल्लासितता, तत्त्वप्रतीतिकी पूर्व भूमिका है। और प्रतीति अनुसार जीवकी वृत्तिका प्रवाह सहज बहता है। इसीलिए उल्लासित वीर्यवान जीवको परमकृपालुदेवने, तत्त्वपानेका मुख्य अधिकारी / पात्र कहा है। मुक्तिका उल्लास नहीं आना वह अत्यंत अस्वाभाविक है, अपात्रताका लक्षण है।

(१११९)

गुण जिज्ञासा - गुणप्राप्तिकी अभिलाषा आत्मार्थीको होती है। इसलिए अधिक गुणीजन - सत्पुरुष, कि जिन्होंने अलौकिक गुण प्रगट किये हैं; सद्गुरु, कि जो गुणातिशयसे सुशोभित हैं एवम् परिपूर्ण दिव्यगुणोंसे अलंकृत वीतरागदेव, इनके प्रति आत्मार्थीको बहुमान और भक्ति सहज उत्पन्न होती है। उसमें गुणप्राप्तिका अभिप्राय यथायोग्य है। और उस भूमिकामें भक्तिराग साथ ही साथ सहज होता है, परन्तु 'राग करनेका' अभिप्राय नहीं होना चाहिए। राग करनेके अभिप्रायसे अगर राग करनेमें आया तो रागरस चढ़ जाता है और राग करनेसे लाभ माननेमें आ जाता है और वैसा विपरीत अभिप्राय दृढ़ हो जाता है। फिर ऐसी स्थितिमें राग मिटनेका अवसर ही नहीं आता है। परन्तु यदि अभिप्राय विरुद्ध राग होता है, तो उसका खेद होता है - निषेध वर्तता है। अगर अभिप्रायमें परकी महत्ता रहती है तो उसमें स्वयंके अनन्त सामर्थ्यका अस्वीकार होता है, जो कि स्वरूप श्रद्धानको प्रतिबंधक ऐसा महादोष है। (११२०)



सन्मार्गको चाहनेवाले व उसकी गवेषणा करनेवाले ऐसे आत्मार्थी जनको अनादि स्वच्छंदसे रहित होनेके लिए परम वीतरागस्वरूप जिनेश्वरदेव, स्वरूपस्थित निस्पृही निर्ग्रथ गुरु, परमदयामूल वात्सल्ययुक्त धर्म व्यवहार और परमशांत अमृतरस - रहस्य वचन स्वरूप सत्शास्त्रकी परमभक्तिपूर्वक उपासना साधकदशाके अंत तक कर्तव्य है। आत्मकल्याणके भावनावान जीवको ऐसा प्रकार सहज होने योग्य है। इस प्रकार स्वच्छंद गलनेसे जीव, देहादि और रागादिसे भिन्न, परम शुद्ध प्रत्यक्ष चैतन्यमय आत्माका भेदज्ञान करनेके लिए सक्षम होता है। और विभावसे सहज उपराम होकर, निज स्वरूपमें स्थिर होता है। (११२१)



आत्मकल्याणका अपूर्व विचार - निर्धार प्रायः प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके चरणसेवनके बिना दूसरे प्रकारसे संभवित नहीं है। ऐसे अपूर्व विचार बिना अपूर्व ऐसा आत्मज्ञान उत्पन्न होना असंभवित है। अपूर्व ऐसे आत्मज्ञानके बिना जीव कोई भी साधन करता है तो वह कल्पित है। ऐसे कल्पित साधनसे आत्मा छूटनेके बजाय उलटा और बंधता है। इसलिए उन सभी कल्पित साधनको नुकसानकर्ता साधन जानने चाहिए, क्योंकि इससे 'साधना कर रहा हूँ' - ऐसा दुष्ट अभिमान होता है, जो कि संसारका मुख्य हेतु है। जो - जो साधन इस जीवने पूर्व कालमें किये हैं, वे साधन ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा अनुसार नहीं किये हैं। ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा अनुसार चलनेसे जीवको परिभ्रमण नहीं रहता क्योंकि ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा जीवको भवमें जानेसे रोकती है, और एकांत आत्मार्थ प्रेरक है। इससे ऐसा सिद्धांत ग्रहण होता है कि ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका आराधन वह 'सिद्धपद' की प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ व सर्वसे सुगम और सरल उपाय है। जीवको लौकिकभाव छोड़कर, अपनी कल्पनासे - छंदसे चलनेका छोड़कर, एक आत्मकल्याणके लक्षसे

प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञा अनुसार चलनेका निर्धार कर्तव्य है। (११२२)



कारणशुद्ध पर्याय अर्थात् 'अवलंबनके योग्य ऐसा निजस्वरूपका वर्तमान अवस्थितपना' कि जो उसी समयमें पर्यायशुद्धिका कारण बनती है। सर्व वर्तमानमें जहाँ सहज स्वरूप शुद्ध कार्यके कारणरूप मौजूद ही है, वहाँ अन्य प्रवृत्तिके विकल्पको अवकाश नहीं है - इस प्रकार कारणपरमात्मपना स्वयं स्वरूप है ऐसा बतलाकर संतोंने अनन्त उपकार किया है।

(११२३)



देव-दर्शन : अनन्त अचिंत्य प्रगट अव्याबाध सौख्य - परमानंदकी मूर्ति, अनन्त वीतरागता और निरवशेष अंतर्मुखभावसे चैतन्यके पूर्ण प्रत्यक्ष तेजके पूंजरूप, अनन्त स्वसंवेदनमय परिपूर्ण पवित्रता - आदि दिव्यगुणोंसे अलंकृत - देदिप्यमान प्रभु दर्शन, तथारूप आत्मभावोंके आविर्भावका परमोत्कृष्ट निमित्त है।

गुरु-दर्शन : प्रचुर स्वसंवेदनसे शोभायमान - जो प्रशमरसमें निमग्न हैं, जिनके दर्शनमें चलते - फिरते सिद्ध परमात्माके दर्शन होते हैं - ऐसे भिष्म पुरुषार्थकी मूर्ति, स्वरूपस्थित, निस्पृही, निष्काम करुणाकी प्रतिमारूप निर्ग्रथ गुरु - तथारूप गुणप्राप्तिके लिए वंदनीय हैं।

शास्त्र-दर्शन : सम्यक् स्वभावके द्योतक वचन भंडारसे जो समृद्ध है। हितोपदेशके रत्नोंकी जो खान है। सर्व शांतरस जिसमें गर्भित है, मोह स्वयंभुरमण समुद्रको तिर रहे ऐसे - शास्ता - पवित्र पुरुषोंकी जो वाणी है। वीतराग - परम शांत रस रहस्यमय निर्मल चैतन्यसे प्रभावित - प्रभावशाली वचनोंसे जो पूजित है। ऐसा सुश्रुत - सत्श्रुत उपासनीय है।

सत्पुरुष-दर्शन : त्रिलोकीनाथ जिनके वश हुए हैं, ऐसी दृष्टि संपन्न होने पर भी जिनको गर्व नहीं है, जिनको उन्मत्तता नहीं है। गुणातिशयवान समर्थता होते हुए भी जो अंतरंगसे निस्पृह रहकर बाहरमें अटपटी दशासे वर्तते हैं। जो मूर्तिमंत आत्मज्ञान स्वरूप हैं, जिनकी पहचान होनेसे मुमुक्षुको परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होकर, आप्तपुरुषकी प्रतीति / भक्ति संप्राप्त होकर, समकितके बीजका रोपण होता है, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप गुणवंत ज्ञानी, नमस्कार आदिसे लेकर सर्व प्रकारसे भक्ति करने योग्य हैं।

परमतत्त्वके दर्शनाभिलाषीको परमार्थकी प्राप्तिके सन्मार्गमें उपासना करने योग्य सत् देव-गुरु-शास्त्र और सत्पुरुषके दर्शनके कालमें, भावमें ऐसा उनका स्वरूप - दर्शन होता है।

(११२४)



अयथार्थ त्याग और यथार्थ त्याग।

परपदार्थमें जीवको अनादिसे सुखबुद्धि है, उसका अभाव हुए बिना सिर्फ त्यागके लक्षसे अथवा पुण्य-पापके लक्षसे जीव परपदार्थका त्याग करता है, और त्यागी अवस्थामें रहनेका आदी हो जाता है। उसका त्याग यथार्थ नहीं है। परन्तु परविषयका संयोग होते हुए भी, वस्तु स्वरूपके ज्ञानके आधारपूर्वक परमें सुख नहीं भासित होनेके कारण परके प्रति उदासीनता रहती है, उसमें प्रथम अध्यासका त्याग होता है, बादमें स्वरूपसुखके वेदनके कारण स्वरूपमें लीनता - स्थिरता वृद्धिगत होनेसे भाव - विकल्प उत्पन्न नहीं होता, वह बुद्धिपूर्वकके रागका अभाव - त्याग है। इस रागके अभावके कारण, तद्जनित परपदार्थ - ग्रहणकी क्रियाका अभाव होता है - उसको यथार्थ त्याग जानने योग्य है। (११२५)



मात्र पर्यायमें अस्तित्वपनेकी श्रद्धारूप अगृहीत मिथ्यात्व जीवको अनादिसे है। मनुष्यभवमें जैन शास्त्रके अभ्याससे प्रमाणके विषयभूत नित्य-अनित्यात्मक द्रव्यको अगर सम्यक् श्रद्धाका विषय माने - समझे तो वह गृहीत मिथ्यात्व है। सम्यक् श्रद्धा तो सिर्फ जीवके मूल त्रिकाली एकरूप स्वभावकी ही श्रद्धा करती है। इतनी ही निज अस्तित्वकी श्रद्धा होती है। फिर भी ज्ञान पर्याय अंशको निज सत्तामें जानता है। और इसी वजहसे सुख-दुःखका, हित-अहितका विवेक हो पाता है; श्रद्धाके उक्त परिणमनको और श्रद्धाके विषयभूत द्रव्य स्वभावको ज्ञान प्रथम जानता है। तथापि ज्ञानमें वह निश्चय द्रव्य मुख्य रहकर उपासना करनेमें आती है। - इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञानका विषय एक सरीखा नहीं होने पर भी (विषयमें तफ़ावत होने पर भी) उपासनाका विषय एक ही है। अतः दोनों गुण प्रयोजनके विषयमें अविरुद्धरूपसे परिणमन करते हैं। अतः दोनों गुणका आराधक भाव एकरूप और अविरुद्धभावपूर्वक होता है।

(११२६)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवालेको, अनेक प्रकारसे बोधको समझकर, खुदको जो कुछ, जितना भी लागू पड़ता हो, उसका सदुपयोग करनेका लक्ष रखना चाहिए कि जिससे तत्त्व अभ्यास सार्थक हो, वरना परलक्षी जानकारी बढ़ानेका व्यापार बढ़ जायेगा और शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न हो जायेगा। तत्त्व-अभ्यासका मूल्य भी स्वलक्षसे हुआ हो तो ही है, अन्यथा नहीं। खुदको उपयोगी हो फिर भी उसका उपयोग नहीं हो तो जीवको एकांत परलक्ष है, ऐसी स्थितिमें कभी आत्महित नहीं होता (बल्कि) व्यर्थ परिश्रम होता है। (११२७)



निज परमपदके प्रति वीर्यका वेग उत्पन्न होना वह स्वरूपज्ञानकी वास्तविकता है। पुरुषार्थका उछाला नहीं आये वैसे आत्मा सम्बन्धित जानकारीरूप ज्ञानको ज्ञान मानना वह कल्पना है,

उसमें वास्तविकता नहीं है।

(११२८)



ज्ञानीपुरुषकी वाणीका आशय ग्रहण होनेसे आत्मार्थ समझमें आता है अथवा उत्पन्न होता है। वैसी ही अन्य जीवकी वाणी होने पर भी, उसमें वैसा आशय नहीं होता है। स्वस्वरूपकी उपासना करते-करते निकली हुई वाणी उपासकभावसे प्रभावित होती है, आराधकभावसे प्रभावित होती है। अन्य वाणी विभावके एकत्वसे प्रभावित होती है। स्वरूपकी उपासनाकी अभिव्यक्ति उसरूप आशय, उपासनासे जो अनजान हो वह उसे कैसे कह सकता है ? (११२९)



आत्महितके हेतुपूर्वक किया गया तर्क सुतर्क है।

कुतर्क = आत्महितके हेतु शून्य तर्क।

तत्त्वचर्चाकी संज्ञा भी आत्महितके हेतुसे हो रही चर्चाको मिलती है, परंतु जहाँ आत्महितके दृष्टिकोण विहीन चर्चा होती है, वह तत्त्वचर्चा नहीं परंतु व्यर्थ विवाद है। जो इष्ट नहीं है - परंतु जीवको अहितकर है। (११३०)



मई - १९९३

जीवका प्रदेशत्व - अस्तित्व अरूपी है, अतः (छद्मस्थको) जाननेमें नहीं आता। परन्तु ज्ञानवेदन द्वारा उसका ग्रहण हो सकता है। अतः वेदन द्वारा अस्तित्वग्रहण होवे, उसीको तद्जनित ज्ञानबल द्वारा स्वानुभव होनेसे, श्रद्धानमें अस्तित्व आता है। आगम, युक्ति, न्यायसे अस्तित्वका खयाल आता है, (परन्तु) इसमें तत्सम्बन्धित बल उत्पन्न नहीं हो पाता। वेदन वह अनुभवांश है, अनुभवांशमें प्रत्यक्षता है जो वीर्यकी स्फुरणाका कारण है। विचार - खयालमें परोक्षता है, जो कि पुरुषार्थकी उत्पत्तिके लिए समर्थ नहीं है। वेदन - ज्ञानपूर्वक इस प्रकारसे सम्यक्दर्शन होनेकी विधि है। (११३१)



आत्महितके लक्षसे तत्त्वज्ञानका अभ्यास - शास्त्रवाचन, श्रवण, चर्चा - विचारणा आदि और न्याय, युक्तिसे जो कुछ भी सम्मत किया हो उसकी यथार्थता है या नहीं, इसकी जाँच करनेके लिए उसमें कोई कल्पना या अयथार्थता / अन्यथापना रह नहीं जाये - हो नहीं जाये इसके लिए आत्मार्थी जीवको, खुदकी समझको प्रयोगकी कसौटी पर चढ़ाकर भावभासनपूर्वक यथार्थ निर्णय करना चाहिए, ऐसा नहीं हो तबतक जिज्ञासाबुद्धिसे प्रवर्तन करना चाहिए, परन्तु खयालमें विचारपूर्वक जो लिया हो उसकी पकड़ नहीं करनी चाहिए, आग्रहका सेवन नहीं करना चाहिए। जिससे कि आत्मार्थीता बनी रहे। (११३२)

आत्मस्वरूपका प्रतिभास आते ही अनंत महिमावंत स्वरूपकी सहज यथार्थ महिमा उत्पन्न होती है। जिसे निश्चयका पक्ष कहते हैं। जिसमें स्वरूपके प्रति झुकाव शुरू होता है। वह झुकाव वृद्धिगत होकर निजावलंबन सधकर, एकत्वका / रागका अभाव होकर, वीतरागी दशाकी प्राप्ति होती है। ज्ञानबलपूर्वक पुरुषार्थका जोर स्वरूपके प्रति हुए बिना तन्मयता - लीनता उत्पन्न नहीं हो सकती। स्वस्वरूपमें 'अहंभावकी तीव्रतामें' - जोरमें उपयोग द्वारा अंतर अभेदता सधती है। जिसे निजावलंबन भी कहनेमें आता है। (११३३)



ज्ञानप्राप्तिके लिए योग्यता चाहिए, पात्रता चाहिए। योग्यता उत्पन्न हो, इसके लिए वैराग्य और सरलता सहित सत्संगका सेवन करना चाहिए। सत्संगमें अगर एकांत आत्महितके लक्षसे निवास होवे तो अवश्य जीवका कल्याण होता ही है। इस प्रकार सत्संगको - गुणीजनके संगको - ज्ञानियोंने अमृत कहा है, जो यथार्थ ही है। सत्संगसे योग्यता प्राप्त जीवको अंतर्मुख होनेका अभ्यास करनेकी - ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा है। सत्संग और सद्वांचन बाह्य ज्ञानाभ्यास है, जब कि 'साधारण एक संवेदन परिणामरूप स्वभाव' के द्वारा सन्मुखताका पुरुषार्थ करना वह अंतर ज्ञानाभ्यास है, जो सर्व सत्संगका और सद्वांचनका तात्पर्य है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वास्तवमें ज्ञानीकी आज्ञाकी उपासना बाकी रहती है। (११३४)



खास - मुख्य बाबत तो जीवका योग्यतामें आना वह है, जिससे कि वीर्य प्रवृत्ति सहज अंतरकी दिशामें हो, 'ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें चलना' - ऐसा मार्ग ग्रहण करनेके लिए सुदृढता हो और निवृत्तिका सेवन करके अप्रमादरूपसे आत्मभावका सेवन होना (चाहिए)। आत्महितमें उल्लासित वीर्य होनेसे प्रमाद (अन्य प्रवृत्तिमें अटकना) टलता है। बहुमूल्य ऐसा मनुष्यत्व सार्थक होना ही चाहिए, ऐसा आत्मार्थीको लक्ष रहता है। (११३५)



वर्तमानकाल बहुत दुषम है, इसलिए धार्मिकक्षेत्रमें भी सोच-समझकर संग करने योग्य है। वरना आत्मार्थी जीवको हानि होती है। जो जीव परमार्थके जिज्ञासु हो, सिर्फ उनके साथ शास्त्रप्रमाण आदि चर्चा कर्तव्य है, वरना इसमेंसे प्रायः अहित होता है। अथवा आत्महितके लक्ष रहित तत्त्वचर्चासे वाद-विवाद उत्पन्न होता है। आत्मार्थी वैसे प्रसंगसे दूर रहता है, क्योंकि वह आत्मार्थीके ध्येयसे विरुद्ध प्रवृत्ति है। प्रायः दुःखके हेतुभूत ऐसी लोकसंज्ञासे धर्म करनेकी वृत्ति देखनेमें आती है। परम समाधिकी हेतुभूत ऐसी आत्मशांतिका ध्येय और लोकसंज्ञा परस्पर विरुद्ध है। जिस जीवको संसारसे विराम प्राप्त करना हो, वही आत्मार्थका अधिकारी है, अन्य नहीं। (११३६)

परमपुण्यके उदयसे धर्मात्माके दर्शन और समागमका योग संप्राप्त होता है, उनकी प्रत्यक्षतामें आत्मार्थी जीवकी आत्मवृत्तिको पोषण मिलता है। ऐसे धर्मात्माकी वर्तमान कालमें विद्यमानता वह परम - परम सौभाग्य है।

ऐसे धर्मात्माके वियोगमें, वेदनायुक्त स्मरण आत्मार्थीको सहज होता है। उसमें सत्संगकी बलवान भावना वृद्धिगत होती है। धर्मात्माके विरहका ताप भावि समागमका कारण बनता है। अनादिसे परिभ्रमण कर रहे जीवको, (जब) धर्मात्मा 'साक्षात् मोक्ष' भासित होते हैं, तब अपने स्वरूपकी समीपता होती है, बोधका परिणाम होनेकी योग्यता आती है। (११३७)



रागसे भेदज्ञान करानेका प्रयोजन यह है कि वेदनसे हो रहे एकत्वको छुड़ाना है। जीवको परप्रवेश भाव द्वारा और विभावरूपसे स्वयंका एकत्व वेदनसे हो रहा है - ऐसा उलटा प्रयोग अनादिसे चल रहा है, जिसके कारण भेदसंवेदन शक्ति आवरित हो चुकी है, जो कि सुलटे प्रयोगसे खुलती है। रागका आकुलतारूप स्वाद आनेसे सहज उपेक्षा होती है, ज्ञानवेदनकी निराकुल मधुर परम शांतिका वेदन अभेद आत्मभावसे वेदनमें आये, वह भेद संवेदनरूप भेदज्ञान है। अज्ञानी मिटकर ज्ञानी बननेकी यह विधि है। (११३८)



अनादिसे ज्ञान विशेष - ज्ञेयाकार ज्ञानमें - अनेकरूप ज्ञानमें, ज्ञेय-ज्ञायक शंकरदोष चल रहा है, अतः वैसा मिथ्यात्वभाव जीवका लक्षण नहीं हो सकता। ज्ञानसामान्य एकाकार ज्ञानसंवेदनरूप परिणाम स्वभावरूप होनेसे, वह जीवके लक्षण - स्वरूपरूप प्रतीतमें आते हैं। 'ज्ञानमात्र' की स्वसंवेदनसे सिद्धि (प्राप्ति) है। - परम पूज्य अमृतचंद्राचार्यदेव (समयसार परिशिष्ट) यह 'ज्ञानमात्र' भाव स्वरूपको पहचाननेकी बानगी है। (११३९)



इच्छासे छूटे तो मोक्ष होवे। इच्छा रखकर मोक्षेच्छा करनेवाला मोक्षका स्वरूप नहीं जानता। ठीक उसी तरह दोषोंका ग्रहण वैसाका वैसा रखकरके ज्ञानप्राप्ति - बिना योग्यतामें आये - जीवने उसकी चाहना की है, जो कि अशक्य है।

अंतरात्माकी आवाज़का उल्लंघन करके जीव जो दोष करें, वह कैसे छूटे ? समर्पण, विनयादि करके दूसरोंसे श्रेष्ठ गिनती करवानी हो, वहाँ तक बेभानपना है, ज्ञानीका मार्ग इससे अभी दूर है। धर्मात्मारूप परमात्माकी कृपा बिना, खुदके दोष (भी) नहीं दिखते, तो आत्मदर्शन तो होवे ही कैसे ? (११४०)



सम्यक्बोध - श्रवण होनेके पश्चात् जीवको अपने अंदर क्या जाँच करनी चाहिए ? क्या

अवलोकन करना चाहिए ?

* सुख - शातामें कितनी अपेक्षावृत्ति रहती है ? उसका सूक्ष्मरूपसे अवलोकन करके, वहाँ-वहाँ उदासीनता और महा वैराग्य आना चाहिए। जूठनमें खुशी होती है !!

* अन्य जीवके दोषको मुख्य नहीं करने चाहिए, जिससे कि तिरस्कारवृत्ति हो जाये। खुदके दोषके प्रति तिरस्कार कर्त्तव्य है।

* सत्पुरुषके चरण - शरणके प्रति शोधक-वृत्ति रहती है या नहीं ? उसकी तीव्रता कितनी है ?

* मार्गकी अप्राप्तिके कारणसे बेचैनी - खेद रहता है कि नहीं ?

* संसारको कैसे खोटा माना ? संसारमें कितनी प्रीति वर्तती है ? सारभूत लगता है ?

* अपने दोष दिखानेवालेके प्रति अनगमा हो आता है ? या हितबुद्धिसे उपकारी लगता है ?

* बोध मिलनेके बाद आत्माको कितना लाभ हुआ ? आत्मजागृति कितनी वर्तती है ?

* जिन पदार्थोंमें अपनत्व होता है, वहाँ मूढता हुई है, ऐसा लगता है ? (११४१)



प्रश्न :- सत्पुरुषकी पहचान होनेके लिए कैसी योग्यता चाहिए ?

उत्तर :- ज्यों-ज्यों असत्संगका परिचय करनेकी वृत्ति कम हो अथवा असत्संगसे चित्त पीछे हटकर उसके प्रति सहज उदासीनता आये और स्वविचारदशा - आत्मजागृति - उत्पन्न हो, त्यों-त्यों उस आत्महितकी अत्यंत जागृतिके कारण उदयके सर्व प्रसंगोंमें नीरस परिणाम रहा करते हैं, जिससे दर्शनमोहका अनुभाग कम होता है, और इससे ज्ञानीपुरुषकी अंतरदृष्टि और सहज स्वरूपमय दशा समझमें आने पर, ज्ञानीपुरुषका अपूर्व माहात्म्य भासित होकर, उनके प्रति चित्त उल्लसित होता है - परम प्रेम आता है, पराभक्ति प्रगट होती है, तब उनके एक वचनसे भी अपूर्व फल प्राप्त होता है, ऐसा जानकर उस वचनके प्रति, उस वचनके आशयके प्रति अत्यंत प्रीति-भक्ति उत्पन्न होती है, वहाँ फिर दुर्लभ होते हुए भी सम्यक्त्व दुर्लभ नहीं है। जबतक सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि नहीं आती है तबतक उनके बोधका फल आना संभवित नहीं है। बोधका परिणमन होनेकी खास पूर्व भूमिका ऐसी है कि बोधिदातारके प्रति अपूर्व माहात्म्यबुद्धि प्रगट होती है। (११४२)



वर्तमानमें सामान्य मुमुक्षुका इतना ध्यान जरूर जाता है कि यह मार्ग वाकई सत्य है और इसे प्राप्त करनेसे जीवका कल्याण (भी) हो जाये, परन्तु दूसरी तरफ मोहके बलवानपनेके कारण, मोहको टालनेमें हिम्मत नहीं चलती है। अतः संयोग ऊपरकी सावधानी छोड़नेमें -

उपेक्षा करनेमें भय लगता है। जिसके कारण उदय प्रवृत्तिमें जीवन चला जाता है, और वह आवरणकर्ता बन जाता है। और मिला हुआ अपूर्व योग अफल जाता है, मौका हाथसे निकल जाता है। देहादिमें जो आत्मबुद्धि है, वही भवांतरमें देहादि बंधन प्राप्ति का कारण है। वर्तमानमें भी व्यामोह छोड़ते हुए यदि जीवको दुःखी होना पड़ता है, तो परभवमें कितना दुःखी होना पड़ेगा ? उस वक्त दुःखकी वेदना कितनी अकथ्य होगी !! इसका गंभीरतासे विचार करके वीर्य उछालना चाहिए। उल्लासित वीर्यसे आत्महितका प्रारम्भ होना चाहिए। (११४३)



विकल्पसे स्वरूपको समझकर, आनंदके निर्विकल्प अनुभवके लिए, एकाग्रताकी विचारणा करनेके लिए कोई एकांतमें बैठता है, और अनुभव हुआ कि नहीं ? ऐसा विचार करता है। उसमें अनजानेमें खुदने की हुई अनुभवकी कल्पनासे (अनुभव होनेके पहले) अनुभवमें संतुष्ट होनेका अभिप्राय पड़ा रहता है। (जो कि पर्यायबुद्धि है।) ज्ञानीका तो वैसा अभिप्राय होता है कि सदा निर्विकल्पदशा रहे तो भी, स्वभावकी मुख्यताके आगे, उसकी मुख्यता नहीं करनी है। ऐसा ही कोई महा आश्चर्यकारी महिमावंत स्वयं स्वरूप है। जैसा परिपूर्ण स्वरूप है वैसी ही दशाका होना - रहना - ऐसा आत्मस्वभाव तो है ही, इसलिए वैसा स्वभाव वर्तमानमें ही जिसको स्वरूपसे प्रत्यक्ष है (कारण) शुद्ध पर्याय सहित, उसको उत्पाद अंशकी शुद्ध-अशुद्धकी विकल्पना / चिंतना नहीं होती है, कि जैसी चिंता पर्यायबुद्धिवानको (मिथ्यादृष्टिको) होती है। (११४४)



सहज प्रत्यक्ष सदा उद्योतरूप अनन्त चतुष्टय मंडित परम स्वभावके वर्तमानको - (मौजूदगीको), परम पूज्य श्री पद्मप्रभमलधारीदेवने (नियमसार गाथा - १५की टीकामें) पूजित पंचमभाव परिणति - कारण शुद्ध पर्याय कहकर - दिखाकर परम उपकार किया है। वर्तमान प्रत्येक समयमें पूर्ण स्वरूपरूप वर्तता हुआ - प्रत्यक्ष बिराजमान परमात्म तत्त्व स्वयं कारणपर्याय ही है, वहाँ अन्य कार्य - पर्यायकी शुद्धि-अशुद्धिकी चिंता / विकल्प कैसा ? भय कैसा ? खेद कैसा ? यथार्थ ही कहा है :

“एक देखिये, एक जानीये, रमी रहीये एक ठौर,
समल-विमल न विचारीये, यही सिद्धि नहीं और।” - पूज्य श्री बनारसीदासजी
अखण्ड प्रदेशमें वस्तु स्वयं वेदन - प्रत्यक्ष है। इति (११४५)



जीव भावभासनके लिए प्रयोगाभ्यास न करे और शास्त्राभ्यास बढ़ा देवे, तो प्रायः अनेक जगह कल्पना करता है। अतः मार्गप्राप्तिकी दिशामें ज़रा भी विकास नहीं हो पाता है, परन्तु

ज्ञान-वृद्धि होनेका संतोष होता है, और ओघसंज्ञा जनित विपर्यास होता है - उस प्रकारसे श्रद्धा और ज्ञान - दोनोंका दोष होता है। कृपालुदेवने यथार्थ ही कहा है कि, "निज कल्पनाथी कोटी शास्त्रों मात्र मननो आमळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो।"

इसलिए थोड़ा लेकिन यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। (११४६)



ज्ञानीपुरुषको पूर्व प्रारब्धयोगसे प्रतिकूलता / अशाता आदि कारणसे बाहरमें श्रीगुरुका सत्संग - समागमादिका अंतराय वर्तता है तब, उनका वैराग्य विशेष प्रमाणमें सहज वृद्धिगत होता हुआ, सर्व उदयभावमें अधिकरूपसे नीरस होकर, निज चैतन्यके आश्रयसे अधिक पुरुषार्थमें उनका सहज परिणमन हो जाता है। वह आराधना धन्य है। वंदन हो उस पुरुषार्थमूर्तिको !! (स्मरण पूज्य सोगानीजी)

(११४७)



"मैं अनन्त सामर्थ्यमय एकाकार पिंड - दल हूँ" - ऐसी द्रव्यदृष्टिमें पर्यायदृष्टिका अभाव है। ज्ञानमें - अभिप्राय हमेशा द्रव्यदृष्टि अनुसार ही होता है, अतः पर्याय जाननेमें आती है फिर भी उसमें फेरफार करनेकी बुद्धि नहीं होती है, यानी कि ऐसा जाननेमें आता है कि मैं अपरिणामी सदा एकरूप होता हुआ, स्वयं परिणमन कर रहे परिणाममें फेरफार नहीं कर सकता हूँ, अक्रिय हूँ - ऐसी वस्तुस्थिति अचलित है। इस द्रव्यके अनुभवमें ध्येयकी पूर्णता और मार्गकी निःशंकता वर्तती है, तथापि विचित्र वर्तती पर्यायमें हो रहे फेरफारका समाधान भी हो जाता है। अशुभभावमें सहज खेद, शुभभावमें थोड़ा उत्साह और स्वरूप लीनतामें शुद्धता ज्ञानीको हो जाती है, फिर भी कहीं पर फेरफार करनेकी 'बुद्धि' नहीं होती, - यही पूर्व ज्ञानी - गुरु वचनोंका साक्षात्कार है। 'सब आगम भेद सो उर बसे' - ऐसी दशा द्रव्य-दृष्टि होने पर होती है। दृष्टि - श्रद्धाका पुट लगनेसे पुरुषार्थ आदिका उग्र होनेका सहज स्वभाव है।

(११४८)



अहो ! संतोंका जीवन ! परमात्मपदको अंतरमें चिपक गये हैं, लिपट गये हैं; इसलिए बाहर आना बिलकुल नहीं रुचता है / नहीं सुहाता है। फिर भी अनिवार्यरूपसे अंशतः बाहर आ जाते हैं ! तब देखिये कुदरतकी रचना ! कुदरतकी लीला ! वाणीकी स्वयं रचना हो जाती है ! और महान परमागमोंकी रचना हो जाती है ! जिससे अन्य सुपात्र जीव सन्मार्ग पर चढ़ जाते हैं। स्वानुभूतिमें भंग पड़ने पर जो बाह्य प्रवृत्ति हुई, इससे भी महा परमागम जैसा उत्तम फल, जिनके निमित्तसे उत्पन्न हुआ उनकी आराधना अचिंत्य और अलौकिक, महा आश्चर्यकारी परमोत्कृष्ट ही होवे न ?!

(११४९)

निराकुल ज्ञानवेदन द्वारा भगवान आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष है, परम पवित्र है, उसे गौण करके (अनादर करके) अपवित्र और अशांत भावमें रहना, यह सर्वाधिक अविवेक और अपराध है। बाह्य भावमें एकांतरूपसे रस / जागृति होना वह स्वभावकी अरसताकी द्योतक है, जो कि 'निश्चय स्वच्छंद' है। जिसके कारण अंधत्वको प्राप्त जीवको बाह्यवृत्तिमें आकुलता होते हुए भी उसमें दुःख नहीं लगता, प्रत्यक्ष विषरूप परिणामोंका भय नहीं लगता, अनन्त जन्म-मरणके भयंकर परिभ्रमणका डर नहीं सताता। ध्रुव अचलित स्वरूपका व्याप्य-व्यापकरूपसे आश्रय लेना, वह एकमात्र उपाय है, इसके बिना निस्तार नहीं है। स्वयंका मूल स्वरूप ही परिणामोंका विश्रामधाम है। (११५०)



जून - १९९३

जीव अनादिसे परिणाममें अस्तित्वका अनुभव कर रहा है, दुःखी भी है, दोषित भी है, इसलिए उसकी पर्याय प्रधानताकी भाषा - शैलीसे उपदेशबोधकी प्रवृत्ति हुई है। 'परिणाम ऐसे करो, वैसे मत करो' - इत्यादि प्रकारसे आदेश होने पर भी, पर्यायके एकत्व - कर्तृत्वकी स्थापना करनेका ज्ञानीका आशय नहीं होता, इस अपेक्षाको रखते हुए उनके वचन होते हैं। 'वास्तवमें ध्रुव आत्मा स्वयं अक्रिय चिद्बिंब परिणामोंमें कुछ नहीं कर सकता' - ऐसी अचलित श्रद्धापूर्वक वह उपदेशकी प्रवृत्ति हुई है। ध्रुवकी एकताको साध्य हुए ज्ञानमें परिणाम स्वयं परिणमन करते हुए अनुभवमें आते हैं, साथ ही साथ वर्तमान शुद्धि-अशुद्धिके यथार्थ ज्ञान(में) समाधानपूर्वक, शुद्धिकी भावि पूर्णताकी निःशंकता ज्ञानीको आती है। (११५१)



'वर्तमानमें चल रहे एक समयमें मैं परिपूर्ण अखण्ड ध्रुव चैतन्य हूँ' - ऐसे स्वरूपानुभव द्वारा ज्ञान-वेदनका उदय - आविर्भाव है। कि जो ज्ञानवेदन रागसे भेद करता हुआ निःशंकित व निराकुल सुख सहित प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट हो रहा है और क्रमशः वृद्धिगत होता हुआ पूर्ण हो जायेगा। इस आत्माको जगतमें किसीसे कोई लाभ-नुकसान नहीं है - यह न्याय अगर बाहर जानेवाली वृत्ति पर तीरकी माफिक असर करे, तथारूप जागृति रहे, तो परसन्मुखता छूट जाये। इस आत्मासे शून्य ऐसा जगत पूर्णरूपेण उपेक्षा करने योग्य है। उसके प्रति जानेवाली वृत्ति स्वानुभूतिमें विघ्न करनेवाली है, स्वरूप-शांतिका काल (घातक) है - ऐसा जानकर हे जीव ! स्वरूपस्थ हो !! (११५२)



उपादेयभूत आत्मस्वरूप ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होने पर, वीर्योल्लास पूर्वक अंतर अवलंबनसे

उपयोगात्मक होने पर स्वसंवेदनकी उत्पत्ति होती है। ज्ञानदशामें परिवर्तित होनेवाली यह प्रक्रिया है। स्वसंवेदनका उक्त प्रकारसे आविर्भाव होता है तब समकालमें सम्यक्दर्शन और स्वरूपानंद - स्वरूप स्थिरता (सम्यक् चारित्र) प्रगट होती है और मिथ्यात्व एवं अज्ञान अंधकारका नाश होता है। तबसे श्रद्धाबलपूर्वक मोक्षमार्गमें धर्मात्मा आगे बढ़ते हैं। (११५३)



अनादि संसारदशामें जीवका श्रद्धागुण विपरीत श्रद्धारूप परिणमन कर रहा है, इसलिए वैसा परिणमन स्वरूपकी श्रद्धा करनेके लिए असमर्थ है। इस वजहसे ज्ञानीपुरुषोंने अज्ञानकी निवृत्ति हेतु, सम्यक्दशा होनेके लिए, प्रगट स्वभाव - सकल ज्ञेयोंमें वर्तते ज्ञान विशेषमें - साधारण एक संवेदन परिणामरूप स्वभाव - बतलाकर परम उपकार किया है। जो आत्मार्थी जीव 'ज्ञानमात्र' ऐसे स्वयंकी स्वसंवेदन द्वारा प्राप्ति करता है। उसे श्रीगुरुका उपकार कितना अनुपम व अतुल है वह (अनुभव) गम्य होता है। गुरुगम द्वारा अज्ञान अंधकारमेंसे जीव सहजमात्रमें प्रकाशमें आता है, स्वयं सुखसागरमें निमग्न होकर, संसार समुद्रको पार करके अल्प समयमें अपूर्व सिद्धरूप परम पवित्र दशाको प्राप्त होता है। (११५४)



'सर्वांग समाधान स्वरूप त्रिकाली चैतन्यद्रव्य मैं प्रत्यक्ष हयात हूँ - ऐसी द्रव्य-दृष्टि होती है तब, द्रव्य (ध्रुव) निरपेक्ष पर्यायकी स्वतंत्रता / योग्यता, पर्यायके षटकारक, पर्यायका स्वकाल / क्रमबद्धता आदि 'भाव' यथार्थरूपसे समझमें आते हैं। अतः द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षा बिना उस विषयकी चर्चा निरर्थक है और अकर्तव्य है। द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यकी अत्यंत उपादेय बुद्धि-अपेक्षाबुद्धि प्राप्त होती है, और पर्यायकी उपेक्षाबुद्धि होने पर पर्यायमें फेरफार करनेकी बुद्धि छूट जाती है। साथ ही साथ आत्मभावसे प्रवर्तित योग्यता प्रति समय वृद्धिगत होती हुई पूर्ण होकर अभेद हो जायेगी, इसकी निःशंकता भी रहती है। इस कारणसे 'भावों' सम्बन्धित असमाधान नहीं रहता है। क्योंकि अशुद्धत्व अंशमें खुदकी कल्पना नहीं होती। इसके अलावा वह अंश प्रत्यक्ष क्षीणताको प्राप्त होता हुआ मालूम पड़ता है। (११५५)



हे जीव ! त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वरकी प्रदत्त निधि हाथ लगी है, जिससे शाश्वत कल्याणका उपाय सहजमात्रमें प्राप्त होकर, अभी (वर्तमानमें ही) परमशांतिका अनुभव हो सकता है, तो फिर किस कारणसे इसकी उपेक्षा हो सकती है ? उपेक्षा करने योग्य है क्या ? सर्व उद्यमसे जिनाज्ञाकी उपासना कर्तव्य है। स्वयंप्रभु आनंदघन है, निर्विकल्प आनंदघन हूँ। सहज बेहद प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष हूँ - वैसा मैं स्वसंवेदन गोचर हूँ। अगाध अमृत सागरमें निमग्न हूँ।

केवल अंतःतत्त्व होनेसे संपूर्ण अंतर्मुख हूँ। परिपूर्ण होनेसे सर्वथा निरालंब निरपेक्ष हूँ।

(११५६)



प्रत्यक्ष धर्मात्माकी पहचान होने पर, मुमुक्षुजीवको परमेश्वरबुद्धिसे परम भक्ति प्रगट होती है, सर्वस्व देनेवालेके प्रति परम प्रेमार्पण भाव उल्लसित होता है। जिसके कारण स्वच्छंद और मानादि शत्रु-महादोषका नाश होकर नम्रता उत्पन्न होती है, सर्वार्पणबुद्धि आनेसे, तन-धनादिकी आसक्तिका प्रतिबंध मिटता है और वैराग्यमय परिणाम होनेसे लोभकी चिकाश मिटती है। भक्ति वह निजहितकी गरजरूप पात्रता होनेसे, सत्संगरूपी वृक्षकी उपासना करनेके लिए आवश्यक सरलता सहित सेवन होनेसे, अमृत फलकी उत्पत्ति होती है। इसलिए परम कृपालुदेवने मुमुक्षुके लिए भक्तिको 'श्रेष्ठमार्ग' कहा है, अर्थात् सरल - सुगम कहकर परम उपकार किया है। मुमुक्षुकी भूमिकामें भक्तिसे भीगे हुए परिणाम भावनावृद्धि करके अनेक दोषोंके निवृत्तिकारक हैं। ज्ञान तो बहुमूल्य गिना जाता है, तथापि भक्तिके बिना वह शून्य है। (११५७)



मुमुक्षुजीवको सत्संग-ज्ञानगोष्ठी आदि ज्ञानीपुरुषकी आज्ञानुसार कर्तव्य है। यानी कि प्रथम 'पूर्णाताका लक्ष' कर्तव्य है। इस हेतुसे सर्व विचारणा कर्तव्य है। अन्यथा क्रमभंग हो जानेसे नुकसान होनेकी पूरी संभावना है। उक्त लक्ष्यार्थसे भक्ति, स्वच्छंद निरोध, सरलता, वैराग्य, निज-दोषोंका देखना इत्यादि होने चाहिए। यह मार्ग परम विनय-विवेकसे प्राप्य है, यह विस्मरण नहीं होना चाहिए। उपरोक्त क्रमका अनुसरण करके अपूर्व जिज्ञासापूर्वक पदार्थ निर्णयके हेतुसे ज्ञानाभ्यास नहीं होता है, तो अन्यथा अभिप्रायपूर्वक होनेवाली प्रवृत्ति अहितकारक फलती है।

(११५८)



अंतरंग त्याग रागके ममत्वका होना चाहिए। ऐसी श्री जिनदेवकी आज्ञा है। आत्मस्वरूप परम पवित्र है। उसकी दशामें मलिन ऐसा राग है, उसका तो जीव ममत्व रखें और परपदार्थके त्याग द्वारा शुद्धिकी प्राप्तिका प्रयत्न करे तो उसमें तो सफलता कैसे प्राप्त होगी ? रागका अभाव भी, रागके ममत्वका त्याग हुए बिना नहीं हो सकता। इसलिए भेदज्ञान द्वारा प्रथम रागका ममत्व छुड़ाया है, जिससे कि राग और रागके विषय सहजमात्रमें छूट सके। प्रथम राग और ज्ञानके बीच भेदज्ञान करनेके उपदेशके पीछे यह रहस्य है। प्रथम अध्यासका त्याग होना चाहिए।

(११५९)



जहाँ पर सुख लगता है - भासित होता है वहाँ जीवके परिणाम सहज खींचे चले जाते हैं - परिणामनकी यह वास्तविकता है। अतः आत्म-सुखके अभिलाषी जीवको 'ज्ञानमात्र' में सुखका भासन होवे इसके लिए अंतरखोज करनी चाहिए। यह अंतरखोज सिर्फ भेदज्ञानके प्रयोगमें ही होती है। और 'ज्ञानमात्र' स्वयं सुखरूप प्रयोगके अभ्याससे भास्यमान होता है, तबसे परिणामोंकी दिशा बदलती है। सुखाभास मिटकर यथार्थ उदासीनता आती है।

(११६०)



जिसने गुणग्राही दृष्टि साध्य की हो, उसके लिये ही स्वतंत्ररूपसे शास्त्रवांचन हितावह है। वैसी योग्यता आये बिना भवभयसे डरते-डरते, सत्पुरुषके आश्रयसे - आश्रय भावनामें रहना योग्य है - ऐसी मार्गकी गंभीरता है। क्योंकि अनादि बाह्यदृष्टिके कारण जीव भूल करता है। इसलिए शुरूसे ही 'स्वलक्षी' रहना चाहिए।

(११६१)



मोहभाव दो प्रकारसे हैं, दर्शन और चारित्र। दर्शनमोह अनन्त संसारका कारण है, उसका नाश करनेके लिए जो उद्यमवन्त नहीं हैं और बाह्यदृष्टि होनेसे सिर्फ चारित्रमोह जनित रागद्वेषको मिटानेके विविध कल्पित उपाय करते हैं, वे युद्धमें शिरश्छेद करनेवालेके सामने लड़ते देनेके बजाय सिर्फ उँगली काटनेवालेके सामने लड़ते हैं। 'ज्ञानीका मार्ग' प्रथम दर्शनमोहका पराभाव करनेका है।

(११६२)



अनन्त सुखमय मोक्षके बीजरूप सम्यक्दर्शनके बिना; प्राप्त हुआ मनुष्य जन्म भी, नहीं प्राप्त होनेके बराबर है। इस गंभीर वचनमृतके आशयके प्रति अगंभीर मत हो ! (आचार्य पद्मनंदि)

(११६३)



द्रव्य-दृष्टि होने पर साम्यभाव प्रगट होता है। स्वयंकी पर्यायोंके प्रति भी। फिर संयोगके प्रति विषमता कहाँसे मालूम होगी ? जिसे शुभभावकी गिनती होती है, उसे द्रव्य-दृष्टि होना दुर्गम है। धर्मीका तो शुद्ध परिणामों पर भी लक्ष नहीं होता है। दृष्टि तो पर्यायको देखती ही नहीं है। इसलिए पर्याय मात्रका कर्तृत्व छूट जाता है। अरे ! मोक्ष-साधक पवित्र परिणामोंका मूल्य भी साधकको नहीं है, ऐसा परम तत्त्व जयवन्त वर्तता है, उसकी अधिकाई रहती है। साधकको पूर्णदशाकी भावना होती है, उसमें पर्यायत्वकी मुखयता नहीं है, परन्तु पूर्ण स्वभावकी मुखयता है। ऐसी मुखयता कदापि नहीं छूटती।

(११६४)

बीजका चंद्र दिखानेवालेकी उँगलीको देखकर, जिस प्रकार उस परसे नज़र हटाकर चंद्रको दिखाया जाता है, वैसे ज्ञानक्रियाके आधारसे त्रिकाली ज्ञानस्वभावको - अनुभवी महात्माओंने दर्शाया है। प्रगट लक्षणसे जो प्रगट या अप्रगट नहीं है, वैसे अलखका लक्ष कराया है। तीनोंकाल स्वरूप तक पहुँचनेका यही प्रकार है। (११६५)



जुलाई - १९९३

'काललब्धि' और 'पुरुषार्थ' दोनों एक ही पर्यायकी भिन्न-भिन्न विवक्षा हैं। जिस जीवको आत्मकार्यका वीर्योल्लास सहज वर्तता है, वही उसकी योग्यतारूप काललब्धि है। कोई काललब्धिका अवलम्बन लेकर स्वच्छंदका सेवन नहीं कर ले इसलिए 'पुरुषार्थ करना चाहिए' ऐसा उपदेश दिया जाता है, फिर भी योग्यता अनुसार जीव परिणमन करता है। जिसे स्वरूप सन्मुखता होती है, उसे तथारूप पुरुषार्थ होता ही है। कर्तृत्वके दोषसे बचानेके लिए 'काललब्धि' की विवक्षा है। (११६६)



आत्मार्थी जीवको आत्मिक सुखकी जरूरतमेंसे आत्मरुचि प्रगट होती है, इसलिए वैसे सुखके अभावमें किसी भी पर्यायमें संतुष्ट होनेका नहीं बनता, बल्कि खेद ही रहता है। जिसे 'आत्मा अनन्त सुखसे भरा है' ऐसे जिनवचनमें विश्वास है, उसे - आत्मार्थीको उस सुखका सदंतर अभाव होने पर भी, (वर्तमानमें) चैन पड़े, यह कैसे बन सकता है ? बन ही नहीं सकता, उसे तो बेहद चटपटी लग जायेगी ! आत्मरुचिके अभावमें ही जब क्षयोपशम बढ़ता है तब प्रसन्नताका अनुभव होता है। जिसे अंदरमें स्वकार्यकी तालावेली (लगन) लगी हो उसे तो कहीं पर भी नहीं सुहाता। ऐसा सहज होता है। (११६७)



ज्ञानदशामें स्वरूपसुख अनंतवें भागमें वेदनमें आता है, इसलिए जबतक पूर्णता नहीं हो जाती तबतक शांतिसे बैठे रहनेका असंभवित है। अनन्त सुखधामका निशदिन ध्यान रहता है, फिर भी पुरुषार्थकी शिथिलता नहीं पुसाती है, उन्हें मुनिदशाकी उत्कंठा रहती है।

मुनिराज तो समस्त जगतको तिलांजलि देकर निकल पड़े हैं, प्रचुर आनंदमय देहातीत दशा होने पर भी महाआनंदकी अपेक्षासे उन्हें 'धीमी धार' लगती है, इसलिए अविरतरूपसे स्वरूपको साधते हैं। जो कि आत्मार्थीके लिए प्रेरणा पुंज है। (११६८)



भेदज्ञानके प्रयोगका रहस्य दर्शाते हुए पूज्य गुरुदेवश्रीने (परमागमसार-७३३में) कहा है

कि 'स्वपने अनुभवमें आनेवाला ज्ञान, वही आत्मा है।' भेदनयसे तो अनुभव ज्ञान पर्याय है, परन्तु यहाँ उसे पर्याय नहीं कहकरके 'आत्मा' कहनेके पीछे रहस्य है, जिसमें परमार्थ है। ज्ञानमें अनुभव तो सभीको है, परन्तु 'स्व-पने' नहीं है। वह यदि स्व-पने होवे तो द्रव्यका लक्ष हो जाये। (ज्ञानका स्व-पने वेदन होनेसे 'ज्ञानदल' का ग्रहण होता है, अखण्डका ध्यान होता है।) इस प्रकारका उसमें 'पारमार्थिक सिद्धि' का रहस्य है। आत्मस्वरूपके लक्षसे ज्ञानका स्वसंवेदन - सर्वगुणांशरूप सम्यक्त्वको प्रगट करता है। अहो ! श्रीगुरुने मार्गको सरल कर दिया है, परमपदसे भेंट करवाई है। वेदन - प्रत्यक्षता द्वारा 'अखण्ड प्रत्यक्ष प्रतिभासमय चैतन्य ज्योति - वर्तमान' के दर्शनको सुगम कर दिया, उसकी महिमा कैसे हो सकती है ? ये अलखका लख (लक्ष) है। (१९६९)



श्रीगुरुका जिसे व्यक्तिगत उपकार (परमार्थ प्राप्तिमें निमित्त) हुआ हो, उसे बेहद लाभ हुआ होनेसे सहज ही बेहद भक्ति आती है। समष्टिगत उस प्रकारकी भक्ति परम्पराके आग्रहका उसमें हेतु नहीं होनेके बावजूद भी उसके प्रतिपादनका विरोध कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि समष्टिगत प्रतिपादनमेंसे भी आखिरमें स्वयंके व्यक्तिगत प्रयोजनका दृष्टिकोण ही साध्य करना है। कोई जीव यदि समष्टिगत दृष्टिकोणको मुख्य करके आचार्यपना करता है, तो उससे उसको क्या लाभ होगा ? यह विचार करने योग्य है। परलक्षको मुख्य करनेसे मुमुक्षुको तो नुकसान ही होता है। वर्तमानकालमें 'प्रत्यक्ष योग' मिले और परमेश्वरबुद्धि होवे, तो उसका फल महत् है। इसलिए तद्अनुसार बहुमान उत्पन्न होता ही है। उसमें ही सही वास्तविकता है, कोई अतिपरिणामीपना नहीं है। (१९७०)



धर्मात्माको स्वरूपध्यानमें चिंतन - मननकी मुख्यता नहीं होती, वह गौणरूपसे होता है।

प्रश्न :- तो फिर ध्यानके कालमें वे क्या करते हैं ?

उत्तर :- उन्हें आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष है और आत्मपरिणति प्रगट है। ध्यानावस्थामें उन्हें आत्मभावका सहज आविर्भाव होता है। तथाप्रकारसे उनका पुरुषार्थ धर्म उग्र होता है, क्योंकि दृष्टिका 'पुट' लगता रहता है, कि जो लीनताका कारण है। चिंतनका विकल्प यहाँ पर साधक नहीं है, परन्तु बाधक है, जिसका पुरुषार्थकी उग्रता होने पर नाश होता है।

(१९७१)



सम्यक् वैराग्यका जन्म आत्माके आनंदमें से होता है। अमृतरसके स्वादके कारण अन्य

विषयमें रस नहीं आना, वह वैराग्य है। ऐसी दशामें 'लोभ नहीं जो प्रबल सिद्धि निदान...' 'सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव...' - इस प्रकारकी सहज उदासीनता रहती है।

(११७२)



किसी भी जीवको अध्यात्म रुचता हो, तो उसे अच्छा चिन्ह गिन सकते हैं, तथापि ओघसंज्ञाके कारण या लोकसंज्ञाके कारण जब उसका व्यामोह होता है, तब उस जीवमें शुष्कता, अतिप्रलापता इत्यादि दोषोंकी उत्पत्ति होती हैं। ऐसा नहीं हो, इसके लिए श्री देव-गुरु आदि महापुरुषोंकी भक्ति उपकारी होती है, अथवा यदि जीव आत्मकल्याणके विषयमें शुद्ध नैष्ठिक हो तो, स्वाभाविक अध्यात्मकी उच्च दशाको प्राप्त होता है। - इस प्रकारकी शुद्ध नैष्ठिकता प्रायः 'पूर्णताके लक्षसे' उत्पन्न भावनाके रूपमें वर्तती है।

(११७३)



उपयोगकी स्थूलताके कारण ज्ञानवेदन खयालमें नहीं आता है। परन्तु निजहितकी रुचिपूर्वक सूक्ष्म उपयोगसे 'स्व-पने ज्ञानवेदन' द्वारा ही लक्षकी प्रसिद्धि होती है। स्वरूप ज्ञानमात्रपने लक्षमें रहता होनेसे, ज्ञानवेदनका सहज आविर्भाव होकर शुद्धोपयोग प्रगट होता है, क्योंकि जिसका लक्ष होता है उसी तरफ वीर्य जाता है, उसीकी मुख्यता रहती है - इस प्रकार प्रथम वेदन द्वारा लक्ष और फिर लक्षके कारणसे स्वसंवेदन होता है।

(११७४)



ज्ञानीको द्रव्यदृष्टिके कारण पर्यायकी उपेक्षा वर्तती है, परन्तु द्रव्य स्वभावकी सावधानी पर्यायमें वर्तती होनेसे, उस सम्यक् पर्यायकी चिंता करना आवश्यक है भी नहीं। इसलिए ज्ञानी स्वभाव सावधानीके वशात् ऐसा कहते हैं कि, 'पर्याय चाहे कैसे भी प्रवृत्ति करो मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।' परन्तु ऐसा कहते वक्त प्रतीति वर्तती है कि पर्याय मर्यादामें ही रहनेवाली है। और पर्यायमें फेरफार होनेसे स्वभावमें फर्क नहीं पड़ता, यह भी परम सत्य ही है। तथापि जिसकी श्रद्धा ही स्वरूपको छोड़कर, अन्य स्थानमें परको / रागको आत्मारूप ग्रहण करती है, वह अगर ज्ञानीकी नकल करे, तो पर्यायमें विपर्यास वृद्धिगत होता है अथवा मिथ्याश्रद्धाके कारण पर्यायकी सावधानी रहती है। इसलिए उसीकी उपेक्षा नहीं हो सकेगी। मिथ्यात्व अवस्थामें परके साथ एकत्व रहता है, तो वहाँ 'भले ही वैसा हो तो हो' - इस प्रकारका उपेक्षितपना इच्छनीय नहीं है। फिर भी अज्ञानसे कहता है तो स्वच्छंद हो जाता है। - पर्यायकी उपेक्षा सम्यक् प्रकारसे होनी चाहिए।

(११७५)



प्रश्न :- ज्ञानसे राग कैसे भिन्न मालूम होवे ? (कैसे भासित हो ?)

उत्तर :- चलते हुए परिणमनमें, ज्ञान सामान्यकी मुख्यता होने पर, रागसे खुदकी भिन्नता भासित होने लगती है। जो भिन्न ही है, वह भिन्न भासित होता है। यह भेदज्ञान स्वानुभूतिका प्रत्यक्ष कारण प्रतीतिगोचर है। ज्ञान सामान्य ज्ञान-वेदनरूप है। उसमें स्व-पना होना - भासित होना वह मुख्यता होनेका कारण है। (११७६)



सुयोग्यरूपसे विचार करनेकी पद्धतिमें गुणग्राहीपनेका दृष्टिकोण होता है। और उसमें दोषका अनुमोदन नहीं हो जाये, इसकी सावधानी रहती है। परन्तु जहाँ अपरिपक्व विचारदशा होती है, वहाँ गुणप्रशंसा करते हुए, अनजानेमें दोषकी अनुमोदना हो जानेकी संभावना है। - ऐसा प्रकार अन्यमतके धर्म - सिद्धांतोंकी समालोचनाके प्रसंगमें बनता है। ज्ञानीपुरुषके अभिप्रायकी गहराई समझमें नहीं आती हो तब मुमुक्षुजीवको जिज्ञासामें रहना उचित है, परन्तु खुदके क्षयोपशमकी मुख्यता कर्तव्य नहीं है, प्रदर्शन करने योग्य नहीं है। (११७७)



तत्त्वअभ्यासी जीवको भी आत्महितकी सूझ आनी ज़रूरी है। वैसी सूझ आनेके लिए मूल चाबीरूप (Master key) 'पूर्णताका लक्ष होना' - वह है। जिसे तथारूप लक्ष हुआ है, उसे हर हालतमें, प्रत्येक न्यायमें 'यह सूझ' रहती है, जिसके कारण प्रायः विपर्यास नहीं होता। जीव चाहे कितना भी शास्त्र - अभ्यास करता हो या चाहे कुछ भी करता हो अगर उसमें आत्महितकी सूझ नहीं हो तो, सर्व कार्य प्रायः अभिनिवेशका कारण बनते हैं।

(११७८)



कल्याणयात्रा करनेवाला कभी प्रतिकूलताओंके सामने नहीं देखता, या लोगोंकी टीका-टिप्पणीका विचार नहीं करता। प्रतिकूलतामें आत्मवीर्यका उछलना यह सहज स्वभाव है। बादलोंको देखकर सूर्य वापस नहीं चला जाता। दृढ़ निश्चयवालेको निष्फलताका विकल्प (भी) नहीं आता। नदीका पानी, बीचमें पड़े हुए पत्थरोंकी छाती चिरते हुए आगे बढ़ता है, वापिस नहीं चला जाता।

(११७९)



जानपनारूप ज्ञान मति आदि भेदसे क्षयोपशमरूप प्रवृत्ति करता है। उसका स्वरूप आगम प्रसिद्ध है। वे ज्ञानके विशेष (रूप) हैं। वेदनरूप ज्ञान अध्यात्म पद्धति द्वारा गम्य है, उससे परमाणुकी अपेक्षा नहीं है। उसीका व्याप्य-व्यापकभावसे सेवन करने योग्य है। जानकारीरूप

ज्ञानको कर्म परमाणुओंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिए उसको आगम पद्धतिसे समझाया जाता है। अध्यात्ममें बाह्य भाव निषिद्ध हैं। अंतर स्वरूप लक्षसे उत्पन्न सामान्य ज्ञानका मुख बाहरकी ओर नहीं है। आगमसे अध्यात्मका विषय पर है। इसलिए परस्पर इनकी बराबरी करने योग्य नहीं है। (१९८०)



हे जीव ! अनन्त परम अमृतमय शांति स्वरूप स्वयमेव खुद ही हो। खुदके सिवा कहीं पर भी शांति नहीं है। बहिर्भावमें सर्वत्र अशांति ही है, ऐसे भाव कैसे रुचे ? फिर परम शांति - धामसे विमुखता क्यों ? धर्मात्मा स्व-सन्मुखता नहीं छोड़ते और परिपूर्ण अंतर्मुख होनेके उद्यममें रत हैं, रत रहते हैं। (१९८१)



अगस्त - १९९३

जीवको जब परमार्थ मार्गका वास्तविक मूल्यांकन आता है तभी, उसकी प्राप्ति हेतु पर्याप्त मात्रामें गंभीरता और प्रयत्नका उपाड़ आता है, तभी जीव इसके लिए पूरी दरकारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, तभी जीव ओघसंज्ञासे निवृत्त हो सकता है, तभी जीव लोकसंज्ञा छोड़कर, असत्संगसे दूर होकर, यथार्थरूपसे आत्मार्थको साधनेकी योग्यतामें आता है। तभी समस्त जगतकी उपेक्षा होती है, फिर उससे प्रतिबंध किसका ? (१९८२)



आचार्य भगवानने आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहकर वर्तमानमें ही स्वरूपको प्रत्यक्ष दिखाकर, प्रत्यक्ष कराके, आत्माको आत्मामें स्थिर कर दिया है। और अंतरमेंसे आनंदके ओघ उछाले हैं। धन्य वीतराग ! (१९८३)



निज अवलोकनमें रागका और पर्यायका लक्ष छुड़ानेका हेतु है। इसके अलावा एकांत परकी ओर चल रहे झुकावके प्रवाहको बदलकर स्वकी ओर झुकाव हो वैसा हेतु है। परलक्षी ज्ञान द्वारा मात्र तर्क - युक्तिसे अनुभवमें आ रहे भावोंका - भावभासन नहीं हो सकता, अतः वैसी अभ्यासकी अयोग्य पद्धतिको बदलकर, भावभासन होवे, ऐसा इसमें खास हेतु है। स्वभावके भावभासनसे स्वभावका लक्ष होने पर, राग व पर्यायका लक्ष सहज छूट जाता है। यथार्थरूपसे अवलोकन होनेका फल पर्यायबुद्धि छूट जाये, ऐसा आता है, क्योंकि यह अनुभवपद्धति है। पर्यायबुद्धिमें दीनता आती है। (१९८४)



ज्ञान (सामान्य) वह जीवका स्वरूप है। ज्ञानविशेषमें विपर्यास होना, वह ज्ञानका अज्ञानत्व है, और अविपरीत ऐसा जो ज्ञानका परिणमन है, वही ज्ञानका ज्ञानत्व है। - निर्ग्रथ प्रवचनकी ऐसी परिभाषा है। (११८५)



'यथार्थ लक्ष' होने पर जीवके परिणाम सहज क्रमसर होने लगते हैं। प्रारम्भसे लेकर वर्तमान परिणाम, सिर्फ जाननेका विषय बन जाता है, जोर इसे 'करने' पर नहीं रहता। (जहाँ) लक्ष होता है वहाँ जोर जाता (है) - यह परिणामका नियम है। अतः परिणामोंका मूल्य लक्ष आधारित होना चाहिए, सिर्फ परिणाम आधारित नहीं। वर्तमान परिणाम कर्तृत्व भावसे किये जाते हो वहाँ तक 'यथार्थ लक्ष' नहीं हुआ है और कर्तृत्वके कारण दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। आत्मार्थी जीवको प्रगति होनेके लिए, इसका खास विचार करने योग्य है।

(११८६)



शाश्वत आनंदका मंदिर ऐसा आत्मस्वरूप, उसके समीप ले जानेवाले, उसके द्योतक जिन-प्रवचनोंसे उपेक्षित होकर, जो अप्रयोजनभूत बाह्य क्षयोपशमके विषयमें आकर्षित होकर रस लेता है, वह बाह्य दृष्टिवंत, वीतराग प्रवचनको प्राप्त होकर भी परम तत्त्वसे दूर जाता है। अमृत सरोवरके तट पर तृषावंत मृत्युको प्राप्त हो तो इससे अधिक कमनसीब कौन होगा ? प्रयोजनको चुकना, यह जीवके स्वभाव विरुद्ध है।

(११८७)



जिज्ञासा :- शास्त्र स्वाध्याय करते वक्त, आत्मस्वरूपको सूचित करनेवाले अनेक शब्द जैसे कि 'आनंदस्वरूप, ध्रुवस्वरूप, सत्स्वरूप इत्यादि' पढ़नेमें आते हैं, तब उसका भाव भासित नहीं हो रहा है, तो किस प्रकार स्वाध्याय करना चाहिए ? कि जिससे भावभासन हो ?

समाधान :- शास्त्र स्वाध्यायमें शब्दार्थ, भावार्थ या अन्य विशेषार्थ, न्याय, युक्तिसे समझमें आ जाये, सिर्फ इस प्रकारकी पद्धतिसे स्वाध्याय होता रहे और बाह्य (परलक्षी) क्षयोपशम बढ़ता जाये, यह पद्धति यथार्थ नहीं है, क्योंकि इससे प्रायः अभिनिवेश उत्पन्न होनेकी संभावना है। अतः विभिन्न भावोंका भावभासन हो, उस प्रकारसे स्वाध्याय होना चाहिए; अर्थात् जो-जो भाव खुदके परिणमनमें प्रवर्तमान हो, उस वक्त उन-उन भावोंके अनुभवकी जाँच करके उसका अनुभवज्ञान करना - वह भावभासनकी रीत है। भासित होना माने लगना। जो-जो भाव आये उसके अनुभवको समझना चाहिए अथवा अनुभवमें आनेवाले भावोंको सिर्फ तर्क, न्याय, युक्तिसे नहीं समझ कर अनुभवसे समझना वह स्वाध्यायकी यथार्थ पद्धति है - इस

पद्धतिमें कल्पना होनेका अवकाश नहीं है। भावभासनके बिना हुई समझमें कहीं न कहीं जीव कल्पना कर लेता है, जो उचित नहीं है। (११८८)



इस कालमें जो उत्कृष्ट पात्र हो, कि जिनकी एकाध भवमें मुक्ति होनेवाली हो, उनको देहांतके कालमें निर्विकल्प समाधि दशा आ जाये उतना उग्र पुरुषार्थ हो जाता है। साधकदशा सहज है, जिसमें परमतत्त्वकी मुख्य परिणति सर्वदा वर्तती है। इसमें इस कालके चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट पात्रका यह लक्षण बतलाया। (११८९)



तत्त्व अभ्यास तत्त्वरुचिपूर्वक होना चाहिए, क्योंकि सिर्फ विचारसे वस्तुका ग्रहण नहीं होता है। रुचि ज़रूरतमेंसे उत्पन्न हुई है, इसलिए वह वस्तुका ग्रहण करनेके लिए समर्थ है। पुनः रुचि अनुसार जागृति और रुचिका विषय ज्ञानमें - परिणमनमें मुख्य रहता होनेसे रुचिसे प्रयोजन सधता है। पात्रता ज्ञानके क्षयोपशम आधारित नहीं है, परन्तु रुचि - तत्त्वरुचि आधारित है। रुचिवंतको प्रतिकूलता-अनुकूलता रोक नहीं सकती, विघ्न नहीं कर सकती। (११९०)



पर्यायमात्रमें अहंबुद्धिका अभाव होकर - द्रव्यदृष्टि होते ही पूरी सृष्टि बदल जाती है। विज्ञानघन परमतत्त्वके रसिक जीव, भव-मोक्षके भेदको गौण करके परम समभावको प्राप्त होते हैं। - वे ऐसा अनुभव करते हैं कि पर्यायके कोई भी फेरफारसे मेरेमें कोई भी फेरफार नहीं होता, पर्याय मुझे स्पर्श ही नहीं करती। जहाँ ऐसा सम्यक् अनुभव वर्तता हो, वहाँ देहादि संयोगकी तो क्या गिनती करना ? चिंता कैसी ? वहाँ ऐसी दशा है कि :

‘एक देखिये, एक जानीये, रमी रहीये एक ठौर,
समल विमल न विचारीये, यही सिद्धि नहीं और।’

(कविवर पूज्य बनारसीदासजी) (११९१)



परिणाममें विकल्पको मत देखो, परन्तु अनुभवको देखो। मुख्यता किसकी हो रही है ? वह देखो। शुभाशुभकी रुचि कितनी है ? उसकी जाँच करो। विकल्पमें आकुलता है, पर तरफके झुकावमें आकुलता है, उसकी अरुचि क्यों नहीं हो रही है ? उसे खोजो ! सत्पुरुषके वचनमें भी सिर्फ न्यायका ही विचार मत करो, परन्तु उनके अनुभवको और अनुभवकी गहराईको देखनेका प्रयास करो। मार्ग अनुभवप्रधान होनेसे, सर्वत्र अनुभवकी प्रधानता होनी चाहिए, कि जिससे कहीं भी अयथार्थता न हो। (११९२)

पर्यायबुद्धि सिर्फ त्रिकाली परमात्माके अवलंबनसे ही छूटती है। वेद्य - वेदकभावसे त्रिकाली अस्तित्वमें प्रसर जाना चाहिए। परिणामके प्रति रस छूट जाना चाहिए। वह (परिणाममें अहंपना) ही स्वरूपका अवलंबन लेनेमें विघ्न है। - यह बात लक्षमें तीरकी माफिक लग जानी चाहिए।
(११९३)



जीव तत्त्व विचार करके स्वरूप महिमा हुई, ऐसा समझ लेता है। परन्तु वास्तवमें स्वरूप महिमा वेदन करनेका विषय है, ऐसा यदि ज्ञानमें / समझमें नहीं हो तो गृहीत मिथ्यात्व होनेकी संभावना है। अभिप्रायमें कृत्रिम प्रयासका निषेध होना ही चाहिए। स्वरूप निर्णयके गर्भमें स्वरूपकी महिमा और सहज पुरुषार्थ भरा है। निर्णय होते ही उसका जन्म होता है और क्रमशः वह वृद्धिगत होने लगता है।
(११९४)



सहज स्वरूप सदृश सहजता सुखदायक है, कृत्रिमताके परिणाम दुःखरूप हैं। सम्यक् पुरुषार्थ सहज उद्यमरूप होता है। कर्तृत्वके विकल्प वह झूठा पुरुषार्थ है, उससे साध्यकी सिद्धि नहीं होती।
(११९५)



पूर्णताके लक्षसे जिसकी वास्तविक शुरुआत (मुमुक्षुताकी) होती है, उस जीवके दर्शनमोहका रस उत्तरोत्तर कटता जाता है और वह उपशमके योग्य होता है। अन्य प्रकारसे प्रवर्तन करनेसे सिर्फ चारित्रमोह मंद होता है। जिसका स्थायीत्व नहीं होता, इसलिए वह तीव्र हो जाता है। जिसके कारण सफलता प्राप्त नहीं होती। और मुमुक्षुकी भूमिका अनुसार की हुई प्रवृत्ति निष्फल जाती है।
(११९६)



मुमुक्षु भूमिकाकी चढ़ती हुई श्रेणीके परिणाम सहज हो इसके लिए 'पूर्णताका ध्येय' होना अनिवार्य है। अन्यथा कृत्रिमता हुए बिना नहीं रहती। - यह ध्येय पूर्णता पर्यंत सर्व सफलताकी नीव है।
(११९७)



पर्यायदृष्टिमें दीनता आती है, जिसके कारण एकांत दुःख होता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि द्वंद्व पर्यायदृष्टिमें हैं। पर्याय स्वयं विनश्वर होनेसे, उसमें अस्तित्वका ग्रहण होनेसे, भावमरणका प्रतिक्षण भुगतना होता है।

द्रव्यदृष्टिमें तो बंध-मोक्षके द्वंद्वका भी अभाव है। क्योंकि द्रव्यका स्वरूप ही ऐसा है, जिसमें

त्रिकाल बंध नहीं है तो मोक्ष होनेका कैसे बने ? (११९८)



ज्ञेयाकार ज्ञान (दुर्लक्ष) गौण करने योग्य है, क्योंकि सर्व ज्ञेयाकार विनश्वर हैं और मैं अविनश्वर हूँ। उस प्रकार शाश्वत स्वरूपकी मुख्यतामें सर्व क्षणिक भावको गौण करने योग्य है। मेरा तादात्म्य स्वभावके साथ है कि जिसमें परिणाम मात्रका अभाव है। यद्यपि परिणाममें वेदन होता है, तथापि वह अवलंबनके योग्य नहीं है। पर्यायकी सावधानी रहनेसे स्वभावका ग्रहण नहीं हो सकता। स्वभाव सदाय स्वयं प्रसिद्ध है, परन्तु प्रगट पर्यायत्व पर दृष्टि (अहंबुद्धि) होनेसे स्वभाव पर लक्ष नहीं जाता। प्रगट अप्रगट अवस्थाभेदसे भिन्न, अनुभय स्वरूप जैसा है वैसा ग्रहण - ज्ञानमात्रपने करना (चाहिए)। (११९९)



एकांत आत्मकल्याणका लक्ष रहे तो मुख्य-गौण होनेमें विपरीतता नहीं होती और अनेकांतिक ज्ञान होनेके बावजूद भी आत्मसंतुलन बना रहता है। व्यवहारके, न्यायके अनेक भंगभेद हैं। यदि उपरोक्त लक्ष नहीं रहा तो विपरीतता हो जाती है - अहित हो जाता है। सर्व सिद्धांत व सर्व उपदेशका केन्द्रस्थान आत्मकल्याण है, वही सम्यक् एकांतरूप निजपदकी प्राप्ति है। ज्ञाता-दृष्टारूप साम्यभावमें ही आत्मशांति है। जो सम्यक् अनेकांतका फल है। (१२००)



सितम्बर - १९९३

समाजमें बाह्य प्रसिद्धिसे आत्माको कोई लाभ नहीं है। बहुत लोगोंसे परिचय बढ़ना - यह अंतर साधनामें अनुकूल नहीं है, विकल्पवृद्धिका एक निमित्त है। अभिप्रायमें प्रसिद्धि भोगनेके भावसे परिणति दूषित रहती है, व्यग्र रहती है। मैं केवल निर्विकल्प स्वरूप हूँ। विकल्पके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। विकल्पके कालमें भी मैं जैसा (निर्विकल्प) हूँ वैसा ही हूँ। (१२०१)



छद्मस्थके ज्ञानमें मुख्य-गौण होनेकी परिस्थिति रही है। प्रत्येक स्तरमें, प्रत्येक प्रसंगमें मुख्यता किसी एक विषयकी और बाकी सब गौण रहते हैं, उसमें जब विवेक नहीं रहता है तब, गौण होने योग्य मुख्य हो जाता है और मुख्य होने योग्य गौण हो जाता है, तब उसमें पूरा विपर्यास हो जाता है। जिसको पूर्णताके ध्येयपूर्वक निश्चय अर्थात् परमतत्त्व सहजात्मस्वरूप मुख्यपने वर्तता है, उस जीवको कहीं पर भी विपर्यास नहीं होता है और वह तिर जाता है। (१२०२)

निर्विकल्प स्वरूपके स्पष्ट अनुभवांशसे उत्पन्न प्रतीति / रुचि-बल, ज्ञानको स्वरूपाकार भावमें स्थिर करता है। रुचि अनन्य भावसे स्वभावको ग्रहण करती है। अनुभवांश - वेदन प्रत्यक्षता द्वारा वीर्य उछलता है। उस वक्त चैतन्यदेव परम प्रसन्न होकर, अमरत्वका वरदान देते हैं। मृत्युकी सदाके लिए मृत्यु हो जाती है, अनन्त गुणोंकी परिणति स्वानुभवके महोत्सवमें नृत्य करती है। (१२०३)



निश्चय स्वरूपकी सदा मुख्यता रहकर, व्यवहार प्रसंगमें विभिन्न भाव, अपने-अपने कालमें यथापदवी गौण - मुख्य रहा करते (हैं)। उसमें उत्कृष्टकी मुख्यता और अनुत्कृष्टकी गौणता सहज हो जाती है। जैसे ऊपर-ऊपरकी सीढ़ी पर चढ़ते हैं वैसे।

दृष्टिका विषय परमोत्कृष्ट होनेसे ज्ञानमें - अभिप्रायमें सदा मुख्य रह जाता है। उसमें कोई भंग-भेद नहीं है। व्यवहार भावोंके भेदमें 'आशय' अनुसार मुख्य-गौण होना चाहिए। (१२०४)



सत्शास्त्रोंमें आत्मकल्याण हेतु अनेकविध भेदोंसे जीवके भवरोगका निदान किया है, और उसकी निवृत्तिके लिए अनेकविध भेदसे उपदेश और मार्गदर्शन भी दिया है। उसमेंसे जो जीव खुदका प्रयोजन सधे उस प्रकारसे निदान व उपायका अनुसंधान कर पाता है, वह मुक्त होता है। प्रायः रोगी ऐसा करनेके लिए असमर्थ होनेसे, सद्गुरुकी कृपा - अनुग्रहसे (जो जीव) तथाप्रकारसे अनुसंधान (Co-ordination) समझ सकता है, वह सद्गुरुको पहचान सकता है और सर्वार्पणबुद्धिसे सत्संगकी उपासना करके तिर जाता है। सर्वार्पणबुद्धिके कारण सरलता सहज उत्पन्न होती है। आत्मकल्याणके लक्षसे सरलता पूर्वक आराधन किया हुआ सत्संग प्रायः निष्फल नहीं जाता। भक्ति और वैराग्यका साथ सहजरूपसे होना चाहिए। (१२०५)



जीवको जबतक चलते हुए विभावमें दुःख नहीं लगता, तबतक जीवकी सुखकी भ्रांति कमजोर नहीं हुई, यानी कि दर्शनमोह मंद नहीं हुआ है; इसलिए मोक्षार्थीपना - उसरूप पात्रतामें भी कमी है। पात्रता विशेष होने पर सुखाभासमें और मंदकषायरूप शुभ विकल्पोंमें भी दुःख लगता है, जिसके कारण जीवका सहजरूपसे वहाँसे हटनेका उद्यम हो, वैसी स्थिति आती है - ऐसा हुए बिना निज सुखानुभूति संभवित नहीं है। (१२०६)



शुभकी रुचि - मंदकषायकी रुचि सुखाभासको उत्पन्न करती है, वह दुःखमें सुखकी भ्रांति है। - यह दर्शनमोहका प्रभाव है। जबतक दर्शनमोहसे आत्मा इस प्रकार आवरित है, तबतक स्वसंवेदन होनेमें अवरोध है। सुखाभास निजमें निज - वेदन ग्रहण होनेमें विघ्न है। (१२०७)



ज्ञान सुखरूप है, यह अगर वेदनसे समझमें आये तो स्वरूपनिश्चय होता है - स्वरूपलक्ष होता है। ज्ञानको वेदनसे जाननेके लिए परप्रवेशभाव रूप मिथ्या अनुभवको अवलोकनसे समझनेका प्रयास करना चाहिए। जो जीव मोक्षार्थी होकर, निष्पक्षरूपसे अपने दोषोंका अवलोकन करता है, उसे दोषसे उत्पन्न दुःख - उसरूप विभावस्वभाव वेदनसे समझमें आता है। वेदनसे - अनुभवसे समझनेकी रीत द्वारा ज्ञानको ज्ञानवेदनसे समझनेसे स्वभावका - अस्तित्वका ग्रहण होता है। ज्ञान स्वयं वेद्यवेदकरूपसे प्रवृत्ति करे तो ही स्वसन्मुखता होती है। अन्य उपायसे परसन्मुखताका अभाव नहीं होता। (१२०८)



ज्ञानवेदनसे भेदज्ञान होता है, तब चैतन्यदलमें सहज अभिन्नताका अनुभव आता है। परावलंबन छूटनेके कारण स्वावलंबन आना सहज है। ज्ञानवेदनका स्वपने वेदन होते ही सहजमें चैतन्यदलका अवलंबन आ जाता है। - यह एक अनुभव - मार्गका चमत्कार है। (१२०९)



समाधि सुखामृतका स्वरूप ऐसा है कि जहाँ इन्द्रादि संपदा रोग-वत् भासित होती है (लगती है) और कोई भी परिषहकी वेदना नहीं होती। स्वरूप ध्यानसे उसकी उत्पत्ति होती है। स्वरूपध्यान अन्य चिंताके निरोधसे उत्पन्न होता है, एकाग्र होनेसे। राग-द्वेष मितनेसे ही स्वरूप - एकाग्रता होती है। ज्ञेय पदार्थमें इष्ट-अनिष्टबुद्धिका अभाव होनेसे, ये राग-द्वेष मिटते हैं। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे कोई इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होता।- इस प्रकार आत्मिकसुखकी प्राप्तिके कारणोंकी श्रृंखलाके मूलमें 'दर्शनमोहका अभाव' रहा है। (१२१०)



आत्मार्थीकी भूमिकाके योग्य ज्ञानकी निर्मलता द्वारा, ज्ञान अपनेमें स्वरूपशक्तिको वेदन - लक्षण द्वारा जानता है, तब लक्ष्य-लक्षण 'प्रत्यक्ष तेज' स्वयं अपनेमें ही भासित होता है, तब स्वरूपकी अनन्य रुचि प्रगट होती है। स्वरूपसे अन्यपने रहना - जीना सहन न हो - पुसाता न हो, वही स्वानुभूतिका बीजरूप ज्ञान। (१२११)



सत्पुरुषकी पहचान होने पर 'सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि' होती है - यह पहचानकी वास्तविकता है। तत्पश्चात् मार्ग-प्राप्ति निकट है, अतीव निकट है, इसके पहले बहुत विकटता है।

(१२१२)



उघाड़ज्ञानकी रुचि है सो अनात्माकी रुचि है। 'ज्ञान' की रुचि स्वसंवेदनको उत्पन्न करती है। स्वसंवेदन ज्ञान है सो परमार्थ है। उसके निश्चयसे आत्मरुचि कर्तव्य है। वही कल्याण स्वरूप है। वही अनुभवनीय है, वही परम सत्य है।

(१२१३)



जीव सफरमें जाते वक्त शकुन देखता है, तो देहांत होकर अन्य स्थानमें जाते वक्त आत्मभावमें रहनेके प्रयासरूप शकुन होने चाहिए, जिससे कि पंचमगतिकी आखिरी सफरका अवसर प्राप्त हो। कमसे कम सत्के संस्कार प्राप्त हो, इतने शकुन हो जाये, तो वह भी मंगल शकुन है।

(१२१४)



निश्चय आत्मस्वरूपका परलक्षी धारणा ज्ञान होने पर अज्ञानी जीव भी उसका प्रतिपादन कर सकता है। परन्तु आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी विधिका प्रतिपादन वह नहीं कर सकता। इसके लिए तो विधिमें प्रवेश होना अनिवार्य है। विधि स्वयं स्वरूपप्राप्तिका प्रयोग है। प्रयोगका ज्ञान सिर्फ प्रयोगसे ही हो सकता है, दूसरे किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता। उसमें तर्क या अनुमानका प्रवेश नहीं है। एकदेश अंतर्मुख हुए बिना पुरुषार्थकी कला प्राप्त नहीं होती, तो वहाँ तक उसका प्रतिपादन तो करे ही कैसे ?

(१२१५)



अक्टूबर - १९९३

'स्वसंवेदनात् सिद्धिः' धर्मात्मा स्वसंवेदन द्वारा आत्मशुद्धिमें वृद्धि करते हैं। स्वसंवेदन स्वयं शुद्धिकरण है, शुद्धि करणशील है। आत्मशुद्धिके लिए साधनांतरकी अपेक्षा नहीं है। यह प्रगट अनुभवगोचर साधन है।

(१२१६)



प्रयोजनभूत तत्त्वका निर्णय करना आवश्यक है। परन्तु कहाँ खड़े रहकर उसका निर्णय करना चाहिए वह 'अधिक आवश्यक' है। अन्यथा विपरीत निर्णय होनेकी संभावना है। धर्मात्माको तो द्रव्यकी 'सर्वस्वपनेसे उपादेयता' - दृष्टि होनेसे कहीं पर भी विपर्यास नहीं होता। परन्तु आत्मार्थीको 'पूर्णताका लक्ष' नहीं हो वहाँ तक दिक्कत रहती है। 'पूर्णताका लक्ष' होने पर

प्रायः यथार्थता रहती है। आत्महितके लक्षसे तत्त्व-निर्णय कर्तव्य है। (१२१७)



पवित्रता - निर्दोषता प्राप्त हो, वह जैन नीति है। सर्व न्यायोंका उस हेतुसे प्रतिपादन किया गया है। न्यायमें अनेकविधता है, परन्तु नीति सर्वदा एकरूप रहती है, उसे बदलनेका अवकाश नहीं है। (१२१८)



मुमुक्षुजीवको सत्की जिज्ञासामें रहना योग्य है। जिज्ञासा गौण होकर, अन्यको स्पष्टीकरण मिले उस हेतुसे यदि प्रश्न हुआ तो 'परलक्ष' की मुख्यता हो जाती है। ऐसा नहीं हो जाये इसके लिए अभिप्रायपूर्वक जागृतिका रहना आवश्यक है। (१२१९)



अंतरअवलोकन द्वारा जीव अपने परिणामके अनेक महत्वके व प्रयोजनभूत पहलूओंको समझकर यथार्थतामें आ सकता है, उसमें दोषका निष्पक्षपातरूपसे अवलोकन करने पर, अभिप्रायपूर्वक हो रहे दोष समझमें आने पर अभिप्रायमें सुधार होनेका अवसर प्राप्त होता है। इसप्रकार मूलमेंसे दोष मिटनेका कारण - अवलोकन है। ज्यों-ज्यों अवलोकनका अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों परिणमनका अनुभवज्ञान व उसकी गहराई अनुभवमें आती है। जो अंततः 'अनुभवांशसे परमार्थकी स्पष्ट प्रतीति' रूप समकितपने प्राप्त होती है। (१२२०)



धर्मात्माको उदयभावकी भिन्नता परद्रव्यवत् वर्तती है, जिसके कारण वे उदयभावमें अप्रयत्नदशासे वर्तते हैं। प्रयत्नदशा तो स्वरूपके प्रति सहजरूपसे रहती है, अतः निराधार वर्तता हुआ वह उदयभाव स्वाभाविक मर्यादामें रहकर व्यतीत होता हुआ - क्षीणताके प्रति गमन करता है। स्वरूपकी मुख्यतामें विभाव गौण होते हुए भी वहाँ स्वच्छंदका अवकाश नहीं है। ऐसी अलौकिक दशा वंदनीय है। (१२२१)



जीव यदि सत्-दृष्टिवान हो तो, किसी भी धर्ममें रहे हुए मार्गानुसारीको पहचान सकता है। गुणदृष्टिकी यह अलौकिक विशिष्टता है। संप्रदायबुद्धिमें गुणदृष्टिका अभाव होनेसे मति कुंठित हो जाती है, जिसके कारण सत्-धर्मके परम हितकारी सिद्धांत एवम् उपदेश प्राप्त होने पर भी जीव उसमेंसे विपर्यासपने परिणमन करता है। ये द्रव्यकी स्वतंत्रताकी द्योतक परिस्थिति है। (१२२२)



आत्मार्थी जीवको आत्मार्थ हेतु संवेग - उल्लासित वीर्य प्राप्त होना वह दूसरे शमादि लक्षणसे उत्तम है। 'पूर्णताके लक्षसे' उत्पन्न संवेग वह आवेग नहीं है, परन्तु संवेग है। यथार्थ लक्षके बिना जो वेग होता है, वह आवेग है। संवेगी जीव उत्तम पात्र है। (१२२३)

जीव परिभ्रमणकालमें, अनन्तकाल निगोदमें जन्म-मरण करके बिताता है। उसमें से निकलकर त्रस पर्यायकी प्राप्ति होना वह अंधेको रत्न मिल जानेके समान है, तो फिर मनुष्यत्वका मूल्य कितना ? अमूल्य ऐसा मनुष्यपना जो पापमय जीवनसे बिताता है, वह दुर्भागी है। विचारवान जीव तो जीवनका ध्येय परिवर्तन करके 'सत्' के चरणमें 'सत्' की प्राप्तिके प्रयासमें लगता है, उसके 'सौभाग्य' के लिए क्या कहना ? (१२२४)



राग और परकी सावधानी दर्शनमोहकी द्योतक है। मुमुक्षुजीवका अगर दर्शनमोह शिथिल होता है तो 'इस' सावधानीमें फर्क पड़ता है। अर्थात् स्व-प्रत्ययी संवेगके कारण जीव राग और परमें उदासीन होता है, तो (तब) विकल्प रहित ज्ञानवेदना लक्षमें आती है, जो आनंदको स्फुरायमान करती है। (१२२५)



समझरूप - ज्ञानके अमलीकरणका उत्साह, मुमुक्षुजीवको प्रयोगमें लगाता है। ऐसे पात्र जीवको सफलता प्राप्त होती है। ज्ञानका अमलीकरण वह मुमुक्षु भूमिकाका यथा-आचरण (चारित्र) है। (१२२६)



बावड़ी, कुआँ, तालाबका पानी सूख जाता है, परन्तु पाताल फूटकर निकला पानी सूखता नहीं, वैसे (स्वरूप) लक्षके कारणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान नहीं छूटता, परन्तु उस ज्ञानके, अंतरकी गहराईमेंसे फुहारे छूटते हैं। ऐसा ज्ञान स्वानुभवका कारण है। धारणा ज्ञान नहीं टिकता। (१२२७)



आत्मभावना, प्रारम्भमें स्वरूप प्राप्तिकी लगन - उत्कंठा रूप होती है। स्वरूप लक्ष होने पर सामान्यके आविर्भावपूर्वक होती है। उत्कृष्ट भावना (यदि) प्रारम्भिक अवस्थामें जागृत हो, तो वह वृद्धिगत होकर स्वयं प्रयोगमें / आत्मजागृति और अंतर अवलोकनमें परिणमित हो जाती है। यथार्थ भावनाका यह उन्नतिक्रम है। जो कि अंततः स्वरूपस्थितिरूप होती है। (१२२८)



रागादिभाव चारित्रगुणका विभाव है। वैसे ही परलक्षी ज्ञान ज्ञानगुणका विभाव है। विभावमें स्वभावकी पहुँच नहीं है। अतः परलक्षी ज्ञानसे कार्यसिद्धि नहीं है। मुमुक्षुको आत्महितके आशयसे यथार्थता रहती है। आशय अन्यथा हो वहाँ चाहे कैसी भी प्रवृत्ति हो, उससे आत्मसिद्धि नहीं है। (१२२९)



- * धर्मका फल मोक्ष है।
- * धर्मका मूल सम्यक्दर्शन है।
- * सहज स्वरूपमें स्थिति रहना वह धर्म है।
- * धर्मका बीज स्वरूप निश्चय है। उसका भी बीज 'पूर्णताका लक्ष' है। 'पूर्णताके लक्ष' में सर्व ऊपरकी दशाएं गर्भित हैं। बरगदके बीजमें बरगदका पेड़ रहा हुआ है।

(१२३०)



नवम्बर - १९९३

आत्मस्वभावका परिचय होने पर परमशांत सुधामय स्वभावमें सहज उपयुक्त (उपयोगका जुड़ना) हुआ जाता है। अतः स्वभावका परिचय स्वभावमें उपयुक्तिका प्रयोजक है। स्वभावका परिचय ज्ञानमें ज्ञानकी स्वयं अवलोकना द्वारा - सतत अवलोकना द्वारा होता है। अतः ज्ञानका निजावलोकन साधन है और स्वभावका परिचय साध्य है। (१२३१)



अध्यात्म पद्धतिमें आत्माकी एकाकारताके कारण द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद नहीं। उस प्रकारके (भेदपूर्वकके) स्पष्टीकरणसे उसका आंतरध्वनि तथारूप नहीं रह पाता है। अतः उसे वहाँ अनआवश्यक जानने योग्य है। द्रव्य-गुण-पर्याय आगम पद्धतिका विषय है। अध्यात्ममें उसकी अपेक्षा लागू करके विचार करना योग्य नहीं है। दृष्टांतरूपसे स्वरूप निश्चयके कालमें 'आत्मासे आत्माका निर्णय होता है' और 'स्वरूप भावनामें आत्मा ही आत्माको उपादेय है' तथा (स.सार गाथा - १५) 'श्रुत ज्ञान ही आत्मा है।' (१२३२)



एक मृत्युके प्रसंगसे बचनेके लिए जीव कोई भी कीमत चुकानेके लिए तैयार हो जाता है। परन्तु अनन्त जन्म-मरणसे छूटनेके लिए नहीं जैसे बहाने बनाता है, क्या यह अनन्त विपरीतता नहीं है ? सचमुच (ईमानदारीसे) जिसे छूटना हो, उसे तो सारा जगत गौण हो जाता है, और एक आत्महित ही मुख्य होता है। छूटनेका कामी छूटनेकी कोई भी तक

गवाँता ही नहीं।

(१२३३)



जगतके पदार्थ - जड़, चैतन्यकी पर्यायोंकी विचित्रता, यह पर्यायोंका स्वभाव है, अतः ज्ञानी इससे समाधियुक्त भावसे उदासीन रहते हैं - ऐसा होने पर भी स्वयंके निमित्तसे अन्य जीवको अन्याय अथवा दुःख होनेका बने तब सहज खेद होना चाहिए - क्षमा प्रार्थी बनने योग्य है।

(१२३४)



अन्य (जीव) के गुण-दोषका मूल्यांकन करनेके पहले अपने स्थानका विचार करना / सँभालना जरूरी है। खुदकी योग्यताको समझे बिना, काज़ी (न्यायाधीश) बन जाना उचित नहीं है। तथापि ऐसे प्रसंगमें पूर्वग्रह रहित मध्यस्थ रहकर विचार करना उचित है, वरना खुदको अधिक नुकसान हो जाता है।

(१२३५)



आत्मा ही सारभूत है। आत्मसुखके लिए धन-वैभव इत्यादि असार / निरर्थक हैं, ऐसा लगे बिना उसका महत्त्व नहीं जाता। जिसको धन-वैभवका महत्त्व है, वह दानादिसे त्याग करे तो भी वैसे त्यागका अभिमान हुए बिना नहीं रहता। त्याग-दानके शुभभावसे, उसके अहंकारका अशुभ बढ़ जाता है, अज्ञानतामें वह समझमें नहीं आता। यथार्थरूपसे तो धनादिका महत्त्व मिट जानेसे उसे दानमें दिया जाता है, अथवा उसका ममत्व एवं महत्त्व मिटानेके लिए दानका प्रयोग है।

(१२३६)



ओघसंज्ञामें हुई - 'आत्मामें अनन्त सुख व ज्ञान है' - ऐसी समझ द्वारा प्रतीति / विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता, इससे तत्सम्बन्धित बल उत्पन्न नहीं होता। समझने पर भी पुरुषार्थ नहीं उठनेका - यह कारण है। स्वरूपका भावभासन तो स्पष्ट अनुभवांशसे होता है, इसलिए वह निज सुखके विश्वास / प्रतीतिका कारण है। जिसके कारण पुरुषार्थ हुए बिना रहता ही नहीं। भावभासन पुरुषार्थका प्रयोजक है।

(१२३७)



सर्व प्रकारसे संसारकी आशा / अपेक्षाको पूरी शक्तिसे - जोरसे छोड़नेवाले जीवको ही 'पूर्णताका लक्ष' बंधता है। 'प्रारम्भमें इस प्रकारका जोर' आगे बढ़नेमें नीवका काम करता है। इसलिए ऐसा आत्मार्थी जीव सर्व प्रतिबन्ध रहित होनेसे अवश्य सफल होता है। 'इस लक्ष' के बिना यथार्थ संवेग उत्पन्न नहीं होता।

(१२३८)

तीर्थकरप्रभुका निर्वाण प्रसंग भी साधक जीवको आत्मकल्याणमें निमित्तभूत होता है, इसलिए 'कल्याणक' कहा जाता है। यद्यपि वह प्रसंग तो प्रभुके वियोगका है, परन्तु जैसे संयोग हितमें निमित्त होता है, वैसे वियोग भी हितमें ही निमित्त पड़ता है। भले ही बाह्यमें संयोग प्रशस्त रागका निमित्त है और वियोग प्रशस्त द्वेषका निमित्त है, परन्तु अंतरंगमें उन दोनों निमित्तसे साधक जीव, साधनावृद्धिमें परिणमन करते हैं।

मुमुक्षुजीवको, यदि योग्यतावान हो तो, सत्संगका संयोग योग्यता-वृद्धिमें निमित्त पड़ता है, तद्उपरांत सत्संगके वियोगकी वेदना और निज परमात्माके वियोगकी वेदना - दर्शनपरिषह, योग्यता वर्धमान होनेमें ही कारण बनता है। (१२३९)



जिस जीवकी विचारशैली आदर्श-प्रधानता युक्त होती है, उसका अंतःकरण निर्मल होता है, अतः वैसे निर्मल अंतःकरणवाला जीव सुगमतासे 'पूर्णताका लक्ष' बाँध सकता है। उसका तो प्रथमसे ही उच्च कोटिका जीवन घड़नेका अभिप्राय होता है। इसलिए तथारूप अवकाश मिलते ही वह जीवन बदलनेके लिए सहज तैयार हो जाता है। ऐसा जीव प्रायः वीर्यवान एवं समर्पणबुद्धियुक्त होता है। जो कि 'लक्ष' बाँधनेके लिए सुसंगत है, सुयोग्य है।

(१२४०)



जो जीव दूसरोंके लक्षसे स्वाध्याय-भक्ति आदि करता है, उसमें मान अथवा लोभका आशय रहा होनेसे, वह व्यापार है। सिर्फ अपने लिए स्वाध्यायादि कर्तव्य है। (१२४१)



किसी भी कीमत पर, अभी ही आत्महित कर ही लेना है - ऐसा ज़ोर आये बिना वास्तविक शुरुआत नहीं हो सकती। जब मुमुक्षुताकी शुरुआत भी नहीं होती, तो आगे बढ़नेकी तो बात ही क्या करें ? यदि उपरोक्त प्रकारसे उठना हुआ तो उस प्रकारके वीर्यसे सत्संगकी सर्वार्पणबुद्धिसे उपासना होती है, और जीव ज्ञानीके मार्ग पर चढ़ जाता है। (१२४२)



'श्रद्धा स्वभावरूप ज्ञानका परिणमन वह सम्यक्दर्शन है।' यहाँ (समयसारजी गाथा - १५५)में ज्ञान सो आत्मा ऐसा अर्थ है, परन्तु शब्द प्रयोग 'ज्ञान' करनेमें क्या विशेषत्व है ? कि ज्ञानमें, स्व-पने परिणमन होने पर स्वरूप-प्रतीति आती है। रागमें स्व-पना रहता है तब तक नौ तत्त्वकी श्रद्धा वह सिर्फ विकल्प है, सम्यक्दर्शन नहीं। मुमुक्षुको ज्ञान ही साधन है। अतः ज्ञान सो आत्मा है। अंतर्मुख होनेकी विधि सूचक यह विधान अति गंभीर रहस्य गर्भित है। (अनुसंधान

- १२४९)

(१२४३)



जहाँ मेरा स्वरूप पूर्ण - बेहद और अव्याबाध, अचिंत्य परन्तु अनुभवगोचर सुखस्वरूप है; वहाँ चिंता कैसी ? विकल्प कैसा ? जिसके घर ऐसा सुखनिधान हो वह दुःखी कैसे हो सकता है ? उस सुखस्वरूपको कौन बाधा पहुँचा सकता है ? (१२४४)



'ज्ञान परको नहीं जानता है' उसमें परलक्षपूर्वक परको जाननेका निषेध है। ज्ञान परसन्मुख हो या परसत्ताका अवलंबन लेता हो, वह ज्ञानगुण नहीं है, परन्तु ज्ञान ज्ञानानुभवमें रहे वह ज्ञानगुण है, और वही आत्मशुद्धिका कारण है। इसके उपरांत ज्ञानको जाननेके लिए परकी अपेक्षा नहीं है, - वैसा सामर्थ्य बतलानेका भी उसमें अभिप्राय है। (१२४५)



उपयोग शुद्ध हो इसके लिए इस जगतके संकल्प-विकल्प विस्मृत होने चाहिए। क्योंकि इस आत्माको और इस विचित्र जगतको आपसमें कोई सम्बन्ध या कुछ लेना-देना नहीं है। राग-द्वेष रहित होनेका 'उपयोग' वही अंतर साधना है। विशेष साधना सत्पुरुषके चरण कमल है। (कृपालुदेव) (१२४६)



प्रश्न :- मोक्षमार्गका उपदेश कौन कर सकता है ?

समाधान :- राग, द्वेष और मोह जिन्हें नहीं है, वह पुरुष सर्वज्ञ वीतराग तीन दोषसे रहित होनेके मार्गका उपदेश कर सकते हैं, इसके अलावा उसी पद्धतिमें प्रवर्तन करनेवाले सत्पुरुष उस मार्ग पर प्रवर्तन करते-करते उस मार्गका उपदेश कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। (१२४७)



जब आत्मार्थी जीव अपक्षपातरूपसे और सरलतासे अपने दोषोंका अवलोकन करता है तब उससे खेद अवश्य होता है, परन्तु उसे हतोत्साही नहीं होना चाहिए। यथार्थता उसमें है। जिससे स्वकार्यका उत्साह वर्धमान होता है, जैसे अन्यके गुणको देखकर होता है वैसे। (१२४८)



सर्व आत्म-गुणोंमें, ज्ञानमें स्वरूप ग्राहक शक्तिकी विशिष्टता है, यह प्रयोग द्वारा समझमें आता है। ज्ञानमें ज्ञान द्वारा स्वरूप-ग्रहण होता है, तब वैसे ज्ञानके परिणमनमें, श्रद्धा और

चारित्र हो जाते हैं। इसी वजहसे ज्ञानकी मुख्यतासे स्वरूपबोध मुख्यरूपसे परमागमोंमें प्रवर्तित हुआ है। ज्ञान और आत्माका द्वैत मिट जाये, वैसा आशय - विधिका विधान 'ज्ञान सो आत्मा' है। (१२४९)



ज्ञान और रागके बीच भेदज्ञानकी प्रयोजना ध्रुवतत्त्वके आश्रयकी प्रयोजक है। अपरिणामी तत्त्वमें आत्मबुद्धि होने पर, आंशिक विभावकी चिंता छूटकर सम्यक् उदासीनता आती है - यह ज्ञानीका हृदय है। (१२५०)



दिसम्बर - १९९३

'मार्गका मर्म' पाए बिना कभी किसीको मोक्ष नहीं मिलता।

प्रश्न :- मार्गका मर्म पाना इसका मतलब क्या ?

समाधान :- 'प्रत्यक्ष स्वरूप' के लक्षसे अभेद भावसे आत्म-वेदन, वेदन गम्य होना वह। 'योग्यता' आने पर, आत्मत्व प्राप्त पुरुष, तद्विषयक 'आत्मत्व देते हैं,' तभी वह मार्ग मिलता है।

जिज्ञासा :- योग्यता प्राप्त होना माने क्या ?

समाधान :- मार्गकी अपूर्व अंतर खोज चले तब मार्ग प्राप्त पुरुषकी पहचान होकर उनके प्रति सर्वार्पणबुद्धिसे और एकमात्र आत्मलक्षसे प्रवर्तन होता है।

जिज्ञासा :- 'आत्मत्वका देना' किस प्रकार होता है ?

समाधान :- स्वरूप-प्रत्यक्षतामें वर्तते हुए, तद्विषयक निर्देशकी चेष्टा और वाणी, इसके ग्रहण होनेकी योग्यतामें निमित्त पड़ता है। जो स्वरूप दर्शाया जाता है, वह (परमार्थ) जब अनुभवांशसे लक्षगोचर होवे तब अंतर्मुख होनेकी विधि प्राप्त होती है और स्वसन्मुखताका प्रतिभास आता है, जो बीजरूप है। इसतरह ज्ञानीपुरुष बीजज्ञान देते हैं, ऐसा लगता है।

(१२५१)



जिस 'अर्थ' का वर्णन - कथन किया जाता हो, वह ज्ञानमें ग्रहण हुए बिना, कथनको या श्रवणको 'व्यवहार' ऐसा स्थान प्राप्त नहीं होता। अतः कहनेवाले या सुननेवालेको विवक्षित द्रव्य - भावरूप 'अर्थ' को ज्ञानमें ग्रहण (Visualize) करके कहना या सुनना चाहिए - अन्यथा विकल्प कल्पनामात्र होंगे। (१२५२)



प्रश्न :- संयोगोंकी सानुकूलता होने / हो जाने पर भी, संसारमें जीवको असुख, अशांति, उलझनका दुःखमय अनुभव रहा करता है, उसका क्या कारण है ?

समाधान :- जड़ पर्यायमें आत्मबुद्धि - तीव्ररससे सुखबुद्धिके परिणाम - सेवनसे आत्मा 'जड़त्व' दशाको प्राप्त होता है। तब जीवको अशांतिकी परिणति हो जाती है। और ऐसी 'अबोधदशा' को प्राप्त होता है कि प्रगटरूपसे आत्मबोध दातार मिलने पर भी, परम शांतपद स्वरूप आत्माको प्रगट दिखलानेवाले मिलने पर भी, उसकी जीवको असर नहीं होती है। फिर भी यदि जीव पुरुषार्थ करें तो अवश्य शांति प्राप्त कर सकता है। (१२५३)



वस्तु, स्वरूपसे अनेक अपेक्षित और निरपेक्ष धर्मसंपन्न हैं। जिनागम द्वारा उसे जान सकते हैं। तथापि उसको जाननेके कालमें आत्महितका दृष्टिकोण - मुख्यता - रहे तो ही ये स्वरूप ज्ञान सार्थक - उपकारी है। अन्यदृष्टिसे जाननेसे अनर्थ होता है - हो जाता है।

(१२५४)



मनुष्यमात्रका ध्यान निरंतर सुखप्राप्तिका रहता है। माना हुआ - कल्पित सुखका ध्यान सहज रहता है, छूट नहीं सकता; तो फिर जिस ज्ञानीपुरुषको अपना अनन्त सुखधाम प्रत्यक्ष है, उन्हें अहोरात्र उसीका ध्यान रहे उसमें कौनसा आश्चर्य है ?

जिस मुमुक्षुकी विचारदशामें संसार-दुःखसे निवृत्त होकर आत्मसुखकी प्राप्ति करनेका खयाल आता है, वह आत्मसुखको चाहता है। फिर भी पूर्व संस्कारित विपरीत परिणति अगर बलवान हो तो वह आकुलित होता है - आकुलित होना पड़ता है। वह जब तीव्र होवे तब उसमेंसे मार्गकी खोज होती है, और तभी मार्गकी प्राप्ति होती है। (१२५५)



आत्मोन्नतिके प्रशस्तक्रममें आनेके लिए जीवनमें (यदि) झुकाव हुआ तो उस क्रमका बीजारोपण होगा। वैसी 'चरमसीमाकी पात्रता' को पानेवाले पात्रोंकी इस कालमें बहुत न्यूनता है। चरमसीमाकी पात्रता माने जिस पात्रताके वश, जीव उन्नतिक्रममें अवश्य प्रवेश कर लेगा और आत्मश्रेयको प्राप्त होगा। ऐसे योग्यतावान जीवके प्रति ज्ञानीपुरुषको भाव रहता है, प्रसन्नता आती है।

(१२५६)



'आत्मा स्वरूपसे अवाच्य है' - इसके भानमें प्रसिद्धि, कीर्ति, प्रशंसाका मोह उत्पन्न नहीं होता है। वैसे प्रशंसा आदिसे मुझे लाभ नहीं दिखता है।

(१२५७)

त्रिकाली स्वरूपकी समझ केवल बहिर्मुख - परलक्षी क्षयोपशम ज्ञान द्वारा कर्तव्य नहीं है। परन्तु ज्ञान स्वयं अपनी ओर झुककर अर्थात् लक्षणसे और वेदनसे स्वरूपको समझे तो विधि सहित स्वरूप समझमें आये, वरना अध्यात्मतत्त्वकी आगम अनुकूल समझ भी अविधिपूर्वक होनेसे, विधिका अनभिज्ञपना रहता है।

प्रश्न :- पहले तो परलक्षी ज्ञानमें ही समझना होवे न ?

समाधान :- पहलेसे ही यथार्थ विधिमें आकर समझना क्यों नहीं हो सकता ? अविधिसे समझनेका प्रयत्न करनेके बजाय सुविधिसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। सिर्फ उसी पर - विधि पर वजन रहना चाहिए, जिससे कि उस विषयमें दरकार रहे। आत्मस्वरूपका विधान, श्रीगुरु तो विधिपूर्वक ही कर रहे हैं, यह क्यों लक्षमें लेनेमें नहीं आता ? जैसे कि समयसार गाथा - १५में 'श्रुतज्ञान है, सो ही आत्मा है।' और गाथा - १८३में 'उपयोग शुद्ध्या' ऐसा विधान है। यह कथन जो विधिसे अनजान हो उसे समझमें नहीं आता। श्रीगुरु जिस प्रयोगात्मक विधिसे कहते हैं, उसी प्रयोगात्मक विधिसे ग्रहण करना - वह आज्ञाकारिता है। (१२५८)



जिस प्रकार जड़ खाद्य पदार्थका स्वाद भिन्न है और जीवका वेदन भिन्न है, परस्पर पर्यायोंमें अभाव है, वैसे अशाताकी वेदना और ज्ञानवेदन भिन्न - भिन्न है। सिर्फ भिन्नताके अनुभवका अभ्यास चाहिए। ज्ञानमें स्वपना वेदनमें आना चाहिए। (१२५९)



सत्ताप्राप्ति, धनप्राप्ति, कीर्तिप्राप्ति आदिका नशा, मदिराके नशेसे भी अत्यंत भयंकर व अनिष्ट है। मदिराका नशा थोड़े समयमें उतर (भी) जाता है और आदमी भानमें आता है, परन्तु उपरोक्त नशा प्रायः जीवन पर्यंत उतरना मुश्किल है। किसी हलुकर्मी जीवको वैसा नशा, सन्मार्ग प्राप्तिकी भावनासे उतरता है, तब उसके लिए बहुत परिश्रम करके निरामय हो सकता है। (१२६०)



जो जीव धर्म करनेमें यदि कुल, संप्रदाय, या समाज-परम्पराका अनुसरण करके प्रवृत्ति करता है, तो उसे वास्तवमें धर्मबुद्धि है ही नहीं, परन्तु विपरीत अभिप्राय है।

(१२६१)



प्रश्न :- (जगतके) जीवोंको आत्मकल्याणरूप मोक्षमार्ग किस कारणसे दुर्लभ है ?

समाधान :- जन्म-मरणसे छूटनेकी जरूरियात नहीं लगी, इसलिए मुक्त होनेकी रुचिका

अभाव है, भव-भ्रमणका भय नहीं है। अतः मूर्तिमान मोक्षस्वरूप ऐसे सजीवनमूर्तिकी खोजका अभाव वर्तता है। यदि पूर्व पुण्ययोगसे सत्पुरुषका प्रत्यक्षयोग हो भी गया तो उपरोक्त स्थितिके कारण पहचान नहीं होती है। पहचान बिना भक्ति - प्रेमरूप (सर्वार्पणबुद्धियुक्त) नहीं होती। अतः भक्ति - प्रेमरूप बिना ज्ञान शून्य डीग्री पर होता है। ज्ञान-साधनके बिना साध्य कैसे सुलभ हो ? (१२६२)



स्वरूपदृष्टि होनेके पश्चात् जीव 'यथायोग्य उपशम भाव' को प्राप्त होता है। प्रथम उपशम सम्यक्दर्शन होता है तब आत्मा संसार और मोक्ष दोनों पर समवृत्तित्वान होता है, क्योंकि 'स्वयं दोनोंसे पर है' - ऐसा दर्शन प्रगट हुआ है। (१२६३)



जो प्राणी भविष्यज्ञान (ज्योतिषादि) चमत्कार, सिद्धियाँ, इत्यादिमें रस लेते हैं, वे मोहाधीन हैं। उनके किये तो पारमार्थिक पात्रतामें आना भी दुर्लभ है। मुमुक्षु तो उसका स्मरण भी नहीं करता। (१२६४)



जीवको करना तो इतना ही है, कि ज्ञानमें (सामान्यमें) रहे हुए ज्ञानवेदनका अवलोकन करना है। 'सिर्फ इतना' करनेमें पुरुषार्थ क्यों नहीं चलता है ! कहाँ रुकावट हो रही है, इसकी गहरी गवेषणा कर्तव्य है।

ज्ञानकी निर्लेपता और असंगता प्रगट अनुभवगोचर है। इसका अवलोकन करने पर 'ज्ञानमात्र' का स्वरूप भास्यमान होता है। अकषायभावसे, कषायके संयोगमें अनन्तकाल रहने पर भी जो ज्ञान त्रिकाल भिन्न ही रहा है, वह यदि सुखस्वरूप भासित होवे तो चैतन्यवीर्यमें अपूर्व उछाला आये। (१२६५)



'पूर्णताके लक्ष' में साध्य निश्चित है। इससे साधनाकी यथार्थता उत्पन्न होती है। अन्यथा किसी भी प्रकारसे कोई भी / अनेक साधनमें भी यथार्थता उत्पन्न नहीं होती। जिसके कारण प्रायः जो भी साधन हो वह अभिनिवेशका कारण बनता है। साधनकी यथार्थताके लिए प्रथमसे ही पूर्णतारूप साध्य लक्षमें रहना चाहिए। (१२६६)



प्रश्न :- सत्पुरुषकी पहचान करनेवाले जीवके पूर्वभूमिकामें कैसे परिणाम होते हैं ?
समाधान :- जिसको जन्म-मरणसे छूटनेका लक्ष हुआ हो और इसके लिए जो अनुभवीपुरुषको

खोजता हो, उस जीवकी सर्वापणबुद्धिसे सत्संगकी उपासना करनेकी पूर्व तैयारीरूप पात्रता होनेसे, वह जीव निज प्रयोजनकी मुख्यतापूर्वक तीक्ष्णदृष्टि और अपूर्व जिज्ञासासे सत्पुरुषको पहचान लेता है। (१२६७)



जिन्हें अंतरमें स्वभाव-विभावकी भिन्नता वर्तती है अथवा पर्यायसे भी भिन्न ऐसे द्रव्यकी दृष्टि वर्तती है, उन्हें दूसरे जीवोंके दोष मुख्य होते ही नहीं, क्योंकि दोष पर्यायमें है, द्रव्यमें नहीं। इसलिए द्रव्य-दृष्टिकी मुख्यतामें, द्रव्यको भूले हुए जीवके दोषको, खुद द्रव्यसे भिन्न देखते हैं। उस परिस्थितिमें दोषके ज्ञाताभावपूर्वक, एक अंशमें दोषका निषेध वर्तता होने पर भी, सामनेवाले जीवके प्रभु आत्माका अनादर नहीं आता। अतः वैसा प्रशस्त द्वेष (= दोषका निषेध) अस्थानके रागका रोधक है। (१२६८)



अंतर्मुखभाव एकांतरूपसे उपादेय है - इस अपेक्षाको लेकर सर्व बहिर्मुखी परिणामोंका निषेध आता है। तथापि अंतर्मुख होनेके क्रमका - दर्शनमोहादिकी हानि हो - उसका अस्वीकार होनेके लिए वह नहीं है। उन्नतिक्रममें आगे बढ़ रहा जीव आदर करने योग्य है, सत्कार करने योग्य है। उन्नतिक्रममें बीजारोपण होता है। (१२६९)



स्वरूपलक्षके अभावके कारण, ज्ञानविशेषका आविर्भाव होते ही, राग और रागके विषयभूत परद्रव्यका आश्रय व एकत्व सहज हो जाता है। परलक्षी परिणमनका ऐसा स्वरूप है। परन्तु स्वरूपलक्ष होनेपर स्वरूपके लक्षसे ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होते ही त्रिकाली द्रव्यका सहज आश्रय हो जाता है। - यह स्वरूप-आश्रयकी विधि है। (१२७०)



जनवरी - १९९४

लक्ष यथार्थ हो तो परिणमनमें संतुलन बना रहता है। अन्यथा संतुलन छूट जाता है। ज्यों-ज्यों प्रयोगका अभ्यास (Practice) विशेष त्यों-त्यों संतुलन बनाये रखनेमें सूक्ष्मता व क्षमता विशेष आती है। (१२७१)



स्वसंवेदनसे स्वरूप सावधानी आये - यह आराधनाका स्वरूप है। (१२७२)



पूर्वमें हो चुके महाज्ञानीके अक्षरदेहसे संतुष्ट होकर जो 'प्रत्यक्षयोग' के महत्त्वको नहीं

समझनेकी भूल करता है, उसे (वास्तवमें) शुद्ध अंतःकरणसे आत्मश्रेय करनेकी वृत्ति नहीं है, उसमें परम सत्संगका अनादर है, जिसमें ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा विरुद्धता है। (१२७३)



शुद्ध अंतःकरणसे आत्मकल्याणार्थ जो जीव सत्समागम करता है, वह अवश्य सफल होता ही है - यह सर्व ज्ञानियोंका अनुभव है। (१२७४)



जब तक जगतके पदार्थों व प्रसंगोंकी अधिकाई भासित होती है, तब तक सत्पुरुषकी पहचान या स्वरूपकी पहचान होना असंभवित है। अथवा जिसे स्वरूप या सत्पुरुषकी पहचान होती है, वह अन्य सर्वको अवश्य गौण करता ही है। (१२७५)



सत्पुरुषके 'प्रत्यक्ष योग' का सर्वाधिक महत्त्व ऐसा है कि, प्रथम समकितका बीजारोपण इसके बिना होता ही नहीं है। प्रत्यक्षयोगमें ही वचनकी प्रतीति, आज्ञारुचि और स्वच्छंदनिरोधरूप भक्ति उत्पन्न होती है। अतः जो बिना बीज ही सम्यक्दर्शन प्राप्त करना चाहता है, वह बिना बीज ही पेड़ और फलकी आशा रखता है - यह अज्ञानका प्रभाव है। अथवा कल्पित उपायसे प्राप्तिकी चाहना रखता है। (१२७६)



प्रश्न : सर्व प्रथम आत्मकल्याणार्थ किस प्रकारका विवेक प्रगट होता है ?

समाधान : जिसे अंतरसे आत्मश्रेय करना है, उसे सत्पुरुषके चरणकी भावनारूप विवेक प्रगट होता है और सत्पुरुषकी खोज चलती है। (१२७७)



आत्मोन्नतिके क्रमका प्रारम्भ - वास्तविक शुरुआतसे लेकर ऊपर-ऊपरकी सर्व भूमिकामें साध्य तक त्वरासे / शीघ्रतासे पहुँचनेकी वृत्ति सहज रहा करती है। 'पूर्णताके लक्ष' का यह लक्षण है, परिणमनकी यथार्थताका यह चिन्ह है। (१२७८)



'आराधना' आगम - अध्यात्मके अविरोध भावसे होती है। यद्यपि अध्यात्मभावोंमें वज्रन अध्यात्म तत्त्व - आत्मा पर अधिक होता है, फिर भी ज्ञानमें आगम अनुसार ही वस्तुका स्वरूप होता है, रहता है। ऊपर-ऊपरसे वांचन / श्रवण करनेवालेको इसमें आगम विरुद्धता लगती है, जब कि उसमें आगमके सिद्धांतका विरोध करनेका अभिप्राय नहीं होता, परन्तु वज्रन व्यक्त करनेकी पद्धति ही ऐसी होती है। फिर भी भावमें संतुलन बना रहता है। परिणमनमें

सम्यक् अनेकांतका यह स्वरूप है। ऐसे कथनका हेतु जिसे नहीं समझमें आता उसको अन्यथा कल्पना हो जाती है। (१२७९)



पूर्वमें हो चुके ज्ञानीकी वाणी 'आशय' परसे निश्चित होती है। यह आशयका निश्चय होनेमें सूक्ष्म अनुभवज्ञान काम करता है। अनुभव रहित ज्ञान शब्दार्थ, भावार्थ, नयार्थ आदिको साध सकता है, परन्तु आशय तक नहीं पहुँचता। 'आशय' ग्रहण करनेवाला ज्ञान, जिस भूमिकासे वाणी उत्पन्न हुई है, उसके तलवे तक चला जाता है और चारों पहलूको समझ लेता है। क्योंकि इस प्रकारकी ज्ञानकी योग्यता 'विशेष प्रज्ञावंत पुरुष' को होती है। (१२८०)



इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान बहिर्मुख होनेसे आकुलता उत्पन्न करता है, इसलिए उससे आत्मलाभ नहीं होता। परन्तु शास्त्रज्ञानमें बुद्धिपूर्वक विपर्यास नहीं हो तो उस ज्ञानमें यथार्थता होनेका संभव है। और इस यथार्थतापूर्वक वह ज्ञान विकसित होकर - आगे जाकर सम्यक्ताको प्राप्त होता है। अतः आत्मोन्नतिके क्रममें उस यथार्थताका स्वीकार होना चाहिए। व्यवहारके स्थानमें व्यवहार सम्मत होना जरूरी है। (१२८१)



ज्ञानमें परका जानना होवे वह दोषकी उत्पत्तिका कारण नहीं है। परन्तु जाननेकी रीत पर दोष या निर्दोषताका आधार है। परको पररूप जाननेसे भेदज्ञानपूर्वक वीतरागताकी उत्पत्ति होती है। और परको स्व-रूपमें जाननेसे मिथ्यात्व सहित रागकी उत्पत्ति होती है। रीतकी अनभिज्ञताके कारण परका जानना दोष उत्पादक समझमें आता है, जो तत्त्वकी भूल है। (१२८२)



आत्मार्थीको एवम् ज्ञानीको सत्संगके दौरान आत्मभावकी पुष्टि होती है - और वह उस भूमिकामें मोक्षका परम औषधरूप अमृत है। योग्य औषध है। उसकी बराबरीमें दूसरा कोई औषध नहीं है। अनुभवी पुरुषोंके अनुभवकी यह पुकार है, निचोड़ है। (१२८३)



आत्माका सामर्थ्य जीवंत - बेहद जीवंत है। अतः उसका अनुभव इसके अवलंबनसे प्रत्यक्ष होता है। श्रीगुरु फरमाते हैं कि : देखो रे ! अपने जीवंत स्वामीको देखो ! देखते ही सर्वस्व मिल जाएगा। कृतकृत्यता अनुभवमें आयेगी। सच्चे आत्मार्थीको मार्गकी सुगमता होनेमें स्वभाव सामर्थ्यरूप उपादान कारण है। (१२८४)

विभावरस और परमें सुखबुद्धिके कारण जीवकी परप्रवेशभावरूप परिणति हो चुकी है। जिसके कारण जीवकी भेदसंवेदन शक्ति आवरित हो चुकी है, अतः जीवको भिन्न ज्ञानका वेदन प्रगटरूपसे अनुभवमें नहीं आ रहा है। भेदज्ञानके प्रयोगाभ्यास द्वारा वह भेदसंवेदन शक्ति खुलती है।

भेदज्ञानका प्रयोग : ज्ञाताधारासे स्वभावको विभावसे भिन्न ग्रहण करना वह है। परसे व रागसे उपेक्षित होकर (अपेक्षा छोड़कर) भेदज्ञान कर्तव्य है। (१२८५)



फरवरी - १९९४

जब तक मोहासक्तिके परिणामोंमें अकुलाहटपूर्वक उसका निषेध नहीं आये, तब तक जीवको वैसे परिणामोंमें सुखबुद्धि और रस है। ऐसी परिस्थितिमें जीव इससे मुक्त होनेका प्रयास नहीं कर पाता। प्रयासके बिना सिर्फ बंध-मोक्षके विचारमात्रसे मुमुक्षुता नहीं आती है। वैसे विचार-स्वाध्यायादि केवल उदयभावरूप होते हैं, वह अनुदयका कारण कैसे हो ? विचार-स्वाध्यायादिमें यदि भावना तीव्र हो तो प्रयास / प्रयोग चालू हो जाता है। (१२८६)



वस्तुस्थितिका उल्लंघन करके भावना प्रवर्तती है। जैसे कि श्री तीर्थकरादि महापुरुष जगतके सर्व जीवोंके कल्याणकी भावनामें प्रवर्तते हैं और ज्ञानी परद्रव्यके अकर्ता हुए हैं फिर भी सत्संग और निवृत्ति आदिको भाते हैं। अथवा समयमात्रके अनअवकाशसे पूर्णताको भाते हैं। इस प्रकार भावनाबलके कारण सिद्धांत-ज्ञान गौणताको प्राप्त होता है। भावनाबलसे आगे बढ़ा जाता है। (१२८७)



जो प्रथम मोक्षार्थी बने, वह आत्मार्थी बनता है। अर्थात् मोक्षार्थी हुए बिना आत्मार्थी हुआ ही नहीं जाता। आत्मार्थी अंतर अवलोकन करके भेदज्ञान द्वारा स्वानुभव - सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है। पूर्णताका लक्ष हुए बिना त्रिकालीकी सच्ची जिज्ञासा जागृत नहीं होती। अपूर्व जिज्ञासा हुए बिना उदयमें नीरसता नहीं आती, तब तक उपयोगकी सावधानी उदयमें रहा करती है, उदयका खिँचाव रहा करता है, जिसके कारण बहिर्मुखता नहीं छूटती। सभीके मूलमें मोक्षार्थीपना है। (१२८८)



प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमयी मेरा स्वभाव है। (-प्रकाशशक्ति होनेसे) वह मेरा ध्रुवस्वरूप - जीवंतस्वामी कहते हुए नित्य कारणरूप है। उसकी वर्तमान विशेषता, वही कारणशुद्ध 'पर्याय अर्थात् कारणरूप'

रही स्थिति जिसका 'भानमात्र' (निजाश्रयभावसे) होते ही प्रगट शुद्ध कार्य होता है; प्रत्यक्षतासे स्वसंवेदनबल प्रगट होता है। प्रत्येक वर्तमानमें स्वयं आधारभूत स्वरूपरूप है, है और है। (१२८९)



वस्तुस्वरूपकी असंगता - भिन्नता, परमें अनादिसे सुखबुद्धि और आधारबुद्धिका अभाव करती है। ज्ञानका रूप 'सुख' अवलोकनमें आने पर स्वयं - सुखधामकी प्रतीति और अपनेमें सुखबुद्धि और आधारबुद्धि उत्पन्न होती है। जिसके कारण उपयोग सहज वहाँ खींचता है। उपयोगका झुकाव हमेशा सुखके निश्चयकी ओर सहज ही रहे, ऐसा वस्तु स्वभाव है। (१२९०)



जिज्ञासा :- उत्तम मुमुक्षुको कैसे भाव होते हैं ?

समाधान :- जो जीव भवरोगसे मुक्त होनेके लिए सिर्फ मुक्ति दातार सत्पुरुषको ही चाहता है, उनके चरण सानिध्यको परमप्रेमसे चाहता है, उनको पहचानता है, और प्रत्यक्षयोगमें या परोक्षतामें उनको ही भजता है - इस प्रकारके सहज परिणाम जिसे हो, वह उत्तम मुमुक्षु है। धन्य है उसे ! (१२९१)



ज्ञानीकी आज्ञा पर चलनेकी समझके अभाव वश बहुभाग जीव अपनी रुचि अनुसार बाह्य धर्म-प्रवृत्ति करते हैं, जो कि प्रायः स्वच्छंदरूप होनेसे पारमार्थिक लाभ होनेके बजाय नुकसानकर्ता हो जाती है। परन्तु यदि जीव सत्य शोधकवृत्तिवान होता है तो विचारकी भूमिकामें सत्यके लिए अवकाश रखता है, तो प्रायः वह जीव नुकसानसे बच जाता है। (१२९२)



शीघ्रातिशीघ्र आत्मकल्याणकी वृत्तिमान मुमुक्षु प्रायः अयथार्थतामें नहीं आता। ऐसा मुमुक्षु प्रायः कहीं पर भी अटकता नहीं अथवा अटकनेके स्थान प्राप्त होने पर भी वह उसमें फँसता नहीं है। (१२९३)



जो अति तीव्र रुचिसे परम सत्संगको चाहता है, वह वास्तवमें आत्माके अमृतको चाहता है। वैसा परम सत्संग प्राप्त होने पर, सर्वस्व प्राप्त होनेरूप तृप्तिका अनुभव होता है। (१२९४)



परम प्रेममूर्ति परमात्मा पुराणपुरुष स्वयं ही है। जिसमें बेहद - असीम प्रेम भरा है। पर्यायमें उसका परमप्रेम प्रभुदर्शनसे प्रगट होता है। इसके सिवाय अन्यत्र प्रेम होनेसे, अर्थात् प्रेममूर्तिको छोड़कर - उपेक्षा करके, प्रेम करनेसे उसका फल दुःख आता है। प्रथम प्रभुदर्शन सत्पुरुषमें होकर परमप्रेम प्रगट होता है। (१२९५)



अंतरभेद होकर यदि जागृति आये तो मोक्ष समीप ही है। *(अंतरभेदजागृति)

जिज्ञासा :- उस प्रकारकी जागृति* आने पर कैसी दशा रहती है ?

समाधान :- दृढ मोक्षेच्छा उत्पन्न होकर, परम सत्संगमें रहकर, परम लक्ष्य / साध्यके प्रति उल्लासित वीर्यवाली दशा रहती है और सद्गुरु - आज्ञाको शिरोधार्य करके, सतत आत्महितमें प्रवर्तता है। जगतका मूल्य आत्मकल्याणके हेतु शून्य भासित होता है। अंतर परिणामोंकी पूरी दुनिया ही बदल जाती है। (१२९६)



जब तक मुमुक्षुजीव दूसरोंके बाह्य त्याग और बाह्य उघाड़को महत्त्व देता है, तब तक बाह्यदृष्टिका बल प्रवर्तता है, जिसके कारण अंतरकी विधि एवम् अंतरदृष्टिके विषय पर लक्ष जानेसे जो परख आनी चाहिए वह नहीं आती है, और उस वज़हसे उसकी महिमा या लक्ष नहीं होता है। (१२९७)



'आत्माके अस्तित्वआदि छः पदों' का ज्ञान अनुभवप्रमाणपूर्वक करने पर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। यह नियमबद्ध है। अर्थात् उस प्रकारसे कहीं पर भी विपर्यास नहीं रहता।

(१२९८)



जीव अनुभवपद्धतिको छोड़कर प्रयोजनभूत विषयमें समझ करता है, उसमें अयथार्थता रह जाती है। यथार्थ लक्षसे समझ करनेवाला जीव स्वतः अनुभवपद्धति अंगीकार कर लेता है। जिसके कारण कल्पना नहीं होती। (१२९९)



जिज्ञासा :- आत्माका नित्यत्व अनुभवप्रमाणसे कैसे ग्रहण हो ?

समाधान :- स्वयंके अनुभवको - परिणमनको वैसा शोधक दृष्टिकोण अपनाकर, अवलोकनमें लेने पर अपने अस्तित्वका सातत्य वेदनमें आता है, पर्यायोंके व्यतिरेकपनेसे विलक्षण ऐसा अन्वयपना भास्यमान होनेसे, नित्यत्वकी प्रतीत आती है। (१३००)

अपवादमार्गमें बाह्य प्रवृत्तिमें Adjustment हो सकता है, परन्तु परिणमनमें शिथिलता या विचलितता हो जाये, वह उचित नहीं है। आत्मार्थीको एवं ज्ञानीको प्रारब्धयोग अनुसार उदय प्रवृत्तिमें अनिवार्यरूपसे उपयोग देना पड़ता है, फिर भी मूलमेंसे विचलित हुए बिना ही उदयमें प्रवृत्ति होती है, जो कि यथार्थ है। (१३०१)



मार्च - १९९४

'अनुभूति है सो आत्मा ही है' - ऐसा (श्री समयसारजी गा. १४में) प्रतिपादन करते हुए श्रीगुरु अनुभूतिकी विधि दर्शाते हैं। - यह विधिको बतलानेकी प्रयोगात्मक शैली है। यह परमागमकी इस प्रकारकी मुख्य शैली है, विशिष्ट शैली है। (१३०२)



अभेदस्वरूपके स्वानुभवके कालमें ही भेदका यथार्थ ज्ञान होता है। भेदका अवलंबन लिए बगैर ही भेद जाननेमें - समझनेमें आता है, परन्तु भेदका अनुभव नहीं होता है।

(१३०३)



जो जीव शुद्ध अंतःकरणके अभावके कारण निज आत्मकल्याणके विषयमें ईमानदार नहीं हो, उसकी अन्यत्र ईमानदारी कितनी हद तक विश्वसनीय है ? इसका विचार कर्तव्य है।

(१३०४)



जिज्ञासा :- आत्मस्वभावका ग्रहण हो इसके लिए प्रगट प्रमाण कौनसा है ?

समाधान :- ज्ञान - वेदन, ज्ञानका सातत्य, ज्ञानका उर्ध्वत्व - प्रत्यक्षता आदि (निर्मलता - निर्लेपता) प्रगटरूपसे स्वभावका ग्रहण होनेमें प्रमाण हैं। यदि जीव शुद्ध भावनासे अंतर अवलोकन करे, तो उसे सहज मात्रमें अनुभवांशसे प्रतीत हो सकती है। (१३०५)



मुमुक्षुजीव जब सचमुच संसारसे छूटनेके लिए कृतनिश्चयी होता है तब प्रायः पूर्वमें संसार रुचिसे बाँधे हुए पूर्वकर्म उदयके रूपमें सामने आते हैं। जिससे कि वह सन्मार्गसे च्युत होनेकी परिस्थितिमें आता है। ऐसी स्थितिमें यदि निश्चयबल नहीं रहा तो जीव हार जाता है, मार्ग-प्राप्ति तक नहीं पहुँच सकता। परन्तु यदि निश्चय बलवान हो तो अवश्य मार्गकी प्राप्ति होती है। मार्ग पर चढ़ जाता है। (१३०६)



ओघसंज्ञा दो प्रकारसे हैं।

१ : समझ किये बिना धर्मप्रवृत्ति होना।

२ : परलक्षी ज्ञानमें धारणा होना अथवा समझको प्रयोगान्वित किये बिना निश्चय कर लेना, वह भी ओघसंज्ञा है। (१३०७)



'श्रुतज्ञान है वही आत्मा है' - इस शास्त्रवचनमें दो परम-अर्थ समाये हुए हैं।

१ : श्रुतज्ञानमें ज्ञानस्वभाव विद्यमान है - इसलिए वास्तवमें वही आत्मा है।

२ : ज्ञानसामान्य जो वेदनरूप है उसके आविर्भावसे स्वभावका सहज आश्रय होता है, यही मोक्षमार्गकी विधि है। - ऐसा पारमार्थिक आशय उसमें निहित है। अत्यंत गंभीर भाव उक्त वचनमृतमें भरे हैं। (१३०८)



जो जीव पूरे उद्यमसे आत्महित करनेके लिए उत्सुक है, वह तदर्थ बलवान अवरोधक कारणोंके बीच भी यथार्थरूपसे समाधान कर सकता है। पूरे उद्यमसे स्वकार्य करनेका अभिप्राय होनेसे वैसे प्रसंगमें प्रमाद या शिथिलतामें नहीं आता। यदि प्रयत्नका प्रकार उक्त प्रकारसे नहीं होगा तो आत्महितके मार्ग पर आगे बढ़नेमें कठिनता होती है। उलझन खड़ी होती है। (१३०९)



आत्मार्थीजीव भावि प्रतिकूलताके संदर्भमें घबराहटका अनुभव नहीं करता है, बल्कि उलटा वह ऐसी तैयारीमें रहता है कि 'भले ही प्रतिकूलता आ जाये, वह समय ही अधिकरूपसे कल्याणकारी होगा' और वास्तवमें योग्यतावान प्रतिकूल समयमें योग्यतामें वृद्धि ही करता है, पुरुषार्थकी उग्रतामें आता है। (१३१०)



अस्तित्व अवलंबनका विषय है। स्वरूपप्राप्तिकी भावना - रुचिपूर्वक उसका पता लगता है और तब उसका ग्रहण होता है, तब रुचि अनन्यताको प्राप्त होती है, जो कि चैतन्य वीर्यकी स्फुरणाका कारण होती है। इस प्रकार स्व-आश्रयका पुरुषार्थ जागृत होने पर कार्य संपन्न होता है। (१३११)



'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगका महत्त्व' सर्वाधिक है। ऐसा बोध नमस्कार मंत्रसे प्राप्त होता है। उसमें प्रथम श्री अरिहंतको नमस्कार किया है। उसमें सिद्ध भगवानका अविनय तो नहीं

है, परन्तु परम विवेक है। ज्ञानी भी सत्संगको सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। जिसमें सर्व सिद्धि समाविष्ट है। अतः जिस धरातल पर सत्पुरुषकी विद्यमानता हो, उसके जैसा परम सौभाग्य अन्य कहाँ हो सकता है ? (१३१२)



प्रश्न :- निज स्वरूपका बोध प्राप्त हो, ऐसी बोधबीज योग्य भूमिका कब प्राप्त होती है ?

समाधान :- सत्पुरुषके प्रति पराभक्ति प्रगट होवे तब। 'पर प्रेम प्रवाह बढे प्रभुसे, सब आगम भेद सुउर बसे।' यह एक सानंद आश्चर्य है कि : परमात्मा और स्वआत्मा भी सत्पुरुषके चरण सानिध्यके आगे मुख्य नहीं होते हैं !! तथापि उस जीवको पारमार्थिक लाभ होता है। सत्पुरुषके प्रति बहुमान आत्माको निर्मल करता है। उस भूमिकाका वह अमृत है।

(१३१३)



'सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योग' का अत्यंत महत्त्व होनेका कारण यह है कि वैसा दुर्लभ- दुर्लभ योग संप्राप्त होने पर पात्र जीवको सत्पुरुषकी पहचान होनेका अपूर्व प्रसंग संप्राप्त होता है। जो प्रसंग बोधबीजरूप है। समकितके बीजका यहाँ बीजारोपण होता है, जो फिर उगे बिना नहीं रहता। 'प्रत्यक्षयोग' के बिना परमार्थ - लाभका दूसरा कोई प्रसंग नहीं है। इस प्रकार सत्पुरुषने अत्यंत सरल मार्गको निष्कारण करुणा करके अनुगृहीत कराया है; उनकी महिमा किस प्रकार किस उपमासे हो सकती है ?

परमकृपालुदेवने 'प्रत्यक्ष सत्पुरुष' के विषयमें सर्वाधिक जोर क्यों दिया है ? उसका रहस्य उपरोक्त प्रकारसे अनादि मूलमंत्र - णमोकार मंत्र द्वारा भी प्रदर्शित होता है। (१३१४)



अप्रैल - १९९४

प्रश्न :- शास्त्र स्वाध्याय बहुत होने पर भी (स्थूल) भूल रहनेका क्या कारण ? अथवा वैसे जीवको पारमार्थिक लाभ नहीं होनेका क्या कारण ?

समाधान :- शास्त्रमें जो खुदको लागू पड़ता हो, उस प्रयोजनभूत बात पर लक्ष नहीं जानेसे ऐसा बनता है। जितनी प्रयोजनकी पकड़ ज्यादा उतना जीवको लाभ होता है अथवा अपनेमें सुधार होता है। (१३१५)



अनादि बंध / सम्बन्ध वशात् परके साथ एकत्वका / अपनत्वका निश्चय होनेसे, जीवको

ज्ञान - विशेषरूप ज्ञेयाकारका आविर्भाव रहता है, जिसके कारण ज्ञानाकार ज्ञानरूप अनुभूति अर्थात् ज्ञान-वेदनका तिरोभाव रहता है। (परमें) अपनत्वके निश्चयके गर्भमें सुखबुद्धि और आधारबुद्धि पड़ी हुई है। आत्मा उसमें मूढताको प्राप्त हो गया है, इसलिए अनुभूतिको आवरण है।
(१३१६)



स्वयं ज्ञानका सागर है, आनंदका सागर है, अमृतका सागर है। अनन्त भावोंका गंभीर समुद्र है। अनन्त भावोंकी गंभीरताको धारण करके द्रव्य बैठा है। अनन्त गुणोंके वैभवको पी गया है। जिसकी महिमा आने पर उपयोगादि सर्व परिणाम उसमें थम जाते हैं। क्योंकि अपार महिमावंत है। महा आश्चर्यकारी है।
(१३१७)



सत्पुरुषके प्रति अचल प्रेम व सम्यक् प्रतीति आये बिना, सम्यक्त्वके योग्य निर्मलता नहीं आती है। समकितका यह प्रवेशद्वार है।
(१३१८)



जीव शुभभावका मोह अज्ञान वश करता है। शुभभावसे घाती कर्मका बंध होता है, जो पाप प्रकृति है और जीव-गुणको वह आवरित करती है। जिससे एकांत नुकसान है। प्रयोजनकी दृष्टिसे इसका विचार कर्त्तव्य है।
(१३१९)



जो अपने विभावसे डरता है, वह मोक्षमार्गमें सुभट है। डरता है इसलिए कायर है - सो बात नहीं है। वास्तवमें तो जो विभावसे नहीं डरता है, वह तो स्वच्छंदका सेवन करता है। वह हीनवीर्य हो जायेगा, जो परमार्थसे कायरता है।
(१३२०)



अकृत्रिम शाश्वत प्रतिमाके माध्यमसे कुदरत हमेशा आत्माको आत्मस्वरूप बताती है। खुद अंदरमें देखे तो ऐसा ही खुदका स्वरूप है। - इसलिए कुदरतका यह आदेश है कि अंतर्मुख होकर स्वरूपमें जम जाओ ! अंदरमें भी अकृत्रिम चैतन्य प्रतिमा ही बिराजमान है न !! वह निष्क्रिय है और पूजनीक भी है। अचिंत्य आश्चर्यकारी महिमावंत स्वयं ही है।
(१३२१)



जैसे खाद्य पदार्थ स्वादका विषय होनेसे, चखनेसे समझमें आता है, श्रवणसे या स्पर्शसे समझमें नहीं आता, वैसे आत्मा तो वेदनका विषय है, वह वेदनके बिना सिर्फ श्रवणसे या

विचारसे समझमें नहीं आये, ऐसा पदार्थ है; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि, 'ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदन सिद्धत्वात्।' (समयसार - परिशिष्ट) (१३२२)



अध्यात्मका यथार्थ ज्ञान, स्वरूपकी महिमा, स्वरूप दर्शानेवालेकी महिमा लाता है। साथ ही साथ अंदरसे विरक्तता होने पर राग, गृद्धि, कषाय, एकत्वबुद्धि इत्यादि ढीले पड़ जाते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ तो ज्ञान शुष्क है, ऐसा समझना। (१३२३)



प्रश्न :- ज्ञानीको शुभभाव भट्टीरूप लगता है, परन्तु पूर्व भूमिकामें भी भट्टी जैसा वेदन लगता है क्या ?

समाधान :- जो जीव स्वानुभवके एकदम नज़दीककी भूमिकामें हो, तो उसे भट्टी से भी ज्यादा (दुःख) लगता है। ज्ञानीको तो सर्वांग समाधान स्वरूप प्रत्यक्ष है, इसलिए अमुक समाधान भी रहता है, परन्तु इस जीवको तो विभावमें खड़े रहना ही नहीं है इसलिए भट्टीसे भी अधिक लगता है, आँखसे पर्वत उठाने जितना बोझ लगता है। सूक्ष्म विकल्प भी सहन नहीं हो पाता, तो स्थूलमें तो बहुत जलन होती ही है, तभी उपयोग वहाँसे हटकर अंदरमें जाता है। (१३२४)



उपयोगमें सूक्ष्मता आना ज़रूरी है। अंदरमें राग और ज्ञानकी सूक्ष्म संधि, सूक्ष्म उपयोग द्वारा ही जाननेमें आती है। वह वर्तमान प्रयोजन है। इतना ही नहीं ज्ञानमें आत्मस्वभाव तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। उपयोगको अपनेमें ही (उपयोग द्वारमें ही) स्वरूपशक्तिका ग्रहण करनेकी ज़रूरत है। अग्निकणमें दहनशक्तिकी माफ़िक। जिससे कि उपयोगकी सूक्ष्मता, चलते हुए परिणामनमें राग और ज्ञानको भिन्न-भिन्नरूपसे अवलोकनमें लेकर प्रयोजनको साधे।

(१३२५)



परिणामका स्वभाव ध्येयका अनुसरण करनेका है। इसलिए 'पूर्णताका ध्येय' बाँधनेकी श्रीगुरुकी आज्ञा है। अनादिसे जीवको संसारका ध्येय है, उसको बदले बिना जो कुछ भी किया जायेगा, वह संसार हेतु ही होगा। पूर्वमें अनन्तबार ऐसा हुआ है। इसलिए सर्व प्रथम 'दृढ मोक्षेच्छा' होनी ज़रूरी है। जिससे तदनुसार साधन प्रगट होवे और प्रयोजन चुक नहीं जाये। (१३२६)



सिर्फ शास्त्रवांचनसे समझमें यथार्थता नहीं होती है, परन्तु समझके अनुसार परिणमन करनेका जब प्रयास होता है तब यथार्थता आती है। इस प्रकारका प्रयास अवश्य सफल होता है। (१३२७)



ज्ञानदशामें जगत / उदय सब स्वप्नवत् हैं। क्योंकि ध्रुव तत्त्वका (खुदका) इससे कोई संबंध नहीं है। जगतके सर्व पदार्थों व प्रसंगोंकी आशा / अपेक्षा मिटे नहीं तब तक जीव ज्ञानदशाको प्राप्त नहीं होता है। (१३२८)



स्वलक्षसे - आत्मकल्याणके लक्षसे, जब उपादानमें जागृति आती है, तब पात्रतावश वह जीव सत्पुरुषको / कल्याणके मार्गके खोजता है, उसके लिए दृढ़ होकर तरसता है, तब वह जीव अवश्य सत्को प्राप्त होता है। (१३२९)



जीव चाहे कितने भी शास्त्र पढ़ ले, धारणा कर ले, तत्त्वचर्चा करे, परन्तु जब तक मोक्षाभिलाषी बनकर भेदज्ञान नहीं करता है, तब तक आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकता, परकी एकत्वबुद्धि नहीं टूटती। (१३३०)



मई - १९९४

भावभासन हुए बिना त्रिकाली स्वरूपके प्रति ज़ोर नहीं आता। फिर भी सिर्फ धारणाके कारण त्रिकालीके विकल्प द्वारा ज़ोर देनेसे, वह ज़ोर विकल्प पर जाता है और भावभासनकी विधि छूट जाती है। अतः विधिका विपर्यास होता है। वैसा ज़ोर कभी सफल नहीं होता। (१३३१)



मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थ निर्मलता / पात्रता आनेमें मुख्य / खास कारण सत्पुरुषके प्रति परम प्रेमार्पण होना वह है। यह अद्भुत व सुगम उपाय है। (१३३२)



गुणके प्रति प्रेमके कारण गुणानुवाद होना वह भक्तिका स्वरूप है। अनन्त निजात्मगुणोंकी खिलवटका यह बीज है। "वह केवल को बीजज्ञानी कहे।" - (गुरुरूप) प्रभुके गुणोंकी भक्तिके गर्भमें एक अंश निर्मलतासे लेकर पूर्ण निर्मलता प्रगट होनेका बीजभूत कारण पड़ा है। (गुरु) / प्रभु तो परम निर्मल प्रेमकी प्रतिमा है। उनके नयन / दृष्टि परम प्रेम बरसाते हैं, रेलमछेल

करके जीवको प्रेमरसमें सराबोर कर देते हैं। अहो ! उनका वात्सल्य ! (१३३३)



'ज्ञानमात्र' स्वमें अपनत्वके निश्चयसे ज्ञानसामान्यका / ज्ञानवेदनका आविर्भाव होता है, स्वभावकी सुखबुद्धि और आधारबुद्धि होती है। (१३३४)



'प्रत्यक्ष सत्पुरुषका योग' स्वरूपस्थितिका कारण बनता है। (परमकृपालुदेव - २४९) तो फिर 'परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति' - रूप अनन्त प्रत्यक्ष स्वरूप-निश्चय स्वानुभूतिको प्रगट करे इसमें कौनसा आश्चर्य है ? (१३३५)



परके साथ एकत्वका (स्वपनेका) निश्चय होनेसे ज्ञानवेदन तिरोभूत रहता है। यही ज्ञानवेदन स्वरूप निश्चय (लक्ष) होने पर आविर्भूत होने लगता है। ऐसा जो स्वरूप - निश्चय वह ज्ञानमें स्वयंके वेदनभूत लक्षणसे प्राप्त होता है। इस प्रकार ज्ञानवेदन और स्वरूप लक्षको परस्पर कारण-कार्य संबंध है। (१३३६)



मिथ्यात्वके कारण ही बंधन है और सम्यक्त्वके कारण निर्जरा है। श्री समयसारजीमें सम्यक्दृष्टिको 'निर्जरातत्त्व' बतलाया है। तत्त्वदृष्टि प्रगट होनेके लिए यह निरूपण है। सत्पुरुषकी पहचान करानेके लिए आचार्य भगवानने परम करुणा करके यह अधिकार लिखा है। सम्यक्त्वके रूपमें सत्पुरुषको पहचाननेवालेको तत्त्वदृष्टि प्राप्त है। (१३३७)



निजस्वरूप सहज अनन्त प्रत्यक्ष है। जो विचारदशामें प्रगट नहीं होता है। यथार्थ विचारदशा - सुविचारणामें प्रत्यक्ष स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेका अभ्यास होता है, जिसमें परोक्षताका निषेध रहता है। सुविचारणामें ज्ञानके साथ स्वरूप ग्रहण करनेके प्रयासरूप रुचि होती है। ऐसी रुचि रहित ज्ञान हमेशा शुष्क होता है। (१३३८)



जीवको सत्पुरुषकी पहचान होने पर परमार्थ समझमें आता है। इस हेतुसे ही महापुरुषोंके पुराण प्रसिद्ध किये गये हैं। कथानुयोगका यह रहस्य है। वह सिर्फ संयोग-वियोगकी कथा नहीं है, परन्तु सत्पुरुषकी सम्यक् रूपमें पहचान करानेकी सुगम रीत है। (१३३९)



आत्मोन्नतिके क्रमको छोड़कर जीव, अगर आत्महित करना चाहता है तो वह प्रयास

कभी सफल नहीं होता, अतः सर्व सिद्धांत और बोधमेंसे क्रमके ऊपर ध्यान जाना अत्यंत आवश्यक है। जिन महात्माओंने आत्मोन्नतिके क्रमका बोध दिया, उनकी अपार करुणा वंदनीय है। (१३४०)



जून - १९९४

सम्यक्दर्शनके पहले जीव भेदज्ञानका प्रयास करता है, वह बीचवाली दशा (मिलान करनेके लिए) जाननेका विषय है, वहाँ तक अभी दृष्टि सुलटी नहीं हुई है। दृष्टि तो आत्माके अलावा किसीका स्वीकार ही नहीं करती है, इसी वज़हसे जब तक दृष्टि सम्यक् नहीं होती है तब तक बीचवाली दशाको गौण रखनेमें आती है, जो उचित ही है। तीव्र ज्ञानदशामें ऐसा होना सहज है। (१३४१)



जिज्ञासा :- जीवको अनन्तकालमें अनन्त प्रकारसे अनन्त उपाय करने पर भी संसारसे मुक्त होनेका मार्ग नहीं मिला, उसका क्या कारण ?

समाधान :- अंतरसे वास्तवमें छूटनेकी भावना नहीं हुई। अभिप्रायमें बाहरमें कहीं न कहीं सुखबुद्धि रही है, भवरोगकी भयंकरता भासित नहीं हुई, इसलिए सत्पुरुषकी खोज - मार्ग दिखानेवालेके चरणमें जानेके भाव नहीं हैं। यदि उक्त योग्यतापूर्वक ज्ञानीपुरुषकी प्रतीति आये कि 'यह ज्ञानी ही है' - तो अचल प्रेम-भक्ति उत्पन्न होवे, जो कि समकितका अंग है। (१३४२)



प्रेमरूप भक्ति वर्धमान होकर पराभक्तिमें परिणमित होती है, तब ज्ञानीपुरुषमें ऐक्य भाव उत्पन्न होता है, जिससे मुमुक्षुजीवकी भूमिकामें दर्शनमोह यथार्थरूपसे अत्यंत मंद होता है, और निज परमात्मामें ऐक्यभाव होनेकी योग्यता प्राप्त होकर, ऐक्यता सधती है। अनन्तकालमें यही एक मार्ग है। (१३४३)



सिर्फ तर्कसे ज्ञानप्राप्ति नहीं है, परन्तु ज्ञान होनेके लिए अनुभवकी ज़रूरत है। (१३४४)



तत्त्व पानेके लिए विशालबुद्धि चाहिए। विशालबुद्धि माने सत्य और सत्यके अंशको जैसा हो वैसा, चाहे कहींसे भी हो (कहनेवाला कोई भी हो) बिना पूर्वग्रह, संप्रदायबुद्धि छोड़कर, स्वीकार करनेकी बुद्धि। सिर्फ कुल परम्परा अनुसार संप्रदायकी बातका ही स्वीकार करना

वह संप्रदायबुद्धि अर्थात् संकुचितबुद्धि। (१३४५)



सत्पुरुष (प्रत्यक्ष)के चरणकमलकी उपासनाके बलसे दर्शनमोह यथार्थतया मंद होता है, तब द्रव्यानयोग (सिद्धांतबोध) परिणमित होता है। (१३४६)



यदि सत्पुरुषके चरण सेवनसे दर्शनमोह जैसी बलवान प्रकृतिकी शक्ति भी हीन होती है, तो फिर मान, माया, लोभादि प्रकृति अल्प प्रयाससे जाये उसमें कौनसा आश्चर्य है ? यदि मानादि प्रकृतिमें फर्क नहीं पड़ा, तो जीवने 'सत्पुरुषकी समीपता' को प्राप्त किया ही नहीं है। (१३४७)



प्रश्न :- आत्मस्वरूपका भावभासन होनेके पहले 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे भावमें यथार्थ समाधान हो सकता है क्या ? यथार्थ समाधान और संतुलन कबसे रहता है ?

समाधान :- स्वरूपका भावभासन होनेके पहले तदाश्रित स्वरूपके लक्षसे समाधान नहीं हो सकता। परन्तु जिसे पूर्णताका लक्ष हुआ हो वह जीव आत्मकल्याणके लक्षसे संतुलन रख सकता है। और वह ज्ञायकका निर्णय करनेके लिए प्रयोगात्मक पुरुषार्थवंत रहता है। तब उसमें प्रयोगपद्धतिसे जितनी-जितनी यथार्थता आती जाये उतना-उतना यथार्थ समाधान होने योग्य है। सिर्फ ज्ञायकका विकल्पाश्रित समाधान (मंदकषाय हो, बिना लक्षके) हो, वह यथार्थ नहीं है। उसे यथार्थ समाधान गिनना वह भ्रान्ति है। (१३४८)



जिज्ञासा :- अंतरमें आत्मस्वरूपको देखनेका प्रयत्न करने पर भी आत्मा दिखता नहीं है ? तो क्या करें ?

समाधान :- तथारूप प्रयत्न (ज्ञानसे स्वयंके स्वभावका अवलोकन करनेका प्रयत्न) हो, तो दिखे बिना नहीं रहता, (मोक्षार्थीको) रहता ही नहीं। जो मोक्षार्थी ही नहीं हुआ, उस जीवका वैसा प्रयत्न सिर्फ कुतूहलवृत्तिसे नहीं हो सकता अर्थात् मोक्षार्थी ही वैसा प्रयत्न कर सकता है। (१३४९)



प्रश्न :- सत्पुरुषकी भक्तिमें राग हो या भक्ति प्रेमरूप हो, उन दोनोंमें क्या अंतर है ?

समाधान :- रागका आधार पुद्गल है अथवा लोकसंज्ञासे लौकिक कारण वशात् या ओघसंज्ञासे उत्पन्न भक्ति रागरूप होती है, परन्तु आत्मगुणको लक्षमें रखते हुए उत्पन्न बहुमान

प्रेमरूप होता है, सत्पुरुषकी पहचान होने पर भक्ति - प्रेमरूप होती है और वह ज्ञान प्राप्तिका मूल कारण है। (१३५०)



सम्यक्त्वके कारणभूत ऐसे सात तत्त्वोंका श्रद्धान - उसका प्रतिपादन हेय-उपादेयके दृष्टिकोणसे किया गया है। उसमें भी जीवतत्त्व एक ही उपादेय है और अजीव तत्त्व (विभाव और विभावका निमित्त) हेय है।

हेय = छोड़ने योग्य ऐसे अजीव तत्त्वके ग्रहणका कारण होनेसे आश्रव तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है और छोड़ने योग्य अजीवतत्त्वके ग्रहणरूप होनेसे वहाँ प्रतिबंध होता है, इसलिए उसका बंधतत्त्वरूप निर्देश किया गया है।

संवर और निर्जरा, दोनों अजीवतत्त्वको (जो भावमें अनादिसे स्व-पने ग्रहण होता आया है) छोड़नेमें कारण होनेसे कहे गये हैं, तथा छोड़ने योग्य अजीवतत्त्वको छोड़ देनेसे जीवकी जो अवस्था विशेष होती है, उसे दर्शानेके लिए मोक्षतत्त्वका प्रतिपादन करनेमें आया है। (१३५१)



अंतरमें पूर्णताका ध्येय और बाहरमें सत्पुरुषका योग - ये दोनों साथमें होने पर मोक्षमार्ग सुलभ है। मुमुक्षुजीवको तिरनेके लिए दोनों परम आवश्यक है। दोमें से एक भी अगर नहीं हो तो आगे बढ़ना नहीं हो सकता। (१३५२)



जुलाई - १९९४

स्वरूप-लक्षसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए उसका बहुत महत्त्व है।

१ : प्रथम भावभासनके वक्त ही स्वभावके संस्कार प्राप्त होते हैं।

२ : प्राप्त संस्कार अविनाशी संपत्ति होनेसे, सम्यक्त्वसे अगर च्युत भी हो जाये, फिर भी अल्प प्रयाससे मार्गको ग्रहण कर लेता है।

३ : स्वरूप-निश्चय सम्यक्त्वके अंगभूत अस्तित्व ग्रहण होनेसे अल्पकालमें स्वानुभूति प्रगट हो जाये, ऐसा अनन्य कारण है।

४ : स्वरूपलक्ष होते ही सर्व उदयभावके परिणाम, सर्व भूमिका (मुमुक्षु, ज्ञानी, मुनि) की पर्यायें स्वरूप लक्षपूर्वक ही होती हैं। जिससे यथार्थता एवम् संतुलन बना रहता है।

५ : इस भूमिकामें प्रथम ही स्वरूप 'स्व-पने' भासित होता है। जिसके कारण परिणाममात्रमें 'स्व-पना' मिटनेका (वह) कारण बनता है। (१३५३)

सत्पुरुषकी पहचान हुई है उसका लक्षण यह है कि उनके प्रति अपूर्व स्नेह आता है। उनके सानिध्यकी भावना ऐसी रहती है कि उनके वियोगमें एक क्षण भी मृत्यु समान वेदनारूप लगती है। अहो ! सत्-योगका मूल्यांकन !! अहो, अहो अपूर्व गंभीर प्रघटना। सत्संग मुमुक्षुका प्राणवायु बन जाना चाहिए। (१३५४)



जो जीव स्वयंकी योग्यताको नहीं समझ सकता हो और अन्यकी या ज्ञानियोंकी योग्यताको नापने जाये, तो वह अनर्थ करता है। तीव्र बाह्यलक्ष होनेसे ऐसा नुकसान करता है। ऐसे जीवको अंतर्लक्ष होना बहुत कठिन है। (१३५५)



धर्म-क्षेत्रमें, जीव धर्मबुद्धिसे तन, मन, धनका समर्पण तो करता है, फिर भी जब उसमें सर्वार्पणबुद्धिका अभाव होता है, तब वह प्रकृतिका त्याग नहीं कर सकता है। अतः पारमार्थिक लाभसे वंचित रह जाता है। तन, मन, धनका समर्पण तो अन्यमती भी करता है, और वह पूर्वानुपूर्व है, अपूर्व नहीं है। आत्महितके लक्षसे प्रकृति - भावको छोड़नेके लिए जो तैयार होता है वह धन्य है। वह जीव अवश्य अपूर्व स्वभाव प्रगट करेगा ही। वही सच्ची आत्म-अर्पणा है। (१३५६)



जीवको मुक्त होनेकी चिंतनामें घिरे बिना - उलझे बिना, मुमुक्षुताकी उत्पत्ति संभवित नहीं है। मोक्षकी दृढ़ इच्छा - पूर्णताका लक्ष, होनेके पहलेका यह क्रम है। यह चिंतना वैराग्य-प्रेरक होती है। (१३५७)



जिज्ञासा :- सत्पुरुषको कौन पहचान सकता है ?

समाधान :- जो सिर्फ सत्पुरुषकी ही चाहत रखे वही उन्हें पहचान सकता है, दूसरा नहीं। जो दूसरेको 'भी' चाहता है वह उन्हें कहाँसे पहचान सकेगा ? जिसको सत्पुरुषका मूल्य भासित होता है, वह उन्हें, 'सिर्फ उन्हींको' चाहता है। (१३५८)



प्रेमरूप निर्मल भक्ति महान पदार्थ है। उपदेशबोध और सिद्धांतबोध उसके गर्भमें समाते हैं। जिससे क्षणमात्रमें स्वरूप सधता है। यह भक्ति आत्मगुणके प्रति अनन्य प्रेम है, जो ऐक्यताको साधती है, आत्मगुणको साधती है। (१३५९)



नम्रताका यथार्थ स्वरूप : दूसरोंके द्वारा अनादर होने पर भी मदका आवेश - (के अभावके कारण) नहीं होनेसे, अभिमानका अभाव होना, वह सच्चा मार्दव है। वर्तमान जाति आदिकी मुख्यता मार्दवके कारण नहीं होती है। (१३६०)



ओघसंज्ञाका स्वरूप समझकर इसकी निवृत्ति करने योग्य है, क्योंकि इससे निज कल्याणरूप ऐसा जो प्रयोजन, वह छूट जाता है और मिथ्या संतोष लेनेमें आता है। क्रियाकांड एवं पद गाना - उसरूप भक्ति प्रायः ओघसंज्ञासे होती है, क्योंकि उसमें वर्तमान मुमुक्षु-भूमिकाके प्रति दृष्टि नहीं जाती है। परन्तु स्वाध्याय और सत्संगमें भी जहाँ रुद्धिगत प्रवृत्ति होती है, वहाँ 'वर्तमानमें प्रयोजनभूत क्या है ?' उसके ऊपर कोई 'वीरल जीव' का ही लक्ष होता है। अतः वह प्रसंग / प्रवृत्ति भी ओघसंज्ञापूर्वक, जानकारी बढ़ाकर, जिज्ञासा घटाकर, मिथ्या संतोष लेकर, विसर्जन करनेमें आती है। सारांश यह है कि वर्तमान भूमिकाको लक्षमें रखते हुए प्रयोजनकी तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिए। (१३६१)



अगरस्त - १९९४

कर्मचेतनासे की गई यम, नियम, शास्त्रज्ञान आदि सर्व प्रवृत्ति धर्मका साधन नहीं हुई, परन्तु कर्मका कारण हुई है, इसलिए श्री जिनने ज्ञानचेतना प्रगट करनेका फरमान किया है। अंतर सावधानीपूर्वक ज्ञान स्वयंको चेतने - वेदनमें ले, वह ज्ञानचेतना है और रागादि भावकर्मका वेदन करे, उसमें सावधानी रहे, वह कर्मचेतनारूप अज्ञानदशा है। (१३६२)



सुखस्वभावी ऐसे जीवको, सुख चाहिए, उसके बिना चैन नहीं पड़ता, तृप्ति नहीं होती। निजसुखसे अनभिज्ञ होनेके कारण सुखार्थ अनेकविध पदार्थ-प्राप्तिकी इच्छा सहज हुआ करती है, जो कि स्वयं दुःखरूप - आकुलतारूप, अंतरदाहरूप है। ऐसे अंतरदाहको शांत करनेके लिए शांत - सुधारसमय ज्ञानस्वरूपमें अंतर्मुख होना - यह एक मात्र उपाय है। उपशमरससे त्रिविध तापाग्नि शांत होती है। - ऐसे ज्ञानीपुरुषके निश्चयको नमस्कार हो !! (१३६३)



ध्रुव आत्मा अर्थात् स्वयं पर्यायमें कुछ भी न्यूनाधिक, फेरफार, नहीं कर सकता है - ऐसा, ध्रुवकी अभेद श्रद्धा / यथार्थ श्रद्धा होने पर समझमें आता है - ऐसा अभिप्रायमें रखकर, ज्ञानी पर्यायमें फेरफार करनेका उपदेश, परिणाम पर दृष्टि / अस्तित्व रखनेवाले (अज्ञानी) के लिए (यह) अपेक्षा रखकर करते हैं, अज्ञानीकी भाषामें समझाते हैं। उपरोक्त

श्रद्धाकी अपेक्षा छोड़करके उनकी बात नहीं होती है। (१३६४)



देखो ! चैतन्यका चमत्कार ! सत्पुरुषके प्रति परम प्रेम प्रवाह वर्धमान होने पर, आत्मकल्याणभूत ऐसा आगमोंका रहस्य समझमें आता है और उसकी प्राप्ति होती है। आगमका अभ्यास किये बिना प्राप्त होनेवाली यह लब्धि है। इसी तरह केवलज्ञानकी लब्धि - निष्कंप गंभीर ध्रुवस्वभावके आश्रयपूर्वक गहराईमें उतरते-उतरते प्रगट हो जाती है। परिणामोंका निर्मलत्व उक्त लब्धियोंका कारण है। (१३६५)



जिज्ञासा : आत्माका तेज - नूर किस प्रकारका होता है ?

समाधान : अचिंत्य आत्म - स्वभाव है। शुद्ध चैतन्यका प्रागट्य अर्थात् शुद्ध चित्तिस्वरूप कांति - वह उसका तेज है, नूर है, जो कि अचिंत्य है, सिर्फ अनुभवगोचर है। चिंतवन गोचर नहीं है। (१३६६)



जीवको अगर मूलमें सुखकी - निराकुलदशाकी जरूरत लगे तो, बौद्धिकस्तर पर जिस तत्त्वको परोक्ष धारणासे जाना है, उसकी रुचि उत्पन्न होकर, अभेदभावसे पकड़ सहित उसे प्रत्यक्ष करे, तो दृष्टि सम्यक् होवे। रुचि रहित परोक्ष धारणासे पुरुषार्थ नहीं उठता। वैसी योग्यतावालेको वास्तवमें आत्मसुखकी जरूरत नहीं है। द्रव्यस्वभावकी अरुचि सहितकी धारणा, प्रायः अभिनिवेशका कारण होती है। (१३६७)



जिस उत्तम मुमुक्षुको कहीं भी - किसी भी पदार्थके विषयमें सुखबुद्धि और आधारबुद्धि नहीं है, उसे अंतर्मुख होनेमें अवरोध नहीं होता। ऐसी स्थितिमें स्वकार्य सहज होता है, पुरुषार्थकी गति सहज तेज हो जाती है। (१३६८)



जब तक निज परमात्माकी वियोग - विरह वेदना नहीं उठे तब तक उसका दर्शन कहाँसे हो ? विरहकी असह्य वेदना प्रत्यक्ष दर्शनका कारण है। इतना ही नहीं इस वेदनासे जमी हुई मलिनता पिघलती है और निर्मलता प्राप्त होती है। (१३६९)



अनादिसे सिर्फ पर्यायमें 'स्वपना' अनुभवमें आ रहा है। जिसके कारण पर्यायदृष्टि भी निविड़ हो चुकी है। (यह अनादि) रूढ़ हो चुकी स्थितिका अभाव होना दुष्कर है, फिर

भी अशक्य तो नहीं है। सत्पुरुषके योगमें बीजज्ञानकी प्राप्ति होने पर, अपरिणामी, अविनाशी परम स्वरूपका लक्ष होने पर, पर्यायबुद्धि शिथिल होकर, द्रव्यदृष्टि प्रगट होनेका कारण बनता है। 'अनन्त सुखधाम' निजपदके निर्णयका बल, स्वानुभूति प्रगट करता है, तब दृष्टि सम्यक् होती है, ध्रुवपदमें अपनत्व स्थापित होता है, अनुभवमें आता है, परिणामका एकत्व मिटता है। और सहज पुरुषार्थ, विवेक, निर्मलता, पर्यायकी गौणता, साक्षीभाव आदि प्रगट होकर वृद्धिगत होने लगते हैं। फिर भी 'त्रिकाली हूँ' उसीकी मुख्यता रहती है। (१३७०)



मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थक्रमसे यथार्थप्रकारसे दर्शनमोहका रस / अनुभाग घटनेसे जब यथार्थ निर्मलता आती है, तब सुखके निश्चयपूर्वक जो सुखानुभव (सुखाभास) होता है, वह भूल पकड़में आती है। जिससे सुखबुद्धि और परकी आधारबुद्धि मिटती है और ज्ञानकी सुखरूपता खुदको ज्ञानमें भासित होती है। जो आत्मस्वरूपका बीजज्ञान है। (१३७१)



सत्शास्त्र, सत्संग और सिद्धांत जो कि सन्मार्ग प्राप्तिके लिए उपलब्ध है, फिर भी जो जीव ध्यानादिके लिए अन्यमतीका अनुसरण करता है, वह मूल मुक्तिमार्गको छोड़कर उन्मार्ग पर मार्गकी खोज करता है। (१३७२)



सितम्बर - १९९४

पात्रतामें जीवके मुख्य तीन गुणोंमें निम्नरूपसे फर्क पड़ता है।

- * मिथ्याश्रद्धाका - दर्शनमोहका अनुभाग घटता है।
- * ज्ञानमें विपर्यास घटता है - मिटता है और यथार्थता आती है।
- * कषायरस मंद पड़ जाता है।

(१३७३)



अक्टूबर - १९९४

सुविचारणा, अतःकरणकी शुद्धि, संसार सुखकी उपेक्षावृत्ति आदि पूर्णताका लक्ष बाँधनेके अंगभूत हैं। (१३७४)



मुमुक्षुजीवको निजकल्याणके हेतुसे जो अंदरसे सूझ आती है, उससे मुमुक्षुता / योग्यता वर्धमान होती है। बाह्यसे / श्रवण-वांचन आदिसे जो मार्गदर्शन मिले, वह अंतरसूझकी पुष्टि हेतु होने चाहिए अथवा आगे बढ़नेकी सूचना (Hint) रूप होने चाहिए; क्योंकि वह परायी

- मँगनी चीज है। अतः पहलेके जितना लाभ नहीं होता है। (१३७५)



आत्मकल्याणकी तीव्र लगनपूर्वक जो सत्पुरुषके सानिध्यमें जाता है, उस जीवको सत्पुरुषकी पहचान होने पर, अंदरमें मार्ग सूझता है और वह अवश्य तिर जाता है। सत्संग / सत्पुरुषकी प्राप्ति होने पर भी और तत्त्वज्ञानका अभ्यास होते हुए भी स्वरूप प्राप्तिकी उत्कंठाका जो अभाव है वह अन्य प्रतिबंधको प्रदर्शित करता है - उसे अंतर गवेषणासे / अवलोकनसे खोजना चाहिए। (१३७६)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास दो प्रकारकी स्थितिमें शुरू होता है। एक तो जीव परिभ्रमणकी चिंतामें घिर जानेसे अन्य / सांसारिक चिंतासे उपेक्षावान होकर, दूसरा, संसारकी अपेक्षाओं - आशाओं वैसी की वैसी रखकर; प्रथम प्रकारसे यथार्थता आती है। दूसरे प्रकारसे हुआ तत्त्वाभ्यास आगम अनुकूल होने पर भी यथार्थ नहीं होनेसे निष्फल जाता है। (१३७७)



आत्माको बोध - परिणमन हो इसके लिए, बोध स्वरूप ज्ञानीका प्रत्यक्ष समागरूप परम सत्संग जैसा अन्य कोई उपाय (शास्त्र वांचनादि) नहीं है, क्योंकि बोधका परिणमन होनेका नियम ऐसा है कि जिसको ज्ञानीपुरुषका परिणमन दिखता है, वह ज्ञानीके यथार्थ दर्शनमात्रसे ज्ञानी बनता है। इसीलिए उच्चकोटिके मुमुक्षुके परिचयरूप समागमसे अन्य मुमुक्षुको आगे बढ़नेमें सुगमता रहती है। (१३७८)



जिज्ञासा :- तत्त्वको बराबर समझते हुए भी उसकी प्राप्ति होनेमें निष्फलता किस कारणसे रहती है ?

समाधान :- लाभ-नुकसानकी समझ होने पर भी दर्शनमोहकी प्रबलताके कारण, लाभ-नुकसानका मूल्यांकन नहीं होनेसे, जितनी गंभीरता है उतनी भासित नहीं होती है। गंभीरताके अभावके कारण संसार - मोक्षके प्रति प्रवृत्तिरूप परिणामोंमें जो गौणता-मुख्यता होनी चाहिए वह नहीं होती है। Change of Priority के बिना आत्मकल्याण सम्बन्धित बल पैदा नहीं होता है और संसारबलमें कमी नहीं आती है। संसारबलकी विद्यमानतामें तत्त्वकी समझका निष्फल जाना अस्वाभाविक नहीं है। Top Priorityमें 'आत्मकल्याण' रहने पर सारा संसार गौण हो जाये, तब यथार्थता आती है, ऊपर-ऊपरका प्रयत्न मिटकर अंतरसे उपाड़ आता है।

(१३७९)

सत्संगकी उपासना करनेकी सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है। उसमें रहस्य ऐसा है कि पात्र जीवको, विशेष गुणीके परिचयसे उसका परिणमन देखनेको मिलता है, जिसके कारण खुदके परिणाम पर तुरत सीधी असर आती है। परिणाम पर असर आनेका यह सुगम व श्रेष्ठ उपाय है - प्रयोग है। अनेक ग्रंथोंके पठनसे जो असर होती है उससे अधिक असर इस प्रयोगसे होती है, क्योंकि यह अनुभव पद्धति है। ऐसा 'सत्संग-रहस्य' जिसकी समझमें आये उसे सत्संगका सही मूल्यांकन आता है, और वह सर्वापणबुद्धिसे सत्संगकी उपासना करता है। (१३८०)



जिज्ञासा :- समझ और भावभासनमें क्या अंतर है ? भावभासनसे क्या लाभ है ?

समाधान :- समझ जो है वह तर्क, न्याय, युक्ति, आगम आदिसे सम्मत हुई (विचार पद्धतिसे) स्थिति है। उसमें अनुभवका अभाव होनेसे पर्याप्त बल उत्पन्न नहीं होता, और विषयकी / प्रयोजनकी गंभीरता भी उत्पन्न नहीं होती। इसलिए समझकी सफलता प्राप्त नहीं होती। (जब कि) भावभासन तो प्रयोगपद्धतिसे आता है, उसमें ज्ञान घड़ता है और वह अनुभवपद्धति (Feeling Process) होनेसे मूल्यांकन सहित विषयकी गंभीरता आती है, तब जाके Priority Change होनेका अवसर आता है। सफलताका यह रहस्य है। इसलिए महात्माओंने भावभासनपूर्वक समझ करनेका बोध दिया है। (१३८१)



जिज्ञासा :- तत्त्वकी समझ होनेके पश्चात् भावभासन होनेके लिए क्या करना चाहिए ?

समाधान :- जो-जो बातें समझमें आयी हो उसे चलते हुए परिणमनमें मिलान करके लागू करनेका प्रयत्न करना चाहिए, तो उसका भाव भासित होवे। भावभासनमें विभिन्न भावोंका 'लगना - To Feel' होता है। अतः भावभासन जो है वह विचारज्ञानसे आगे बढ़कर अनुभवज्ञानके प्रति ले जानेकी प्रक्रिया है। स्वरूपका भावभासन ज्ञानलक्षणके अनुभवांशसे प्रतीतरूप होता है। जो स्वानुभवका अंग है। मुमुक्षुको आत्मकल्याण द्वारा आत्मलाभका भाव भासित होवे और मूल्यांकन आये तो परमार्थमार्गके प्रति आगे बढ़ना सहज होवे। (१३८२)



नवम्बर - १९९४

बंधन और प्रतिबंधमें अंतर है। ज्ञानीको किसी भी द्रव्य - भावका प्रतिबंध नहीं है। क्योंकि ज्ञानमय भावरूपसे सर्वसे सर्वथा भिन्नरूप अपना अनुभव रहता है, जो कि प्रत्यक्ष है। पूर्व प्रारब्धवशात् भले ही बाहरके संयोगोंके बंधनमें व्यवहारिक मर्यादामें रहते हो, फिर भी उन्हें

इसका प्रतिबंध नहीं होता। जब कि अज्ञानदशामें कर्मजनित पर्यायभावमें चलते हुए अनेक विभावमें अटक रहे जीवको उन-उन भावों और उदय प्रसंगोंका प्रतिबंध होता है। (१३८३)



परलक्षी शास्त्रज्ञानकी धारणामें संतुष्ट होकर, सिर्फ शास्त्रके अभ्यासमें अटकनेसे, आत्मकल्याण गौण हो जाता है। वह एकांत ज्ञानमार्ग है। और वैसे ज्ञानके अमलीकरणका पुरुषार्थ नहीं हो पानेसे, प्रयोजनभूत विषय पर लक्ष नहीं रहता। परिणामतः संभवतः नुकसान आ पड़ता है; शास्त्रीय अभिनिवेश हो जाता है। जिसके कारण अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं। निःशंकता पैदा नहीं होती, विकल्प कभी शांत नहीं होते, (और) ज्ञानकी शुष्कता पैदा होकर उन्मत्तता आ जाती है। उघाड़ ज्ञानमें संतुष्ट हो जानेका बनता है। (१३८४)



प्रश्न :- मुमुक्षुकी भूमिकाके योग्य यथार्थ ज्ञान, क्रिया और भक्तिका प्रकार कैसा होता है ?

समाधान :- मुमुक्षुको यथार्थ समझरूप ज्ञान ही साधन है। प्रारम्भमें आत्मकल्याणके लक्षसे तत्त्व विचार होता है। सुविचारणामें केन्द्रस्थानमें खुदका परम हित ही रहता है, अतः समझको अमलीकरणरूप प्रयोगमें लागू करनेका प्रयास चले वही क्रिया - यथार्थक्रिया है, जिससे ज्ञानमें विशेष निर्मलता आती है, दर्शनमोहका अनुभाग भी घटता है और सत्पुरुषका - सजीवनमूर्तिका स्वरूप पहचाननेमें आता है, तब उनके प्रति - मोक्षदाताके प्रति परमभक्ति प्रेमरूप आती है, जो यथार्थ भक्ति है। एक न्यायसे तीनों ज्ञानकी ही पर्याय हैं। आत्महितका मूल्यांकन, समझ हुई हो उसका अमलीकरण और सत्पुरुषकी पहचानसे उत्पन्न बहुमान - प्रेमभक्ति, अचल प्रतीति। (१३८५)



प्रश्न :- तत्त्वज्ञानका अभ्यास इत्यादि कई सालों तक हमने किया फिर भी आत्महितमें आगे बढ़ना क्यों नहीं हो पाया ?

समाधान :- या तो शुद्ध अंतःकरणपूर्वक आत्मार्थिता उत्पन्न नहीं हुई, या जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्रदान किया उनके प्रति भक्तिरूप माहात्म्य नहीं आया। इन दोमें से एक भी कारणकी जब तक क्षति रहती है, तब तक मुमुक्षु आगे नहीं बढ़ पाता। (१३८६)



प्रश्न :- अनेक ग्रंथ पढ़ने पर भी ऐसा लग रहा है कि अभी भी जो चाहिए, वह इसमेंसे मिल नहीं रहा है ? ऐसा क्यों ?

समाधान :- सभी शास्त्रवचन परिभाषारूप होनेसे मार्गके मर्मकी अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रामें उसमेंसे नहीं होती। अतः उसमेंसे मर्म पकड़ना सुलभ नहीं है; प्रयोग - ज्ञानी / उत्कृष्ट मुमुक्षुके प्रत्यक्ष परिणमनमें वह (परमार्थ) विशिष्ट प्रकारसे व्यक्त होता है, अतः प्रत्यक्षयोगमें वह समझमें आता है; जब समझमें आता है तब वैसा बोध आत्मामें असर करता है, तब वह परिणमन अन्यको परिणमन लानेमें कारण बनता है। इसीलिए प्रत्यक्षयोगरूप सत्संगका अद्वितीय महत्त्व सर्व ज्ञानियोंने प्रकाशित किया है। जो अनुभवनीय है। (१३८७)



तत्त्वज्ञानकी समझ जिसे हुई हो, उसे उस समझका अनुभव करनेका प्रयास अवश्य करना चाहिए। क्योंकि तत्त्वज्ञानका विषय सिर्फ व्याख्याका विषय नहीं है, परन्तु वह अनुभवका विषय है। यदि तथारूप प्रयत्नसे भावभासन नहीं किया जाये, तो समझके विषयमें जीवको कल्पना हो जाती है, और उसमेंसे विपर्यासका जन्म होता है, जिसका फल दुःख है। (१३८८)



जिज्ञासा :- आत्मकल्याणके उपायकी मुख्य चाबी (Master Key) कौनसी है ?

समाधान :- आत्म-हितरूप जो प्रयोजन, उसकी तीक्ष्ण और सूक्ष्मदृष्टि होना वह आत्म-सिद्धिकी मुख्य चाबी है। उस कारणसे मार्ग सरल होता है और मार्गमें तेजीसे आगे बढ़ना हो सकता है। इसके अलावा आत्महितकी सूझ (भी) अंदरसे आती है, दृष्टि निर्मल होने लगती है। जिसने उक्त दृष्टिको साध्य की है, उसका परमार्थ मार्गमें चमत्कारिक विकास होने लगता है। (१३८९)



मुमुक्षुको अगर अपनी योग्यताका भान हो, तो वहाँसे आगे बढ़नेका जो वर्तमान प्रयोजन, उसकी सूझ / समझ आती है, वरना प्रयोजनके विषयमें लक्ष नहीं जाता। साथ ही साथ पूर्णताका ध्येय भी होना चाहिए, कि जिससे ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें स्थित धर्मात्माओंको पहचाननेका प्रयोजन (भी) यथार्थरूपसे समझमें आये और भावना उत्पन्न होवे अथवा भावनाकी वृद्धि होवे। अंतिम प्रयोजन पूर्ण सुखका है।

प्रयोजनकी सूक्ष्म व तीक्ष्ण दृष्टिमें सर्व पर्यार्योका विकास गर्भित है। और वहीं वर्तमान प्रयोजन व अंतिम पूर्णताका प्रयोजन - दोनोंकी सुसंगतता व सुमेल सधता है। जिसके कारण चुकनेका अवकाश नहीं है। (१३९०)



दिसम्बर - १९९४

सुपात्र - उज्ज्वल आत्माएं अनुकूल या प्रतिकूल - दोनों प्रसंगोंमें स्वतः सहज वैराग्यमें परिणमन करते हैं - यह मुमुक्षुकी परिणमनशीलता है। इसलिए सामान्य जनकी माफिक मुमुक्षु अनुकूलतामें नहीं फँसता और प्रतिकूलताके घेरेमें भी नहीं आता। (१३९१)



आत्मकल्याणकी यथार्थ भावनामेंसे जब सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगकी अत्यंत-अत्यंत आवश्यकता भासित होती है, तब 'आत्मजोग' उत्पन्न होता है। 'अंतरभेद जागृति' होनेके लिए तथारूप आत्मजोग उत्पन्न करना चाहिए।

सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगमें प्रतिबंधक भाव / परिणति टूट जाती है और अंतरमेंसे अपूर्व परिणाम सहित जागृति आती है। अथवा 'अंतरस्वरूपका रहस्य' ('अंतरभेद') भास्यमान होकर जागृति आती है। (१३९२)



प्रश्न :- परपदार्थकी इच्छापूर्वक प्राप्ति हो, वहाँ दुःख कैसे लगे ? उसमें तो सुखानुभव होना सहज है, ऐसा होनेका क्या कारण है ?

समाधान :- जब तक यथार्थरूपसे ज्ञानमें निर्मलता न आये तब तक सुखाभासमें 'वास्तविक सुखका' अनुभव होता है। ऐसी भूल यथार्थरूपसे दर्शनमोहका अनुभाग घटने पर पकड़में आती है। तब उस निर्मलतासे ज्ञानमें सुखका रूप मालूम पड़ता है। और आत्मामें अनन्त सुख है उसका निश्चय होता है। आकुलतारूप दुःख इच्छामें रहा है, उसमें सुखका अनुभव होना, यह ज्ञानका विपर्यास है। (१३९३)



आत्महितमें वास्तविक साधन तो खुदके परिणाम ही हैं। परन्तु जब परिणाममें सहज जागृति न आये तब अंतरंग साधन हेतु सत्संग, सत्शास्त्र आदि बाह्य साधन उपकारी हैं, उसमें भी सत्संगकी मुख्यता रखने योग्य है। अंतर साधनके हेतु बाह्य साधनको उपकारी गिनने योग्य है। यदि बाह्य उपचरित साधनके निमित्तसे अंतरमें जागृति नहीं आयी तो, बाह्य साधनको साधनका उपचार भी लागू नहीं होता, परन्तु वह सिर्फ आडंबररूप रह जाता है।

(१३९४)



जीव यदि आत्मकल्याणका निश्चय / निर्धार करे तो तुरंत ही पात्रता सहजमात्रमें प्रगट हो जाये। शुद्ध परिणमन करनेके अनंत सामर्थ्य स्वभाव स्वरूपकी प्रतीति करानेवाले इस 'विलक्षण'

को अनुभवसे समझने योग्य है। यह अनन्त सामर्थ्यरूप स्वभावका प्रभाव है; कि इस प्रकारसे सहजमात्रमें पात्रता प्रगट होती है। जिसके आधारसे जीवको ऊपर- ऊपरकी दशा सहज प्रगट होती है। (१३९५)



जब तक तत्त्व अभ्यासमें ऊपर-ऊपरसे प्रश्न / जिज्ञासा होती है, तब तक प्रयोजन पर लक्ष नहीं होता। जिसके कारण प्राप्त समाधान कार्यकारी नहीं होता है अथवा प्रयोजनके तीक्ष्ण दृष्टिकोणके बिना तत्त्वकी गहराईमें नहीं जा सकते। ऐसी परिस्थितिमें समाधान भी ऊपर-ऊपर ही रहता है, (और) वही का वही प्रश्न रहा करता है। (१३९६)



परोक्ष ज्ञानीपुरुषके उपदेशको, प्रत्यक्ष तुल्य जानकर उसका अंगीकार कर्तव्य है, परन्तु इससे अगर प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषका निषेध आये, तो वह योग्य नहीं है। उपदेश ग्रहण करनेके लिए परोक्ष ज्ञानीको प्रत्यक्षवत् स्वीकार करनेमें लाभ है, हानि नहीं। उन्हें प्रत्यक्षवत् मानकर भक्ति करनेमें भी हानि नहीं है, परन्तु ऐसे प्रकारमें अगर यथार्थता नहीं हो तो, प्रत्यक्ष ज्ञानीका अस्वीकार होकर, विरोध आता है, जो कि बड़ा विपर्यास है। (१३९७)



जैसे समकितका मूल 'सत्' की प्रतीति है, वैसे आत्मज्ञानका मूल आत्मविचार है; आत्मकल्याणका निर्धार है, कि जिससे यथार्थता उत्पन्न होती है।

जैसे सत्पुरुषकी प्रतीति, और स्वरूपकी अनुभवांशसे प्रतीतिरूप कारणमें, कार्यके उपचारसे उसे समकित कहनेमें आता है, वैसे आत्मविचाररूप यथार्थ सुविचारणारूप कारणमें आत्मज्ञानका उपचार करनेमें यथार्थता है। दोनों प्रकारके परिणाम समकालमें होते हैं।

परिपूर्णदशारूप परमात्मपदकी यह मजबूत नीव है। जिस नीवकी मजबूती पर सिद्धपद तककी जोड़ाई होती है। मुमुक्षुजीवके लिए यह महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी ताकतसे उपासनीय है; पूरे उद्यमसे इसकी प्राप्ति करने योग्य है। (१३९८)



जनवरी - १९९५

संसारकी अशरणता, अनित्यता, असारता आदि भासित हुए बिना जीव संसारसे पीछे हटकर आत्मकल्याणके मार्ग पर नहीं चढ़ सकता। (लेकिन) अंतरकी गहराईसे - किसी भी प्रकारके राग-द्वेष पूर्वक नहीं - ऐसा होना चाहिए। (१३९९)



आप्तपुरुष / सजीवनमूर्तिकी मुद्रा - अवलोकनसे, 'स्वरूपावलोकनदृष्टि' परिणमित होती है। 'प्रत्यक्षयोग' का यह सर्वोत्कृष्ट माहत्परूप रहस्य है। दर्शनमोहका अनुभाग कम होने पर 'स्वरूपावलोकनदृष्टि' परिणमित होती है। 'परिणमन' परिणमनको उत्पन्न करता है - यह सिद्धांत यहाँ पर प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होता है। (१४००)



आत्मा निर्मल होनेके लिए आत्मारूप ऐसे ज्ञानीपुरुषकी निष्काम भक्ति योगरूप संग - वह सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बहुत शास्त्रोंका व तीर्थकरदेवके 'मार्ग बोध' को देखा जाये तो वह यही है। ऐसे मार्गबोध पर कोई महाभाग्यका लक्ष जाता है, वह संसार तिर जाता है, सुगमतासे तिर जाता है। (१४०१)



जिज्ञासा :- सत्पुरुषकी पहचान होनेके लिए योग्यता कैसी होती है ?

समाधान :- सत्समागमके 'योग' से, अलौकिक पुण्योदयसे, कुछ अंशमें तथा प्रकारकी योग्यता प्राप्त होने पर, दृढ मोक्षेच्छासे मोक्षार्थीपना प्रगट होनेके बाद, प्रत्यक्षयोगमें प्राप्त उपदेशको अवधारण - अमलीकरण करने पर, 'अंतर स्वरूपके प्रति वृत्तिका' परिणमन होने पर, (अर्थात् बाह्यदृष्टि - वृत्ति जानेसे - बाह्यत्याग व ज्ञानके बाह्य क्षयोपशमकी महिमा छूट जानेसे - वह दृष्टिकोण प्राप्त होता है।) जीव ज्ञानीके अंतर (सम्यक्) परिणमनको - अंतर्मुखताको एवं वीतरागताको पहचान सकता है। इसके लिए सत्समागमकी विशेष जरूरत है। (१४०२)



गुण-दोषके प्रकरणमें बुद्धिगम्य विषय होनेसे, कई जीव उपदेशक होकर उसका विधि-निषेधक उपदेश देते हैं, उसमें वाक्पटुता, और युक्ति - दृष्टांत द्वारा आम समाज आकर्षित होता है। जब कि गुणका आविर्भाव होनेका विज्ञान, सिर्फ आत्मज्ञ ज्ञानीपुरुषके अलावा अन्यत्र नहीं होनेसे, वह उपदेश सफलताको प्राप्त नहीं होता। उसमें, बुद्धिपूर्वक नयी विधिकी भूल उत्पन्न होती है, जिससे उन्मार्गकी उत्पत्ति होती है, जो कि सामान्य जनकी समझमें नहीं आता, तत्त्वज्ञ उसे जानते हैं। (१४०३)



'ज्ञानीके मार्गका' अनुसरण करनेका ही जिसका निश्चय है, वह सहजरूपसे उन्मार्गसे और स्वच्छंदसे बच जाता है। उसको सन्मार्ग सुगमतासे प्राप्त होता है। (१४०४)



सम्यक्दर्शन आदि मोक्षमार्गकी अंतरसे भावना हुई हो - जरूरत लगी हो उसे परिभ्रमण,

जो अनन्तकालसे हो रहा है, उसकी चिंतना हो आती है। यह चिंतना वृद्धिगत होकर वेदना / झुरनामें परिणमित होती है, तब उस जीवके दर्शनमोहका गलना शुरू होता है और यथार्थ उन्नतिक्रममें प्रवेश होता है। इसके सिवा दूसरे किसी भी प्रकारसे यथार्थताका प्रारंभ नहीं होता अथवा वर्तमान एवं भावि संयोगोंकी चिंताके घेरेमेंसे यथार्थ प्रकारसे जीव बाहर नहीं निकल पाता, और उस घिरावमें रहकर जो भी धर्म-साधन किया जाये, वह निष्फल जाता है, क्योंकि उसमें क्रम विपर्यास है अथवा वह कल्पित साधन है। (१४०५)



किसी भी जीवको जहाँ प्रेम है, वहाँ उस प्रेममूरत आत्माकी एकाग्रता होती है। जिसे सद्गुणका प्रेम है, उसे सद्गुणोंके प्रति प्रेम उत्पन्न होना यह सहज - स्वाभाविक है। आत्मा स्वयं दिव्यगुणोंका भंडार है। जिसको ऐसा भासित होता है, उसको निजस्वरूपका परम प्रेम प्रगट होकर, सहज एकाग्रता सधती है। एकाग्रताके लिए कृत्रिम प्रयास योग-ध्यानादि कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि प्रेमके बिना वास्तविक एकाग्रता नहीं हो सकती। (१४०६)



फरवरी - १९९५

सत्पुरुषके योगमें (कोई) जीव भवभ्रमणकी चिंतनामें आकर मार्गके यथार्थ क्रमको प्राप्त होता है, तो कोई जीव भवभ्रमणसे छूटनेके लिए मार्गदृष्टा ऐसे सत्पुरुषकी खोज करता है। दोनों प्रकारसे आत्मोन्नति संभवित है। (१४०७)



एक मरणकी या मृत्युके कारणकी जीवको जितनी गंभीर चिंता हो जाती है, उससे अल्प चिंता अनन्त जन्म-मरण व उसके कारणकी भी नहीं होती हो ! तो जीवको 'मार्ग' कैसे सूझे ? अथवा उसे दृढ मोक्षेच्छा कैसे प्रगट होगी ? (१४०८)



'संस्कार नयसे आत्मा अन्य पदार्थके संस्कार झेलनेवाला है।' (प्रवचनसार) यह जीवका पर्याय स्वभाव है। इसलिए मुमुक्षुको संगका विवेक होना आवश्यक है। संगकी असर होती ही है। अतः विवेकी सत्संगका आश्रय करता है। अन्य संगके योगसे यह जीव असंग स्वरूपको भूला हुआ है। उक्त सिद्धांतके कारण श्रीगुरुके चरण सानिध्य - सेवनका श्री जिनका उपदेश है, जो कि परम हितकारी है। (१४०९)



प्रश्न :- परमागमोंमें सत्पुरुषके 'प्रत्यक्ष योग' के महत्त्वका उल्लेख क्यों अधिकांश देखनेमें

नहीं आता ?

समाधान :- जैसे महान शास्त्रोंकी रचना उस कालमें संक्षिप्त सूत्रों द्वारा हुई तथा शास्त्रकर्ताको उसका विस्तार करनेकी ज़रूरत नहीं लगी, वैसे इस सामान्य समझकी बातको कहने - उसके ऊपर ज़ोर देनेकी आवश्यकता शायद नहीं लगी हो ! ऐसा संभवित है। परन्तु इससे वस्तुस्थितिमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। किसी भी महात्माका अभिप्राय वह सर्व आप्तपुरुषोंका अभिप्राय है। यह निःशंक है। वास्तवमें तो ऐसी बातें सत्पुरुषको खुदको कहनेका - कहनी पड़े ऐसा हीन समय आया, ये स्थिति बहुत करुणाजनक है ! फिर भी इसमें भी विवाद होता है ! हे ! प्रभो ! कैसा है ये कलियुग ! (१४१०)



प्रायः सर्व धर्ममतमें सद्गुणका आदर व अवगुणका अनादर मान्य है और इसके लिए सभी धर्ममें स्व-मति अनुसार इसका प्रतिपादन भी देखा जाता है। परन्तु इस पर्यायाश्रित बोधका ग्रहण करते वक्त, द्रव्यदृष्टिके अभावमें पर्यायमें किसी भी गुणके ग्रहण होनेके साथ ही साथ, पर्यायदृष्टिके कारण, उसका अहम् भी साथमें हो ही जाता है, यह अनिवार्यरूपसे हो जाता है, उसका निवारण कैसे हो ? यह सम्यक्ज्ञानके बिना समझमें आये, ऐसा नहीं है। इसी वजहसे जिनमार्गमें सम्यक्त्वकी महिमाका अलौकिक प्रतिपादन है। अन्य (मत) में कहीं पर भी इस विषयका ऐसा प्रतिपादन नहीं है। (१४११)



जैन शास्त्रके उपदेशबोधको ग्रहण करनेमें भी 'सम्यक् रूपसे' पर्यायका अहम् नहीं हो - नहीं हो जाये, इसकी सावधानी रहनी आवश्यक है, वरना अन्यमतकी तरह एकांत होकर, पर्याय सम्बन्धित ज़ोर असंतुलित होकर, सम्यक्त्वसे दूर होनेका बनता है और पर्यायका अहम् उत्पन्न होता है, दर्शनमोहकी वृद्धि होती है। (१४१२)



भवभ्रमणकी चिंतना नहीं होती हो उस जीवको, खुदके प्रतिबंधको समझकर - अवलोकन करके उसे दूर करना चाहिए। जब तक प्रतिबंध रहेगा तब तक जीव आगे नहीं बढ़ सकता, अर्थात् यथार्थ मुमुक्षुतामें भी प्रवेश नहीं कर सकता। (१४१३)



सम्यक्दर्शनके लिए जीव तत्त्वज्ञानका अभ्यास एवं सत्शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं, परन्तु जब तक परिणमनमें सुधार होनेके यथार्थ क्रममें सहजतासे प्रवेश नहीं हो, तब तक वैसे अभ्यासको परलक्षी समझने योग्य है। अगर स्वलक्षी अभ्यास हो तो उसकी सीधी असर परिणमन पर

आती ही है। अर्थात् वह जीव सिर्फ विचार - विकल्पसे संतुष्ट नहीं हो जाता परन्तु परिणमनके लिए प्रयत्नशील रहता है। (१४१४)



संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तत्त्वको समझने योग्य क्षयोपशमको तो प्राप्त है ही, परन्तु प्रायः वह परलक्षी होता है, इसलिए वह सफल नहीं हो पाता। जब जीवको निज कल्याणकी अंतरकी भावनासे निर्मलता आती है, तब आत्मकल्याणका दृष्टिकोण साध्य होता है और समझमें यथार्थता आती है, तब स्वलक्षीपना आता है। (१४१५)



सत्पुरुषके प्रति परम विनय (परमेश्वरबुद्धिपूर्वक) उत्पन्न नहीं हो, तब तक जीवको मुमुक्षुता वर्धमान होनेमें प्रतिबंध है। परम प्रेमार्पण होने पर यह प्रतिबंध मिटता है। जब तक ऐसा प्रतिबंध है, तब तक योग्यता रुक जाती है। चार प्रतिबंध (समाज, कुटुम्ब, शरीर, संकल्प - विकल्प) के उपरांत यह पाँचवा प्रतिबंध (परम विनयकी न्यूनता) मिटने पर मार्ग मिलता है - यह वस्तुस्थिति है। (१४१६)



सत्पुरुष स्वयंके परिणमनकी न्यूनताको चाहे कैसे भी शब्दोंमें दर्शाते हो, इसे देखकर मुमुक्षुजीवको उसकी मुख्यता नहीं होनी चाहिए, बल्कि इतना ही नहीं उस वक्त उनकी सरलता, नम्रता आदिके दर्शन करके उनकी महानताके दर्शन होने चाहिए। सत्पुरुषमें न्यूनता देखनेसे अभक्ति होती है - स्वच्छंद होता है, दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। (१४१७)



जिज्ञासा :- भेदज्ञानका प्रयोग मुमुक्षुको भावभासन होनेके पहले किस प्रकार होता है ? और उसमें आभास उत्पन्न नहीं हो, ऐसी निःशंकता रह सकती है क्या ?

समाधान :- अवलोकन यदि आत्मकल्याणके लक्षसे, यथार्थ चले तो आभास उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं है। क्योंकि यथार्थ अवलोकनमें ज्ञानकी निर्मलता प्राप्त होती है और बढ़ती जाती है। अवलोकन पद्धतिसे ज्ञानकी शुद्धता, व्यापकता और वेदकता द्वारा अगर भिन्नताका एहसास हो तो स्वभावका भावभासन होनेका अवसर आता है, और प्रयोगसे प्राप्त विकास द्वारा निःशंकता रहती है। जहाँ कल्पित भाव होते हैं, वहाँ आभास होता है - हो जाता है और शंका रहती है। (१४१८)



मार्च - १९९५

ज्ञानीकी वाणीमें खुदकी ज्ञानदशाकी बात आती है और खुदको भूतकालमें अनुभवमें आयी हुई मुमुक्षु भूमिकाकी बात भी आती है। मुमुक्षुजीवको मुमुक्षु भूमिकाकी बात / विषय विशेष प्रयोजनभूत एवं उपकारी है - ऐसा अनुभव मुमुक्षुको होना चाहिए वरना यथार्थता नहीं है - उसमें भी किसी उत्तम मुमुक्षुका प्रत्यक्षयोग विशेष उपकारी होता है, क्योंकि वहाँ तथारूप उत्तम योग्यता - परिणमन प्रत्यक्ष देखने मिलता है और इसलिए उसकी असर तुरंत बहुत ज्यादा प्रमाणमें होती है। यहाँ पर भी प्रत्यक्ष-परोक्षका नियम कार्यकारी होता है। वाणी तो परोक्ष है - यह सत्संग रहस्य है। (१४१९)



परिणामका स्वभाव एकत्व करनेका है। - स्वरूपमें ही एकत्व रहे वैसा द्रव्य-स्वभाव है, परन्तु स्वभावसे अनभिज्ञ ऐसा यह जीव अनादिसे परमें एकत्व करके - ममत्व करके दुःखी हो रहा है। (१४२०)



जीवको अनादिसे संयोगकी कामना, सुखबुद्धिके कारण रही है, जिसके कारण आत्मकल्याणके साधन सत्संगादि निष्फल गये हैं। जिनके वचनयोगके बलसे जीव निर्वाणमार्गको प्राप्त हो, वैसी सजीवनमूर्तिका अनेकबार योग हो चुका है फिर भी, उनकी पहचान एकबार भी नहीं हुई। क्वचित् जीवने पहचान करनेका प्रयास भी किया है, परन्तु उक्त सुखबुद्धिको वैसी की वैसी रखकर किया है, जिसके कारण दृष्टि मलिन रही है। इसलिए अंतरदृष्टिके अभावमें ज्ञानीपुरुषकी पहचान नहीं हुई है - नहीं होती है। संयोगकी कामनाकी वजहसे जीवको बाह्यदृष्टि रहा करती है। जिसके कारण ज्ञानीकी अंतर परिणति दिखाई नहीं देती है। (१४२१)



महात्मा कदाचित् खुदके अल्प दोषको बड़ा करके (भी) दिखाते हो, परन्तु मुमुक्षुजीवको इसे गिनना नहीं चाहिए, अर्थात् दोष गिननेमें अभक्तिके परिणाम हो जायेंगे, ऐसा नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसे वचनमें उन महात्माकी सरलता, नम्रता, निर्दोषता आदि सद्गुणोंके दर्शन करने योग्य है। (१४२२)



सत्पुरुषकी यथार्थ भक्ति प्रगट होने पर, उनकी आत्मचेष्टामें ही वृत्ति रहा करे, उनके अंतर पुरुषार्थका बहुमान निरंतर रहा करे, (और) सिर्फ वे ही नज़रमें रहे - उनके अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होने पर, स्वच्छंद और प्रतिबंध मिटे और सहज मात्रमें आत्मबोध प्रगट हो।

ऐसी भक्तिको नमस्कार हो ! पुनः पुनः नमस्कार हो !! (१४२३)



मुमुक्षुजीव मार्गप्राप्तिके लिए आगे बढ़ना चाहता है तब 'आगे कैसे बढ़ना ?' इस विषयमें ज्ञानीको प्रश्न पूछता हो, परन्तु जिस प्रकारके प्रतिबंधके कारण अटकना होता है, उन दोषोंका निवेदन भी न करे और सिर्फ प्रश्नोंके उत्तर प्राप्त करके आगे बढ़ना चाहता हो, तो उसमें यथार्थ मार्गप्राप्तिकी भावनाका सद्भाव नहीं है। वास्तवमें जिसको ज़रूरत लगी हो, उसको ऐसी भूल नहीं होती। (१४२४)



आगम विवक्षासे मतिज्ञानावरणादिका जितना क्षयोपशम (उघाड़) हो, उतना निरावरणपना गिना जाता है, परन्तु अध्यात्म पद्धतिमें तो जब देहादि अध्यास मिटे और अन्य द्रव्य- भावमें एकत्व मिटे और उपयोग स्वभावमें परिणमित हो तब निरावरणपना प्राप्त होता है, ऐसे निरावरणपनेका उघाड़के बढ़ने-घटनेके साथ सम्बन्ध नहीं है। (१४२५)



आत्मकल्याणकी इच्छासे धर्मसाधन करनेवालेको, यह वारंवार जाँच करती रहनी चाहिए, कि चलती हुई प्रवृत्तिसे क्या लाभ हुआ ? अगर यथार्थता व निर्मलता ज्ञानमें नहीं आयी तो अवश्य किसी न किसी प्रकारसे विपर्यास हो रहा है, ऐसा विचार कर्त्तव्य है। और सत्समागममें उस विपर्यासको मिटाना चाहिए। (१४२६)



जिसे आत्मकल्याणकी मुख्यता होती है, उसे आत्मकल्याणके मुख्य हेतुभूत ऐसे सत्संगकी मुख्यता रहती है। वह उस प्रकार कि सर्व प्रकारके प्रतिबंधको तोड़कर वह सत्संगकी उपासना करेगा। जिसको यथार्थ सत्संगकी उपासना करनेका विवेक / प्रयास नहीं है; उसको वास्तवमें आत्मकल्याण करना (ही) नहीं है। (१४२७)



आत्म-परिणामकी निर्मलता होनेके लिए सत्पुरुषकी 'निष्काम भक्ति' मुमुक्षुको उत्कृष्ट कारण है। ऐसी निर्मलता समझकी यथार्थतामें और प्रयोजनकी सूक्ष्मताकी अंगभूत है। (१४२८)



जिसके पास मनोबल हो, वह यदि प्रथम आत्मकल्याणका दृढ निर्धार करे, तो वैसा दृढ मोक्षेच्छाका भाव आत्मबल उत्पन्न होनेमें कारण बनता है, वरना प्रायः मनोबल हठ प्रयोगका कारण बनता है। (१४२९)

किसी भी परपदार्थकी वांछा जीवके परिणाममें मलिनता और आकुलता उत्पन्न करती है, अतः ऐसी वांछापूर्वक हो रही धर्म-प्रवृत्तिके कालमें 'दृष्टि' मलिन होती है, और विभिन्न धर्म साधन करने पर भी उस दृष्टिसे आत्माको आवरण आता है। (१४३०)



अप्रैल - १९९५

जिज्ञासा :- उत्कृष्ट पात्रतावान मुमुक्षु ज्ञानीपुरुषको पहचान सकता है, परन्तु मंद अथवा मध्यम दशावान मुमुक्षुको वर्तमान प्रयोजनभूत दृष्टिकोणसे क्या उपाय कर्तव्य है ?

समाधान :- मंद अथवा मध्यम दशावान मुमुक्षुको उत्कृष्ट पात्रतामें आना चाहिए, और तदर्थ उसे उत्कृष्ट पात्रतावान मुमुक्षुका संग यथार्थरूपसे कर्तव्य है - एक मात्र कर्तव्य है। क्योंकि उत्कृष्ट पात्रतावानका परिणमन प्रत्यक्षरूपसे देखने मिलता है, और जिसके कारण परिणमनमें आना सहज बनता है। (१४३१)



जिज्ञासा :- जो जीव निज स्वरूपसे अनजान है, वह निज स्वरूपके साथ कैसे प्रेम कर सकता है ? अपनी आत्मासे प्रेम करना वह पराभक्ति है या अपने प्रभु (उपकारी सत्पुरुष) के साथ प्रेम (ऐक्यभाव) करना वह पराभक्ति है ? ऐसे प्रेमका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है ?

उत्तर :- मुमुक्षुको प्रथम (स्वरूपनिश्चयके पहले) प्रत्यक्ष उपकारी ज्ञानीके प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है। ऐक्यभावको प्राप्त हो, ऐसी अत्यंत भक्तिका निष्कामभावसे उत्पन्न होना, वही उसका आत्माके प्रति प्रेम है, क्योंकि उसके भावमें सत्पुरुष और आत्मा अलग-अलग नहीं है। उसीका नाम ऐक्यभाव है अथवा पराभक्ति है। उसका स्वरूप ऐसा है कि एक क्षण भी उनके वियोगमें रहना, वह असह्य बन जाता है। सत्पुरुष ही उसका जीवन बन जाते हैं। (१४३२)



जिज्ञासा :- सिर्फ सत्पुरुष नहीं, परन्तु वर्तमान उपकारी सत्पुरुषके प्रति पराभक्ति उत्पन्न होनेके पहले भक्तिके जो-जो प्रकार है, वह प्रकार और उसके आनुषंगिक परिणामोंका स्वरूप कैसा होता है ?

समाधान :- उपकारी सत्पुरुषके प्रति पराभक्ति उत्पन्न होनेके पहले, परमेश्वरबुद्धिपूर्वक सर्वार्पणता, आज्ञाकारिता सहित अपूर्व बहुमान एवं अत्यंत भक्तिके परिणाम होते हैं। ये परिणाम घनिष्ट होकर ऐक्यभावसे पराभक्तिमें परिणमित होते हैं। (१४३३)

जिज्ञासा :- ओघभक्ति और यथार्थभक्तिमें क्या अंतर है ? ओघभक्तिके गुण-दोष क्या-क्या है ? यथार्थ भक्तिके साथ उसके आनुषंगिक परिणाम कैसे होते हैं ?

समाधान :- सत्पुरुषकी पहचानपूर्वक यथार्थ भक्ति होती है और बिना पहचान ओघभक्ति होती है। ओघभक्ति निष्कामरूपसे सिर्फ आत्महितके लक्षसे हो तो निर्मलता उत्पन्न होती है और दर्शनमोह पतला पड़ता है - अन्यथा [भक्ति रहित (जीवको)] स्वच्छंदादि दोष, अहम्भाव इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु अगर ओघभक्तिका अभाव करनेका लक्ष न रहा तो दर्शनमोह बढ़नेकी संभावना है अथवा सकामता उत्पन्न होनेकी संभावना है।

यथार्थ भक्ति आने पर सर्वार्पणबुद्धि आकर, पंचविषयादि, प्रकृति दोष फीके पड़ते हैं। स्वच्छंद, कदाग्रहादि टल जाते हैं, (और) सत्संग, आत्मरुचि इत्यादि परिणाम सहज रहा करते हैं। (१४३४)



मुमुक्षुकी भूमिकामें मुख्यतया विपरीत अभिप्रायका परिणामन बदलकर यथार्थता आती है। और मोक्षमार्गमें साधक ज्ञानीको आचरणका परिणामन यथार्थ होता है। अभिप्रायमें यथार्थता आये बिना कोई अगर आचरण बदलना चाहे, तो उसमें यथार्थता नहीं आती। (१४३५)



आत्मस्वभाव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसलिए स्वभावरूप परिणामन भी सूक्ष्म है। उसमें भी ऊपरकी भूमिकामें सूक्ष्मता विशेष है। सर्वसे अधिक सूक्ष्मता शुक्लध्यानके परिणामोंकी (आगम प्रसिद्ध) है। इसी वजहसे बाह्य किंचित्मात्र दोषित प्रवृत्ति नहीं होने पर भी शुक्लध्यान परिणत सर्वज्ञ वीतराग परमात्माकी पहचान होनी अति दुर्गम रही है। बाह्यतत्त्वसे अंतर आत्मगुणकी पहचान नहीं होती। अतः सामान्य मुमुक्षुको समवसरणमें विराजमान जीवंत स्वामीकी पहचान नहीं हो सकती।

मुनिराज भी निष्परिग्रही होते हैं, उनका बाह्याचरण भी निर्दोष होता है, फिर भी उनकी पहचान नहीं होनेका कारण विचार करने योग्य है। उनका अंतर परिणामन अति सूक्ष्म होनेसे सामान्य मनुष्यकी समझमें नहीं आता। उनको सिर्फ सम्यक्दृष्टि ही पहचान सकते हैं। क्योंकि उन्हें पूर्ण स्वरूपकी पहचान और अनुभवपूर्वक सजातीय परिणामन प्रगट हुआ है।

अविरत सम्यक्दृष्टिकी दशा अटपटी है। अंतरमें निज परमात्म स्वरूपकी प्रत्यक्ष अनुभवदशा प्रगट होने पर भी, बाहरमें प्रारब्ध उदय अनुसार प्रवर्तते हैं - इसलिए जिसकी अंतरात्मवृत्ति हो वही उन्हें पहचान सकता है, बाह्य दृष्टिवानको प्रतीति नहीं आ सकती।

ऐसी परिस्थितिमें सजीवनमूर्तिकी पहचान दुर्लभ है। उत्कृष्ट मुमुक्षुका परिणामन सामान्य मुमुक्षुको पकड़में आ सके वैसा होता है और वह भूमिकामें प्रेरणास्पद होता है। अतः वर्तमान

योग्यतामें उसका प्रयोजनभूत कार्य होनेमें वह निमित्त पड़ता है। अतः सामान्य मुमुक्षुको उत्कृष्ट मुमुक्षुका सत्संग सीधा उपकारी होता है। - यह सत्संगका रहस्य है। (१४३६)



मई - १९९५

जिनको संयोगोंकी चिंता रहा करती है, वे सब जड़की चिंतामें पड़े हुए हैं, उन्हें भवभ्रमणकी / आत्माकी चिंता नहीं होती। जो भवभ्रमणकी चिंतासे घिर जाता है, उसे संयोगोंकी चिंता छूट जाती है। (१४३७)



दर्शनमोहका अनुभाग कम हुए बिना, जो सिद्धांतज्ञानका अभ्यास करता है, वह क्रमभंग प्रवृत्ति द्वारा खुदको ही नुकसान करता है, अतः ज्ञानीपुरुषके बोधे हुए क्रमिक मार्ग पर चलना हितावह है। (१४३८)



अंतरकी यथार्थ भावनापूर्वक जो भी निर्णय / विचारणा होती है, उसमें यथार्थता होती है। जब कि भावुकतामें आनेवालेके निर्णयमें यथार्थता नहीं होती। (१४३९)



वर्तमान भूमिकासे आगे बढ़नेके लिए जिस मुमुक्षुकी दृष्टि प्रयोजनभूतपने कार्य करती है, उसमें यथार्थता है। यथार्थता आने पर मुख्य गुणोंके परिणमनमें Co-ordination होता है। छोटे दोष भी बड़े दिखने लगते हैं - सरलता, गुणग्राहीता इत्यादि इस भूमिकाके मुख्य लक्षण हैं। (१४४०)



तत्त्वकी परलक्षी समझ मुमुक्षुको संवेगकी उत्पत्ति होनेमें कारणभूत नहीं होती। जब कि स्वलक्षी समझसे मुमुक्षुको संवेगकी उत्पत्ति होनेसे, वह मुमुक्षुता वर्धमान होनेमें कारण बनती है। संवेगका महत्त्व समझसे विशेष जानने योग्य है। (१४४१)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास चलते हुए परिणमनके साथ मिलान करते-करते होना चाहिए। अन्यथा उस अभ्याससे आत्म प्रत्ययी लाभ नहीं है। (१४४२)



प्रतिबंधक भावोंके सामने उपदेशबोध और सिद्धांतकी विचारणा असरकारक होती है। तथापि जब तक अभिप्राय नहीं बदलता है तब तक प्रतिबंध चालू रहता है। जीवको विपरीत अभिप्राय

पलटनेके लिए पूरी शक्तिसे जूझना पड़ता है, तत्पश्चात् ही सरलतासे मार्ग प्राप्ति हो सकती है। (१४४३)



यथार्थ मुमुक्षुता - दृढ मोक्षेच्छा, यह सिद्ध-पदका मंगल शिलान्यास है। इस शिलान्यासका उत्साह कोई निराला है - अपूर्व है। (१४४४)



परमार्थमार्गका मूल्यांकन आने पर समस्त संसार गौण हो जाता है और सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगका मूल्यांकन होता है। तथारूप योगसे बीजज्ञानकी प्राप्ति होकर आत्मस्वरूपका मूल्यांकन होता है, जिससे स्वरूपमहिमा सहज उत्पन्न होती है। स्वानुभूति जो है वह स्वरूपमहिमाकी पर्याय है। गुणस्थान अनुसार तारतम्य भेद होता है। (१४४५)



कोई भी शुरू किये हुए कार्यकी यथार्थताका नाप, उस कार्यके उद्देश्य - ध्येयके साथ सम्बन्ध रखता है। ध्येयका स्तर जितना ऊँचा, उतनी कार्यकी प्रक्रियाका स्तर ऊँचा एवं यथार्थ होता है। (१४४६)



जून - १९९५

जितना सत्पुरुषका घनिष्ट संग बढ़ता जाता है, उतना उनके भीतरका रहस्य दिखने लगता है, तब निर्मल प्रेम और ऐक्यभाव उत्पन्न होकर उन्नत परिणामोंका प्रयास चालू होने लगता है। (१४४७)



मित्रताका सम्बन्ध सिर्फ हास्य - विनोदकी सीमा पर्यंत नहीं होना चाहिए, परन्तु अगर कोई कुमार्ग पर चढ़ने लगे तो उसे रोकना - वह मित्रता है। अथवा सन्मार्ग पर ले जाये वह सच्ची मित्रता है। (१४४८)



बाह्य धर्मसाधनकी प्रवृत्ति आगे बढ़नेके लिए है। जीव यदि आगे नहीं बढ़ता है, तो वही प्रवृत्ति रुकावटका निमित्त बन जाती है। कोई भी धर्म प्रवृत्ति जब Routine बन जाती है, तब प्रायः जीव वहाँ अटक जाते हैं, अतः वहाँ जागृति आवश्यक है। (१४४९)



मुमुक्षुतामें जितनी निज हितके प्रयोजनकी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण पकड़ रहे, उतनी परिणमनमें

यथार्थता रहती है - यह यथार्थता विषयक धोरण (नापदंड) है। (१४५०)



पारवारिक सम्बन्ध परमार्थकी अपेक्षासे कल्पित है। फिर भी जगतमें वह वास्तविक माना जाता है, जो मान्यता अधोगतिका कारण है। मुमुक्षुको समविचारवाले परिवारके साथ साधर्मी सम्बन्ध होना उचित है। संसार सम्बन्धसे इस जीवने परिणाम कर-करके अनन्तबार दुर्गतिमें जाकर अकथ्य दुःखोंको भोगा है - फिर भी अज्ञानके वश होकर बारबार वैसा करता है। (१४५१)



परिभ्रमणकी चिंतना / झुरना हुए बिना यथार्थ उदासीनता और मुमुक्षुताका क्रम शुरू नहीं होता है - इसलिए स्वच्छंदका त्याग करके ज्ञानीके मार्ग पर चलना योग्य है। (१४५२)



लोकसंज्ञा जो है वह तीव्र बाह्य वृत्ति है, जो कि जीवको अंतर्मुख होनेमें बाधक है - प्रतिकूल है। अतः उसे बड़ा अनिष्ट और आत्माको अत्यंत आवरण आनेका कारण समझने योग्य है। (१४५३)



सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धिरूप उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त होने पर भी 'उस दशाका अहम्' नहीं होता, क्योंकि सर्व प्राणीके प्रति दासत्व साथ ही साथ उत्पन्न होता है। - यह अद्भुत सम्यक् / यथार्थ स्थिति है, वरना भक्तवानको भी 'भक्तिका अहम्' हो जानेमें देर नहीं लगती। यथार्थ मुमुक्षुतामें सहज ऐसा होता है अर्थात् सभी पहलू यथार्थ होते हैं। (१४५४)



आत्म-उन्नतिके क्रममें यथार्थरूपसे प्रवेश होने पर, सहज ऊपर-ऊपरकी दशामें प्रवेश होता जाता है, इसलिए बादमें क्या करना ? ऐसी समस्या प्रायः नहीं रहती अथवा सहजताके कारण, कृत्रिम / कर्तृत्वके भाव नहीं आते। जैसे कि परिभ्रमणकी झुरनासे यथार्थ उदासीनताका क्रम शुरू होता है और बादमें कार्य सहज चलता होनेसे, 'क्या करना' - ऐसी समस्या खड़ी नहीं होती। (१४५५)



जुलाई - १९९५

मुमुक्षुकी प्रत्येक भूमिकामें अगर यथार्थता आये तो, वह विकसित होकर सम्यक्त्वमें परिणमित होती है। अतः मुमुक्षु भूमिकाकी यथार्थता साधक है और सम्यक्त्व साध्य है। (१४५६)

परिभ्रमणकी वेदना - परिभ्रमणके कारणभूत भावों सम्बन्धित पश्चाताप है, जिससे अंतःकरणकी शुद्धिकी प्रक्रिया होती है, विपरीत अभिप्रायोंमें फर्क पड़ता है, प्रतिबंध ढीले पड़ते हैं, और यथार्थ उदासीनतापूर्वक दर्शनमोह मंद होनेकी शुरुआत होती है। (१४५७)



किसी भी दोषका नाप, उस दोषके पीछे रहे अभिप्रायसे समझमें आता है। अभिप्रायको समझे बिना, उन परिणामोंको यथार्थरूपसे नापा नहीं जा सकता। परिणामनमें अभिप्रायका महत्त्व बहुत है। जब तक विपरीत बुद्धिसे सत्संगादि धर्म साधन किये जाते हैं, तब तक वे सफल नहीं होते। (१४५८)



मुमुक्षुओंको सत्संगमें दो प्रकारसे प्रवर्तन करने योग्य है। एक तो, खुदकी वर्तमान भूमिकासे आगे बढ़नेके क्रम सम्बन्धित प्रयास और दूसरा सत्पुरुषके गुणानुवाद द्वारा उनके प्रति बहुमान / उपकारबुद्धि वर्धमान हो वैसा प्रकार - ये दोनों प्रकार निर्मलताके कारण हैं। (१४५९)



जैनदर्शनकी नीवमें जन्म-मरणका नाश करनेका सिद्धांत व प्रयोग है। जो स्वलक्षीपनेके अनुशासनसे उपासना करने पर सिद्ध होता है। जगतवासी जीव पुण्य-पापको मुख्यरूपसे देखते हैं, जिसके कारण श्रद्धा-ज्ञानकी मुख्यता नहीं रहती। जब कि प्रथम श्रद्धा-ज्ञान यथार्थ होने चाहिए, कि जिससे आचरण स्वतः यथार्थ हो। (१४६०)



अज्ञान और दर्शन परिषहकी तीव्र वेदना अंतःकरणकी शुद्धिका यथार्थ कारण है, उसकी प्राप्तिके लिए वारंवार स्मरणमें लेने योग्य बाबतें निम्नरूपसे हैं।

- * पूर्वकृत अपराधोंका शुद्ध अंतःकरणसे पश्चाताप।
- * भावि भयंकर परिभ्रमणकी चिंता।
- * निज परमात्माका वियोग।
- * स्वरूपकी शांतिकी अप्राप्तिका खेद।
- * अशरणभूत एवं असारभूत पदार्थोंमें यह जीव प्रीति कर रहा है, इसका खेद।

(१४६१)



परमार्थमार्ग अनुभवप्रधान है। इसलिए मुमुक्षुजीवको अनुभवपद्धतिसे ही स्वकार्य करना चाहिए। यदि अनुभवपद्धतिसे प्रारम्भ हुआ, तो कभी भी बौद्धिक Approach द्वारा आगे बढ़नेका प्रयास

नहीं करना चाहिए वरना अयथार्थता आ जायेगी और आगे बढ़ना नहीं होगा, परन्तु भूलके कारण अटकना हो जायेगा। Feeling Stage की परिस्थिति नाजुक होती है। उसमें बौद्धिक प्रयाससे दूर रहकर, सिर्फ वेदनसे ही आगे बढ़ना चाहिए - ऐसा सहज होना चाहिए। यथार्थतामें ऐसा ही होता है। (१४६२)



ज्ञानीपुरुषके वचन आगम ही हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास जिसको नहीं होता, उसे शास्त्रकी साक्षी ढूँढनेका विकल्प आता है, वह 'शास्त्र संज्ञा' नामका दोष है। ऐसा दोष स्वच्छंदरूप होनेसे महादोष है। जिसमें ज्ञानीके प्रति अविश्वास रहा हुआ है। (१४६३)



मुमुक्षुजीवको सत्पुरुष सर्वस्वरूप रहते हो, तब ऐक्यभावके कारण परद्रव्यरूप भासित नहीं होते। क्योंकि पराभक्ति अभिन्नभावरूप होती है - ऐसा जो सत्पुरुषका अवलंबन, वह इस भूमिकाका अध्यात्म है। आगम पद्धतिसे सत्पुरुषकी परद्रव्यता है, वह सिर्फ जाननेका विषय है। (१४६४)



निज परिणामोंका अवलोकन दो प्रकारसे होता है; रागप्रधान और ज्ञानप्रधान। राग प्रधानतामें यथार्थता नहीं होती (जब कि) ज्ञानप्रधानतामें यथार्थता होती है। (१४६५)



अगस्त - १९९५

जब जीव जन्म-मरणकी चिंतना / वेदना पूर्वक मुक्त होनेकी भावनामें आता है, तभी वह यथार्थ समझपूर्वक सहज पुरुषार्थके योग्य बनता है अथवा संवेगको प्राप्त होता है। (१४६६)



पुण्यका मूल स्वरूप तो अलौकिक है, परन्तु रूढिगत वह विकृतरूपमें प्रसिद्ध है। सत्पुरुषके अनुग्रहसे पात्रजीवको शाता उत्पन्न होती है, जगतके त्रिविध तापसे दूर होकर जीव शाताका अनुभव करता है। ऐसे सत्पुरुषका अपूर्व योग होना वही सच्चा पुण्य है, कि जिस पुण्यके योगसे जीव पूर्णपदको प्राप्त होगा। (१४६७)



मुमुक्षुको भले ही बेहद उपकारबुद्धि वर्तती हो, परन्तु सत्पुरुषको तो, खुदने कोई उपकार किया ही नहीं - ऐसा भाव वर्तता है। इसलिए वे अंतरंगमें निस्पृह होते हैं - ज्ञानीपुरुषकी

यह गुप्त आचरणा है।

(१४६८)



मुमुक्षुके परिणाममें चढ़ाव-उतार होता रहता है, उसका कारण यह है कि अभी उर्ध्व श्रेणीमें प्रवेश नहीं हुआ है। परिणाममें दोष होवे और अगर उसका बचाव हो, तो वह दोष अभिप्राय सहित जानने योग्य है। यदि अभिप्राय विरुद्ध दोष होगा तो उसका बचाव नहीं होगा, परन्तु खेद होता है। अभिप्रायके बहाने बचाव होता है, वह अभिप्रायकी भूल है।

(१४६९)



भूमिका प्रमाण आत्मभावना होनी चाहिए। प्रारम्भमें (१) आत्मकल्याणकी अपूर्व भावना अंतरकी गहराईसे होती है। फिर (२) स्वरूप प्राप्तिके लिए सत्पुरुषकी पराभक्ति उत्पन्न हो - वैसा भाव - ये भी आत्मभावना है। तत्पश्चात् (३) बीजज्ञानमें स्वरूपलक्ष होने पर स्वरूपकी अपूर्व महिमारूप आत्मभावना होती है। जिसके फलस्वरूप (४) स्वरूपलीनतारूप आत्मभावना होती है। (५) मोक्षमार्गमें स्वरूप समाधि वह आत्मभावना है।

(१४७०)



मुमुक्षुके स्वलक्षी परिणाम हो इसके लिए अन्य मुमुक्षुकी अयोग्यता - योग्यताका नाप नहीं निकालना चाहिए। अन्यको नापनेकी क्षमता मुमुक्षु-भूमिकामें नहीं होती है, फिर भी परलक्षीपनेसे जीव यदि वैसी अनअधिकृत चेष्टा करता है तो इससे अवश्य खुदको नुकसान होता है। स्वलक्षी परिणमनवालेको सहज ही वैसी अप्रयोजनभूत प्रवृत्ति नहीं होती।

(१४७१)



यथार्थ प्रकारसे निज दोषके अवलोकनसे जीवका स्वच्छंद घटता है अथवा नष्ट होता है, तब बीजज्ञान / स्वरूपनिश्चयके योग्य निर्मलता / भूमिका होती है। स्वरूपकी पहचान होनेकी यह एकमात्र अनुभव पद्धति है।

(१४७२)



कोई जीव निज दोषके अवलोकनपूर्वक मुमुक्षुतामें आगे बढ़ता है, तब स्वच्छंद घटता है, और चंचलतामें कमी आनेसे परिणाममें बाह्य शाता आदि वर्तते हैं, तब अगर वह प्रिय लगे और उसकी मुख्यता हो जाये, तो जीवकी योग्यता अटक जाती है। क्योंकि वहाँ अभी बाह्य सुखकी अपेक्षा नहीं छूटी; इसलिए मानसिक शांति ठीक लगी, - वह लौकिक सुखकी जाति - एक जातिका सुख प्रिय लगा, वहाँ आत्मा 'सत् परमानंदरूप' है - ऐसा निश्चय नहीं है। इतना ही नहीं वैसा निश्चय होनेमें, उक्त भावोंकी मुख्यता प्रतिकूल है। वास्तवमें तो अपूर्व

जिज्ञासावृत्तिसे स्वरूप-निश्चय होनेमें परिणाम लगने चाहिए। उदासीनता वृद्धिगत होनी चाहिए।

(१४७३)



क्षयोपशमज्ञानका उपयोग दो प्रकारसे होता है, विचारणामें और प्रयोगमें। जब तक प्रयोगमें क्षयोपशम नहीं लगाया जाये तब तक यथार्थता नहीं आती है अथवा वास्तविक वस्तु-स्वरूप समझमें नहीं आता। मोक्षमार्गकी प्राप्ति तक अगर सिर्फ बौद्धिक स्तर पर ही प्रयास किया जाये तो इसमें सफलता प्राप्त नहीं होती। सच्ची मुमुक्षुतामें प्रयोग पद्धतिकी प्रधानता होती है। वही सच्ची कार्यपद्धति है।

(१४७४)



जिज्ञासा :- विचारसे समझमें आता है कि वेदनमें आना चाहिए, परन्तु फिर भी नहीं आ पाते हैं, तो क्या करें ? क्यों वेदनमें नहीं आ पाते ?

समाधान :- परलक्षी विचारणा होनेसे परिभ्रमणकी भयंकर वास्तविकता लगती नहीं है, अगर खुदको शामिल (Involve) किया जाये तो परिभ्रमणकी चिंतना / वेदनापूर्वक झुरना आये बिना नहीं रहे, - वेदनाको रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सके। एक मरणकी गंभीरता भासित होवे, तो अनन्त मरणकी क्यों नहीं भासित होगी ?

(१४७५)



सितम्बर - १९९५

जिज्ञासा :- सत्संगमें भी यथार्थ सत्संगकी ही उपासना कर्तव्य है, परन्तु सामान्य मुमुक्षुको यह सत्संग यथार्थ है कि नहीं ? यह कैसे समझना ?

समाधान :- सामान्य मुमुक्षुको सत्संगकी (अन्यकी) परीक्षा करनी सरल नहीं है। इसलिए वह मुश्किल लगे, परन्तु यदि खुदकी भावना आत्मकल्याणकी हो तो और उस भावनाकी पुष्टि होती हो ऐसा लगे, तो उस परसे यह सत्संगकी उपासना करने योग्य है, ऐसा निश्चय होता है; परन्तु खुदके अमुक राग या अभिप्रायको पुष्टि मिले उस हेतुसे सत्संग नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं अगर आत्मरुचिको पुष्टि नहीं मिलती हो तो वह संग छोड़ देना चाहिए।

(१४७६)



आत्मार्थी जीवका उदय प्रसंगमें बारबार हार जाना बनता है, परन्तु यदि सत्पुरुषका समागमरूप योग मिलता है तो उदय प्रसंगमें संघर्ष करके अंततः विजय प्राप्त करके ही चैनसे बैठता है। और इस प्रकार प्रकृतिको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है। यद्यपि प्रकृतिके

सामने लड़नेमें परिश्रम तो बहुत पड़ता है, तथापि सच्चा आत्मार्थी पूरी शक्तिसे उद्यम करता है। (१४७७)



तीव्र अशाताके उदयमें अगर जीवको यथार्थ सत्संग योग रहे, तो अति अल्प समयमें उन्नतिक्रममें प्रवेश करके, भेदज्ञानकी भूमिका तक पहुँच जाता है। इस प्रकार कभी किसीको तीव्र अशाताका उदय अधिक कल्याणकारी फलता है। बहुभाग शाताके कालमें जीवका पुरुषार्थ धर्म मंद रहता है। (१४७८)



परिश्रमणकी यथार्थ चिंतना / वेदना आये, तो जीव यथार्थरूपसे उन्नतिक्रममें प्रवेश करता है, और जब तक परिश्रमणके कारण नहीं टलते हैं, तब तक चैनसे नहीं बैठता; सततरूपसे ये बात उस जीवके (परिणमनसे) खिसकती ही नहीं है। यहाँसे यथार्थ उदासीनताका क्रम शुरू होता है। इस प्रकारकी उदासीनता उदयभावमें नीरसता लाती है, जिसके कारण परिणाममें उदयभावसे उत्पन्न मलिनता अटक जाती है और निर्मलता आने लगती है। (१४७९)



जीवको प्रकृतिका उदय दसवें गुणस्थानके अंत तक है, इससे नीचेके गुणस्थानमें आत्म-जागृति द्वारा साधक (तो) उसका पराभव करते हैं, परन्तु मुमुक्षुकी भूमिका अत्यंत नाजुक होनेसे, प्रायः उसमें प्रकृतिके वश होकर जीव मार खाता है, फिर भी जिसने जीतनेका निर्धार किया है, वह बारंबार प्रकृतिके साथ लड़ता है और अंतमें विजयी होता है। यह लड़ाई कठिन लगे, तो भी हाथ पे हाथ धरे बैठे बिना लड़नी ही चाहिए। जो मुमुक्षु प्रकृतिके आगे हार जाता है, वह जागृतिके अभावके कारण खुदको (ही) नुकसान करता है। सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति प्रकृतिमें नहीं जुड़नेके लिए प्रबल कारण है, प्रकृतिको जीतनेका यह अति उत्तम व सुगम उपाय है। (१४८०)



सत्पुरुषकी विद्यमानतामें, आत्मार्थी जीवको उनका चरण सानिध्य प्राप्त होना, यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। तब परिश्रमण कर रहे जीवको मुक्तिके मार्ग प्रति मोड़ लेनेका Turning Point - उज्ज्वल तक प्राप्त होती है, और यदि जीव भाग्यशाली हो तो ऐसे चरण सानिध्यमें यथार्थ मुमुक्षुताको प्राप्त करके आत्महितके मार्ग प्रति झुकता है। ऐसेमें सत्पुरुषकी अत्यंत भक्तिके कारण वह जीव अनेक प्रकारके संभवित दोषोंसे बच जाता है। (१४८१)



शुद्ध निश्चयसे स्वयं, मूल स्वरूपसे, सिद्ध स्वरूप परमात्मपद पर विराजमान है। परन्तु आत्मार्थीको वर्तमान भूमिकाका अनुभव भी समझमें है, कि जिसमें अत्यंत पामरताका अनुभव हो रहा है। इन दोनोंके बीच जो बड़ा फ़र्क है, उसकी यथार्थता समझमें आने पर अवश्य जीवका पुरुषार्थ उठता है, और पामरतासे प्रभुताकी ओर परिणाममें झुकाव उत्पन्न होता है। अर्थात् पामरताका खेद पामरता मिटानेके लिए होता है; (पामरता दृढ़ करनेके लिए नहीं)। इतना ही नहीं स्वरूपकी समझ भावभासनकी (भी) प्रेरणा करती है, सिर्फ कल्पित मान्यता कर लेनेके लिए नहीं। - इस प्रकार दोनों बातका मेल - Co-ordination करके प्रयोजनको साधना चाहिए। किसी एक बातका असंतुलन होने पर प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता। संतुलन बनाये रखनेके लिए सत्संग जैसा उपकारी साधन दूसरा कोई नहीं है। सिर्फ पामरताका ही वेदन होनेसे तो निराशा (Depression) आ जानेसे बहुत नुकसान होता है - पुरुषार्थ उठ नहीं पाता। और सिर्फ स्वरूपका ही विकल्प करे तो, स्वरूप प्रगट करनेकी जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं होती, बल्कि जीव कल्पनामें चढ़ जाता है। (१४८२)



आत्मार्थी जीव प्रयत्नसे दर्शनमोहको मंद करता है, परन्तु इसमें क्षति रहनेसे अन्यथा परिणामन हो जानेसे दर्शनमोह तीव्र हो जाता है। जिसके फलस्वरूप समय व्यतीत हो जाता है, और फिर पहले हो चुके नुकसानकी क्षति पूर्ति करनेके पश्चात् आगे बढ़ना होता है। इस प्रकार बारंबार परिणामोंमें चढ़ाव-उतार हुआ करता है। यदि यथार्थ बल जागृत हुआ तो उन्नतिक्रममें तेजीसे आगे बढ़कर जीव ग्रंथीभेद कर लेता है। तब अल्प समयमें सिद्धि होती है। (१४८३)



जिज्ञासा :- आत्मकल्याणको सुलभतासे प्राप्त करनेके लिए ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें एकतान होना आवश्यक है, परन्तु तथारूप एकतान होना सुलभ नहीं है, बहुत ही असुलभ है, ऐसा क्यों ?

समाधान :- आज्ञामें एकतान होनेमें अवरोधरूप परिणामोंमें - स्वच्छंद, प्रतिबंध एवं प्रकृतिके उदयमें जुझान होना इत्यादि परिणाम होते हैं। इसके अलावा पूर्वग्रह, प्रमाद, रसगारवताके परिणाम भी अवरोध करते हैं। परन्तु आज्ञाके अवलंबनसे व आश्रयभक्तिपूर्वक परम प्रेमसे प्रयास करने पर सहजमात्रमें ये सब अवरोध दूर हो सकते हैं। (१४८४)



ओघभक्ति भी संसार है, अगर इसमें निष्कामता न हो तो। निष्कामतासे निर्मलता आती

है, जिसके कारण आगे जाकर पहचानपूर्वक सच्ची / यथार्थ भक्ति प्रगट होती है और जीवको वह आत्महितका कारण बनती है। सत्पुरुषकी पहचान होनेके पश्चात् 'अनन्य आश्रय भक्ति' आती है। जिसके कारण अनेक दोषोंकी निवृत्ति सहज होती है। (१४८५)



अक्टूबर - १९९५

मुमुक्षुताकी प्रत्येक भूमिकामें उस भूमिकाका भावभासन आये, तो वह उस भूमिकाकी यथार्थता है - जैसे कि संसारके समस्त परिणाम परिभ्रमणके कारणरूप भासित होवे - दुःखरूप भासित होवे, तो यथार्थ वेदना आती है। तद्उपरांत अगर पूर्णताका भाव भासित होवे, तो लक्ष बंधे और जैसे-जैसे अवलोकन होता जाये, वैसे-वैसे स्वभावका भासन आता है। (१४८६)



दर्शनमोहका ज्ञान और चारित्रिके परिणामनके साथ सम्बन्ध है। ज्ञानमें विपरीत अभिप्राय होने पर दर्शनमोह तीव्र होता है, और अविपरीत / यथार्थ अभिप्राय होनेसे दर्शनमोह मंद होता है। चारित्रिकमें कषायरस तीव्र होने पर दर्शनमोह तीव्र होता है और कषायरस 'यथार्थ प्रकारसे' मंद होने पर दर्शनमोह मंद होता है। अतः मुमुक्षुजीवको विवेकपूर्वक परिणाममें दर्शनमोहका अनुभाग घटे उस प्रकारसे प्रवर्तन करने योग्य है। (१४८७)



उदयभावोंके अवलोकनमें उन-उन भावोंके पीछे (निहित) अभिप्रायका अवलोकन होना जरूरी है। जिससे प्रतिबंध पकड़में आता है और उस प्रतिबंधसे मुक्त होनेके पुरुषार्थमें जुड़ना शक्य बनता है। (१४८८)



मुमुक्षुता (पूर्णताका लक्ष) प्राप्त होनेके बाद भी, उदयभावमें उग्रतासे प्रकृतिमें जुड़ान होकर परिणाम बिगड़ते हैं, जिसका कारण जागृतिकी कमी, प्रयोजनकी पकड़में शिथिलता, स्वच्छंद और परम विनयकी क्षति है। सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति उक्त दोष मिटानेके लिए परम औषध है। परम सत्संग योग उसका साधन है। यह दोष पूर्वाग्रह और उदयप्रसंगकी पकड़ होनेसे जन्म लेता है। (१४८९)



भक्ति अर्थात् सत्पुरुषके प्रति बहुमान, उसके साथ-साथ प्रेमरूप भक्ति प्रगट होने पर 'सोनेमें सुहागा' जैसा होता है, जो आत्मबोध प्रगट होनेका अंग है। उसे 'रहस्य भक्ति' भी कही जाती है। - इस 'रहस्य' को जो जानता है, वही इसकी मस्तीमें आता है। इस मस्तीमें

आने जैसा है। इस मस्तीमें आनेवाला भक्त सामान्य लौकिक व्यवहारका उल्लंघन करता हुआ दिखाई देता है, फिर भी वह उसका गुण है, अवगुण नहीं। (१४९०)



जब सत्पुरुषके प्रति परमेश्वरबुद्धि आती है, तब सर्व प्राणीके प्रति दासत्व आता है, अर्थात् उस जीवको भक्तिका अहम् कभी नहीं होता, परन्तु उसका मान अत्यंत पिघल जाता है। (१४९१)



तत्त्व-अभ्यासके दौरान आत्म-स्वरूप समझमें आता है, तब परलक्षी समझ होनेसे विकल्पका कारण बनता है। परन्तु स्वलक्षी समझमें स्वरूपकी अपूर्व जिज्ञासापूर्वक अंतर अवलोकन द्वारा, ज्ञानलक्षणके आधारसे स्वभावका स्वीकार अगर भावभासन पूर्वक आये तो, वह अनुभूतिका कारण बनता है। (१४९२)



ज्ञानीपुरुष और उनके वचनके दृढ़ आश्रयसे जीवको मोक्ष पर्यंत सर्व साधन सुलभतासे सिद्ध होते हैं। - यह सुगमतासे तिरनेका उपाय, निष्कारण करुणाशील सत्पुरुषने बतलाया है, उन्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो ! (१४९३)



ज्ञानीको भी आत्मदशाको भूला दे, वैसे उदय उदयरूपमें आते हैं, परन्तु उसका समभावसे वेदन करके अधिक निर्मलता प्राप्त करनेकी ज्ञानीकी रीत होती है। मुमुक्षुका प्रयास भी तथारूप होना चाहिए। चाहे कैसे भी उदयमें जागृति नहीं छूटनी चाहिए। अभिप्रायकी दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न होना चाहिए, तो अवश्य सफलता मिलती है। (१४९४)



'एक गुणको अनन्तगुणका रूप है।' उसमें सर्वज्ञ शक्तिको अस्तित्वका रूप है, वह सर्वज्ञ शक्तिकी हयातिसे समझमें आता है, परन्तु अस्तित्वगुणको सर्वज्ञताका रूप नहीं दिखता है; अतः उक्त सिद्धांतके लिए समस्या खड़ी होती है। तथापि ऐसा विचार किया जाये कि सर्वज्ञताका 'जो' अस्तित्व है 'वही' अस्तित्वको सर्वज्ञताका रूप होना चाहिए, जैसे कि परमाणुका अस्तित्व जड़रूप है, जब कि जीवका अस्तित्व चेतनरूप है। इस प्रकार उक्त सिद्धांतको समझना सुगम है। (१४९५)



नवम्बर - १९९५

भेदज्ञानके प्रयोगसे उदासीनताके क्रममें (एक) नये स्तरमें प्रगति होती है। और अनुक्रमसे इस उदासीनताके कारण परभावकी भिन्नता / मुक्तता सधती है। यथार्थ भेदज्ञानका ऐसा स्वरूप है। (१४९६)



ज्ञानीपुरुषकी 'आश्रयभक्ति' उत्पन्न होना यह उत्तम मुमुक्षुताका लक्षण है। 'आश्रयभक्ति' से स्वच्छंद जैसे महा दोष मिटते हैं, और अनेक प्रकारके छोटे-छोटे दोष तो उत्पन्न ही नहीं होते। 'आश्रयभक्ति' आने पर सत्पुरुषके बोध वचनका यथार्थ ग्रहण होता है, जिससे जीवका आत्मकल्याण सुगमतासे होता है। (१४९७)



यथार्थ समझ होनेमें पूर्वग्रह - यह बड़ा अवरोध है। अतः समझनेकी चाहत रखनेवाले जीवको पूर्वग्रह छोड़नेके अभिप्रायसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। पूर्वग्रह छोड़े बिना समझनेकी जिज्ञासा होने पर भी, वह समझ नहीं सकता। पूर्वग्रह बाह्य व्यवहार सम्बन्धित हो, और व्यवहारकी अपेक्षासे वह योग्य भी हो, फिर भी उस पर इतना वजन हो कि इसका आग्रह रहा करता हो - मताग्रह यानी कि मत-अभिप्रायका आग्रह रहा करनेसे बाह्यदृष्टि दृढ़ हो जाती है और परमार्थमें बाधक होकर विकल्प वृद्धि होती है। वैसा पूर्वग्रह भी छोड़ देना चाहिए।

(१४९८)



जिज्ञासा :- लोकसंज्ञा नहीं होनी चाहिए, फिर भी मुमुक्षुको बाह्य विवेक होना चाहिए, इन दोनों परिणामके बीचकी भेदरेखाको कैसे समझना ?

समाधान :- लोकसंज्ञावाले परिणामोंमें लोकदृष्टिकी इतनी मुख्यता रहती है, कि जिसके कारण आत्मकल्याणके प्रसंगोंको जीव गौण करता है, और जिससे खुदको नुकसान होता है। जब कि बाह्य विवेकका क्षेत्र बाह्य व्यवहार है। इसकी मर्यादा व्यवहार तक सीमित है। आत्मकल्याण सम्बन्धित परिणामको सँभालते हुए बाह्य विवेकके परिणाम हो सकते हैं और ऐसा होना चाहिए। (१४९९)



जिज्ञासा :- जीवकी बीजभूत भूल कौनसी है, कि जिसके मिटनेसे दूसरी सर्व भूल मिटती है ?

समाधान :- सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगरूप सत्संगका मूल्य / महत्त्व समझमें नहीं आया, यह

जीवकी बीजभूत भूल है। जिसकी समझ होने पर जीव समस्त जगतको गौण करके सत्संगकी आराधना करता है; कि जिससे दूसरी सर्व भूल मिटती हैं। अतः इसका विचार सबसे पहले होना चाहिए। यदि जीवको सर्व दोषसे मुक्त होनेकी अंतरसे सच्ची भावना पैदा हुई तो, यह भावना उसकी उपरोक्त मूलभूत भूलसे छूटनेका सहज ही कारण बनती है। 'स्वलक्षी' विचारणाका भी यह मूल कारण है। (१५००)



आत्म-कल्याण व आत्मस्वरूपकी 'गहरी जिज्ञासा / भावना,' पुरुषार्थको उत्पन्न करती है; साथ ही साथ प्रयोजनकी पकड़ भी आती है, जिससे हित साधन सफल होता है। निजहितके प्रयोजनकी तीक्ष्ण पकड़से अल्प समयमें आगे बढ़ा जा सकता है, और मति विपर्यास (भी) छूटता जाता है। (१५०१)



अन्य पदार्थको ग्रहण करनेरूप भाव - जो इच्छा - वह ज्ञानको आवरण करती है, इसलिए केवल निरावरण ज्ञान होनेके पहले पूर्ण वीतरागता अर्थात् संपूर्ण निरीच्छकदशा उत्पन्न होती है। ऐसा हुए बिना कभी किसीको केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। फिर भी जो लोग गृहस्थादि दशामें केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानते हैं, वे अध्यात्मकी प्राथमिक भूमिकाकी समझसे अनजान है। ऐसा समझने योग्य है। (१५०२)



जो जीव तत्त्व-विचार द्वारा मार्ग प्राप्ति चाहता है; उसको सहज मार्ग-प्राप्त ऐसे ज्ञानीपुरुषकी दासानुदासपने भक्ति प्राप्त होती है। वरना सिर्फ तत्त्व विचार करते-करते शुष्कता उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। श्री आनंदघनजी आदि महात्माओंने भक्तिके पदोंमें तत्त्वका गुंथन किया है, इसमें ये रहस्य है। (१५०३)



जिज्ञासा :- जीवको सत्पुरुषकी विद्यमानताकी आवश्यकता भासित नहीं हो रही है, इसका क्या कारण ?

समाधान :- जब तक मुक्त होनेकी अंतरसे सच्ची भावना उत्पन्न नहीं हो, और ऊपर-ऊपरसे धर्म प्रवृत्ति जीव करता है, तब तक उसको 'इस' प्रकारकी सूझ नहीं आती है। अनन्तकालमें इसी प्रकारकी 'बीजभूत भूल' जीवने की है। ऐसा निश्चय करके इस भूलको मिटाना चाहिए। (१५०४)



पक्षांतिक्रांत होनेके लिए आत्मार्थी जीव स्वरूप लक्षपूर्वक उत्पन्न विकल्पकी भी उपेक्षा करता है, जिससे स्वानुभव योग्य स्थिति होती है। - इस सिद्धांतसे स्वतः सिद्ध होता है कि आत्मार्थी जीव इसके पहले तो सर्व अन्य द्रव्य - भाव से अच्छी मात्रामें उदासीन हो चुका होता है।

अतः जब तक आत्मार्थीकी भूमिकामें अपेक्षाभाव रहा करता है, तब तक वह परमार्थमार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। परकी अपेक्षावृत्ति ही जीवको स्वरूपके प्रति - अंतर्मुख होनेमें रुकावट बनती है, अतः जो जीव अंतरमें झुकना चाहता है, उसको अपनी पर अपेक्षितवृत्तिको मिटाना ज़रूरी है। पर अपेक्षितवृत्ति स्वयं दीन भाव है, जो कि स्वयंके अनन्त सामर्थ्यका अनादर भाव है। (१५०५)



दिसम्बर - १९९५

जिज्ञासा :- कोई जीव संसार प्रवृत्तिको छोड़कर, तत्त्वज्ञानका अभ्यास बहुत करता हो तो, उसे तत्त्वरुचि गिन सकते है या नहीं ?

समाधान :- यदि स्व-लक्षी तत्त्वज्ञानका अभ्यास हो, तो ही तत्त्वरुचिका सद्भाव गिन सकते हैं अथवा उस प्रकारसे अगर तत्त्वरुचिको पुष्टि मिलती हो और वह वृद्धिगत होती हो, तो तत्त्वरुचि गिन सकते हैं, वरना तत्त्व-अभ्यास करते-करते जानकारी बढ़ानेकी अपेक्षावृत्ति रहा करती है और इससे पररुचि - कुतूहलवृत्तिको पुष्टि मिलती है, और इससे दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। आत्मरुचि प्रयोजनके साथ जुड़ी हुई है। प्रयोग बिनाके वांचन-विचार शुष्कताको उत्पन्न करते हैं। उलटी रुचि सुलटी रुचिको रोकती है। पररुचिवाले जीवको निजप्रयोजन छूट जाता है। (१५०६)



जिज्ञासा :- भक्तिमार्गमें आये हुए जीवके भाव कैसे होते हैं ?

समाधान :- सत्पुरुषकी पहचान होने पर, उनके वचनकी प्रतीति, आज्ञाकी अपूर्व रुचि और स्वच्छंद निरोध भक्ति, इसके उपरांत आज्ञा आश्रितपने, सर्वार्पणता पूर्वक रहता है, उस जीवको यथार्थ भक्ति - कि जो अंतर वैराग्यको और ज्ञानकी निर्मलताको उत्पन्न करनेवाली होती है। (१५०७)



जो मुमुक्षुजीव सत्संग और आत्म-कल्याणकी यथार्थ भावनावान होता है, वह दूसरे मुमुक्षुकी तथाप्रकारकी भावनाको अच्छी तरह समझ सकता है। इसलिए उसकी अनुमोदनापूर्वक वह

भावना और भावनावानका विशेष आदर करता है। यदि इससे विरुद्ध परिणाम हो, तो खुदकी भावना यथार्थ नहीं है - ऐसा समझने योग्य है। (१५०८)



जिज्ञासा :- शुद्ध प्रेम सहित जो भक्ति होती है, उसमें स्वामित्व और अधिकारके भाव होते हैं ? उसमें कैसे भाव होते हैं ?

समाधान :- जहाँ शुद्ध प्रेमरूप भक्ति होती है, वहाँ अधिकारबुद्धि नहीं होती, परन्तु वहाँ सर्वार्पणबुद्धिसे उत्पन्न निर्मल प्रेम - भाव होते हैं। जो कि स्व-परको उपकारक है। भक्ति करनेवाला उपकारी सत्पुरुषके प्रति स्वामित्व और अधिकारसे वर्तता है, तब अभक्तिके परिणाम होते हैं, जो कि शुद्ध प्रेम भक्तिसे विरुद्ध प्रकार है। (१५०९)



मुमुक्षुजीव तत्त्व-अभ्यास द्वारा अपनी आत्माका भिन्न अस्तित्व समझकर सम्मत तो करता है, परन्तु यदि उदयमान कुटुम्ब आदि संयोगमें अपनत्व करता है, तो उपरोक्त समझ निष्फल जाती है, अर्थात् भिन्न पदार्थमें अपनत्व होनेसे (अस्तित्वका अनुभव होनेसे) श्रद्धामें मिथ्यात्व दृढ़ होता है। जिसके कारण निज स्वरूपका अस्तित्व ग्रहण श्रद्धामें नहीं हो सकता। निजमें निजबुद्धि होनेसे 'परमें अस्तित्व ग्रहणरूप श्रद्धा' की शक्ति टूटती है और क्रमशः आगे जाकर उपशमित होती है। संक्षेपमें कहे तो, परमें अस्तित्व ग्रहणरूप मिथ्यात्व निज अस्तित्वको भूलाता है। (१५१०)



जिज्ञासा :- बाह्य उपयोग और परलक्षी ज्ञानमें क्या अंतर है ? दोनोंमें क्या नुकसान है ? और ऐसे नुकसानसे कैसे बचा जाये ?

समाधान :- दोनों ज्ञानके दोष है। परलक्षी ज्ञान दर्शनमोह आदि सर्व दोषका उत्पादक है। परलक्षके कारण सच्ची समझ भी प्रयोजन साधक नहीं होती। अतः अंगपूर्वकी जानकारी भी निष्फल जाती है और उपयोग कभी अंतर्मुख नहीं हो सकता। बाह्य उपयोग भी ज्ञानका विभाव है। जो कि छद्मस्थ अवस्था पर्यंत अनिवार्यरूपसे चालू रहता है। जिससे परसत्ताका अवलंबन आता है। अंतर्मुख उपयोग द्वारा बाह्य उपयोग मिटता है और स्वलक्ष उत्पन्न होनेसे परलक्ष छूटता है। (१५११)



जिज्ञासा :- ज्ञानीको तो स्वरूपके आधारसे दोष मिटते हैं, परन्तु मुमुक्षुको दोष रहित होनेके लिए किसका अवलंबन होता है ?

समाधान :- मुमुक्षुको अंतरकी गहराईसे आत्महितकी भावना जगे तो उसको अपनी भूमिकाके दोषोंका अभाव होकर, अनुक्रमसे ज्ञानदशाकी प्राप्ति होती है। इस तरह भावनाके आधारसे दोष मिटते हैं, इसके अलावा सत्पुरुषका आधार भी मुमुक्षुको दोष मिटनेका बड़ा कारण है। सत्पुरुषका आश्रय, चरण शरण मिलने पर जीव संसार तिर जाता है। संत-चरणमें दर्शनमोह सुगमतासे घटता है। और अनुक्रमसे सर्व दोषोंका क्षय होता है। (१५१२)



जिज्ञासा :- आत्मभावना हो और विकल्प भी वैसे चलते हो, तो जीव भावनामें चल रहा है कि विकल्पमें चढ़ गया है ? यह कैसे समझमें आये ?

समाधान :- भावनावाला सिक्त हृदयवन्त होता है। उसको आत्मस्वरूपके द्योतक वचन रुचते हैं, और अंतरमें शोधकवृत्ति चालू रहती है, वह जीव संतुष्ट नहीं हो जाता। जो विकल्पमें चढ़ जाता है वह जीव संतुष्ट हो जाता है, उसको शुष्कता आ जाती है। और प्रयोजन सधता है कि नहीं ? उसकी दरकार उसे नहीं रहती। (१५१३)



जिज्ञासा :- जो जीव ओघसंज्ञामें हो उसे आत्म-प्राप्तिकी भावना और स्वरूपकी भावना होनेमें ओघे-ओघे होनेवाले भावोंसे उसकी ओघसंज्ञा दृढ़ नहीं हो जायेगी ? अथवा उस भूमिकामें वैसी भावना योग्य है क्या ?

समाधान :- आत्मभावना रुचि सहित किसी भी भूमिकाके मुमुक्षुको होना, वह योग्य है अंतरसे उठनेवाली यह भावना निर्मलताका साधन है। अतः ओघसंज्ञा दृढ़ नहीं होती है, परन्तु क्रमसे आगे जाकर उस ओघसंज्ञाकी निवृत्ति हो जाती है। यदि ऊपर-ऊपरसे विकल्प और धारणारूप समझमें रटन करनेकी आदत हो चुकी हो, तो ओघसंज्ञा दृढ़ हो जाती है। ऐसा प्रकार नहीं होना चाहिए। (१५१४)



मुमुक्षुको ज्ञानीपुरुषके प्रति, उनके समागमसे उत्पन्न हुई असरके कारण, भक्तिभाव, बहुमानका भाव, उपकारबुद्धि पूर्वक सहज रहता है। परन्तु यदि इसके उपरांत प्रेमभाव उत्पन्न हुआ तो वह एक विलक्षण प्रकार है, ऐसा समझने योग्य है। प्रायः ज्ञानीकी पहचान होने पर भक्ति प्रेमरूप होती है, परन्तु अगर शुरूसे ही प्रेमभाव, ओघभक्ति होने पर भी उत्पन्न हुआ, तो वह उसे उपदेशका परिणाम होनेमें भी कारणभूत होता है। क्योंकि प्रेममें खास करके समर्पणता होती है, - जो निर्मलता लाती है, निकटता लाती है, ऐक्यभाव उत्पन्न करती है।

(१५१५)

जनवरी - १९९६

परिभ्रमणकी वेदना - झुरनासे ही आत्म-जागृतिकी शुरुआत हो जाती है। यथार्थ वेदनाका यह लक्षण है। इसके बाद ज्यों-ज्यों आत्मार्थी आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों जागृति बढ़ती है। (१५१६)



प्रकृतिगत परिणमन भी दो प्रकारसे होता है। जिसमें परस्पर प्रतिपक्षी परिणमन होता है। जैसे कि मानके विरुद्ध लौकिक नम्रता, मायासे विरुद्ध लौकिक सरलता, बेईमानीसे विरुद्ध लौकिक ईमानदारी / उदारता इत्यादि। लौकिकमें नम्रता, ईमानदारी, सरलता आदि गुणमें गिने जाते हैं, परन्तु वे पारमार्थिक मार्गमें गुण नहीं है, - पारमार्थिक मार्गमें यही गुण आत्मलक्षी होते हैं। अतः परमार्थमार्गमें जिसका प्रवेश होता है, उसे ये गुण आगे बढ़नेमें कारणभूत होते हैं, अर्थात् उपकारी होते हैं। वरना लौकिक गुण सिर्फ मंद कषायके अलावा कुछ नहीं है। (१५१७)



जिज्ञासा :- हमलोग परदेशमें (अमेरिकामें) रहते हैं, वहाँ सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है क्या ? नहीं हो सकती तो उसका कारण क्या ?

समाधान :- सम्यक्दर्शनकी प्राप्तिके क्षेत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है, सिर्फ ज्ञानीपुरुष मौजूद होने चाहिए। 'सत् सुगम है और सरल है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति हो सकती है, तथापि प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके बिना परिणामको अंतर्मुख होनेका प्रयोग देखने नहीं मिलता, और इस वजहसे अंतर्मुख होनेकी दिशाकी सूझ नहीं आती है।' प्रत्यक्ष योगमें एवं तथारूप योग्यता प्राप्त होने पर, 'बीजज्ञान' की प्राप्ति ज्ञानीके द्वारा ही हो सकती है, जो कि सम्यक्त्वका अंग है। (१५१८)



जनवरी - १९९६

द्रव्यानुयोगआदि सर्व शास्त्रके सिद्धांतका पारमार्थिक प्रयोजनके दृष्टिकोणसे विचार कर्तव्य है। अन्यथा सिद्धांतोंका ज्ञान भी सिर्फ संकल्प-विकल्प प्रतिबंधका कारण बनता है।

उच्च स्तरमें - दृष्टिहेतुवादके स्तरमें तो द्रव्यानुयोगके सिद्धांतसे भी आगे जाकरके वचन प्रयोग द्वारा उपदेशकी प्रवृत्ति हुई है। अध्यात्म-भावना भाते हुए प्रयोजनकी सिद्धि होती है, - वहाँ द्रव्यादिका आगम-ज्ञान सिर्फ जानकारी हेतु रहता है, उपासना करनेके लिए तो उसकी गौणता अभीष्ट है। (दृष्टांतरूपसे : नियमसार गाथा - ५०) गुरुकी भक्तिमें भी वैसा ही प्रसंग

है।

(१५१९)



मुमुक्षुजीवके आत्मकल्याणकी योजना सत्पुरुषके अंतरमें रही है। इस बाबतसे अनजान होने पर भी जो जीव आज्ञाकारितामें रहता है, वह जीव गिरते हुए बच जाता है, और अंततः मार्गको प्राप्त कर लेता है। - यह जिसकी समझमें नहीं आता, वह प्रायः स्वच्छंदमें चढ़ जाता है और सन्मार्गसे दूर हो जाता है।

(१५२०)



दर्शनमोहका अनुभाग कम हो, ऐसे अनेकविध परिणाम मुमुक्षुजीवको होते हैं, जिसकी यथार्थताको ज्ञानीपुरुष समझते हैं। उन्हें अनुभवसे यथार्थ क्रम पर ले जानेकी सूझ होती है, इसलिए उनकी आज्ञामें रहनेसे मार्ग-प्राप्ति सुलभ हो जाती है। आज्ञांकितपना नहीं हो तो वहाँ साथ ही साथ दर्शनमोह बढ़ जाये, वैसे परिणाम होनेसे जीव मार्गकी समीप नहीं हो पाता - जिसके कारण आखिरमें उलझनमें आना पड़ता है, अथवा मिथ्या समता आ जाती है।

(१५२१)



ध्रुवतत्त्वके निजावलंबन सम्बन्धित तथारूप पुरुषार्थ ज्ञानमें स्वसंवेदनके आविर्भावको उत्पन्न करता है, और ज्ञानसामान्यके आविर्भावसे आत्मा निज ज्ञानस्वभावके स्वतः आलंबनमें परिणमित हो जाता है - दोनों प्रक्रिया समकालमें होती है। कथनमें क्रम पड़ता है, परंतु परिणमनमें अविरोध एवं समकाल है। ज्ञानसामान्यका आविर्भाव, वह स्वसंवेदनका आविर्भाव है, जो कि ज्ञानविशेषके तिरोभावपूर्वक होता है। परिणमनमें दोनों प्रयोग होने चाहिए, अतः दोनों प्रकारसे उपदेशकी प्रवृत्ति हुई है।

(१५२२)



आत्म-कल्याणके इच्छुक जीवोंकी योग्यता / अयोग्यता विभिन्न प्रकारकी होती है। ज्ञानीपुरुषके योग बिना वे जीव अँधेरेमें भटकते रहते हैं। अथवा स्वमति कल्पनासे आत्महितके उपायमें प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु इससे कोई आत्मकल्याण हो नहीं जाता।

ज्ञानीपुरुष वैसे जीवोंके पूर्वाग्रहको समझते हैं। और उस पूर्वाग्रह (Misconcepts) को कैसे मिटाना, यह वे जानते हैं। सत्संगके योगमें उसका निदान व इलाज किया जाता है। इसलिए उपदेश अनेक भेदोंसे प्रवर्तित हुआ है, फिर भी परमार्थमार्ग एक ही प्रकारसे है। (१५२३)



मुमुक्षुजीवके लिए (देव, मुनि, ज्ञानी) सजीवनमूर्तिका योग परम कल्याणकारी है। तथापि

सत्पुरुषका योग तो अधिक कल्याणकारी होता है। क्योंकि उनका परिणामन मुमुक्षुको वर्तमान प्रयोजनके लिए एकदम सानुकूल (Fit) है और ज्ञानीपुरुष भी बहुत सँभाल लेकरके मार्गदर्शन देते हैं, जब कि ऊपरके गुणस्थानमें वीतरागता विशेष होनेसे, वे तो स्वरूपमें डूबे हुए रहते हैं, और ग्राम, नगरमें उनकी उपलब्धि भी सुलभ नहीं है, जब कि ज्ञानीपुरुष तो उपलब्ध होते हैं। नमस्कारमंत्रमें सिद्ध भगवानके पहले अरिहंत भगवानको नमस्कार किया है, इसमें 'यही' संकेत है। (१५२४)



जिनागममें मोक्षमार्ग व्यवस्थितरूपसे गुणस्थान अनुसार प्रतिपादित किया गया है, जब कि मुमुक्षुताका इतना व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि मुमुक्षुकी भूमिकामें योग्यता - अयोग्यताके अनेक प्रकार हैं, जिसके कारण उपदेशकी भी अनेकविध प्रकारसे प्रवृत्ति हुई है। पहले गुणस्थानमें मुमुक्षुको सत्पुरुषके योग बिना उलझनमें आना पड़े, वैसा अनुभव मार्गके खोजी जीवको अवश्य होता है, क्योंकि उन्नतिक्रमका नियत प्रतिपादन उपलब्ध नहीं है। अतः श्री जिनने इसका सुगम उपाय ऐसा बतलाया है कि, 'एक सत्पुरुषको खोज, और सर्वभाव उन्हें समर्पित करके प्रवर्तन करते जाओ।'

स्वच्छंदका त्याग करके सर्व भावसे सत्पुरुषकी आज्ञा अधीन प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय व अभिप्राय होने पर जीव ज्ञानीकी आज्ञा पर, ज्ञानीके मार्ग पर चलनेके लिए तत्पर होता है, जिससे वह सुगमतासे संसार पार कर सकता है।

अगर किसी भी तरह जीवमें इतना विवेक उत्पन्न हो जाये, तो यह विवेक संपन्नता स्वयं ही जीवके दर्शनमोहको कमजोर करके आत्महितकी अपूर्व सूझको उत्पन्न करता है। और महात्माओंने जिस क्रमका अनेक प्रकारसे उपदेश किया है, उसका वह खुदके विषयमें अनुसंधान कर सकता है। जिससे पात्रता वर्धमान होकर मार्ग प्रवेश होता है। ज्ञानमार्गमें पात्रता संभवित है, तथापि स्वच्छंद होनेका अवकाश (संभावना) बहुत है। (१५२५)



फरवरी - १९९६

भक्ति प्रेमरूप होने पर श्रीगुरुमें सर्वभाव समर्पित होकर, जीव पूर्ण आज्ञाकारितामें आता है, जिससे सहज आत्महित सधता है, आत्महितमें अवरोधक भाव प्रायः उत्पन्न ही नहीं होते। (१५२६)



'प्रथम ज्ञानाभ्यास बादमें ध्यानाभ्यास होता है।' अंतर अवलोकनरूप बारंबारके प्रयासरूप

ज्ञानाभ्याससे स्वरूपका भावभासन होता है। निज स्वरूप ज्ञानमें भास्यमान होनेके बाद सहज इसकी महिमासे एकाग्रताके प्रयासरूप ध्यानाभ्यास होने पर, धर्मध्यानकी प्राप्ति होती है। ऐसा ज्ञानाभ्यास किये बिना यदि कोई ध्यानका अभ्यास / प्रयत्न करता है, तो वह विधिके क्रमको नहीं समझते हुए कल्पनामें चढ़ जाता है। (१५२७)



आत्मार्थीको जब अन्यके दोष दिखनेमें आ जाये तब उसे गौण करने चाहिए, कि जिससे अनादि 'दोषदृष्टि' कमजोर होवे। अगर दोषको देखने पर उसकी मुख्यता हुई तो दोषदृष्टि बलवान होकर दर्शनमोह बढ़ता है। दूसरेके अल्पगुणको भी मुख्य करना चाहिए- यह निज हितके मार्ग पर आगे बढ़नेकी योजना है। (१५२८)



जिज्ञासा :- सत्संगमें, धर्म-साधनोंमें जीव किन-किन प्रकारसे अटकते हैं, इसकी चर्चा होती है, परन्तु सत्संगमें कोई अटकता है तो वह किस प्रकारसे अटकता है ?

समाधान :- सत्संगमें अनेक विषयकी चर्चा होती है। वहाँ खुदको लागू पड़ता हो सिर्फ उसीका खुदको प्रयोजन है - ऐसा लक्ष नहीं रहा तो इसके अलावा अन्य अप्रयोजनभूत विषयोंकी चर्चामें समय जाता है और इसका खयाल भी नहीं रहता है। इस प्रकार सिर्फ कहलाने मात्र ऐसे सत्संगमें जीव संतुष्ट हो जाता है, तो वहाँ अटकता है। किसी भी प्रकारके बाह्य धर्म साधनमें संतुष्ट होना, ऐसे-ऐसे धर्म साधन किये - ऐसी गिनती होना, यह अटकनका लक्षण है। (१५२९)



जिज्ञासा :- आत्मस्वरूपको प्रगट दर्शानेवाले ज्ञानीपुरुषके वचन मिले हैं, तो यथार्थरूपसे आत्मस्वरूप कैसे समझमें आये कि परिणामतः उस आत्मस्वरूपका प्रगट अनुभव होवे ?

समाधान :- परमार्थके अत्यंत अभ्याससे आत्मस्वरूप अत्यंत स्पष्ट समझमें आता है और इससे उसका प्रगट अनुभव होता है। परमार्थका अत्यंत अभ्यास यानी कि आत्मकल्याणरूप प्रयोजनकी पकड़ एवं बारंबार - 'सतत भावनापूर्वक' यदि उन वचनोंका अवगाहन - परिचर्यन हुआ, तो आत्मस्वरूप स्पष्ट प्रतिभासित होता है। जिसके भासित होने पर आत्मस्वरूप प्रगट होता है। (१५३०)



जिज्ञासा :- स्वयंके प्रत्यक्ष उपकारी ज्ञानीपुरुषकी प्रसिद्धि करनेमें लोकसंज्ञा (?) (लोगोंके डरसे) जाहिरमें वंदन, भक्तिभाव आदि भावोंको रोकने चाहिए या नहीं ?

समाधान :- लोगोंके डरसे कोई भी प्रवृत्ति करनी या नहीं करनी, ऐसा आत्मार्थीको नहीं होता। प्रत्यक्ष उपकारीके प्रति उसको अनन्य भावसे सहज भक्ति आती है, इसलिए ज़ाहिरमें वंदनादिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जो स्व-पर हितकारी है। अतः ऐसी (स्व-पर हितकारक) प्रवृत्तिके विषयमें किसी भी प्रकारका अन्यथा विकल्प कर्त्तव्य नहीं है। यद्यपि ज्ञानीको प्रसिद्धि (बिलकुल) नहीं सुहाती। (१५३१)



जिज्ञासा :- ज्ञानीपुरुषके साथ निजी (मुलाकात) में मुमुक्षुको स्वयंके गुणोंको प्रदर्शित करना, या अन्य जीवोंके दोषोंको प्रगट करना ? या खुद क्यों आगे नहीं बढ़ सकता है, उस विषयमें मार्गदर्शन लेना ? यथार्थता किसमें है ? लाभ-नुकसान किसमें है ?

समाधान :- पात्रतावान जीव तो खुदके गुणोंको छिपाता है और दूसरोंके दोषोंको छिपाता है अर्थात् गौण करता है। जो कि प्रयोजनको साधनेमें अनुकूल है। परन्तु परलक्षीपनेके कारण अन्यके दोषोंको मुख्य करना और मानकषायके कारण स्वयंके गुणोंको मुख्य करना, यह तो खुदको नुकसानका कारण है। खुद कैसे आगे बढ़े इसके लिए मार्गदर्शन लेना, यही उचित है। इसीमें यथार्थता है और लाभ है। (१५३२)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुजीव लंबे समयसे सत्संग और स्वाध्याय करता हो, फिर भी आत्महितरूप अपने प्रयोजनकी सूझ या पकड़ न आयी हो, तो उसका क्या कारण ?

समाधान :- परलक्षी तत्त्वज्ञानका अभ्यास, आत्मकल्याणकी अंतरकी गहराईसे उत्पन्न भावनाका अभाव और इससे परिभ्रमणकी वेदनापूर्वक अंतःकरणकी शुद्धि नहीं हुई होनेसे, निज प्रयोजनकी सूझ नहीं आती है। (१५३३)



उपदेशबोध परिणमित हुए बिना सिद्धांतबोधका परिणमन नहीं होता। (क्योंकि दर्शनमोहका अनुभाग कम नहीं हुआ।) परन्तु उपदेशबोध भी सिद्धांतबोधके आधार बिना हमेशा टिक नहीं सकता, अतः उपदेशकी स्थिरता होनेके लिए सिद्धांतबोध चाहिए। (१५३४)



जिज्ञासा :- दूसरे मुमुक्षुके गुणको देखकर प्रमोद नहीं आनेके पीछे क्या कारण हो सकता है ? कभी-कभी ईर्ष्या भी हो आती है, उसका क्या कारण ? ऐसे दोषको मिटानेके लिए क्या करना चाहिए ?

समाधान :- दूसरोंके गुणको देखकर यदि प्रमोद न आये, बल्कि ईर्ष्या हो आती हो,

तो ऐसा तीव्र दोषदृष्टिके सद्भावमें बनता है। वहाँ खुदको गुण प्रगट करनेकी रुचि नहीं है, गुणग्राहीपना नहीं है, गुणोंके प्रति प्रेम नहीं है। ऐसे दोषको मिटानेके लिए उसका नुकसान, इसमें जो स्वभाव विरुद्धता है, उसे समझना चाहिए। और उसका सखेद निषेध आना चाहिए।

(१५३५)



मार्च - १९९६

जिज्ञासा :- ध्यान कब सहजरूपसे हो सकता है ?

समाधान :- जहाँ - जिसमें आसक्ति हो वहाँ सहजरूपसे एकाग्रता हो जाती है। एकाग्रता होना उसीका नाम ध्यान है। और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ आसक्ति होती है। अतः जिसे सत्पुरुषके प्रति प्रेमरूप भक्ति होती है, उसे सत्पुरुषके चरण-कमलका ध्यान वर्तता है। जो कि मोक्षका मूल है।

(१५३६)



धार्मिक जगत भी यथार्थ भक्ति / निष्काम भक्तिसे अनभिज्ञ है, तो प्रेममय भक्ति व उसके रहस्यसे अनभिज्ञ हो, उसमें कौनसा आश्चर्य है ? कोई महाभाग्य वश ऐसी भूमिकाकी किसीको प्राप्ति होती है। तब फिर वह जगत - व्यवहारसे उपेक्षित होकर चलता है। उस जीवको, वैसी भूमिकामें आये बिना दूसरे जीव समझ नहीं सकते। क्योंकि ये बुद्धिका या न्यायका विषय नहीं है।

(१५३७)



जिज्ञासा :- दर्शनमोह यथार्थरूपसे मंद होनेके कारणभूत परिभ्रमणकी चिंतना / वेदना उत्पन्न होनी ज़रूरी है - ऐसी समझ होने पर भी वैसी वेदना, दर्शनमोहकी बलवत्तरताके कारण, उत्पन्न नहीं होती हो, तो क्या उपाय कर्तव्य है ?

समाधान :- सत्पुरुषकी निष्काम भक्ति द्वारा दर्शनमोहकी मंदता होनेसे, जीव वेदनामें आता है, जिससे फिर उदासीनताके क्रममें प्रवेश होकर आगे बढ़नेका अवकाश प्राप्त होता है, अर्थात् मुमुक्षुताकी दृढता प्राप्त होने योग्य भूमिका संप्राप्त होती है।

(१५३८)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुको सर्व उदयप्रसंगमें अपनी प्रयोजनकी पकड़ न छूटे, इस प्रकारका संतुलन बना रहे, ऐसी स्थिति सहज रहे - ऐसा किस प्रकार संभवित है ?

समाधान :- प्रयोजनकी पकड़ अभिप्रायमें बराबर बनी रहनेसे, उदय प्रसंगमें उपादेयबुद्धिसे प्रवृत्ति नहीं होती। प्रसंगकी गंभीरताको समझकर, खुदके परिणामोंकी शक्ति अनुसार अभिप्राय

बदले बिना, (Adjustment) बांध-छोड़ करनेमें आती है। अभिप्रायमें तो आत्मकल्याणकी ही मुख्यता रहती है। नहीं चाहते हुए भी जो व्यवहार करना पड़े ऐसा व्यवहार उचित है।

(१५३९)



जिज्ञासा :- उदयप्रसंगोंमें प्रवृत्ति करते हुए मुमुक्षु अपने स्वच्छंदका या प्रतिबंधका सेवन कर रहा है या संतुलन बनाकर चल रहा है, यह कैसे समझना ?

समाधान :- उदयभाव अभिप्राय सहित हो रहे हो, तो वह स्वच्छंद है, और अगर उसमें आत्मकल्याणको गौण करके चलनेका बनता हो, तो उसमें प्रतिबंधका सेवन हो रहा है। परन्तु अगर अभिप्राय विरुद्ध खेद सहित प्रवृत्ति करनी पड़ती हो, तो वह संतुलन बनाये रखनेके हेतुसे प्रवृत्ति हो रही है - ऐसा समझने योग्य है।

(१५४०)



जिज्ञासा :- खुदकी मलिनता दिख रही है, यह कोई पूर्वग्रह तो नहीं है न ? यह कैसे नक्की करें ?

समाधान :- पूर्वग्रह होता है तो हतोत्साह / निराशा आती है, परन्तु यदि मध्यस्थ भावसे अवलोकनमें मलिनता दिखे तो, दोषकी पकड़ नहीं होती, परन्तु उसका निषेधपूर्वक अभाव होवे, ऐसी वृत्ति रहा करती है। इस फर्ककी जाँच करके निश्चय हो सकता है।

(१५४१)



यथार्थ भावनाके साथ विवेककी सुसंगता होने योग्य है। जहाँ बाह्यक्रियाकी पकड़ होती है, वहाँ रागकी प्रबलता है, ज्ञानकी नहीं। भावना व ज्ञानमें विवेक अविनाभावी होता है। (जब कि) राग अंधा है। भावना बलवान होती है, तब बाह्यक्रियामें दिखाई पड़ती है, परन्तु भावनाकी आड़में बाह्यक्रियाका पोषण नहीं होना चाहिए। हठका पोषण नहीं होना चाहिए। (१५४२)



संप्रदायोंमें भेद होते हुए भी, कुछएक जैन जैसी समानता होती है। उसमें से जितनी असमानता है, इतनी विकृति आ चुकी होती है। कुछ एक संप्रदायोंमें गुरुमहिमा जैनदर्शन जैसा ही है, तो कुछएक संप्रदायमें शास्त्र महिमा जैन जैसा ही है। यह समानता जो है, वह तीर्थकरकी मूलभूत बात है, जिसका निषेध करने योग्य नहीं है। वैसे तो मुमुक्षुको मतके मंडन-खंडनसे तो दूर रहना ही उचित है। मुमुक्षुकी भूमिकामें यह प्रवृत्ति अहितकारक है।

(१५४३)

किसी भी प्रकारका पूर्वग्रह, यह सत्संगको निष्फल करनेवाला बड़ा दोष है। यदि किसी जीवकी ऐसी प्रकृति हो, तो उस जीवको मुमुक्षुता आनी दुष्कर है। पूर्वग्रह मध्यस्थताको उत्पन्न नहीं होने देता। इसमें अभिप्रायकी बड़ी भूल हो जाती है। (१५४४)



जिज्ञासा :- मानप्रकृतिके कारण बार-बार परिणाम बिगड़ते हैं, और क्रोध भी हो जाता है, फिर पीछेसे खेद होता है, तो क्या करना चाहिए कि जिससे ऐसा नहीं हो ?

समाधान :- पर्यायबुद्धिसे मानकी कल्पना होती है कि मैं फलाना हूँ, फिर वैसी अपेक्षा रहा करती है। जिसकी पूर्ति नहीं होने पर क्रोधादि कषाय हो जाते हैं। परन्तु उसमें तो नीचपदमें उच्चपदकी कल्पना कर रखी है, भगवान होकर भी नीचपदका आग्रह रखता है, ऐसा समझमें आये तो मान छूट जाये। (१५४५)



अप्रैल - १९९६

स्वच्छंदके दो प्रकार है। एक तो विषय-कषायके निरर्गल-बेलगाम तीव्र रसवाले परिणाम होना और दूसरा धर्म प्रवृत्ति / साधन, ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा अनुसार नहीं करके, खुदकी मति-कल्पनासे करना वह। (१५४६)



प्रतिबंध माने विशेषरूपसे अपनत्व करके जीव जहाँ अटक जाये, और इसके आगे आत्मकल्याणके प्रसंगको गौण कर दे। (१५४७)



उपयोगमें सावधानी सदा रहती है। यह सावधानी है, सो जीवका आचरण है। ज्ञानका ऐसा आचरण श्रद्धाको निमित्त पड़ता है। स्वरूपकी अंतर सावधानीवाला उपयोग सम्यक् श्रद्धानका कारण है। और परकी सावधानी दर्शनमोहकी वृद्धिका कारण है, जिससे आत्माको आवरण आता है। (१५४८)



जिज्ञासा :- अंतर्मुख होना माने क्या ? और वह कैसे हुआ जाये ? अंतर्मुख क्यों नहीं हुआ जाता ?

समाधान :- ज्ञान स्वयंका स्वसंवेदन करे, वह अंतर्मुखदशा है। परवेदनरूप अध्यास वह बहिर्मुखता है। ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होने पर ज्ञानविशेष द्वारा अंतर्मुख हुआ जाता है। ऐसी प्रक्रिया स्वरूप-लक्षपूर्वक होती है। स्वरूप लक्षमें आये बिना ज्ञानवेदन आविर्भूत नहीं होता,

क्योंकि तब तक परके साथ एकत्वका निश्चय होता है, इसलिए ज्ञानविशेषका आविर्भाव नहीं मिटता - जिसके कारण ज्ञानसामान्य तिरोभूत रहता है। (१५४९)



जिज्ञासा :- कुटुम्बके प्रति फ़र्ज और कुटुम्बीजनोंके प्रति प्रेम, इन दोनोंमें क्या फर्क है ? कुटुम्ब-प्रेम या फ़र्जको क्या प्रतिबंध गिन सकते हैं ?

समाधान :- फ़र्जकी बाबत लौकिक दृष्टिकोणकी है। व्यवहारिक सम्बन्धकी उसमें मुख्यता है। उसमें यदि समर्पणबुद्धि हो तो उसे प्रेम गिन सकते हैं, परन्तु फिर भी उसमें रागकी प्रधानता है। दोनोंमें अपनत्व होनेके कारण परमार्थ दृष्टिसे उसमें प्रतिबंध है।

साधर्मी भावसे निस्पृहतापूर्वक किये गये कार्यमें प्रतिबंध नहीं है। प्रतिबंध हो, वहाँ आत्मकल्याण गौण होता है। आत्मकल्याणको मुख्य रखकर बाह्य कर्तव्य होना चाहिए। (१५५०)



संसार परिभ्रमणका भय उत्पन्न होने पर जीवको वैराग्य - उपशम यथार्थरूपसे उत्पन्न होता है, तब दर्शनमोह गलता है; और विचारचक्षु निर्मल होते हैं, जिसकी बदौलत मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुषके आत्मभाव और सिद्धांतभाव दिखाई देते हैं और इससे ज्ञानीके प्रति सही भक्ति उदित होती है। (१५५१)



जीव यदि सरलता, भक्ति आदि गुण संपन्न हो, फिर भी यदि कुटुम्बके स्नेहका घनिष्ट प्रतिबंध हो तो, मुमुक्षुतामें विकास नहीं हो सकता, तथापि सत्संगका तथारूप लाभ भी नहीं हो सकता। (१५५२)



प्रकृतिदोष कईबार उदय प्राप्त होने पर ज़ोर करते हैं, परन्तु परम सत्संग योगमें अत्यंत भक्तिके वशात् ऐसा होने पर रोक लगती है। और दूसरा, स्वरूपका भावभासन होने पर प्रकृति ज़ोर नहीं करती। इस प्रकार प्रकृतिके बलको रोकनेमें दो अवलंबन हैं, एक तो सत्पुरुष और दूसरा स्वरूपका भावभासन। (१५५३)



स्वरूपकी सहज प्रत्यक्षता पुरुषार्थको उछालती है। प्रत्यक्षता भासित होने पर भावमें स्वरूप अत्यंत समीप हो जाता है। (१५५४)



सम्यक्दर्शनका रूप वात्सल्य है, जिससे उसकी सुंदरता व शोभा है। बिना वात्सल्य प्रभावना

नहीं हो सकती। वात्सल्य प्रेमगुणकी पर्याय है। निज गुण निधानका प्रेम, वह परम वात्सल्य है और दूसरे गुणवानके प्रति प्रेम होना सो व्यवहार वात्सल्य है। वात्सल्यसे नम्रता आती है और कठोरता नहीं होती। (१५५५)



मई - १९९६

प्रभावना पूर्वग्रहपूर्वक नहीं हो सकती। जिसे व्यक्तिगत पूर्वग्रह हो, उसे पारमार्थिक बाधकपना रहता है। जिनेश्वरका मार्ग अति विशाल है। पूर्वग्रह संकुचित्वको उत्पन्न करता है। पूर्वग्रहके कारण अभिप्रायकी भूल रहती है। जो पूरी भूल है। ऊपर-ऊपरसे यह भूल सामान्य लगती है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टिसे इसकी गंभीरता बहुत है। (१५५६)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुको (!) भी कभी-कभी ज्ञानीपुरुषके प्रति अभक्तिके परिणाम हो जाते हैं, उसका क्या कारण ?

समाधान :- ओघभक्ति व स्वच्छंद रहनेसे ऐसा प्रकार बन जाता है। मूलमें ऐसा बननेका कारण अभिप्रायकी भूल है और परमेश्वरबुद्धिका अभाव है। यदि निष्काम भक्ति शुद्ध अंतःकरणसे हो, तो अभक्ति नहीं होती। (१५५७)



आत्मकल्याणके हेतुसे लिखे गये शास्त्रके कथनमें कहीं पर भी पूर्वापर विरुद्धता नहीं होती, फिर भी जिसे विरुद्धता लगती है, उसे आत्मकल्याणका दृष्टिकोण नहीं रहने पर ऐसा लगता है। इसमें अभिप्रायकी भूल रह गई होती है। जिसका आत्मकल्याणका अभिप्राय हुआ है, उसे सर्व वचनोंमें वही दिखता है और समाधान आता है, कहीं पर भी असमाधान नहीं होता या विरुद्धता भासित नहीं होती। (१५५८)



जिज्ञासा :- भावना बढ़ने पर बाह्यमें चेष्टा हो जाती है, वह तो यथार्थ है, परन्तु बाह्यक्रियाका आग्रह हो जाने पर भी बाह्य चेष्टा दिखनेमें आती है, तो दोनोंके बीच रहे अंतरको कैसे समझना ?

समाधान :- भावना यथार्थ हो वहाँ विवेक साथमें रहता है, जिसके कारण बाह्य प्रवृत्ति स्व-पर कल्याणक रहती है। मुख्य-गौण होनेमें भूल नहीं होती - अर्थात् बाह्यक्रियाको यथास्थानमें वह गौण करती है, जब कि जिसे आग्रह होता है उसे पकड़ रहती है। वह क्रियाके आग्रहमें फँसा हुआ होनेसे विवेक चुक जाता है और क्रियाकी मुख्यतामें वर्तता है। वह यथास्थानमें

भी क्रियाको गौण नहीं करता।

(१५५९)



जिज्ञासा :- अधीरजसे काम सफल नहीं होता है, परन्तु भावना-बल हो, वहाँ शीघ्र कार्य होवे ऐसा संवेग आता है, तो (यहाँ) संवेग और अधीरजमें क्या अंतर है ?

समाधान :- अधीरजके परिणाममें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपनी वर्तमान शक्तिका विवेक नहीं रहता। इसलिए वह जीव हठ करता है और अंततः नाकामयाब होता है, तब फिर परिणाम बिगड़ जाते हैं। जब कि भावनावालेको जो संवेग आता है, उसमें यथार्थता होनेसे वह विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करता है, और वह सफल होता है। भावनामें कोमलता है, - अधीरजमें ऐसा गुण नहीं होता। तीव्र भावनावालेको परिणाम नहीं बिगड़ते। (१५६०)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुकी कौन-कौनसी भूमिकामें विपरीत अभिप्राय बदलते हैं व मंद पड़ते हैं ? और वे कौन-कौनसे अभिप्राय हैं ?

समाधान :- मुमुक्षुको सर्व प्रथम :

(१) परिभ्रमणकी वेदना व झुरना वेदनमें आती है। इसके बाद (२) पूर्णताके लक्षसे परिणामोंमें संवेग शुरू होता है। इसके बाद (३) निजावलोकनमें अभिप्रायपूर्वक हो रहे दोष दिखते हैं, तब और तत्पश्चात् (४) स्वरूपका भावभासन होता है, तब विपरीत अभिप्राय पलटने लगते हैं; व शुरूसे ही फीके पड़ने लगते हैं। इस दौरान (५) यदि कोई सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योगरूप परम सत्संग योग प्राप्त होता है, तो ऐसे योगमें प्रयोजनभूत मार्गदर्शन प्राप्त होनेसे भी कितने ही अभिप्राय फीके पड़ते हैं व नष्ट होते हैं। खास करके पूर्वाग्रह, कदाग्रह व मताग्रह तो फीके पड़ते ही हैं। जिससे लोकसंज्ञाके विषयमें प्रतिबंधरूप अभिप्राय निरस्त होता है और कुलपरंपरा व संप्रदायबुद्धि नष्ट होती है। तद्उपरांत अनंतानुबंधी सम्बन्धित प्रकृतिके (चार - क्रोध, मान, माया, लोभ) व कुतूहलवृत्ति सम्बन्धित अभिप्राय ढीले पड़ते हैं।

(१) प्रथम परिभ्रमणकी वेदनाके स्तरमें अभिप्रायपूर्वक संसारबल मिटता है, यानी कि संसार प्रतिके भावोंमें अभिप्राय पलट जानेसे नीरसता / मंदता आती है। तत्पश्चात्

(२) पूर्णताका लक्ष होनेसे आत्मकल्याणका दृढ निर्धार होता है, जिसके कारण तत्सम्बन्धित सर्व विपरीत अभिप्राय बदल जाते हैं और चारों प्रतिबंध ढीले पड़ जाते हैं। इस भूमिकामें मात्र मोक्ष-अभिलाषका अभिप्राय वर्तता होनेसे, लौकिक सुखकी प्राप्तिकी अल्प इच्छा भी नहीं होनेका अभिप्राय हो जाता है। अभिप्रायमें तो मुझे 'इस जगतमेंसे कुछ भी नहीं चाहिए - एक मेरा आत्मा ही शीघ्र चाहिए' - ऐसा हो जाता है। अतः संसारकी उपासनाके जो-जो

अभिप्राय थे, वे सब उक्त अभिप्रायमें पलट जाते हैं। इस भूमिकामें बहुभाग नीवके अभिप्रायोंमें पलटा आता है।

(३) इसके बाद, खुदके दोष देखनेकी भूमिका आती है, जिसमें जो-जो दोष अभिप्रायपूर्वक होते हैं, वे अनुभवपूर्वक समझमें आते हैं और तत्सम्बन्धित प्रयोगपूर्वक उन सभी अभिप्रायोंमें पलटा आता है, जो कि व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न प्रकारसे होता है।

(४) बादमें, भेदज्ञानका प्रयोग शुरू होता है, जिसमें आत्मस्वरूपका भावभासन होता है, तब शेष विपरीत अभिप्राय मिटकर जीवका स्वरूप सन्मुखताका पुरुषार्थ शुरू होता है। जबतक प्रयोजनभूत विषयमें विपर्यास हो तबतक पुरुषार्थ स्वरूपसन्मुख नहीं हो सकता। (१५६१)



जीवको आत्मबुद्धिसे उदयका महत्त्व पूरा-पूरा है, जिसे छोड़नेकी जरूरत है। महिमावंत आत्माके आश्रयसे वह महत्त्व टलता है, परन्तु जीव अपने स्वरूपसे अनजान है। अतः प्रथम ज्ञानीगुरुकी पहचानसे अत्यंत महत्त्व आने पर उदय गौण होता है, तब मोक्षमार्ग मिलता है। स्वरूपकी पहचान होनेके लिए भी ज्ञानीका योग अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। - ऐसी समझ होना यह उपादानकी योग्यता है, और इसलिए यह आत्माका विवेक है। (१५६२)



पूर्णताका लक्ष होनेके पश्चात् मोक्षार्थी जीव निजावलोकनमें आता है, तब प्रथम तो अपने दोषोंको अपक्षपातरूपसे देखता है, - इस प्रकारके अभ्याससे अवलोकन सूक्ष्म होता जाता है, तब अपने कार्यक्षेत्रकी मर्यादाका अनुभव समझमें आता है, वह इस प्रकार कि, मैं सिर्फ भावरूपी कार्य करता हूँ, मेरा कार्यक्षेत्र यहाँ समाप्त होता है। पर पदार्थका कार्य करनेका उदयभाव होता है, परन्तु मेरी पहुँच वहाँ - परमें नहीं है। अतः परका कार्य करना अशक्य दिखता है, जिसके कारण उस उदयभावका जोर टूट जाता है। इस प्रकारके अभ्याससे परकी कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि कमजोर होती जाती है। देहके कार्यमें भी ऐसा ही अनुभव होता हुआ दिखनेसे देहात्मबुद्धि भी मंद होती जाती है। सुखबुद्धि व आधारबुद्धि भी मंद पड़नेसे दर्शनमोहका अनुभाग काफी मात्रामें घटता जाता है, एकत्व पतला पड़ता जाता है। (१५६३)



परमतत्त्व और स्वानुभूति मनातीत व वचनातीत होनेसे, वचन अगोचर है। बहुत ही अल्प मात्रामें उसका कथन आता है। परन्तु वह धर्मात्मा ज्ञानीपुरुषके ज्ञानगोचर (जरूर) है, इसलिए भले ही उस विषयमें पूरा-पूरा नहीं कहा जा सकता हो, फिर भी कहते-कहते ज्ञानीका परिणमन प्रदर्शित हो जाता है, जो कि आत्मभावोंका दर्शन है, और वही ज्ञानीका दर्शन है - जो

भाषासे परे है। भाषासे भी अधिक रहस्य उनकी चेष्टामें प्रदर्शित होता है। ज्ञानीके प्रत्यक्ष योगकी यह अपूर्व घटना अपूर्व लाभका कारण है। (१५६४)



सजीवनमूर्तिकी पहचान उनके सम्यक्त्वसे आती है। जो जीव स्वरूप सन्मुखताके पुरुषार्थमें लगा हुआ हो, जिसे अंतरात्मवृत्ति उत्पन्न हुई हो, उसे सजीवनमूर्तिकी पहचान होती है। सम्यक्त्व - ज्ञानी, मुनि व केवली - तीनोंमें सामान्य है। अतः उन तीनोंमेंसे किसी भी एकके योगमें - प्रत्यक्ष योगमें पहचान होनेका अवकाश है; जो समकितका बीज है। समकित होनेके लिए परिणामकी श्रेणी यहाँसे शुरू होती है। अन्य प्रकारसे शुरू नहीं होती। (१५६५)



जून - १९९६

जिज्ञासा :- किसी भी व्यक्तिके परिचयसे पहचान (भी) होती है और पूर्वग्रह भी बँधता है, तो यह कैसे समझमें आये कि पूर्वग्रह हुआ है या नहीं ? हमें पूर्वग्रह नहीं हो, ऐसा भाव है, तथापि यदि पूर्वग्रह हो तो उसे मिटानेका प्रयोग क्या है ?

समाधान :- पहचान करनेवाला यदि मध्यस्थ रहे तो पूर्वग्रह नहीं बँधता, परन्तु दोषदृष्टि के कारण पूर्वग्रह बंध जाता है।

मध्यस्थभावसे पहचान हो तो, सामनेवालेके गुण या दोषमें वृद्धि हुई हो, उसका यथार्थरूपसे समझकर स्वीकार आता है, परन्तु यदि पूर्वग्रह बंध गया होगा तो, ऐसा फर्क समझमें नहीं आयेगा अथवा खयालमें आने पर भी उसका स्वीकार नहीं होगा।

परमार्थमार्गमें पूर्वग्रह अत्यंत हानिकारक है। इससे पर्यायदृष्टि दृढ़ हो जाती है और योग्यता रुक जाती है। उसमें अभिप्रायका दोष होनेसे, विपर्यास चालू रहता है, जो पुरुषार्थको उत्पन्न होने नहीं देता।

अतः जिसे इस प्रकारके दोषसे बचना हो, उसे जो भी व्यक्तिके प्रति पूर्वग्रह रहता हो, उसके साथ प्रत्यक्ष प्रसंगके दौरान पूर्वग्रह रहित होकर वर्तन करनेका प्रयास कर्तव्य है। और उस व्यक्तिके सम्बन्धमें मध्यस्थभावसे विचार करके रहनेका प्रयास करना चाहिए।

पूर्वग्रह एक प्रकारका शल्य है। इस बातको गंभीरतासे ध्यानमें लेनी चाहिए। परिणामकी गाँठ पूर्वग्रह है। इस ग्रंथिका छेद हुए बिना पुरुषार्थकी गतिमें वेग नहीं आता। (१५६६)



जिज्ञासा :- स्वच्छंद महादोष है। स्वलक्ष वह आत्मार्थीका बड़ा गुण है। दोनों प्रकारके परिणाम उठते हो तब क्या करना चाहिए ?

समाधान :- स्वच्छंद मोक्षमार्गका रोधक है और परिभ्रमणका मुख्य कारण है, तथा अनेक दोषोंकी उत्पत्ति होनेका मूल होनेसे वह महादोष है। इसकी दो प्रकारसे हानि होती है या नाश होता है। एक सत्पुरुषके चरणमें जानेसे अथवा आज्ञाधीनपने रहनेसे और दूसरा अपक्षपातरूपसे अपने दोष देखनेसे। दोनों साधनमें स्वलक्षकी मुख्यता है। स्वलक्षसे स्वच्छंदकी हानि होती है। अतः जितना स्वलक्षीपना बलवान उतना स्वच्छंदका बल घटता है और जितना स्वच्छंद बलवान होता है उतनी स्वलक्षको हानि पहुँचती है। अतः आत्मार्थीको स्वलक्षको तीक्ष्ण व सूक्ष्म करना चाहिए, वरना स्वच्छंद जोर कर जाये।

“रोके जीव स्वच्छंद तो पामे अवश्य मोक्ष” (- कृपालु देव) (१५६७)



परमार्थ मार्गका स्तर अलौकिक होनेसे सर्वोपरी है। उसकी बराबरी या तुलना लौकिक न्याय, नीति या आदर्शके साथ नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, निज परम तत्त्वकी भावनामें गुणभेद व निर्मल पर्यायें (जो वस्तुकी अंगभूत हैं, वे) भी अत्यंत गौण होती है। अरे ! दृष्टि तो उसका स्वीकार भी नहीं करती है, तो वहाँ लौकिक न्यायादिकी तो गिनती भी क्या करना ? अतः परमार्थ तत्त्वके अभिलाषीको उदय प्रसंगमें लौकिक दृष्टिकोण छोड़ देना चाहिए। और उससे हटकर विचार या प्रवर्तन करना चाहिए। (१५६८)



प्रश्न :- कोई-कोई जीव मुमुक्षुतामें आगे बढ़ता है, परन्तु 'मार्गप्राप्ति' तक पहुँचनेमें प्रतिबंध नहीं होनेके बावजूद भी बहुत समय लग जाता है, और उत्कृष्ट मुमुक्षुतारूप योग्यता रुक जाती है, उसका क्या कारण ?

समाधान :- इसके अनेक कारण हैं। व्यक्तिगत अलग-अलग कारण भी होते हैं। मुख्य कारण 'परम दैन्यत्व' की कमीके कारण संपूर्ण आज्ञाकारिता नहीं होती, जिसके कारण जीव कभी-कभी स्वच्छंदसे प्रवृत्ति कर लेता है। किसीको मिथ्यासमता रहा करती है, तो किसीको सूक्ष्म सुखबुद्धि रह जानेसे बाह्य शाताके कारण प्रिय लगते हैं। किसीको पात्रता वश ज्ञानीपुरुषकी ओरसे प्रशंसा आदि प्राप्त होनेमें ज्ञानीपुरुषका आशय उस जीवको आगे बढ़नेकी प्रेरणारूप होता है, परन्तु योग्यताकी क्षतिके कारण वह जीव अहम्भावमें चलने लगता है, तो किसीको किये हुए समर्पणसे अधिकारबुद्धि हो आती है, तो कोई क्रोधादि तीव्र प्रकृतिके उदयमें जुड़कर नुकसान कर बैठता है। जब कि कोई अन्य मुमुक्षुकी अयोग्यता देखते रहनेसे अटक जाता है। - इस तरह अनेक प्रकारकी क्षतिके कारण जो एक लयसे आराधना होनी चाहिए वह नहीं होती। ज्यों-ज्यों जीव आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों रास्ता सँकरा (सूक्ष्म) होता जाता है, इसलिए

अत्यंत सावधानीकी जरूरत है, यह लक्षमें रहना / होना चाहिए। (१५६९)



मुमुक्षु ज्यों-ज्यों अपनी भूमिकामें आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दर्शनमोह सम्बन्धित सूक्ष्म दोष भी समकितमें बाधक होता है; जैसे पर्वतकी ऊँचाई बढ़ने पर रास्ता सँकरा होता जाता है वैसे। दृष्टांतरूपसे सम्यक् सन्मुख मुमुक्षुकी भूमिका उत्कृष्ट है, उस भूमिकामें यदि थोड़ा भी स्वरूपकी महिमा और पुरुषार्थकी पर्याय पर वज़न चला गया, तो उतना स्वरूप परसे वज़न कम हो जायेगा, जिसके कारण स्वरूपका अवलंबन लेनेमें ज्यादा समय लग जाता है, क्योंकि वहाँ अपर्याप्त वज़न देनेमें आया। (१५७०)



* निर्विकल्प स्वरूपके अवलंबनके पुरुषार्थमें, चलते हुए विकल्पका निषेध वर्तता है; अन्यत्व भासित होता है।

* परिपूर्ण अंतर्मुख स्वभावकी भावना, बहिर्मुख वृत्तिका निषेध करती है, बाह्यवृत्तिके प्रति उपेक्षा होती है।

* परसे भिन्नत्वकी भावना, स्वरूपकी असंगताको दृढ़ करके परभावके (साथ हो रहे) एकत्वको रोकती है।

* स्वरूप-शुद्धत्वको भाते हुए पवित्रताका आविर्भाव होता है।

* परिपूर्ण सुखकी प्रतीति, (परके प्रति) परम वैराग्य व उदासीनताको उत्पन्न करती है।

* प्रत्यक्ष स्वरूप संवेदन पुरुषार्थको उछालता है।

* परम शांत सुधामयी शांति आकुलताको दूर करती है।

* अभेद निज स्वरूपकी व्यापकता, एकाग्रतारूप ध्यानको उत्पन्न करती है। (१५७१)



गुणवानका दासत्व गुणग्राहीपनेका लक्षण है, क्योंकि उसमें गुणकी अनुमोदना है, उसे सामान्य राग गिन लेना उचित नहीं है। ऐसा दासत्व दर्शनमोहको मंद करता है। अंतरसे गुणका परम आदरभाव प्रगट होता है, तब सच्चा दासत्व भाव आता है। धर्मके परम आदरमें से साधर्मी वात्सल्य उत्पन्न हुआ है। (१५७२)



जिज्ञासा :- अध्यात्ममें शुभभावरूप व्यवहारका कड़ा निषेध आता है, उसमें क्या हेतु है ? सामान्य योग्यतावान जीवको इससे नुकसान होनेका संभव है ? तथापि शुभ परिणाममें कुछएक गर्भित विशुद्धियाँ हैं, यह बाबत तो बिलकुल छूट जाती है ? तो इसमें यथार्थता कैसे रहे ?

समाधान :- अध्यात्मका उपदेश तथारूप पात्रतावान जीवको देनेमें आता है, सर्व साधारणको नहीं। बहुतसे आगे बढ़े हुए जीवको सूक्ष्म-व्यवहारनयका पक्ष रह जानेसे स्वरूप आश्रय नहीं हो पाता है। इस अटकावसे निकालने हेतु व्यवहारका कड़ा निषेध किया गया है, और वह उसके स्थानमें योग्य ही है। इससे नीचेकी योग्यतावाले जीवको उसका प्रयोग करने जाये तो नुकसान होनेका संभव है, इसी वजहसे गुरु-आज्ञामें चलनेकी शिक्षा दी गई है। गुरु-आज्ञामें चलनेवाला संभवित नुकसानसे बच जाता है। वही उसका विवेक है। यद्यपि कषायरस शुभमें कम होता है, यह विशुद्धि तो है, परन्तु इसमें यथार्थता होना आवश्यक है, अन्यथा परमार्थसे उसका कोई उपयोगीत्व नहीं है; क्योंकि बादमें कषायरस तीव्र हो जाता है।

पर्यायदृष्टिके निषेधमें सर्व पर्यायों परसे वजन उठ जाता है, उसमें शुद्ध पर्यायोंका भी समावेश है, तो फिर शुभ (सकषाय) भावको तो क्या गिने ?

इस प्रकारकी योग्यतामें आये बिना अपूर्व ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रगट नहीं होती। इसलिए द्रव्य स्वभावका भावभासन होनेके साथ मुमुक्षुके प्रयासके प्रकारमें एकदम बड़ा फर्क आ जाता है। उसका पर्यायका लक्ष पलटकर द्रव्यकी धुनमें परिवर्तित हो जाता है - इस प्रकार व्यवहारके निषेधमें अति महत्त्वपूर्ण पारमार्थिक हेतु छिपा हुआ है; जिसका व्यवहार पर वजन है, उसे यह रहस्य समझमें नहीं आता। (१५७३)



जिज्ञासा :- पक्षातिक्रान्त होनेके पहले निश्चयनयका पक्ष रहता है, परन्तु स्वरूप लक्षमें है, तो फिर वहाँ आत्मार्थी जीवको पक्षकार क्यों कहा ? स्वरूपलक्ष होनेसे स्वरूपके प्रति खिँचाव सहज रहे, उसमें अनुचित क्या है ?

समाधान :- रागके साथ जीवका अनादिसे एकत्व चला आ रहा है, ऐसी स्थितिमें जब स्वरूप निश्चय हुआ; इसके पहले पर्याय पर जो वजन था; वह पलटकर स्वभावकी जो मुख्यता हुई, यह परिवर्तन तो उचित ही हुआ है, परन्तु अभी भी दर्शनमोह नहीं गया, इसलिए स्वरूप सम्बन्धित विकल्पमें अपनत्वका अनुभव चल रहा है। जो कि स्वरूपके अभेद अनुभवमें बाधक है। जिसको तोड़नेके लिए निर्विकल्प स्वरूप प्रति जोरवाला पुरुषार्थ आवश्यक है; स्वरूप प्रत्यक्षताके कारण यह पुरुषार्थमें उग्रता आने पर स्वरूपमें एकाकार होनेसे - लीनता होनेसे चारित्रकी पर्यायमें वीतरागता प्रगट होती है, जिसके कारण रागमें 'मैं पना' का अनुभव छूट जाता है, जिसके छूट जाने पर जो सूक्ष्म दर्शनमोह था, उसका अभाव हो जाता है और अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व प्रगट होता है। स्वरूप लक्ष होनेसे स्वरूपका खिँचाव रहे सो तो उचित है ही, परन्तु रागका एकत्व होनेसे 'नय पक्ष' कहा है। सम्यक्त्व होनेके पश्चात् स्वरूप लक्ष

व स्वरूपकी मुख्यता रहती है, परन्तु जहाँ चैतन्य रागसे भिन्न रहता है, ऐसे ज्ञानीको पक्षकार नहीं कहा। (१५७४)



श्रीगुरुके चरण सानिध्यकी आवश्यकताका रहस्य मुक्त होनेके प्रयत्नमें लगे हुए जीवकी समझमें आता है। अबोध दशामें हुई उलझन (अनादिसे असमाधानके कारण उलझन) श्रीगुरुके बोधसे शांत हुई इसका अनुभव, श्रीगुरुके गुणानुवादके रूपमें व्यक्त होता है। ऐसा पात्र जीव सम्यक्दर्शनका अधिकारी है। (१५७५)



जुलाई - १९९६

मुमुक्षुजीवके दासत्वको भानेवाले ज्ञानीके ज्ञानको पुनः पुनः वंदन हो ! (१५७६)



'संपूर्ण आज्ञाकारितामें आये बिना संसारसे तिरना असुलभ है। अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हुए अनादिसे जीव भटक रहा है।'

- ऐसा विवेक निकटभवी जीवको उत्पन्न होता है। (१५७७)



जिज्ञासा :- कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है, ऐसा बराबर समझमें आता है, फिर भी उदयके वक्त अच्छा / बुरा लगता है, तो वैसा नहीं लगे इसके लिए क्या करें ?

समाधान :- उदयके वक्त यदि अच्छेपनकी या बुरेपनकी कल्पना होती हो तो, वास्तविकताका अनुभव करनेका प्रयास करना चाहिए और उसी पदार्थका जब वह उदयमें न हो, तब प्रयोगमें लेकर परिणमनकी जाँच करनी चाहिए। ऐसा अभ्यास करनेके पहले विभिन्न पदार्थ जो कि उदयमें हो इसके सम्बन्धित कल्पित अभिप्रायको छोड़ देना चाहिए। अथवा कल्पित अभिप्रायको बदलनेके लिए बारबार उपर्युक्त प्रयोग करना चाहिए। (१५७८)



मुमुक्षुजीवको सत्संग करनेमें विवेक होना अति आवश्यक है। इसके लिए बहुत दरकार होनी चाहिए। समान गुणी या विशेष गुणीका संग कर्तव्य है, वह भी अगर उपलब्ध न हो तो हीनगुणीके संगमें यदि खुदके आत्मभाव विशेषरूपसे आविर्भूत होते हो या आत्मरुचि वृद्धिगत होती हो तो उसमें बाधा नहीं है। किसीका भी संग होनेके वक्त यह बातकी जाँच कर लेनी चाहिए। अगर ऐसी दरकार नहीं की जाये तो नुकसान - (मिथ्यात्वकी पुष्टि) हो जानेकी संभावना है। (१५७९)

जिज्ञासा :- आत्मकल्याणको मुख्यता देनेसे और संसार / उदयको गौण करनेसे, संसारका कार्य बिगड़ जानेका भय रहता है ? तो क्या करना ?

समाधान :- संसारमें सर्व प्रसंग पूर्व प्रारब्ध अनुसार बनते हैं, उसमें बिगाड़ - सुधार नहीं हो सकता, इसलिए वैसा भय अज्ञानसे होता है। संसारके कार्यमें उदासीनता रहे, यह मुमुक्षुका लक्षण है (ज्ञानदशामें सहज है, क्योंकि ज्ञानीको उसमें अपनत्व नहीं है)। इस तरह दोनों पहलूसे समाधान रहनेसे निःशंकता और निर्भयता आ जाती है। भय तो अपनत्वके कारण होता है। यदि उदयमें अपनत्व नहीं लगे तो उसकी चिंता व भय कैसे होगा ? अतः अपनत्व छोड़नेका प्रयत्न करना चाहिए। (१५८०)



जिज्ञासा :- समझ बराबर है, फिर भी मोह बलवान होनेसे, काम नहीं होता है, तो क्या करें ?

समाधान :- ज्ञान और मोह दोनों परस्पर प्रतिपक्षी है। जो बलवान होता है वह जीतता है। स्वलक्षी ज्ञान बलवान होकर मोहको मारता है। और यदि मोह बलवान हो तो समझको खा जाता है। अतः आत्मार्थीके लिए समझको स्वलक्ष द्वारा बलवान - दृढ़ करनेसे मोह निर्वल होगा और आत्महितमें आगे बढ़ना हो पाएगा। (१५८१)



जिसे अपने गुरुके प्रति प्रेम होता है, उसे गुरुको जिसके प्रति प्रेम हो, उसके प्रति सहज प्रेम उत्पन्न होता है। यथार्थतामें ऐसा सहज है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो परमार्थमार्गमें आगे बढ़नेकी योग्यता रुक जाती है। (१५८२)



निजदोषका अवलोकन अपक्षपातरूपसे दोष मिटानेके उद्देश्यसे होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो, उस विषयमें सत्संगके वक्त, दोषकी मुख्यता - दोषदृष्टि तीव्र हो जायेगी, ऐसा अभ्यास आपसमें दोषोंकी चर्चाके दौरान संभवित है। अतः गुणकी मुख्यता रखकर वैसी अवलोकनकी Practice होनी चाहिए और शुरूसे ही सर्व पर्यायकी गौणता व परम स्वभावकी मुख्यता करनेका लक्ष होना चाहिए। (१५८३)



जिज्ञासा :- ज्ञानीपुरुषकी परीक्षा, जब योग्यतावान जीव करता है, तब कौन-कौनसे खास मुद्दोंसे उस जीवको प्रतीति आती है ?

समाधान :- (१) ज्ञानीकी वाणीका आशय, परमार्थरूप आत्मकल्याण केन्द्रस्थानमें रहता

है, उस पर उस जीवका लक्ष जाता है। इसके उपरांत,

(२) सत्संगमें आनेवाले पात्र जीवको अपनी आत्मा पर जो असर आती है, उससे उसको प्रतीत आती है, भक्ति आती है।

(३) ज्ञानीकी वाणीमें ही अंतर्मुख होनेकी विधि आती है, उसमें उनका अनुभव व्यक्त होता है। विधि प्रयोगात्मक होनेसे, प्रयोगका विषय अन्यत्र व्यक्त नहीं होता; नहीं हो सकता - ऐसा समझमें आता है।

(४) ज्ञानी संप्रदायसे अलग पड़ते हैं, क्योंकि संप्रदायमें सर्वत्र त्यागी लोग चारित्रमोह मंद होवे ऐसा उपदेश देते हैं, दर्शनमोहका नाश होनेके विषयसे वे अनजान होनेसे, सिर्फ कषायकी मंदता द्वारा धर्म प्राप्ति मान लेते हैं - यह गृहीत मिथ्यात्व है। जब कि ज्ञानी दर्शनमोहका अभाव हो वैसा उपदेश देते हैं। अर्थात् निश्चयकी मुख्यतापूर्वक व्यवहारको गौण करते हैं।

(१५८४)



जिज्ञासा :- परलक्ष छोड़ना ज़रूरी है, फिर भी हो जाता है, तो उसका क्या कारण है ? उसको मिटानेका उपाय क्या है ?

समाधान :- पररुचिके कारण परलक्ष रहा करता है, इसलिए पहले आत्मरुचि द्वारा पररुचिको मिटाना चाहिए।

ज्यों-ज्यों आत्मरुचि बढ़ती है, त्यों-त्यों परकी उपेक्षा होती है। इसके अलावा सत्संग और सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति, वह सुगम और सर्व श्रेष्ठ उपाय है, कि जिससे स्वच्छंद, पूर्वग्रह आदि अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न ही नहीं होते।

(१५८५)



मताग्रह अर्थात् अपने मतका / अभिप्रायका आग्रह। रूढ़ि अर्थ 'सांप्रदायिक मत' का आग्रह है। दोनों स्वच्छंद - दोष है। ज्ञानीपुरुषका सत्संग प्राप्त होनेसे यह दोष सहज मिटता है। सांप्रदायिक मतका आग्रह होनेसे जीव मत-मतांतरमें फँस जाता है और खुदकी - मुमुक्षुकी भूमिकाका प्रयोजन चुक जाता है। अतः ज्ञानीपुरुष उस बातसे मुमुक्षुको दूर ही रखते हैं और 'सत्' के अभिप्राय प्रति ले जाते हैं। खुदका मत 'सत्' होना वह यथार्थ है, फिर भी उसका आग्रह नहीं होना चाहिए; यद्यपि 'सत्' के प्रति दृढ़ता होनी आवश्यक है। सांप्रदायिक मताग्रह संकुचितताको उत्पन्न करता है, जिससे मध्यस्थताका अभाव होता है; और रूढ़िगत हो चुकी विकृतियोंका स्वीकार हो जाता है व सत्यकी परख नहीं रहती। और खुदके मतका आग्रह रहता होनेसे ज्ञानीका अभिप्राय ग्रहण नहीं हो सकता। 'सत्' के स्वीकारमें विशालता

होती है।

(१५८६)



जिज्ञासा :- आग्रह और दृढतामें क्या फ़र्क है ?

समाधान :- आग्रहके परिणाम परलक्षी और कषाय युक्त होते हैं, इसलिए दुर्गुण है। जब कि दृढता है, वह स्वलक्षी परिणाम है, जो अपने लिए सत्य अथवा सिद्धांतसे जुड़े रहनेकी दृढता है, इसलिए वह सद्गुण है। इस तरह दोनों परिणामोंमें भेद है। (१५८७)



स्वकार्यकी अगंभीरता - यह जीवका अपराध है। दर्शनमोहकी प्रबलताके कारण जीव निज हितकी बातको गंभीरतासे उठाता नहीं है, और समझते हुए भी प्रमाद छोड़ता नहीं है। गंभीर उपयोग होनेके लिए तथारूप सत्संग उपकारी है। (१५८८)



अगस्त - १९९६

खुदकी योग्यता / अयोग्यता अनुसार उपदेशको अंगीकार करने पर जीवका वज़न जाना चाहिए। विशाल श्रुतसमुद्र संसारसमुद्र तिरनेके लिए है। अन्यथा कल्पना नहीं हो जाये, इसके लिए सिद्धांतोंको जानना ज़रूरी है, वज़न देनेकी ज़रूरत नहीं है। यदि जानकारीके विषय पर वज़न गया, तो सहजमें शास्त्रीय अभिनिवेश हो जायेगा। वस्तु व्यवस्थाकी जानकारी हेतु सिद्धांतज्ञान उपकारी है, तथापि वज़न देने - नहीं देनेमें प्रयोजनकी दृष्टि चाहिए।

(१५८९)



भावोंको व्यक्त करनेके लिए भाषामें शब्द हैं। इन शब्दोंके द्वारा भावोंको समझने-समझानेकी रीत है। बहुभाग मनुष्य शब्दार्थ - भावार्थको समझ लेता है, परन्तु यथार्थ समझ करनेके लिए विभिन्न भावोंको अनुभवपूर्वक - उसका मिलान करके समझनेकी पद्धति होनी चाहिए, तो उस समझसे भावभासन होवे और सर्व पहलूसे समझमें आये, जिससे निःशंकता आये; शब्दके अर्थको स्मरणमें रखनेका बोझा उठाना नहीं पड़े। - यह समझनेकी यथार्थ अनुभव-पद्धति है।

(१५९०)



पात्रताका यह लक्षण है कि जीवको अपने अज्ञानका भय लगे व संसार कारागृह लगे।

(१५९१)



सभीको आत्मरूप देखना।

राग पुद्गल आश्रित है। आत्मीयता - प्रेम आत्मभावसे उत्पन्न होता है। (१५९२)



जिज्ञासा :- व्याख्या (Theory) व प्रयोग (Practical) को एक-दूसरेसे क्या सम्बन्ध है ?

समाधान :- व्याख्यासे वस्तु व्यवस्था समझमें आती है। समझमें आयी हुई बातको चलते हुए परिणामनमें लागू करना, अमल करनेका प्रयास करना, वह प्रयोग है। इस प्रकारसे सम्बन्ध है। (१५९३)



जिज्ञासा :- ज्ञानीके प्रति राग है या भक्ति, यह फ़र्क कैसे समझमें आये ? दोनों परिणामोंके अंतरंग व बाह्य लक्षण दर्शाईये ?

समाधान :- भक्तिमें समर्पण आता है, विवेक रहता है। निष्कामबुद्धि होनेसे बाह्य प्रसंगकी अपेक्षा नहीं रहती। स्वच्छंद निरोध व आज्ञाकारिता, एवं वचनकी अचल प्रतीति होती है। जिसके कारण निर्मलता और प्रेमका आविर्भाव होता है। भक्ति गुण आधारित है।

जब कि रागमें बाह्य दृष्टि और अपेक्षावृत्ति, सकामता, स्वच्छंद इत्यादि होते हैं। रागी जीव धनादिका समर्पण यदि करे, तो भी उसमें अहम्भाव हो जाता है, इतना ही नहीं कभी-कभी उदयमें अविवेक भी हो जाता है। राग, बाह्य व्यक्तित्व आदि पर आधारित होता है।

(१५९४)



जिज्ञासा :- अपने उपकारी श्री ज्ञानी गुरुकी अनन्य भक्ति होने पर भी क्षेत्रसे दूर रहना पड़ता हो, तो अनन्य भक्ति और बाह्य परिणामोंका मेल कैसे समझे ? इसमें जो रहस्य हो वह समझाईये।

समाधान :- क्षेत्रसे दूर रहनेका भक्तिमानका अभिप्राय नहीं होता। फिर भी उदयका बंधन ज्ञानीको भी होता है। परम सत्संगकी भावना तीव्र होती है, उसमें अंतराय करनेवाले उदयके प्रति भावमें रस, रुचि नहीं रहते, बहुत निषेध आता है; तब इतना ही नहीं भक्तिभाव बढ़ जाता है। अंतरायके कारण भक्तिभावमें तनिक सा भी फ़र्क नहीं पड़ता। परन्तु निर्मलता बढ़ती जाती है। ऐसा रहस्य है। (१५९५)



जिज्ञासा :- ज्ञानीकी अंतर परिणतिकी, मुमुक्षुजीवको पहचान अंतर्मुखताके प्रयासके वक्त होती है या बहिर्मुख परिणामके वक्त ?

समाधान :- ज्ञानीकी वास्तविक पहचान तो तथारूप सत्संग प्राप्त होने पर, दृढ़ मुमुक्षुता आने पर, सत्संग योगमें प्राप्त उपदेश अवधारण करने पर, तथा अंतरात्मवृत्ति उत्पन्न होने पर होती है। खुदको लागू होनेवाले प्रयोजनभूत उपदेशका अमलीकरण करनेके लिए संवेग प्राप्त जीव, अंतर्मुखताके मार्गको परम उत्साहसे चाहता है, तब उसे विद्यमान ज्ञानीपुरुषकी अंतर परिणतिके दर्शन होते हैं। (और) तब पहचान होती है। (१५९६)



जिज्ञासा :- ज्ञानी चारित्रमोहको मिटानेके लिए कैसे पुरुषार्थ करते हैं ?

समाधान :- ज्ञानी चारित्रमोहको मिटानेके लिए बार-बार भेदज्ञानपूर्वक स्वानुभूतिका पुरुषार्थ करते हैं। जिससे वीतरागता व आत्मस्थिरता बढ़नेसे चारित्रमोह प्रक्षीण होता जाता है।

(१५९७)



जिज्ञासा :- भवभ्रमणकी वेदनापूर्वक पूर्णताका लक्ष बाँधकर उत्तरोत्तर ऊपरी भूमिकाके क्रमसे आगे बढ़कर स्वानुभूति प्राप्त करनेवाला जीव, शुरुसे ही 'क्रमसे चलना है' - ऐसा अभिप्राय रखता है क्या ? सर्व प्रथम वेदना आनी चाहिए ऐसा अभिप्राय रखनेमें भूल है या नहीं ? यथार्थ अभिप्राय शुरुसे कैसा होता है ?

समाधान :- क्रमकी जानकारी हो तो ही क्रम प्रवेश करके जीव स्वानुभूति तक पहुँच सकता है, ऐसा नियम नहीं है। तथापि सहज क्रमपूर्वक जीव आगे बढ़ता है, और मोक्षमार्गके समीप होता जाता है। बौद्धिक स्तर पर क्रमकी जानकारी होनेसे, क्रमकी शुरुआत हो जाये, ऐसा भी सर्व जीवके लिए नहीं बनता।

सर्व प्रथम वेदना आनी चाहिए, ऐसा अभिप्राय होनेमें भूल नहीं है।

शुरुआतसे यथार्थ अभिप्राय ऐसा होता है कि, 'किसी भी कीमत पर अब मुझे संसारसे मुक्त होना ही है, और श्रीगुरुकी आज्ञाधीनपने आत्मकल्याण कर लेना है।' और तदनुसार उस जीवका प्रयास चालू हो जाता है। (१५९८)



जिज्ञासा :- कई मुमुक्षुओंमें शम, निर्वेद (वैराग्य), आस्था, अनुकम्पा होने पर भी, संवेगकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? संवेगकी उत्पत्ति कैसे हो ?

समाधान :- संवेग उत्पन्न नहीं होनेका कारण मोक्षका ध्येय / लक्ष नहीं बंधा, यह है। जिसे परिभ्रमणकी चिंतापूर्वक वेदना - झुरना (तड़पन) होकर पूर्णताका लक्ष्य होता है, उसे संवेग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि उसे ऐसा भासित होता है कि, 'मेरा बहुत काम

बाकी है और मेरे पास समय थोड़ा है।' इसलिए स्वकार्य शीघ्र कर लेनेके लिए सहज वृत्तिमें वेग आता है। अतः संवेगकी उत्पत्ति होनेके लिए पूर्णताका लक्ष होना आवश्यक है।

(१५९९)



जिज्ञासा :- जीवको भवभ्रमणकी वेदना हुई न हो, पूर्णताका लक्ष्य बंधा न हो, फिर भी ज्ञानीपुरुषके प्रति भक्ति हो, तो वह यथार्थ हो सकती है या नहीं ?

समाधान :- यथार्थ भक्ति तो पूर्णताका लक्ष्य होनेके बाद पहचानके कारण आती है, इसके पहले ओघभक्ति होती है। ऐसी भक्ति दो प्रकारसे होती है, एक सकाम और दूसरी निष्काम। सकाम भक्तिमें दृष्टि मलिन होनेसे उससे मिथ्यात्व नहीं गलता, जब कि निष्काम भक्तिसे निर्मलता आती है इसलिए उसका निषेध कर्तव्य नहीं है।

(१६००)



जिज्ञासा :- अगर ज्ञानीपुरुषकी अंतर परिणतिकी पहचानपूर्वक भक्ति आये तो, वह जीव अन्य ज्ञानीको परिचयसे पहचान सकता है या नहीं ? अन्य मुमुक्षुकी योग्यताको नाप सकता है या नहीं ? ज्ञानीके प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है ? अन्य मुमुक्षुके प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है ?

समाधान :- ज्ञानीपुरुषकी अंतर परिणतिके दर्शनसे / पहचानपूर्वक अगर भक्ति आयी हो, तो वह जीव अन्य ज्ञानीको परिचयसे पहचान सकता है, जैसे एक हीरेको परखनेवाला सभी हीरेकी परख कर सकता है वैसे। और वह जीव अन्य मुमुक्षुकी योग्यताको भी नाप सकता है। ज्ञानीके प्रति उसका व्यवहार सर्वार्पणबुद्धि पूर्वक अत्यंत भक्ति सभर होता है। अन्य मुमुक्षु - मुमुक्षुके प्रति उसका व्यवहार साधर्मी वात्सल्ययुक्त होता है। ईर्ष्या या द्वेषके परिणाम उसको नहीं होते। इसके अतिरिक्त दूसरोंको सत्समागममें अंतराय हो, वैसा अभिप्राय या परिणाम (भी) उसे नहीं होता।

(१६०१)



जिज्ञासा :- ज्ञानीके ज्ञानकी अंतर परिणति माने क्या ?

समाधान :- ज्ञानीकी अंतर परिणतिमें मुख्यतः अंतर्मुखी श्रद्धा, ज्ञान (स्वसंवेदन), स्वरूपाचरण / वीतरागता, आत्मशांति, और पुरुषार्थके सम्यक् भावोंका परिणमन होता है। गौणतासे अनन्त सर्व गुणोंका शुद्ध परिणमन होता है।

(१६०२)



जिज्ञासा :- सम्यक्ज्ञानके दो पहलू (१) अभिप्राय (२) उपयोग, दोनों निश्चयरूप व व्यवहाररूप

व्यवस्थित कैसे परिणमन करते हैं ?

समाधान :- सम्यक्ज्ञानमें अभिप्रायकी दृष्टिसे तो सर्वथा एक अपना स्वरूप ही उपादेयरूप वर्तता है - यह निश्चय है। व्यवहारमें देव, शास्त्र, गुरुका आदर प्रसंगके अनुरूप होता है। जो उपयोग निज स्वरूपका अवलंबन लेता है, वह निश्चयरूप है, और उदय प्रसंगमें देव, शास्त्र, गुरुके प्रति जो उपयोग जाता है, वह व्यवहाररूप परिणमन है। इस प्रकार दोनों प्रकारके परिणामकी व्यवस्था मोक्षमार्गमें है। (१६०३)



जिज्ञासा :- कृपालुदेवने पत्रांक - २१३में आत्मा और जिनेन्द्र परमात्मासे भी प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी अधिक महिमा की है, उसमें क्या रहस्य है ?

समाधान :- अनादिसे परिभ्रमण कर रहा यह जीव अपने स्वरूपसे अनजान है, इसलिए वह दुःखी है, और सत्पुरुषकी पहचान हुए बिना कोई आत्मस्वरूपको पहचान नहीं सकता, क्योंकि वह शक्तिरूप है। जब कि सत्पुरुषमें आत्मा प्रगट है और वे ही आत्माको बतलानेवाले है। इतना ही नहीं जिनेन्द्रका सूक्ष्म स्वरूप बतलानेवाले भी सत्पुरुष ही है। और तो और वर्तमानमें जिनेन्द्रका प्रत्यक्षयोग संभवित भी नहीं है। वे तो पूर्ण वीतराग है। यदि प्रत्यक्ष होते तो भी जब जिज्ञासा उठे तब उनके साथ प्रश्नोत्तरीका सीधा प्रसंग नहीं होता। सत्पुरुषके साथ ऐसा प्रसंग जिज्ञासुको सुगमतासे उपलब्ध हो सकता है।

इस तरह सत्पुरुषका अधिक उपकारीपना होनेसे उनकी अधिक महिमा की गई है, जो यथार्थ ही है। यथा -

'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।' (१६०४)



जिज्ञासा :- ज्ञानीका अभिप्राय श्रद्धाके अनुसार (स्वरूपमें लीन रहना) होता है, फिर भी प्रभावना आदि कार्यमें क्यों जुड़ते हैं ? अभिप्राय विरुद्ध प्रवृत्ति क्यों करते हैं ?

समाधान :- पुरुषार्थकी कमीके कारण उपयोग बाहर जाता है, तब ज्ञानीका उपयोग विवेकपूर्वक देव, गुरु, शास्त्र - सम्बन्धित प्रवृत्तिमें जुड़ता है। जो कि अशुभसे बचनेके लिए है। परमार्थसे उसका निषेध होनेसे उसे कम करते हुए अंततः वे संपूर्ण स्वरूप लीनताको प्राप्त करेंगे। जिसके लिए उनका पुरुषार्थ (धारावाही) होता है। (१६०५)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुजीवकी योग्यता व पुरुषार्थ, उन दोनोंमें क्या फर्क है ? क्या मेल है ?
समाधान :- पुरुषार्थ जो है वह जीवकी वीर्य गुणकी पर्याय है। योग्यतामें, उसकी और

इसके अलावा श्रद्धा, (मंद मिथ्यात्व), ज्ञानकी निर्मलता / यथार्थता आदि (दूसरे) अनेक गुणोंके अनुरूप परिणामन, (सबकी) गिनती होती है। पुरुषार्थ जितना सही दिशामें कार्य करे, उतनी योग्यता विशेष - ऐसा समझने योग्य है। इस प्रकारका मेल है। (१६०६)



जिज्ञासा :- ज्ञानीकी अंतर परिणतिको पहचानने वाले जीवको ज्ञानीके नेत्रमें कैसे भाव दिखाई देते हैं ?

समाधान :- वैसी पहचानके क़ाबिल योग्यतावान जीवको ज्ञानीके नेत्रमें वीतरागता, अंतर्मुखता, शांत रस, निर्मलता, निस्पृहता, व स्वरूप प्रत्यक्षतासे उत्पन्न ऐसे आत्मिक पुरुषार्थके दर्शन होते हैं। (१६०७)



सितम्बर - १९९६

जिज्ञासा :- ज्ञानीपुरुषके प्रति परम भक्तिकी मुमुक्षुजीवके पुरुषार्थको उठानेमें क्या भूमिका है ? और वह किस प्रकारसे ?

समाधान :- ज्ञानीपुरुषकी परमभक्तिसे दर्शनमोहका अनुभाग कम होता है; जिससे पुरुषार्थ सहज उग्र होता है, क्योंकि ज्ञान, निर्मल होकर प्रयोजन / निजहितको यथार्थरूपसे समझनेके लिए सक्षम होता है। (१६०८)



जिज्ञासा :- जीवको परिभ्रमणकी चिंता ऊपर-ऊपरसे है या यथार्थ है - यह कैसे मालूम हो ? दोनों प्रकारमें क्या फ़र्क है ?

समाधान :- यथार्थतामें परिणाम एक लयसे कार्य करते हैं और यथार्थ वैराग्य / उदासीनतापूर्वक पूर्णताका लक्ष बंधता है। ऊपर-ऊपरकी चिंतना चालू नहीं रहती। जीव अन्य उदयमें रस लेकर जुड़ जाता है। वेदनादि सहज नहीं होते, इसलिए कृत्रिमता होती है, और वह एक समस्या बन जाती है। (१६०९)



जिज्ञासा :- सत्पुरुषकी पहचान हो उस जीवकी भक्ति और सम्यग्दृष्टि जीवकी भक्ति, दोनोंमें क्या अंतर होता है ? दोनोंके भेदज्ञानके प्रयासमें क्या फ़र्क होता है ?

समाधान :- सत्पुरुषकी पहचान होने पर जीवको परमेश्वरबुद्धिसे परम भक्ति आती है, जब कि परमार्थ समकित होने पर वह जीव स्वयं ही सत्पुरुष बनता है, फिर भी अपने उपकारी गुरुके प्रति, भूतकालमें हुए तीर्थकरसे भी अधिक भक्ति आती है, महिमा आती है।

अपनी प्रत्येक पर्यायमें सद्गुरुका उपकार / महिमा वेदनमें आती है। (१६१०)



जिज्ञासा :- प्रयोजनकी दृष्टि नहीं हो परन्तु ज्ञानीपुरुषकी भक्ति हो, ऐसा बन सकता है क्या ?

समाधान :- यदि सकाम भक्ति हो तो प्रयोजनकी दृष्टि नहीं होती, परन्तु यदि निष्काम भक्ति हो, तो निजहितके प्रयोजनको पकड़नेकी योग्यता आती है। क्योंकि निष्काम भक्तिसे ज्ञानमें निर्मलता आती है। (१६११)



जिज्ञासा :- श्रीमद्जी लिखते हैं कि, 'अपने निमित्तसे भी दूसरेको दोष करते हुए रोको' - इस वचनमृतमें उनका क्या आशय है ?

समाधान :- उनका आशय ऐसा है कि, 'दूसरे जीवको यदि खुदकी कोई ऐसी प्रवृत्ति की वजहसे दोष उत्पन्न होता है, ऐसा मालूम पड़े तो उसको दोष नहीं हो, वैसा तू कर। जैसे कि कोई-कोई जीव अज्ञानसे द्वेष भावपूर्वक ज्ञानीपुरुषकी विराधना करते हो, तो उनके प्रति द्वेष नहीं करके, उनके साथ सरलता व सज्जनतापूर्ण व्यवहार रखना चाहिए, कि जिससे वे वैसा द्वेष करना भूल जाये, अथवा खुदको यदि ऐसा मालूम पड़े कि मेरी अमुक प्रवृत्तियोंसे सामनेवाले जीवके परिणाम बिगड़ते हैं, तो वैसा नहीं हो, उस प्रकारका प्रयास करना चाहिए, परन्तु आत्महितकी प्रवृत्ति करनेसे अटकना नहीं। (१६१२)



जिज्ञासा :- राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषमें जीवको सबसे अधिक नुकसान किस दोषसे होता है ? सर्व प्रथम किस दोषको मिटाने योग्य है ? और इसका उपाय क्या है ?

समाधान :- राग, द्वेष और मोह इन तीनोंमेंसे, मोहसे जीवको अधिक नुकसान होता है, क्योंकि वह सबसे बड़ा दोष है। और उसे पहले मिटाने योग्य है। ऐसी जिन नीति है। मोहको मिटानेके लिए सत्संगादि साधन है। अंतरंग साधन तो मुक्त होनेकी जिज्ञासा है। आत्मज्ञानसे मोह टलता है और फिर क्रमशः राग-द्वेष मिटते हैं। (१६१३)



जिज्ञासा :- विद्यमान सत्पुरुषके प्रति बाह्यमें भक्तिके परिणाम होनेके बावजूद भी, वह मुमुक्षु दूसरे जीवको सत्पुरुषकी विराधनामें निमित्तरूप होता हो, ऐसा बन सकता है क्या ? इसमें मुमुक्षुकी भूल किस प्रकारसे होती है ? दूसरे मुमुक्षुको उस मुमुक्षुकी उपेक्षा करनी चाहिए या नहीं ?

समाधान :- ओघसंज्ञा सहित भक्ति होने पर, उस मुमुक्षुको प्रकृतिदोषके कारण ऐसा बनता है। उस जीवको प्रकृति दोषको मुख्य करनेकी योग्यता होती है, तब वैसा बनता है। परलक्षकी भूलसे दूसरे जीवके दोषोंको मुख्य करनेका बन जाता है, इसलिए भूल खुदकी है। प्रकृतिदोषवाले उस जीवको भी खुदके निमित्तसे दूसरोंको नुकसान नहीं हो जाये, इसकी सावधानी रखने योग्य है। दूसरे मुमुक्षुको भी अपने हितकी मुख्यता रखकर उस मुमुक्षुके प्रकृतिदोषको गौण करने योग्य है। (१६१४)



जिज्ञासा :- चलते हुए परिणामोंका अवलोकन करनेसे वेदना-झुरना आती है या 'वेदना क्यों नहीं आती है ?' ऐसी चिंतनासे वेदना आती है ? यथार्थ पद्धति कौनसी है ?

समाधान :- 'वेदना क्यों नहीं आ रही है ?' ऐसी चिंतनासे वेदना नहीं आती। परन्तु अनन्त परिभ्रमणकी (वास्तविक) भयंकरता भासित होवे और उसके कारणरूप खुदकी वर्तमान दशा अभी भी चालू है, जिसे मिटानेकी इच्छा होने पर भी, ऐसा नहीं हो रहा है, यह उलझन पैदा होनेसे, और वैसे परिणाम एक लयसे चलने पर वेदना आती है। यहाँ प्रारम्भमें चलते हुए परिणामोंका अवलोकन हो सके, वैसी भूमिका नहीं होती, इसलिए वह वेदना आनेका कारण नहीं है। (१६१५)



जिज्ञासा :- अपने दोष दिखाई दे, तो दोषको मिटानेका प्रयत्न खुदकी मनमानीसे करना या ज्ञानीपुरुषके मार्गदर्शन व आज्ञानुसार प्रयत्न करना ? यथार्थता किसमें है ?

समाधान :- खुदका दोष मालूम पड़े तो ज्ञानीका मार्गदर्शन व आज्ञानुसार उसकी निवृत्ति होवे ऐसा प्रयत्न कर्तव्य है। अपनी मनमानी रीतिसे दोष मिटानेका प्रयत्न जीवने अनन्तबार किया है, परन्तु विधिसे अनजान होनेसे वह प्रयत्न निष्फल गया है। अतः ज्ञानीकी आज्ञा अनुसार चलना उचित है। (१६१६)



जीवको बंधन तो उदयमें जुड़नेसे होता है। इसलिए जो (बंधनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखता हो उसे उदयकालमें 'यथार्थप्रकारसे' जुड़ना नहीं हो, वैसे प्रवर्तन करना चाहिए। जिसके लिए यथार्थरूपसे दर्शनमोह निर्बल हो, वैसी दिशा परिणामको देनी चाहिए, जिससे कि अन्यथा उपाय नहीं हो। अतः उदयमें भी नहीं जुड़ना और दर्शनमोहकी शक्ति भी टूटे - वैसी योजनापूर्वक मुमुक्षुको व्यवस्थित उपाय कर्तव्य है। अनुदयभावरूप मोक्षमार्गको प्राप्त करनेकी यह श्रेणी है या प्रारंभ है। (१६१७)

अक्टूबर - १९९६

प्रथम, ज्ञानीके प्रत्यक्ष योगमें जीवको ओघभक्ति होती है। यदि सत्संगके दौरान जीवको बोधकी असर हुई होगी तो परम सत्संगमें आत्महित साधनेके प्रति वह आगे बढ़ता है; और उपकारबुद्धि पूर्वक भक्ति-स्नेह वर्धमान होते हैं ! ऐसा जीव भक्तिसे विचलित नहीं होता। परन्तु वैसा नहीं हुआ हो यानी कि बोधकी असर नहीं हुई हो तो, ज्ञानीके बाह्याचरणसे जीव प्रायः विचलित हो जाता है और अभक्तिके परिणाम हो जाते हैं। जिसके कारण योग निष्फल जाता है। (१६१८)



संतोंका मार्ग अद्भुत है, गंभीर है, अलौकिक है, सामान्य जीव उसे समझ भी नहीं सकते, तो हज़म नहीं कर सके - यह सहज है। अतः उसका आश्चर्य क्यों ? ज्ञानीकी गंभीरताको नमस्कार हो !! (१६१९)



जीव जो-जो उदय प्रसंगमें रस लेता है, उसकी असर खुद पर होती है। दीर्घकाल पर्यंतकी हुई सत्संगकी उपासनाकी असर एक क्षणके कुसंगसे नष्ट हो जाती है। जब कि अनन्तकालसे आराधन किया गया ऐसा संसारमार्ग, 'आत्मभावसे किये गये सत्संग' से पलटकर मोक्षमार्गकी राह ग्रहण करता है। मुमुक्षु जीवको इस बातका बहुत-बहुत प्रकारसे विचार कर्तव्य है। (१६२०)



जीवके तीव्र रसपूर्वक हुए परिणाम अल्प समयमें बहुत कार्य कर लेते हैं। उसमें भी यदि कुसंग हो गया तो जीवके परिणाममें शीघ्रतासे गिरावट आ जाती है। ठीक उसी प्रकार तीव्र रसपूर्वक आत्मकल्याणकी भावना हो उस वक्त तथारूप सत्संग योग मिल जाये तो, अल्प समयमें आत्मोन्नतिकी प्रगति भी बहुत हो जाती है। (१६२१)



'उदय देखकर उदास न होवे' (श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - ४०२)

प्रतिकूल उदयको देखकर खेद - चिंता नहीं करनी चाहिए, ऐसा यहाँ पर उपदेश है। बहुभाग जीवोंके परिणाम प्रतिकूल उदय आने पर बिगड़ते हैं। जिससे अनिष्ट कर्म बंधते हैं। ज्ञानी समभावसे उदयका वेदन करते हैं और आत्मार्थी वैसे प्रयासमें रहता है - प्रयत्नदशामें रहता है - यह संसार तिरनेकी कला है। (१६२२)



परिभ्रमणकी वेदना आये बिना, परिभ्रमणका अभिप्राय जीवको चालू रहता है। परिभ्रमणके कारणभूत मिथ्यात्व और अज्ञानका यथार्थ निषेध नहीं आता। और इस वजहसे संसारकी रुचि / स्नेह चालू रहते हैं। परिभ्रमणकी वेदनासे संसारकी रुचि यथार्थरूपसे मंद होती है कि, जिसके कारण उदयमें उत्साह नहीं रहता। परिभ्रमणकी वेदनासे परिभ्रमण नहीं करनेका अभिप्राय बनता है। (१६२३)



शास्त्रोंमें व ज्ञानियोंके वचनमें परस्पर विरुद्धता लगे, ऐसे अनेक विधान है। यदि उसका मेल (Co-ordination) करना नहीं आया, तो असमाधान व उलझन पैदा होती है। अतः किसी भी वक्ताका यह फ़र्ज बनता है कि विरुद्ध मुद्दोंका Co-ordination करें, वरना बहुभाग श्रोता यथार्थ समझसे वंचित रह जाते हैं - अतः इस प्रकारकी स्पष्टता अति आवश्यक है। (१६२४)



जिज्ञासा :- ज्ञानीकी सिखावन है कि धीरजसे प्रयत्न करना चाहिए, फिर भी प्रमाद नहीं होना चाहिए, तो धीरज व प्रमादमें क्या फ़र्क है ?

समाधान :- धैर्यवानको कार्य करनेमें बेवजह हड़बड़ी नहीं होती बल्कि उसका अंदरमें प्रयत्न चालू रहता है। धीरजसे चल रहे प्रयत्नमें सावधानी होती है। प्रमादी जीवका प्रयास एक लयसे नहीं चलता। वह जीव उदयमें जुड़ जाता है, जिसके कारण एक लयसे प्रयत्न नहीं चलता। प्रमादी जीव शिथिल होता है। (१६२५)



जिज्ञासा :- कृपालुदेवके वचनामृतमें ऐसा आता है कि सर्वज्ञको भी सम्यक्दृष्टिके रूपमें पहचाननेका फल महत् (बहुत बड़ा) है - तो वहाँ उनका कहनेका आशय क्या है ?

समाधान :- प्रथम तो सजीवनमूर्तिके प्रत्यक्ष योग बिना अंतर परिणतिके दर्शन नहीं होते और (अंतर परिणतिकी) ऐसा हुए बिना पहचान नहीं होती। तीन प्रकारसे (स्थितिमें) सजीवनमूर्ति बिराजमान हैं, सर्वज्ञ, निर्ग्रथ मुनिराज और सम्यक्दृष्टि श्रावक। प्रथम दो पदधारीकी बाह्यदशा अत्यंत त्यागरूप होनेसे बाह्यदृष्टिवानको भी शंकाका अवकाश नहींवत् है, परन्तु उनकी अंतरंग वीतराग परिणति अत्यंत सूक्ष्म है, जो कि मुमुक्षुकी भूमिकामें पहचानी जाये / पकड़में आये, ऐसी क्षमता प्रायः उसमें नहीं होती; (जबकि) सम्यक्दृष्टिकी परिणतिको उत्कृष्ट - उत्तम मुमुक्षु पहचान सके वैसी है, परन्तु बाह्यदशामें शंका उत्पन्न हो जाये ऐसी परिस्थिति बहुत है। इसी वजहसे अनन्तकालमें अनन्तबार तीनों सजीवनमूर्तिका योग हुआ है फिर भी आज तक पहचान

(प्रथम समकित) नहीं हो पायी।

तीनोंमें सम्यक्त्व सामान्य है, इसलिए यदि इनमेंसे एक (भी) सम्यक्त्वरूपमें पहचाननेमें आये तो तीनोंकी श्रद्धा हो जाये। (और) वीतरागतासे पहचान हो सकती है, ऐसा सिद्धांत यदि ग्रहण किया जाये तो वहाँ सम्यक्दृष्टिमें (वह प्रगट नहीं दिखनेसे) अव्याप्तिका दोष आता है, जबकि सम्यक्त्वमें वैसा दोष नहीं आता। अतः सर्वज्ञको भी सम्यक्त्वरूपमें पहचाननेका फल महत् है अर्थात् निर्वाणपद है। क्योंकि उसमें स्वभावका दर्शन है। उस स्वभावका दर्शन हुए बिना सर्वज्ञको भी सर्वज्ञरूप माननेका आत्मप्रत्ययी कोई फल नहीं है। ऐसा उनका कहनेका आशय है। (१६२६)



जिज्ञासा :- सजीवनमूर्तिको सम्यक्त्वरूपमें पहचानना, इसका मतलब क्या ? और उन्हें कैसे पहचाने ?

समाधान :- बाह्यदृष्टिवान जीवको समकित समझमें नहीं आता। (क्योंकि) सम्यक्त्व है, वह अंतरदृष्टिका विषय है और वह जीवका अंतर्मुखी परिणमन है। अंतरात्मवृत्तिवान जीवको सजीवनमूर्तिके प्रत्यक्ष समागममें तथारूप सत्संग प्राप्त होने पर व पहचाननेकी परम जिज्ञासा होने पर उनकी पहचान होती है। परिणामकी 'स्वाभिमुख दिशा' को सूचित करता हुआ यह वाचक शब्द है, उसका वाच्य भावभासनरूप होनेसे उसकी पहचान होती है। आत्मा स्वभावसे परिपूर्ण अंतर्मुख स्वभावी है। जो पूर्णदशामें प्रगट होता है और वचन अगोचर है, इसलिए कोई उसे कहनेके लिए समर्थ नहीं है, परन्तु वह ज्ञानगोचर है। सम्यक्त्व जब समझमें आता है, तब ज्ञानीके वचन व शास्त्र वचनमें निहित सम्यक् आशय ग्रहण होता है। अर्थात् प्रतिपादनकी सम्यक्ता नज़रमें आती है। जिससे कहनेवालेकी पहचान होती है। (१६२७)



जो-जो भाव व जो-जो वचन परसन्मुखता और बाह्यदृष्टिपना छुड़ाये और जो-जो भाव अंतर्मुख हो अथवा अंतर्मुख होनेके कारणभूत हो और जो-जो वचन अंतर्मुख होनेके कारणभूत हो, वे सर्व भाव व वचन (स्वानुभवी पुरुषके) सम्यक् हैं। - इन लक्षणोंसे अति सूक्ष्म ऐसे सम्यक्त्वकी परख करने योग्य है। (१६२८)



जीव कभी-कभी ऐसी भूल भी करता है कि विचारको मुख्य करके, अनुभवको गौण करता है, जिसके कारण विचारोंके भँवरमें फँसता है। खास करके सत्पुरुषके समागममें आया हुआ जीव, एकांत आत्मकल्याणकी भावनाके पोषणरूप अनुभवको जब गौण करके, विचारोंको

मुख्य करता है तब, शंकाके भँवरमें फँसकर मार्गके क्रमको (उपकारबुद्धिपूर्वक प्राप्त विनयको) चुक जाता है और अपूर्व सुयोग खो बैठता है। उसमें भी कुसंगकी असर ऐसी योग्यतावालेको बहुत ही नुकसानकर्ता होती है। (१६२९)



संतोंका मार्ग वाकई अद्भुत है। महा समर्थ दिग्गज आचार्य व युगपुरुष जैसे महात्माएं भी अपने श्रीगुरुके उपकारको नहीं भूलते हैं बल्कि प्रसिद्धरूपसे गाते हैं; विनम्र होकर गाते हैं। उनका हृदय इस परिप्रेक्ष्यमें द्रवित होता है ! तब उन्हें सहज अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो जाते हैं। मुमुक्षुजीव भी अगर उपकारबुद्धिपूर्वक वर्तता है तो अनेक संभवित दोषोंसे बच जाता है और तिर जाता है। (१६३०)



नवम्बर - १९९६

परिभ्रमणकी वेदनामें, परिभ्रमणके कारणभूत अज्ञान और अज्ञानके कारणभूत रागके कर्तृत्वका तीव्र निषेध है और परम्परासे ज्ञातापनेका / अकर्तापनेका आदर है। - इस प्रकार सन्मार्गके प्रथम चरणके मूल काफी गहरे हैं और संसार परिभ्रमणके बीजके नाशक हैं। (१६३१)



धार्मिकक्षेत्रमें रूढ़िका साम्राज्य फैला हुआ है। जैसे कि क्रोधी सबकी नज़रमें आता है, जब कि मायावी ज्यादा अपराधी होने पर भी उतना प्रसिद्ध नहीं है। ठीक वैसे ही जुआ, शराब, मांसभक्षण इत्यादि दोष लोकमें घृणापात्र गिने जाते हैं, जब कि शरीर, कुटुम्ब और संपत्ति आदि परमें निजबुद्धिके परिणाम (अज्ञान / दर्शनमोहके होनेसे) भयंकर संसार परिभ्रमण व अधोगतिके कारण होने पर भी सर्व साधारणरूपसे, मानो जैसे कोई अपराध ही नहीं है (परन्तु फ़र्ज़ और धर्म है) वैसे गिने जाते हैं। कितना घोर अज्ञान संसारमें व्याप्त है, इसका विचार कर्त्तव्य है और आत्मार्थीको ऐसे परिणामोंमें सावधानी रखने योग्य है। (१६३२)



जैसे दर्पणमें अग्निका प्रतिबिंब पड़ते वक्त (वह) उष्ण नहीं होता, वैसे क्रोधके निमित्त और क्रोध भावका प्रतिबिंब जिस ज्ञानमें पड़ता है, ऐसा ज्ञानीपुरुषका ज्ञान अलिप्त रहकर स्वानुभव करता है। ऐसी ज्ञानदशाके अभिलाषी आत्मार्थी जीवको उदय प्रसंगमें तथारूप पुरुषार्थ कर्त्तव्य है, अर्थात् अंतरंगमें सदा निर्लेप रहता ज्ञान स्व-पने वेदनमें आये - अनुभवमें आये वैसे प्रयत्न कर्त्तव्य है। (१६३३)



जिज्ञासा :- गुण-दोषको देखनेकी यथार्थ पद्धति कैसी होनी चाहिए ? कि जिससे स्व-परका हित सधे ?

समाधान :- अन्य मुमुक्षुजीवके दोषका नाप विद्यमान दोष परसे नहीं निकालना चाहिए, परन्तु उसने पुरुषार्थसे दोष मिटाये हो या मंद किये हो, उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जबकि खुदकी वैसी बाबतमें विद्यमान दोषको मुख्य करना चाहिए और जो दोष कम हुए हो उसे गौण करने चाहिए। - यह गुण-दोषको देखनेकी यथार्थ पद्धति है। (१६३४)



सुमंगल घटना : किसी मुमुक्षुके जीवनमें कभी ऐसी सुमंगल घटना घटित होती है कि पूर्व पुण्यके योगसे किसी महापुरुषकी वाणीका श्रवण प्राप्त होता है और वह जीव अत्यंत रुचिपूर्वक सत्-श्रवण करता है। तब उसे 'सत्' के संस्कार डल जाते हैं, जो कि नज़दीकी भविष्यमें ही ज़ोर करके प्रगट हो जाते हैं और मोक्षमार्गकी प्राप्ति करा देते हैं। इस घटनामें श्रवणके कालमें 'सत्की रुचि' उत्पन्न हुई, उसमें सत्पुरुषका पहचानपूर्वक स्वीकार (भी) हो गया !! और सत्पुरुषका आदर भी हो गया !! (१६३५)



मुमुक्षु / आत्मार्थीको सर्व प्रथम स्वरूपकी अनन्त शुद्धत्व शक्तिका श्रवण - ज्ञानीपुरुषके वचन द्वारा प्राप्त होता है तब उसे उल्लासित वीर्यसे, वैसे स्वरूपके दर्शनकी भावना जागृत होती है, और वह अपूर्व अंतर जिज्ञासापूर्वक गुण निधानको पहचाननेका प्रयत्न करता है। उस जीवको स्वरूपकी हूँफके (आश्रयके) परिणाम होने पर, ज्ञानीपुरुषके प्रति विश्वास स्थापित हो जाता है। इस विश्वासका महत्त्व बहुत है। ऐसी प्रारम्भकी योग्यता, वह भावि होनहारका शुभ चिन्ह है। (१६३६)



जैसे ज्ञान आत्माका स्वरूप है, वैसे ज्ञानकी पर्यायमें भी वस्तुका स्वरूप है, परन्तु पर्यायमात्र रूप अवधारण करनेसे विपर्यास उत्पन्न होता है; वस्तुमात्रपने अवधारण करने पर समस्त पर्यायें - पर्यायके भेद रहित - ज्ञानमात्ररूप अनुभवमें आती है। अतः खुदका ज्ञानमात्ररूप अनुभव करने योग्य है। अनुभवमें जाननेकी प्रधानता नहीं है, किन्तु स्व-संवेदनकी प्रधानता है। महात्माओंने अगम-अगोचर परमार्थ मार्गको इस प्रकार सुगम किया है; नमस्कार हो उनके निष्कारण करुणा सभर उपकारको !! (१६३७)



जिज्ञासा :- खुदको राग और ज्ञानके भेदज्ञानका सिर्फ विचार चल रहा है या प्रयोग

चल रहा है यह कैसे समझमें आये ? इसमें विचार और प्रयोगके बीच क्या अंतर होता है ?

समाधान :- भेदज्ञानका विचार है, वह समझ है। समझके अनुसार विकल्प चले वह प्रयोग नहीं है। प्रयोग तो चलते हुए परिणमनमें समझका अनुभवकरण - अमलीकरण है। जिस जीवको स्वलक्ष्यसे 'राग और ज्ञान भिन्न है' ऐसा समझमें आता है, और उत्कृष्ट आत्मभावना वश जो खुदको ज्ञानलक्षण द्वारा रागसे भिन्न ज्ञानमय 'अनुभव करनेका पुरुषार्थ' करता है - वह भेदज्ञानका प्रयोग है। विकल्पमें रागसे भिन्न होनेका नहीं बनता, परन्तु ऐसे विकल्पमें जो मानसिक शांति होती है उसमें ठीकपना लगता है (!) जब कि प्रयोगमें अकेला ज्ञान स्वके रूपमें वेदनमें आये वैसा प्रयास और उद्देश्य होता है। मानसिक शांतिसे संतोष नहीं होना चाहिए। यथार्थ विधिमें संतोष नहीं होता। (१६३८)



मोक्षार्थीकी प्रारंभिक भूमिकासे लेकर ऊपर-ऊपरकी सर्व भूमिकामें अभिप्रायकी विपरीतता मिटती जाती है। स्वानुभवके पहले आखिरकी उत्कृष्ट भूमिका भेदज्ञानकी है। यह भेदज्ञान ज्ञानको बिलकुल विपरीतरूप नहीं होने देता और स्वरूपमें अचल करता है, तब शुद्धोपयोगात्मक होनेसे राग-द्वेषका अभाव करता है। भेदज्ञानकी प्रक्रिया ज्ञानको निर्मल करती है और प्रत्यक्षरूपसे स्वरूपग्रहण करनेकी शक्तिको उत्पन्न करती है। साथ ही साथ दर्शनमोहको और अनन्तानुबंधीको उपशमित करती है या क्षय करती है। (१६३९)



कषायकी मंदतामें अशांति है, फिर भी शांतिका वेदन होता है वह 'ज्ञानका विपर्यास' है। प्रायः यथार्थ विधिके अभावमें ऐसा विपर्यास होता है। सर्व अन्यमतमें ध्यान व योगके मार्ग पर जानेवालेकी यह स्थिति है। सिर्फ भेदज्ञानका प्रयोग करनेवाला ही रागादि सर्व विभावको उसकी जातिसे पहचानता होनेसे ऐसी भूल नहीं करता है अर्थात् इस प्रकारके धोखेमें नहीं आता। भेदज्ञानी ही स्वानुभूतिमें सच्ची शांति - आत्मशांति प्राप्त कर सकता है, क्योंकि कृत्रिम शांतिमें वे संतुष्ट नहीं होते। 'भेदज्ञान सर्व विपर्यासको मिटानेवाला है।' (१६४०)



ईर्ष्या अर्थात् मात्सर्यका दोष भयंकर अकल्प्य अपराधोंको उत्पन्न होनेका मूल बनता है। जैसे कि :

- * दूसरे पुण्यवंत (जीवों)के प्रति द्वेषभाव, बिना सम्बन्ध ही।
- * देव भी इसी कारणसे तीव्र दुःखी।

* धार्मिकक्षेत्रमें भी द्वेषभाव (!) इसी कारणसे।

* गुण प्रमोद, वात्सल्य और साधर्मिप्रेमका अभाव।

* सत्पुरुषसे विमुख होकर, विरोधी हो जाना।

अंधत्वको प्राप्त करानेवाली ईर्ष्याकी आग नरक-निगोदमें जीवको ले जाती है। (१६४१)



अकेला ज्ञान - मात्रज्ञान वही आत्मा, भगवान आत्मा। (१६४२)



आत्मार्थीको गुण-प्रमोद अतिशय होता है, जिसके कारण मात्सर्यभाव उत्पन्न नहीं होता। गुणप्रमोद रहनेसे आत्मगुणोंका आविर्भाव होनेका अवकाश होता है और अंततः अंतर्मुख होनेकी योग्यता आती है। दूसरेके अल्प गुणको भी मुख्य करना यह ज्ञानीपुरुषकी नीति है। गुणप्रमोदके गर्भमें अंतर्मुख होनेकी योग्यता छिपी हुई है। (१६४३)



एकत्वबुद्धिरूप विपरीत अभिप्राय, भेदज्ञानके पुरुषार्थका रोधक है। अतः आत्मार्थीको अवलोकनके अभ्यास द्वारा भिन्नत्वबुद्धिका अभिप्राय घड़ना चाहिए, कि जिससे भेदज्ञान होनेकी क्षमता प्राप्त हो। ज्ञानवेदन द्वारा मैं-पनेसे जब विभावसे ज्ञान भिन्न पड़ता है तब स्वानुभव प्रगट होता है। (१६४४)



अन्य पदार्थोंसे, आबरू-कीर्तिका परिग्रह सबसे बड़ा परिग्रह है और अधिक नुकसानकर्ता है। क्योंकि इससे लोकसंज्ञा और समाज प्रतिबंध प्रगाढ़ होता है। अन्य सचेत-अचेत पदार्थ आबरू-कीर्तिके आधार (बनते) हैं।

सामान्यबुद्धिमें सामग्रीके अनुपातमें परिग्रहको नापा जाता है। जिसके कारण प्रायः सबसे बड़े इस परिग्रहका नुकसान समझमें नहीं आता, परन्तु इस छुपे दुश्मनसे चौकन्ने रहने जैसा है। आत्मार्थी जीव प्रसिद्धिसे दूर भागता है, परिचय नहीं बढ़ाता - यह उसकी विचक्षणता है। वह दूरसे ही सावधान रहता है। (१६४५)



सर्व जीवके प्रति वात्सल्य होना यह जीवका स्वभाव (प्रेम) धर्म है। उसमें भी धर्मच्छक जीवके प्रति तो सहज रहता है। अपने उपकारी श्रीगुरुके समीप आनेवालेके प्रति वात्सल्य भाव होना, यह वास्तवमें श्रीगुरुके प्रति वात्सल्य भाव है। वात्सल्यसे समर्पणबुद्धि, सरलता, मध्यस्थता, व मृदुता उत्पन्न होते हैं, जो कि धर्मके आभूषण हैं। वात्सल्य बिना देव, शास्त्र, गुरु सत्पुरुषकी

‘सही महिमा’ नहीं होती। अतः वात्सल्य बिना प्रभावना संभवित नहीं है। वात्सल्य बिना प्रभावनाकी चाहत रखनेवाला, कारण बिना कार्यको प्राप्त करना चाहता है, इच्छा रखता है। (१६४६)



निष्कारण करुणा, वह ज्ञानीकी शोभा है। अंतर वीतरागतामेंसे उसका जन्म होता है। इसलिए कृपालुदेव लिखते हैं कि, ‘सत्पुरुषकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है।’ अतः ऐसा परमार्थ सूचित होता है कि ऐसा स्तवन करनेवालेके गर्भमें स्वभाव प्रगट होनेका कारण पड़ा है। निष्कारण करुणावंतका बहुमान आनेवालेको इतना गुण (लाभ) होता है तो, करुणावंतको कितना गुण होता होगा ? इसके लिए तो क्या कहना ? उसे कहनेका सामर्थ्य यहाँ नहीं है। (१६४७)



जिज्ञासा :- स्वरूपमें स्थिर होनेकी क्षमता कब और किसे आती है ?

समाधान :- मोक्षार्थी होनेके पश्चात् अनुभवमें आनेवाले भावोंके अवलोकनके अभ्यास द्वारा, अकेला ज्ञान, वेदनमें आता हुआ ज्ञान, - ‘यह अनुभूति है, वही मैं हूँ’ - ऐसी प्रतीति आती है। इस प्रकार जब स्वरूपका ज्ञानपूर्वक श्रद्धानका जिसे उदय होता है, तब उसे स्वरूपमें लीन होनेका सामर्थ्य प्रगट होता है, तब स्वरूपमें उपयोग लीन होनेका सामर्थ्य प्रगट होता है, तब ‘स्वरूपमें उपयोग स्थिर’ हो सकता है। जिसे ज्ञान-श्रद्धानका बल नहीं हो, उसे स्थिरता - निश्चंचलताका बल नहीं होता - यह परिणामका विज्ञान है। (१६४८)



समस्त जिनागमके वचन व सर्व ज्ञानियोंके वचन एकमात्र आत्मकल्याणके आशयसे ही कहे गये हैं। अतः उसी दृष्टिकोणको रखकर उसका अवगाहन कर्तव्य है कि जिससे समझमें यथार्थता रहे। यदि ऐसा दृष्टिकोण रहा तो, बराबर समझमें आने पर भी ‘यथार्थ समझ’ नहीं होगी। उक्त आशय बना रहे, यही मुमुक्षुकी भूमिकाका नयज्ञान है। (१६४९)



चाहे कैसा भी उदय हो, सच्चा आत्मार्थी उसे आत्मकल्याणमें उपकारी गिने - समझे, ऐसा दृष्टिकोण साध्य करे - वही उसका सच्चा नयज्ञान है। प्रतिकूल उदय प्रसंग भी जीवको आत्मिक पुरुषार्थमें निमित्तभूत होता है और पूर्वमें किये हुए कर्ज चुकानेमें (सहायक) बनता है, इसलिए असमाधान कर्तव्य नहीं है। (१६५०)



दिसम्बर - १९९६

ज्ञानकी निर्मलता दो स्तरमें होती है। एक ज्ञानीपुरुषकी पहचानपूर्वक परमेश्वरबुद्धि और सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक उनकी संगती - 'सेवा करनेसे' और दूसरी ज्ञान स्वयंका - ज्ञानका 'सेवन करे' तब निर्मलता आती है। प्रथम प्रकार मुमुक्षु भूमिकाका है, दूसरा प्रकार मोक्षमार्गी धर्मात्माको होता है। (१६५१)



जिज्ञासा :- 'अपेक्षाज्ञान' संबंधित स्पष्टीकरण दिजीये ?

समाधान :- अपेक्षामें आगम और अध्यात्म दोनों पहलू समझने चाहिए। सिद्धांत और वस्तुधर्मकी मर्यादाको समझानेके लिए अपेक्षा होती है और पारमार्थिक हेतु दर्शानेकी भी खास अपेक्षा होती है। दोनोंके ग्रहण पूर्वक, या मुख्य-गौण होकर उसका सुमेल होना चाहिए अर्थात् इसके फलस्वरूप आत्महित सधे तो अपेक्षाज्ञानकी यथार्थता है। (१६५२)



बाह्यदृष्टि और बाह्य चिन्ह / लक्षणसे सजीवनमूर्तिकी पहचान नहीं हो सकती। श्री सर्वज्ञ वीतरागदेव बाह्य स्थितिमें निर्दोष ध्यानस्थ अवस्थामें निरंतर बिराजमान होने पर भी, उनकी पहचान नहीं हुई है, न होती है, तो शुभयोग और शुभोपयोग द्वारा तो ज्ञानी या वीतरागको कैसे पहचानेंगे ?

तात्पर्य यह है कि सिर्फ अंतर परिणतिसे ही ज्ञानी या वीतरागको तथारूप योग्यता प्राप्त होने पर पहचाना जा सकता है - ऐसा निश्चय करना चाहिए। (१६५३)



परिभ्रमणकी वेदनापूर्वक यथार्थ वैराग्य और संसारसे छूटनेके परिणाम होते हैं, परन्तु बहुभाग धर्मप्रेमी जीवोंको यह वेदना दर्शनमोहके प्राबल्यके कारण आती नहीं है और 'नहीं आ रही है' - यह एक समस्या हो जाती है, तब कैसे आगे बढ़ा जाये ? यह उलझन होती है - व्यक्तिगतरूपसे उपरोक्त क्रमप्रवेश होनेके पहले, यानी कि परिभ्रमणकी चिंतना आनेके पहले 'ऐसा ही करना चाहिए' - ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु जिस प्रकार दर्शनमोह (मिथ्यात्व) कमजोर हो, वैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए। उस प्रवृत्तिमें सत्संग, स्वाध्याय, सुविचारणा, आत्मभावना, प्रतिकूल उदयमें भिन्नताका प्रयोग, अवलोकनका बारंबार प्रयोग, ज्ञानीपुरुषकी भक्ति, आदि दर्शनमोह कमजोर होवे, (और) परमें अपनत्व कम हो, वैसे परिणाम होने चाहिए। और इसके दौरान क्रमसे आगे बढ़नेका अभिप्राय रखना चाहिए। उपरोक्त प्रवृत्ति व परिणामोंमें जिसे जिस प्रकारसे आत्मकल्याणकी भावना वृद्धिगत होती हो, उसे पसंद करना चाहिए। (१६५४)

जिज्ञासा :- नीवमें महत्वपूर्ण समझ क्या होनी चाहिए ? कि जिससे कार्यसिद्धि होवे और भूल होनेका अवकाश कम रहे ?

समाधान :- नीवमें समझकी मूल बात यह है कि, मुमुक्षुकी भूमिका विपरीत अभिप्रायको बदलनेकी है, नहीं कि तप-त्याग करनेकी। इतनी ही नहीं अभिप्राय बदले बिना परिणामकी अयोग्यताको बदलनेकी जो इच्छा रखता है, वह जीव भी परिणामके विज्ञानसे अनजान होनेसे, बारंबार अनिच्छक परिणाम हो जाने पर उलझनमें आता है। इसलिए अभिप्राय बदल जाये वैसी अनुभवपद्धतिके क्रमसे आगे बढ़नेका पुरुषार्थ होना चाहिए। अर्थात् परिभ्रमणका भय, सांसारिक उदयके प्रति उदासीनता, बलवान वैराग्य, मोक्षका लक्ष्य, निजदोषको अपक्षपातरूपसे देखना, इत्यादि सम्बन्धित पुरुषार्थ होना चाहिए। (१६५५)



स्वरूपकी समझ प्रयोजनभूत है, ऐसा जानकर जीव उसकी समझ करता है, परन्तु खुद परसे जो एकत्व कर रहा है, उसमें भिन्नता क्यों नहीं हो रही है ? जब तक वैसा प्रयोजनभूत भिन्नत्व लक्ष्यमें नहीं लेता है, तब तक परमें अपनत्व चालू रखता है; जिसके कारण स्वरूप समझमें होने पर भी भिन्न ज्ञानमय निजस्वरूपका अनुभव नहीं आता। यहाँ नास्तिके पहलूमें सावधानी प्रयोजनभूत है। (१६५६)



स्वरूप दृष्टिमें स्वरूपकी उपादेयता और स्वरूपकी अभिन्नता समाहित है। पर्यायदृष्टिमें रागकी उपादेयता और रागसे अभिन्नता / एकत्व होता है। इसलिए रागकी भिन्नता व हेयता द्वारा पर्यायदृष्टिको छुड़ाकर, श्रीगुरु द्रव्यदृष्टि कराते हैं। द्रव्यदृष्टि द्रव्यकी रुचि - गुण स्वभावकी रुचिसे उत्पन्न होती है। रुचि होनेके लिए यथार्थ समझपूर्वक स्वरूप महिमा और विरक्ति / उदयमें उदासीनता होनी आवश्यक है। (१६५७)



जिज्ञासा :- सत्संगमें सत् श्रवण और देव, शास्त्र, गुरुके प्रति समर्पण एवं बाह्य व्यवसाय आदिसे निवृत्ति इत्यादि करने पर भी क्यों प्राप्त नहीं हो रहा है ? क्या रह जाता है ?

समाधान :- बुद्धिपूर्वक वह सब करने पर भी, दृढ होने पर भी अंतर भेद हो जाये वैसी परिणति होनी चाहिए। विभिन्न भूमिकाओंमें जब तक उस भूमिकाकी परिणति (विरुद्ध परिणति पलटकर) नहीं उत्पन्न होती, तब तक कमी है। सच्ची आत्मरुचि प्रगट होवे तो परिणति पलटा खाये बिना नहीं रहती। इस प्रकार परिणति बननी रह गई है, इसलिए प्राप्त नहीं होता है - नहीं हुआ। (१६५८)

सत्का श्रवण प्राप्त हो तब जिज्ञासुको ज्ञानीका आशय ग्रहण करने पर लक्ष्य रखना चाहिए, जिससे कि वह श्रवणके साथ गहराईसे ग्रहण हो। ज्ञानीका आशय उनके भावोंकी गहराईमें रहा हुआ है। (१६५९)



जिज्ञासा :- पंचाध्यायी (उतरार्ध) गाथा - ४००में सम्यक्त्वको अति सूक्ष्म कहा है, इसलिए उसे कहा नहीं जा सकता - ऐसा (वहाँ) कहा है, तो उसमें परमार्थ क्या है ?

समाधान :- वस्तुतः सम्यक्त्व अति सूक्ष्म है ही और इसीलिए सुगमतासे समझमें नहीं आता है। सम्यक्त्व ज्ञानकी निर्मलतासे समझमें आता है, और अति सूक्ष्मताके कारण वचन अगोचर है, ऐसी वस्तुस्थिति है। अतः ऐसा परमार्थ लक्षित होता है कि सम्यक्त्व या सम्यक्त्वी, यह कहने - सुननेका विषय नहीं है - परन्तु ज्ञानगोचर करनेका विषय है। अतः उस प्रकारसे ही (पहचाननेका) प्रयत्न करना उचित है, अन्यथा प्रकारसे प्रयत्न करना उचित नहीं है। (१६६०)



जनवरी - १९९७

परिभ्रमणकी चिंतनापूर्वक, जो जीव मार्गप्राप्तिके लिए दृढ़ होकर तड़पा है, उसे आत्मामेंसे परिभ्रमणका निषेध आया है, अतः वह आत्मा अवश्य परिभ्रमणसे मुक्त होगा। (१६६१)



अध्यात्म तत्त्व और तदाश्रित अध्यात्म दशाकी सुंदरता अलौकिक व अचिंत्य है। अनुभवी महात्माओंने ग्रंथ-ग्रंथोंमें उसकी स्तुति / प्रशंसा की है, परन्तु वह संकेतमात्र है, वास्तवमें उसकी महिमा वचन अगोचर है, अतः अनुभवसे उसका आनंद लेनेकी भावना ही उचित है। जैसे हीरेकी शोभा उसके तेज और उसके पहलूओंसे है, वैसे चैतन्यकी शोभा उसके तेज और दिव्य गुणोंसे है, जो कि अनन्त है। (१६६२)



प्रयोगका विषय यदि प्रयोगसे सिद्ध हो तो (ही) उसका पारमार्थिक लाभ होता है, परन्तु यदि वह बौद्धिक स्तर पर सम्मत होगा, तो उसके विकल्पमें चढ़नेका बनता है, जिससे पारमार्थिक लाभ नहीं होता। अतः बुद्धिगम्य करनेवालेको इस विषयमें सावधानी रखनी आवश्यक है। प्रयोगसे परिणति होती है, नहीं कि विकल्पसे। इस प्रकारसे मिलान करके उसकी चौकसाई होनी चाहिए। अनुभवका प्रकाश कोई अलग ही प्रकारका है, जिसके आगे विकल्प अंधकार है। (१६६३)

जिनेश्वरके मार्गकी सुंदरता ही कोई और है। उस मार्ग पर संचरण करनेवाला पूर्णरूपेण निर्दोष होना चाहता है। तब वह अपने दोष दिखानेवालेको अति उपकारी गिनता है, इतना ही नहीं, उपसर्ग करनेवालेको निंदा और अवर्णवाद करनेवालेको भी उपकारी समझता है, क्योंकि वैसे उदयमें अपना पुरुषार्थ उठाता है और पूर्वका अपराध धोनेमें वह निमित्त (मददरूप) होता है, अतः उसके प्रति द्वेषभाव नहीं होता। द्वेषबुद्धि और रागबुद्धि तो पहले से ही मिटा दी है, अतः राग-द्वेषका बल तो होता ही नहीं। ऐसे जीवको तारणहार श्रीगुरुके प्रति असीम उपकार भाव वर्तता हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ? (१६६४)



ज्ञान ज्ञानका वेदन कर रहा है, स्वभाव पूर्ण अंतर्मुखताका है। अतः परवेदनके अध्याससे मुक्त होकर जीवको निज ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावका अवलोकन करना है, 'मात्र निजावलोकन' इतना ही करनेका है। (१६६५)



जिज्ञासा :- सत्श्रवणका राग है या आत्मकल्याणकी भावना है ? यह निश्चय कैसे करें ?
समाधान :- श्रवण करनेवाला यदि आत्मकल्याणका आशय ग्रहण करे तो उसकी भावना सच्ची है। वह श्रवणसे संतुष्ट नहीं हो जाता। रागी जीव श्रवणकी बाह्यक्रियामें संतुष्ट हो जाता है, वहाँ सत्का मूल्यांकन नहीं हुआ; और श्रवणयोगकी सही महिमा भी भासित नहीं हुई। (१६६६)



'परलक्ष' बड़ा अपराध है, किसी भी भूमिकाके मुमुक्षुको नुकसानकर्ता है। सर्व प्रकारके दोष व कषाय उसमें से उत्पन्न होते हैं और दर्शनमोहको भी बलवान करता है, इस वजहसे जीवको श्रीगुरुके / शास्त्रके उपदेशकी असर नहीं होती है; और सत्संग निष्फल जाता है। (१६६७)



स्वभाव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, और अंतःतत्त्व स्वरूप है। उसे ग्रहण करनेके लिए उपयोग भी सूक्ष्म व अंतर्मुख होना ज़रूरी है। इसीलिए अंतर अवलोकनके बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है। इसके अलावा स्थूल व बहिर्मुख उपयोग द्वारा चाहे कोई भी और कितना भी धर्म साधन किया जाये, फिर भी उससे स्वभाव ग्रहण होवे ऐसी क्षमता प्राप्त नहीं होती। (१६६८)



जिज्ञासा :- यथार्थ सत्संग कैसा होता है ?

समाधान :- अपना हित सधता हो, वैसे निमित्ततत्त्वका जहाँ अनुभव हो, वह सत्संग यथार्थ है।

* जहाँ, खुदकी भूमिकाके योग्य चर्चा मुख्यरूपसे होती हो, और तद्अनुसार अमलीकरणका मार्गदर्शन प्राप्त होता हो, वह यथार्थ सत्संग है।

* जहाँ, आत्मरस व आत्मरुचिको पुष्टि मिलती हो और वे वृद्धिगत होते हो।

* जहाँ, अध्यात्म तत्त्व और सिद्धांतोंकी चर्चा होती हो,

* जहाँ, ज्ञानीपुरुषोंके ज्ञान, ध्यान व पुरुषार्थकी प्रशंसा / बहुमान होते हो, वहाँ यथार्थ सत्संग है, ऐसा जानना। (१६६९)



उपदेशबोध जैनदर्शनमें है और अन्यदर्शनमें भी बहुत है, परन्तु जैनदर्शनमें जो उपदेशबोध है, वह सिद्धांतबोधके कारणभूत होवे, ऐसा है, क्योंकि वह वस्तुस्वरूप अनुसार है। अन्य दर्शनमें उपदेश न्याय अनुसार तो है, परन्तु वस्तु विज्ञान वहाँ नहीं होनेसे उसमें आधार भेद है। इसीलिए वैसे उपदेशमें स्थिर रहना संभवित नहीं है। जब कि जैनके महात्माएं, सदाके लिए स्वरूप ध्यानमें स्थिर रहकर परमेश्वरपद पर बिराजमान रहते हैं, क्योंकि उन्हें वस्तुस्वरूपका आधार है। (१६७०)



फरवरी - १९९७

उपदेशबोध व्यवहार नयात्मक है, जब कि सिद्धांतबोध प्रधानरूपसे निश्चय नयात्मक है। यथार्थ शैलीमें कारण-कार्यकी संधि होती है। विधि और निषेध दोनों कथनमें प्रयोजनकी सिद्धि होती है, जो कि यथार्थताकी द्योतक है। यदि सिर्फ उपदेशबोध पर ही वजन रहा तो 'पर्याय आश्रय' दृढ़ हो जायेगा, कि जिससे सिद्धांतबोधके तात्पर्यभूत ऐसे निश्चयस्वरूपका आश्रय होनेमें दिक्कत होगी, और कारण-कार्यकी श्रृंखला टूटेगी। वैसे ही उपदेशबोधका परिणमन हुए बिना सिद्धांतका परिणमन आना अशक्य है। इसलिए क्रम टूटना नहीं चाहिए और वजन भी यथायोग्य जाना चाहिए। "निश्चय राखी लक्ष्यमां, (व्यवहार) साधन करवा सोय।" (१६७१)



दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होने पर, निज परिणामोंका अवलोकन शुरू होता है और प्रारंभमें ही स्वरूपकी खोजरूप जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः उपदेशबोध यहाँ सिद्धांतबोधके कारणभूत होता है, अर्थात् परिणामोंका अवलोकन होनेमें परिणाम पर ज्यादा वजन न रहे, ऐसा सहज बनता है। इस प्रकारसे अगर अवलोकन नहीं हुआ तो पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाती है, और

अवलोकनका यथार्थ फल नहीं आता।

(१६७२)



आत्मरुचिपूर्वक निजावलोकन सूक्ष्म होकर रागकी भिन्नता स्पष्टरूपसे करता है। बारंबार प्रसंग-प्रसंग पर भिन्नताका प्रयोग चालू रहे, यह पुरुषार्थका लक्षण है। अन्यथा विकल्प है, भेदज्ञान नहीं; भेदज्ञानके परिणामनमें राग / विकल्पकी स्पष्ट भिन्नता होती है। जड़ - चैतन्यकी माफिक भिन्नता मालूम पड़नी चाहिए।

(१६७३)



स्पष्ट मार्गदर्शन प्रायः भूल नहीं होनेका कारण बनता है, इसलिए इच्छनीय है। तथापि सिर्फ धारणा हो जानेसे और यथार्थ प्रयोगके अभावमें जीव अगर विकल्पमें चढ़ गया, तो विधिकी भूल होती है। अतः स्पष्टता विकल्पमें चढ़नेका कारण नहीं बन जाये, इसकी सावधानी रखनी आवश्यक है। वास्तवमें परिपक्व योग्यता आये बिना, जीव कल्पनासे आगे बढ़ना चाहता है, इसलिए मार्ग नहीं मिलता।

(१६७४)



परलक्ष्यी ज्ञानमें समझ बराबर होने पर भी, ओघसंज्ञा होनेसे वह बाह्यज्ञान उघाड़मात्र है। स्वलक्ष्यी ज्ञान अमलीकरणके प्रेरकबल समेत होनेसे, ज्ञान अनुसार परिणाम आता है।

(१६७५)



विचित्रता पर्याय स्वभाव है। धर्मात्माका उपदेश रागांशके निमित्तसे वाणी द्वारा प्रवर्तता है। जिस वाणीके निमित्तसे श्रोताको धर्म प्रगट होता है। यद्यपि राग कुछ नहीं जानता, उपदेशमें, प्रवर्तनमें तो श्रद्धा-ज्ञानकी प्रधानता है, इसलिए शुद्ध श्रद्धा-ज्ञानके निमित्तसे शुद्ध-श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा सुमेल है।

(१६७६)



विशेष गहरे विचारसे ऐसा समझमें आता है कि जीवको जब 'स्वलक्ष्य' का दृढत्व आत्मामें प्रकाशित होता है, तब उसके लक्षणरूप परिभ्रमणकी वेदना आती है। यह वेदना नहीं आनेके कारणोंमें मुख्य कारण 'परलक्ष्य' है। इसी वजहसे उक्त वेदनामें आया हुआ जीव प्रायः विपरीततामें आगे नहीं बढ़ सकता, अथवा विपरीततामें चला गया हो तो वापिस मुड़ जाता है। धर्मके क्षेत्रमें आये हुए जीव भी प्रायः अनादि परलक्ष्यसे मुक्त नहीं हो पाते हैं, जिसके कारण परमार्थ मार्गके प्रति गति नहीं होती। - यह एक समस्याकी गंभीरताका बहुत-बहुत प्रकारसे विचार कर्तव्य है।

(१६७७)

शुभाशुभ भावोंका रस जो एकत्वबुद्धि सहित होता है, वैसा रस भेदज्ञानीको होना संभवित नहीं है। क्योंकि भेदज्ञानमें रागका निषेध वर्तता है और भिन्नता अनुभवमें आती है। ज्ञानी और अज्ञानीके अंतर परिणमनमें इस प्रकारका तफावत है। ऐसा तफावत बाह्यदृष्टिवान जीवकी समझमें नहीं आता। बाह्यदृष्टि छोड़नी है, ऐसे जिज्ञासावान जीवको यह समझमें आ सकता है। इस कारणसे ज्ञानीकी पहचान दुर्लभ है। (१६७८)



अपूर्व स्वरूप जिज्ञासा उत्पन्न होने पर मोक्षार्थी जीवको स्वरूपकी अंतरशोधके परिणाम वर्तते हैं। वह इतनी हद तक की जीव सर्वसे उदास होकर, खुद इस खोजमें खो जाता है। ऐसी दशा आती है, तब स्वरूपका पता लगता है, ऐसी दशा आये बिना ज्ञानमें वैसा अवकाश नहीं होनेसे स्वरूपकी पहचान नहीं हुई। इस जिज्ञासामें यथार्थ स्वरूपमहिमा गर्भित है और पात्रता, वैराग्य आदि प्रगट हैं। (१६७९)



स्वरूपदृष्टिमें पर्याय वर्तती होने पर भी, स्वरूप ही दिखता है, पर्याय मानो दिखती ही नहीं है। जिन अध्यात्म पर्यायोंकी महिमा ग्रंथ-ग्रंथोंमें गायी है; वह ऐसी दशा प्रगट होने पर भी 'खुद' स्वरूप महिमामें खो जाता है और ऐसा होना सम्यक् है। दृष्टि अपेक्षासे स्वरूप सिर्फ 'स्व' है, और चाहे कैसी भी गुण समृद्ध-पूर्ण पर्याय हो, वह भी 'पर' है। अपेक्षासे अपनेमें होने पर भी, अंगभूत होते हुए भी, और अपेक्षासे प्रयोजनभूत होने पर भी, उसे 'पर' के स्थानमें गिननेवाली सम्यक्दृष्टि, इस जगतका परम रहस्य है, जो अनुभवनीय है। स्वरूप दृष्टिवानको वह समझमें आता है, दूसरेकी समझमें नहीं आता। (१६८०)



मार्च - १९९७

- (१) संकल्प-विकल्प प्रतिबंध माने परमार्थ हेतु शून्य तत्त्वज्ञानके विकल्प, अथवा
 - (२) विपरीत अभिप्रायसे उत्पन्न विकल्पोंमें आत्माका अटकना; एवं
 - (३) अज्ञानके कारणसे, असमाधानके कारण चल रही विकल्पकी जाल।
- ऐसी जालोंमें जीव फँसकर उलझ जाता है। (१६८१)



जिज्ञासा :- जीव वास्तवमें सत्संगका इच्छुक हो, तो उसका अभिप्राय कैसा होता है ?
समाधान :- सत्संगकी उपासना, वह आत्माकी उपासना है, इस अभिप्रायपूर्वक वह जीव संसारकी उपासनाका सर्वथा त्याग (अभिप्रायमें) करता है। यदि अभिप्रायमें संसारकी उपासनाका

सर्वथा त्याग नहीं हुआ तो, उस जीवका सत्संग निष्फल जाता है। वैसे अनन्तबार पूर्वमें सत्संगकी निष्फलता हुई है। परिभ्रमणकी वेदनामें 'सर्वथा संसारकी उपासना करनी ही नहीं है' वैसा दृढत्व उत्पन्न होता है। बादमें जीव स्वलक्ष्यसे सत्संगकी उपासना करता है, और जो जीव यथार्थ लक्ष्यसे सत्संगकी उपासना करता है, वह आत्माकी उपासना करता है। (१६८२)



संपूर्ण वीतराग ऐसे तीर्थकरदेवके समवसरणकी भी अनेक क्षेत्रोंमें रचना होती है, जहाँ-जहाँ 'अनिच्छासे' उनका विहार होने योग्य 'परमयोग' होता है, वहाँ-वहाँ क्षेत्रांतर होता है। ऐसी कुदरती व्यवस्था धर्मकी प्रभावनाके स्वभाविक संकेतरूप है। अकृत्रिम जिनबिबकी माफिक धर्म उत्पन्न होनेका 'योग' और कर्मके भोग्यस्थान, इस जगतमें 'द्रव्यस्वभाव' है, वैसे ही 'धर्मयोग' भी व्यवस्थित है, ऐसा समझमें आता है। (१६८३)



संसार और मोक्ष प्रतिपक्षमें है। अतः सत्संगमें संसार विरुद्ध विषयका विचार किया जाता है, और उसके अमलीकरणकी प्रेरणा मिलती है। वास्तवमें सत्संग है वह संसार समाप्त करनेका प्रसंग है। संसार समाप्त होनेसे संसार-दुःख भी समाप्त होते हैं। संसारकी रुचिवाले उसमें नहीं टिकते - नहीं टिक सकते। (१६८४)



ज्ञानवेदन आबाल-गोपाल सबको है, क्योंकि आत्मा स्वयं अनुभूति स्वरूप है; परन्तु 'लक्ष्य' पर तरफ होनेसे वह तिरोभूत रहता है, इसलिए मालूम नहीं पड़ता। स्वरूप भासित होने पर स्वरूप लक्ष्य होनेसे पुरुषार्थ द्वारा जब उसका आविर्भाव होता है, तब प्रगट अनुभवगोचर होता है। स्वानुभूति होनेमें स्वरूप-लक्ष्यका महत्त्व बहुत है। (१६८५)



जो दर्शनमोहका नाश करता है, उस साधकका चारित्रमोह अवश्य नाश होता है, क्योंकि उनके परिणमनमें चारित्रमोह निर्बल हो चुका है, और आत्माकी शक्ति बलवानरूपसे कार्य कर रही है। इतना ही नहीं विभाव भावोंका निषेध वर्तता होनेसे, उसको पोषण मिलना बंध हुआ है, मूलसे कटे हुए वृक्षकी माफिक, वह भाव सूख जायेंगे। (१६८६)



ज्ञानीपुरुषोंने जीवोंको बहुत सांत्वन दिया है। 'जैसे स्वभावके संस्कार दूसरे भवमें भी साथ आते हैं, वैसे अंतरकी गहराईसे उत्पन्न हुई भावना भी साथमें आती है।' - ऐसी भावना किसी भी नये प्रवेश करनेवाले जीवको उत्पन्न हो सकती है। नया प्रवेश करनेवाला जीव, अगर

निकट भवी होता है, तो इस बातका अंतरसे 'स्वागत' करके, वीर्योल्लासपूर्वक तत्काल भावना प्रगट करता है। (१६८७)



मुझे किसी दूसरेकी हूँफ (सहारा) नहीं चाहिए। मैं खुद ही मेरा सहारा हूँ। कँपकँपी टंडमें मैं ही मेरा अलाव हूँ। न तो मैं किसीके पराधीन हूँ और ना ही मैं किसीका मोहताज हूँ। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे कोई तनाव / आर्तपना नहीं होता। लालसा मनुष्यको मार देती है अथवा गुण-संपत्तिको लूट लेती है, फिर चाहे वह धनकी हो या मानकी। उसका कोई अंत नहीं। सब कुछ होते हुए भी कम पड़ता है। जीवनमें असंतोषका दुःख बड़ा है। इसीलिए निःस्पृही सुखी है, निष्परिग्रही सबसे अधिक सुखी है। वह आशा-अपेक्षाके मृगजलमें नहीं डूबता। बेफिक्र व निर्भय जीवन मुक्तिका सोपान है। परमार्थका मार्ग निरालंब है, क्योंकि आत्मस्वरूप निरपेक्ष व निरालंब है। (१६८८)



हरएक सफल कार्यकी पूर्व तैयारी इसके कारणरूप होती है। सत्संग व स्वाध्याय यदि सफल होते हैं, तो जीव ज्ञानदशाको प्राप्त होता है, परन्तु इसकी सफलता होनेके लिए पूर्व तैयारी होनी अति आवश्यक है। अतः सत्संग / स्वाध्यायके पहले मुमुक्षुको दरकारपूर्वक लक्ष्य रखना आवश्यक है कि 'मेरे योग्य अथवा मुझे लागू पड़ती हो ऐसी कौन-कौनसी बात आती है ? ऐसा जो कुछ भी आता है उसे ग्रहण करके, उसे प्रयोगमें उतारकर, परिणति बन जाये वहाँ तक मेरा प्रयास चलना चाहिए।' ऐसा लक्ष्य पहलेसे ही होना चाहिए। यदि ऐसा लक्ष्य नहीं रहा, तो जीवको खुदके प्रयोजनकी दृष्टिका ही अभाव होनेसे कभी सफलता नहीं मिलती। (१६८९)



जिस जीवको स्वरूपलक्ष्य नहीं हुआ हो उसका स्वरूपकी शोधकवृत्तिपूर्वक और आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक शास्त्रस्वाध्याय होना चाहिए वरना यथार्थता रहनी असंभवित है। आत्मभावना और शोधकवृत्ति यथार्थताकी नियामक है। (१६९०)



चैतन्यकी अंतरकी गहराईमेंसे उत्पन्न हुई यथार्थ भावना, वह अनुदयभावरूप मुमुक्षुता है। ऐसी भावनावाला मुमुक्षुजीव उदयसे उपेक्षित होकर सन्मार्गके प्रति - आत्महितके प्रति आगे बढ़ता है। मोक्षमार्ग भी अनुदय भाव है, कि जो परिणाम उदयमें नहीं जुड़करके आत्मामें जुड़ते हैं। - इस प्रकार सदृशता / साम्यता 'भावना'में उत्पन्न होती है। जो कि वृद्धिगत होकर

मोक्षमार्गमें परिवर्तित होती है।

(१६९१)



संसारकी उपासनाका अभिप्राय जीवको अनादिसे है। जब तक उस अभिप्रायका 'सर्वथा त्याग' नहीं होता, तब तक कोई भी साधन मोक्ष हेतु सफल नहीं होते। उत्कृष्ट साधन ऐसा जो सत्संग, उसे भी विपरीत अभिप्राय निष्फल कर देता है। इसी वजहसे दीर्घकाल सत्संगमें रहनेवाला भी आत्महितसे वंचित रह जाता है। ऐसा विपरीत अभिप्राय जीवको जब परिभ्रमणकी वेदना आती है, तब नष्ट होता है। और तत्पश्चात् क्या करना, यह समझमें आता है।

(१६९२)



मुमुक्षुको मार्ग बतलानेवाले ज्ञानी मिल जाये, तो भी अंदरमें मार्ग तो खुदको ही खोजना है, ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। ऐसा अभिप्राय होने पर भी गुरुके प्रति पूरा-पूरा विनय (उपकारबुद्धि पूर्वक) पात्र जीवको होता (ही) है। पुछ-पुछकर मार्ग पकड़ लूँ, ऐसा अभिप्राय बाह्यदृष्टिमें जाता है, जिसके कारण मार्गकी अंतर खोज नहीं होती, उस प्रकारमें जीव नहीं आता है। अतः वैसा अभिप्राय नहीं होना चाहिए। खुदकी वस्तु बाहरसे मिलनेवाली नहीं है।

(१६९३)



दो ज्ञानी अथवा दो आचार्यकी बात एक दूसरे से अलग पड़ती हो, अलग-अलग दिखती हो, तो पारमार्थिक दृष्टिसे उसका सुमेल करना चाहिए, क्योंकि उनकी सर्व बातमें परमार्थ-सामान्य होता है। इसके अतिरिक्त किस बात पर कितना वजन देना चाहिए - यह गुरुगमसे समझना चाहिए। ये विषय अधिक सूक्ष्म है और सापेक्ष है। परन्तु कोई बात दुर्लक्ष करने योग्य नहीं होती। यदि किसी एक बातका भी स्वीकार नहीं हुआ तो, उस बातका परमार्थ खुदको समझमें नहीं आया है - ऐसा जानना।

(१६९४)



जीवको प्रयोजनभूत समझ सिर्फ इतनी ही करनी चाहिए कि :

- (१) आत्मकल्याणके लिए, अपूर्व अंतरात्तामेंसे उत्पन्न हुई भावना होनी चाहिए।
- (२) श्रीगुरुकी निष्काम भक्ति व चरण सानिध्यके भाव (होने चाहिए।)

जिसका हृदय भावना और भक्तिसे भीगा हुआ रहता हो, उस जीवको तत्त्वविचार यथार्थ चलते हैं, वरना तत्त्वविचारकी अयथार्थता जीवको शुष्कता / स्वच्छंदमें ले जाती है। अतः ऐसा फलित होता है कि, यथार्थ भक्ति और भावना तत्त्वविचारके नियामक (Controlling Power)

परिबल हैं। मुख्यतया तत्त्वविचारमें प्रवर्तमान जीवको इस बातका महत्त्व समझकर, इसे लक्ष्यमें रखने योग्य है। (१६९५)



वियोगका दुःख असह्य है। क्योंकि जीवने संयोगका रस-मिठास बहुत ली है। फिर भी यदि जीव आत्मकल्याणार्थ सत्पुरुष और सत्स्वरूपके वियोगकी वेदनामें आये तो वह आत्म-कल्याणकारी है। जिस वेदनाके गर्भमें (फलस्वरूप) सादि अनन्त स्वरूपका संयोग (!) सुखका अनुभव पड़ा है (रहेगा।) और कभी किसीके वियोगका दुःख भोगनेका अवसर ही नहीं आयेगा। (१६९६)



जिज्ञासा :- परमें रस रुकावटका कारण है, तो किसमें रस है, यह मालूम पड़ सकता है क्या ?

समाधान :- जिसे सच्ची भावना हो उसे मालूम पड़ता है, क्योंकि उस वक्त भावनाको ठेस पहुँचती है। भावनावालेका उपयोग उस प्रकार सूक्ष्म होकर प्रयोजनमें कार्य करता है। भावनाके अभावमें उपयोग स्थूल होता है। भावना उग्र होने पर आत्मकार्यकी लगन व उत्कंठा लगती है, जिससे परमें रुकावट हो जाये इतना रस पड़ता ही नहीं है। (१६९७)



आत्मकार्यकी लगन व उत्कंठा लगे तो उसकी परिणति बन जाती है। जब तक अंतरकी परिणति नहीं बन जाये, तब तक अनादिसे चल रही संसार परिणति नहीं मिटती। जब तक संसार परिणति बनी रहती है, तब तक बोधकी असर आत्माको नहीं होती है और बाह्य धर्म प्रवृत्ति / साधन निष्फल जाते हैं। (१६९८)



जिज्ञासा :- ज्ञान, आनंद इत्यादि महानगुणोंका विचार होने पर स्वरूपकी महिमा आती है, तो क्या उस प्रकारसे महिमा करनी उचित है ? उसमें गुण-भेदकी मुख्यता नहीं हो जाती ?

समाधान :- विचार गुणभेदसे होता हो, परन्तु महिमा अभेद आत्माकी आये तो वैसा प्रकार, योग्य प्रकार है, जिसमें भेद-विचार पर दृष्टि - वज़न नहीं होता। जिसका भेद-प्रभेद पर वज़न जाता है, उसे अभेद स्वरूप लक्ष्यमें नहीं आता। वह भेदकी रुचिवाला जीव भेदमें - क्षयोपशममें - रागमें रस लेकर अटक जाता है। अभेद लक्ष्यत् नहीं होनेसे, भेदकी मुख्यतामें, भेदकल्पना हो जाती है और इससे कल्पित भावमें समाधान हो जाता है, तब दर्शनमोह वृद्धिगत होकर, जीव सूक्ष्म गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाता है। इस प्रकार स्वरूप-विचारमें भी अत्यंत सावधानी

आवश्यक है।

(१६९९)



जिज्ञासा :- यदि ज्ञानके सातत्यसे त्रिकाली द्रव्य लक्ष्यमें आता है, (निर्भात दर्शनकी पगडंडी प्रकरण-३) तो उस सातत्यका अनुभव (प्रयोग पद्धतिसे) कैसे होता है ?

समाधान :- मोक्षार्थीको निजावलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञानका सातत्य अनुभवगोचर होता है। साथ ही साथ होनेवाला अस्तित्वका, प्रत्यभिज्ञान त्रिकाली द्रव्यको प्रदर्शित करता है। 'मैं'-पनेका अनुभव ज्ञानवेदन द्वारा होना, वह अस्तित्व ग्रहण है। अस्तित्वका सतत वेदन होने पर अखण्ड तत्त्वकी प्रतीति स्पष्टरूपसे होती है।

(१७००)



जुलाई - १९९८

जिज्ञासा :- पूर्वमें सत्पुरुषका समागम किया है, यह वर्तमानमें कैसे मालूम पड़े ?

समाधान :- यदि पूर्वमें आज्ञांकितपने प्रत्यक्षयोगमें सत्संगका आराधन किया हो, तो सत्पुरुषके वचनमें रहे परमार्थका ग्रहण होता है अथवा उनका हृदय - अंतर परिणमन पकड़में आता है, और इस परसे पूर्वमें हुए समागमकी प्रतीति भी आती है।

(१७०१)



सिर्फ आत्माका विचार होना, सफल नहीं है, परन्तु आत्माको भाते-भाते यदि आत्म-विचारणा चले तो ध्यान होता है। भाये सो ध्यावे - इस न्याय अनुसार मुमुक्षुको आत्मभावना सहित आत्माको भाना चाहिए। जितना आत्मरस भावनामें उत्पन्न होता है, उतना सिर्फ विचार / विकल्पसे नहीं होता।

(१७०२)



जीवको सत्श्रवणका पुण्य योग हो, परन्तु यदि दूसरी ओर असत्संगकी रुचि भी हो, तो अनादिसे चली आ रही भ्रांति नहीं छूटती, परन्तु भ्रांतिसे स्वच्छंद बढ़ता है। अर्थात् असत्संग ये दोनों (भ्रांति और स्वच्छंद) बड़े दोष वृद्धिगत होते हैं और सत्श्रवणका योग - आत्मयोग निष्फल जाता है। ऐसा पूर्वमें बहुत बार बना है, इसलिए अब जागृत रहने योग्य है।

(१७०३)



मायाकी परिभाषा परमागममें निम्न प्रकारसे की है। 'गुप्त पापतः माया।' अंतर मिलान करने पर उसकी यथार्थता समझमें आती है। परन्तु जीवको अनेक प्रकारसे गुप्त रहनेका भाव आता है। मानसे बचनेके लिए निज गुणोंको गुप्त रखना-दबाना, गुप्त पुण्य करना-दानादि

प्रसिद्ध न करना, इत्यादि इसमें माया नहीं है; क्योंकि इसमें मायाका हेतु नहीं है, अथवा गुप्त प्रपंच करनेका भाव नहीं है। (१७०४)



शुद्धोपयोगरूप धर्मध्यान चार भावनासे विभूषित हैं।

१. मैत्री = जगतके सर्व प्राणीके प्रति निर्वैरबुद्धि, अर्थात् सर्वके प्रति निष्काम प्रेमबुद्धि।

२. प्रमोद = किसीके अल्प गुणको भी देखकर उल्लास आना, रुचना, रोमांच उल्लसित होना।

३. अनुकंपा = जगतके जीवोंको दुःखी देखकर, वे सन्मार्ग पर आत्मिक सुखको प्राप्त करें ऐसी भावना।

४. माध्यस्थ = समदृष्टिके पुरुषार्थ सहित विपरीत योग्यतावाले जीवके प्रति उदासीनता / उपेक्षा।

उपरोक्त प्रकारके परिणाम अनुक्रमसे निःशल्यता, गुणके प्रति प्रेम, निष्कारण करुणायुक्त कोमलता और परदोषकी गौणता आदि सद्गुणोंका सेवन करते हैं, जिससे परिणाममें अनादि असम्यक्ता दूर होनेकी योग्यताकी संप्राप्ति होती है, और परके प्रति लगे हुए उपयोगको व्यावृत्त होनेका कारण बनता है। (१७०५)



प्रथम आत्माका विचार होता है, इससे आगे जाकर ज्ञान-वेदनसे स्वयंको देखनेसे, स्वयंकी अंतर्मुखता, सुखस्वभावपना, प्रत्यक्षता और ज्ञानके सातत्यसे अनन्त सामर्थ्य शाश्वतता आदि भासित होते हैं, जिससे आत्मभावना वृद्धिगत होती है। - यह भावना वृद्धिका प्रयोग है। (१७०६)



श्रीगुरुके अनुग्रह (कृपा) का दो प्रकारसे दर्शन होता है। एक तो उनकी चित्त प्रसन्नता द्वारा और दूसरा भूल / दोष दिखे तब डाँटते हो, तब भी उनकी कृपा ही दिखनी चाहिए, क्योंकि वे हितबुद्धिसे डाँटते हैं। (१७०७)



ज्ञानीपुरुषकी उपदेश प्रवृत्ति दो कारणसे होती है। स्व हितार्थ और पर हितार्थ। दोनोंमें एक सरीखी निष्कामता होती है। इसलिए अहम्भाव रहित और आडंबर रहित वह प्रवृत्ति होती है। निज हितकी मुख्यतासे साधना करते-करते, परहितमें भाग्यवंत जीवोंको उनका निमित्तत्व प्राप्त हो जाता है। (१७०८)



सुख-दुःख वह सर्व प्राणीयोंका प्रयोजनभूत विषय है। दुःख तनिक सा भी कभी न हो, और पूरा सुख हमेशा रहो, ऐसी जीवमात्रकी अभिलाषा होती है, अभिप्राय होता है, फिर भी संसारमें जीव दुःखी मालूम पड़ते हैं। उस दुःखमें दो प्रकार हैं। एक शारीरिक पीड़ा और दूसरा मानसिक उलझन (Tension) - तनाव, अथवा असमाधानकी वजहसे उत्पन्न आकुलता - इसके पेटाभेद अनेक हैं।

इन सभी प्रकारके दुःखसे मुक्त होनेके उपायकी ज्ञानी महात्माओंने गवेषणा की है। वह इस प्रकारसे की दुःखके निमित्त सम्बन्धित पूर्वग्रह (Prejudicial Misconception) से मुक्त होकर, सुखस्वरूप ऐसे आत्मस्वभावमें उपयोगको लगाना। जिससे कोई भी परिस्थितिमें दुःख नहीं होगा। ऐसे पूर्वग्रहसे मुक्त होनेके लिए और आत्मामें अंतर्मुख होनेके लिए जीवको सत्संगका आश्रय करना चाहिए - उपासना करनी चाहिए और असत्संग व कुसंगसे दूर रहना चाहिए। यद्यपि सभीको पूर्व प्रारब्ध अनुसार संयोग-वियोग होता है; परन्तु वास्तवमें इससे सुख या दुःख नहीं है। परन्तु अज्ञान भावसे किये हुए पूर्वग्रहसे सुख-दुःखकी कल्पना, स्वरूप सावधानीके अभावमें उत्पन्न होती है। (१७०९)



मोक्षमार्ग तक पहुँचनेके लिए मुमुक्षुदशाके प्रत्येक स्तरमें सतत कार्यशील रहना आवश्यक है, तो ही प्रयत्न सफल होता है और आगे बढ़ा जाता है। अर्थात् एक लयसे प्रयत्न होना चाहिए। यदि रुक-रुककर कार्य किया जाता है तो उसमें सफलता नहीं मिलती बल्कि समय और शक्तिका व्यय होता है, जो निरर्थक जाता है। अतः 'प्रयत्नमें सातत्य' का महत्त्व बहुत है। यह लक्षमें लेना जरूरी है। यदि इसके सातत्यका महत्त्व समझमें नहीं आया तो प्रयास सतत नहीं चलेगा और प्रायः यह क्षति (Lacking Point) पकड़में नहीं आती। वरना यथार्थतामें तो 'सर्वोत्कृष्ट महान ध्येय' की प्राप्तिकी यथार्थ समझ होनेसे पुरुषार्थका सातत्य सहज ही रहता है। (१७१०)



जिज्ञासा :- 'सत्पुरुषके समागमकी एक क्षण भी संसार समुद्र तिरनेके लिए नौका समान होती है।' - यह वाक्य यथार्थ लगता है, तो वह एक क्षण कैसी होती है ? समझानेके लिए विनती है।

समाधान :- जिसका भवितव्य समीप होता है, उसे वैसी कोई धन्य पलमें सत्पुरुषका समागम होता है कि जबसे उसका जीवन आत्म-कल्याणकी दिशामें झुक जाता है। उस क्षणसे सत्पुरुषके प्रति 'पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे' - ऐसी दशा शुरू हो जाती है, जिसका अंजाम

आखिरमें निर्वाणपदमें आता है। उस जीवको शुरूसे ही सत्संगकी अपूर्व महिमा, प्रत्यक्ष लाभ होनेसे उत्पन्न होती है। (१७११)



आत्मकल्याणकी तीव्र भावनापूर्वक उदयमें प्रयोग होना चाहिए, वरना उदय अनुसार भाव होकर नया कर्मबंधन होगा। मोक्षार्थी जीव तो उदयको प्रयोगका निमित्त बनाता है, इसलिए वह उदय भावोंमें बह नहीं जाता। वह इस प्रकारसे कि उदयमें जहाँ-जहाँ अपनत्व होता है वहाँ मिटानेका प्रयास करता है, सचेत-अचेत दोनों पदार्थोंमें। इसके अलावा उन-उन पदार्थोंकी स्वतंत्रताका स्वीकार करके, उसमें चल रही कर्ताबुद्धिको तोड़नेका प्रयास करता है। जिससे दर्शनमोह मंद होकर विभावका रस नहीं चढ़े। (१७१२)



जिज्ञासा :- 'अनन्त कालसे इस जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ? और वह क्या करनेसे हो ?' इस वाक्यमें 'अनन्त अर्थ समाया हुआ है' यह कृपालुदेव किस प्रकारसे कहना चाहते हैं ?

समाधान :- यदि उक्त परिभ्रमण विषयक चिंतना होकर, जीव परिभ्रमणसे छूटनेकी, इससे होनेवाले दुःखोंसे छूटनेकी वेदनामें आये, और छूटनेके उपायके लिए तरसता है तो मति निर्मल होती है और वर्तमान भूमिकासे लेकर पूर्ण पद प्रगट हो वैसी भावना जागृत होकर, आगे बढ़नेका यथार्थ क्रम प्राप्त होता है। तद्उपरांत 'अनंत प्रकारके असमाधानसे उत्पन्न अकुलाहट मिटती है। इस तरह जिस-जिस प्रकारसे जीव उलझनमें आता है, बँधता है, उससे छूटनेकी सूझ इस चिंतनासे आती है। संसार परिभ्रमणके अनंत प्रकारके सर्व भावोंसे छूटनेका अभिप्राय इस वेदनामें तैयार होता है। जो कि मुक्त होनेके इच्छावानके लिए अति महत्त्वका प्रसंग है। क्योंकि पूर्वमें सर्वकालमें जीवने संसारकी उपासनाका अभिप्राय छोड़े बिना, यानी कि उस अभिप्रायको वैसे ही कायम रखकर धर्म साधन किये हैं, जिसके कारण संसार फलवान हुआ है। इस प्रकार उक्त वचनमें अनंत अर्थ समाया हुआ है। - ऐसा इस भूमिकाके स्तरमें अनुभवसे समझमें आता है। (१७१३)



जिज्ञासा :- 'सुख आत्मामें है' ऐसा सत्पुरुष और श्री तीर्थकरदेवका उपदेश परम सत्य होने पर भी उसकी असर हमें नहीं हो रही है। उपदेश तो यथार्थ ही है, ऐसा लगता है - ऐसा समझमें आता है, न्याय-युक्ति आदिसे सम्मत भी होता है, फिर भी असर नहीं होनेका क्या कारण ? तथारूप असर किस प्रकार - कब होती है ?

समाधान :- जब तक आत्मिक सुखकी अनुभवांशसे स्पष्ट प्रतीति न आये तब तक सिर्फ श्रवणादिसे अंतर सुखके प्रति खिँचाव-आकर्षण नहीं होता। इसके पहले, दूसरी ओर बाहरमें - परपदार्थमें सुखाभाससे सुखका निश्चय अनादिसे अति दृढ़ हुआ पड़ा है, गाढ़ हुआ पड़ा है। और वर्तमानमें भी जो अनेक इच्छाएं होती हैं तब जो आकुलता उत्पन्न होती है, वह इच्छित पदार्थकी प्राप्ति होने पर मंद होती है, तब वह मंद हुई आकुलतारूप सुखाभासमें जीव सुखका अनुभव करता है, कल्पितरूपसे सुख मानता है। अतः पूर्वमें हुआ मिथ्या निश्चय अधिक प्रगाढ़ होता है। इस प्रकार दोनों तरफ-अंतरबाह्य परिस्थिति होनेसे 'सुख आत्मामें - अंतरमें है,' इस बातकी जीवको असर नहीं होती। इतना ही नहीं बल्कि अंतर सुख शक्तिरूप है, हालमें व्यक्त नहीं है, इसलिए उसका अनुभव अप्रगट है। इन कारणोंसे संसारमें जीवोंको बाह्य सुखका आकर्षण-मोह छूटना अत्यंत दुर्लभ है - कठिन है।

परन्तु ज्ञानीपुरुषके समागममें जीवको जब सुख-दुःखका विषय स्वलक्षसे समझमें आता है, तब भौतिक सुखकी प्राप्ति होने पर भी, अतृप्तताका अनुभव जीवकी समझमें आता है और ज्ञानीके वचनमें विश्वास उत्पन्न होता है। फिर उन वचनोंका आराधन करते-करते ज्ञानसे ज्ञानको स्वयं देखनेका अभ्यास (Practice) और परमें नीरसता आनेसे, ज्ञान ही सुखरूप भासित होता है। तब फिर अंतर सुखका आकर्षण पैदा होता है। ऐसे निजसुखका भासन, जब तक जगतके पदार्थोंमें मीठास होती है या रहती है तब तक नहीं हो सकता।

सुख है वह सिर्फ श्रवणसे विचार करनेका विषय नहीं है, परन्तु अनुभवका विषय है। अतः सुनने मात्रसे अंतरसुखका आकर्षण उत्पन्न होना असंभवित है। अतः आत्म-सुखकी चाहे कितनी भी बातें जीव सुनता है, फिर भी उसकी आत्मा पर असर नहीं होती है, परन्तु यदि भावभासन हो तो सहज खिँचाव उत्पन्न होता है। (१७१४)



यदि सकामतामें मलिनता है, तो निष्कामतामें पवित्रता है। इस प्रकार पवित्रताका अंश, निष्कामबुद्धि जिसका मूल है, इसमें से पनपता है, इसलिए ज्ञानियोंने वैसी निष्कामबुद्धिका अनुमोदन किया है। केवल आत्मकल्याणकी भावनायुक्त निष्कामता, और गुरु-चरण, प्रभु-भक्ति पर्यायबुद्धिको निर्बल करते हैं, जिससे अहंकारका दूषण प्रवेश नहीं कर सकता, अन्यथा उस दूषणको रोकना सुलभ नहीं है।

निष्कामतामें चलते हुए रागके सिक्केका एक ही पहलू है, वरना तो रागके सिक्के के दूसरे पहलूमें द्वेष छिपा हुआ रहता ही है। अतः निष्काम करुणा आदि (भक्ति इत्यादि) में राग होने पर भी (वीतरागता नहीं होने पर भी) वीतद्वेषता होती है, जो कि इस सद्गुणकी

विलक्षणता है।

(१७१५)



जिज्ञासा :- स्वाध्याय, श्रवणके वक्त काफी दृढ़ता आती है, परन्तु पीछेसे प्रयत्न नहीं चलता है तो उसका क्या कारण ?

समाधान :- यदि स्वलक्षसे स्वाध्याय-श्रवण आदि होते हैं तो प्रयास हुए बिना रहता ही नहीं। परलक्षीज्ञानमें अति परिणामीपना (Over Estimate) हो जाता है - यह दोष अहंभावरूप है। यथार्थ समझ तो नियमसे पुरुषार्थकी उत्पादक है। उसमें संशयको अवकाश नहीं है - परलक्षी दृढ़तासे पुरुषार्थ नहीं चल सकता।

(१७१६)



देखिये ! भावनाकी सुंदरता ! कोई भी जीव चाहे कभी भी स्वरूप प्राप्तिकी भावना अथवा निजकल्याणकी भावना कर सकता है। जिसे स्वरूप सुखकी सही चाहत उत्पन्न होती है, उसे कहीं भी बाह्य पौद्गलीक सुखमें संतोष नहीं होता, बल्कि आत्मसुखकी पिपासा बढ़ती जाती है। यद्यपि भौतिकसुखसे कभी किसीको तृप्ति नहीं हुई, परन्तु स्वरूपकी भावनावालेको कहीं भी चैन नहीं पड़ता है, और उसकी भावना बढ़ती जाती है।

(१७१७)



सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति आज्ञाकारिताको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुकी भूमिकामें कुछएक दोष तो मिटाने अति दुष्कर होते हैं; अथवा जो-जो दोषका दमन करना पड़ता है, वे सहजमात्रमें अत्यंत भक्ति और आज्ञाकारिताके कारण उत्पन्न ही नहीं होते। - यह कितना सरल उपाय है! इसलिए सदगुरुकी आज्ञा सर्व धर्म सम्मत है। विचारवान व प्रयोजनकी पकड़वाला जीव इस उत्कृष्ट उपायको ग्रहण करके सिद्धपदको प्राप्त कर लेता है।

(१७१८)



भावनामें अपनत्व करनेकी प्रगट शक्ति है। इसलिए उसका फल भी महान् है। स्वरूपमें एकत्व / अपनत्व करनेसे उसके फलमें केवलज्ञानादि पूर्णदशा प्राप्त होती है। परन्तु अनादिसे जीव परकी भावना करते-करते भवभ्रमण कर रहा है। अतः यह स्पष्ट है कि जीवके परिभ्रमणका कारण परकी भावना है। जीव यदि भावनासे निज स्वरूपको भाये तो अवश्य तिर जाये। 'आतम् भावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे।' -(परम कृपालुदेव) परकी भावनासे भवभ्रमण और स्वरूपकी भावनासे भवभ्रमणका नाश । क्योंकि आत्मस्वरूप स्वयं भव रहित है। इस प्रकार मोक्षमार्गमें स्वरूपकी भावनाका अनुपम व अगणित लाभ है। और यह सिद्धांत अफर होनेसे भावनाका अत्यंत महत्त्व है।

(१७१९)

अगर जीवको परिभ्रमणकी चिंतना और वेदना नहीं आती हो तो उसका खेद होना / रहना चाहिए। यदि यथार्थ खेद होगा तो उदयमें जागृति रहेगी क्योंकि उदयमें परिभ्रमणके कारणरूप परिणाम होते हैं। अगर वैसी जागृति नहीं आयी तो खेद हुआ इससे क्या फायदा ? अजागृतिके कारण चिंतनामें प्रवेश नहीं हो पाता है और जो परिभ्रमण होनेवाला है, उसका जोखिम / (खतरा) दिखता नहीं है और इस वजहसे चिंता भी नहीं होती है - ऐसा समझने योग्य है। संक्षेपमें बात ऐसी है कि, खुद अजागृतदशामें (मोहनिद्रा) परिभ्रमणके कारणरूप परिणामोंका सेवन कर रहा है, यह बात लक्ष पर नहीं आयी है अर्थात् स्वलक्षसे ऐसा समझने नहीं आया है। यह अत्यंत करुणाजनक स्थिति है। (१७२०)



आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक उदयमें प्रयोग होना चाहिए। भावना होगी तो ही प्रयोग चलेगा वरना (सिर्फ) विकल्प होता है। यदि प्रयोग नहीं हुआ तो जीव उदयमें जुड़कर नया कर्म बाँध लेता है। मोक्षार्थी जीव उदयको प्रयोगका साधन बनाता है, इसलिए वह उदयमें खींच नहीं जाता, परन्तु उदयमें अपनत्व और कर्तृत्व आदि मिटानेका प्रयास करता है। और सचेत एवं अचेत दोनों द्रव्योंमें उन-उन द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार करके अधिकारबुद्धि तोड़नेका प्रयास करता है। यदि अपनत्व पतला पड़े तो विभावरस तीव्र नहीं होता। इस प्रकार भेदज्ञानके प्रयोगसे अनउदय परिणामरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है। (१७२१)



यथार्थ समझमें पारमार्थिक लाभका तुलनात्मकरूपसे सर्वोत्कृष्ट मूल्यांकन आता है। जिससे अन्य व्यवहारिक / उदय प्रसंग गौण हो जाते हैं। अथवा जिससे उपकार हुआ है, अथवा पारमार्थिक लाभ जिसके निमित्तसे हुआ हो उसका दोष गौण हो जाता है। इसे गौण करना वह खुदके लाभकी बात है; लाभका कारण है। इस प्रकार हित-अहितकी सूझ अंदरसे आनी चाहिए - यह यथार्थताका लक्षण है। (१७२२)



जिज्ञासा :- खुदके अहम्को चोट लगती है तब परिणाम कैसे होते हैं ? और खुदकी भावनाको चोट लगती है तब परिणाम कैसे होते हैं ? दोनोंमें क्या फर्क है ?

समाधान :- अहंकार है वह अवगुण है, जबकि भावना है वह सद्गुण है। अहंकारको चोट लगती है तब जीवको द्वेषके परिणाम होते हैं, जबकि भावनाको ठेस लगती है तब जीव जागृत हो जाता है कि जिसके कारण द्वेषभाव नहीं होता। जब अहंकारको चोट लगती है तब निमित्तकी मुख्यता होकर, निमित्तके प्रति द्वेष हो जाता है, (जबकि) भावनाको चोट भावना

विरुद्ध परिणामोंसे लगती है। अहंकार जो है वह अनात्म द्रव्यमें अपनत्वके भावसे उत्पन्न होता है, जबकि भावना आत्मामें आत्मत्व कराती है। भावना दो प्रकारसे है - आत्मस्वरूपकी महिमारूप और आत्मकल्याणकी अभिलाषारूप। (१७२३)



जिज्ञासा :- स्वरूप प्राप्तिकी भावना और प्रयोजनकी दृष्टिके बीच क्या सम्बन्ध है?

समाधान :- भावना और प्रयोजनको कारण-कार्य संबंध है। जिसे स्वरूप प्राप्तिकी भावना होती है, उसीको सर्व उदय प्रसंगोंमें प्रयोजन सधे वैसी मुख्यतावाला दृष्टिकोण सहज रहता है। इस प्रकार भावना कारण है और प्रयोजनका दृष्टिकोण साध्य होना वह कार्य है। अगर प्रयोजनकी दृष्टि जीवको नहीं हो तो ऐसा समझने योग्य है कि जीवको अभी सच्ची भावना ही नहीं हुई। (१७२४)



प्रश्न :- स्वरूपका निर्णय होता है और स्वरूपलक्ष होता है, तो इन दोनोंके बीच क्या सम्बन्ध है ?

समाधान :- निर्णय अर्थात् स्वरूपकी पहचान अथवा स्वरूपका निश्चय। और लक्ष माने पहचानमें आया हुआ परम प्रयोजनभूत ऐसा निज स्वरूपका ज्ञानमेंसे नहीं खिसकना वह। ऐसा लक्ष स्वरूपके निर्णयसे होता है। इसलिए निर्णय कारण है और लक्ष होना सो कार्य है। दोनों एक ही कालमें / समकालमें होते हैं। (१७२५)



अगस्त - १९९८

जिज्ञासा :- निजावलंबन और स्वसंवेदन अविनाभावी होते हैं ?

समाधान :- निर्विकल्प आत्मस्वरूपका अंतर अवलंबन एकाग्रतासे होता है, उस वक्त बुद्धिपूर्वकका राग जो ज्ञानवेदनको आच्छादित करता था, उसका अभाव होनेसे स्वसंवेदन प्रगटरूपसे अनुभवमें आता है। परावलंबनके कालमें राग उत्पन्न होता है, जिसके कारण ज्ञानवेदन आच्छादित रहता है / आवरित रहता है, तिरोभूत रहता है। परन्तु जैसे ही अपने स्वरूपका पहचानकर अवलंबन लिया जाये कि, स्वरूपमें एकाग्रता हो जाती है। अंतरमें सुख है, इसलिए एकाग्रता होती है, और उस वक्त बुद्धिपूर्वकके रागकी उत्पत्ति नहीं होती, तब आत्माको प्रदेश-प्रदेशमें सुख, शांति व आनंद सहित स्वसंवेदन अनुभवमें आता है। ऐसी स्वानुभूति भवनाशक है। (१७२६)



जिज्ञासा :- मुझे मोक्षमार्गके प्रति आगे बढ़नेके बहुत भाव आते हैं, उदयमें भी परिणाम ज्यादा खींचकर तीव्र नहीं होते, और तत्त्वकी समझ होनेसे समाधान भी आता है। उदयके वक्त थोड़ा अवलोकन भी चलता है फिर भी आगे नहीं बढ़ा जाता है, यह बात भी साफ नक्की है, तो किस प्रकारसे अवरोध होता होगा, यह पकड़में नहीं आता है, तो क्या करना ?

समाधान :- परमार्थमें अवरोधके कारणरूप अनेक प्रकारके परिणाम हैं। इन अवरोधरूप परिणामोंकी जाँच करनी चाहिए। उनमेंसे कुछएक अवरोधरूप भाव इसके उपाय सहित यहाँ पर दिये हैं। जिसमें :

स्वच्छन्द, पूर्वग्रह, परलक्ष, विभाव परिणति, प्रतिबंध, प्रकृतिदोष और संयोगोंमें अपनत्व, आधारबुद्धि, सुखबुद्धि, कर्ताबुद्धि इत्यादि परिणाम मुख्य हैं। संक्षेपमें उन भावोंका नीचे विस्तार किया है, जिससे अनुभवके साथ उसका मिलान कर सकें।

स्वच्छन्द : ज्ञानीकी आज्ञामें नहीं रहनेसे अनेक प्रकारसे जीवको स्वच्छन्द होता है। यह सबसे बड़ा दोष परिभ्रमणका कारण है।

१. धर्मसाधन खुदकी रुचि / कल्पनाके अनुसार करना।

२. इसके अलावा तीव्र रसपूर्वक शुभाशुभ भाव होना।

३. अंतरआत्माके आवाज़की अवहेलना करना - इत्यादि स्वच्छन्दके प्रकार हैं।

पूर्वग्रह : जीवने अनेक प्रकारसे मिथ्या / विपरीत अभिप्राय बाँध रखें हैं, जिसका आग्रह रहना और किसी भी व्यक्तिकी अयोग्यताका निश्चय - उसरूप शल्य, जो कि पुरुषार्थ / संवेगको रोकता है।

विभाव परिणति : पूर्वमें उदयकार्योंमें विभावभाव अति रसपूर्वक किये होनेसे उसकी परिणति बन गई होती है। जिसका नाश इसके विरुद्ध स्वभावरसकी भावनाकी परिणति बननेसे होता है। इस प्रकारका अवरोध प्रायः जीवकी जानकारीमें नहीं आता है। अतः उसका उपाय (जो ऊपर कहा है) वह भी सूझता नहीं है, परन्तु उलझन / अकुलाहट रहा करती है। फिर भी उत्साह व धैर्यसे प्रयास कर्तव्य है।

प्रतिबंध : कुटुम्ब, समाज व शरीरकी मुख्यतामें आत्मसाधन - सत्संगादि गौण हो जाना। उसे परिभ्रमणका कारण जानकर उदयमें प्रयोग करके कमज़ोर करना पड़ता है, तभी मार्गके प्रति आगे बढ़ा जा सकता है।

प्रकृतिदोष : अन्दरसे संचित कर्मका उदय आता है तब स्वरूपकी अथवा आत्मकल्याणकी सावधानीके अभावमें जीवका कषायरस तीव्र हो जाता है, जो अकषाय स्वभावसे विरुद्ध है।

उसे मिटानेका मुख्य साधन आत्मजागृतिरूप अवलोकन है। अवलोकनसे कषायरस गलता है।

परलक्ष : यह ज्ञानका (अनादि) बड़ा दोष है। जो स्वाध्याय और सत्संगको निष्फल करता है और पररुचिको उग्र करता है और जिसके कारण दूसरे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस दोषके कारण जीव 'में समझता हूँ' - ऐसी भ्रान्तिमें रहता है, और स्वलक्षसे विचार / प्रयोग नहीं कर सकता। स्वलक्ष और आत्मार्थीतासे उसे मिटाने योग्य है।

(परमें) अपनत्व : प्रारब्धयोगसे प्राप्त ऐसी सचेत-अचेत पदार्थरूप सामग्रीमें जीव निजबुद्धि करके परिभ्रमणके कारणका सेवन करता है। संसारमें जीवको ऐसे परिणाम एकदम सहज हो चुके हैं। अतः आत्मकल्याण होनेमें ये उसका बहुत बड़ा अवरोध है, इसका खयाल तक उसे नहीं आता है। इसलिए उसे दूर करनेका उपाय भी समझमें नहीं आता, तो इसके लिए पुरुषार्थ तो करे कैसे ? इस दोषसे दर्शनमोह - मिथ्यात्व गाढ़ होता जाता है, जिसके कारण मुमुक्षुताके क्रममें प्रवेश करना दुर्लभ / कठिन हो जाता है। ऐसा अपनत्व आत्महितका घातक होनेसे काला साँप और भयंकर अजगर जैसा भासित हो और साथमें आत्मकल्याणकी भावना तीव्ररूपसे जगे तभी अपनत्व मिटनेका प्रयास हो सकता है और परमार्थमार्गमें आगे बढ़ा जा सकता है। इस प्रकार अपनत्व पतला हो सकता है।

आधारबुद्धि : जीवने अनादिसे निज शाश्वत ध्रुव तत्त्वका आधार नहीं लिया होनेसे, सहज ही परकी आधारबुद्धि चालू है। शरीर, कुटुम्ब, संपत्ति, आहार, पानी इत्यादिका आधार ग्रहण करता है और वह परिणति अति प्रगाढ़ हुई है। जिसे तोड़नेमें शुरुआतमें ही जीवकी हिम्मत नहीं चलती है। जीव नाहिम्मत हो जाता है और आगे नहीं बढ़ सकता। परन्तु स्वरूपको पहचानकर उसे बदला जा सकता है। इसके पहले सत्पुरुष, श्रीगुरुका आधार मिले तो वह सुगम हो जाता है। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सुखबुद्धि : जीवको अनादि भ्रान्तिवशात् पंचेन्द्रियके विषयमें और अनुकूलतामें सुखबुद्धि है। तद्उपरांत प्राप्त सामग्रीमें सुखाभासमें सुखानुभव कर-करके, उस सुखबुद्धिकी जीव दृढ़ता किये जाता है और अनन्त, अचिंत्य सुखधाम ऐसे निज स्वरूपसे दूर होता जाता है। और सुखसे वंचित रहता होनेसे अतृप्तदशामें अटका हुआ, बारबार सुखके लिये व्यर्थ प्रयत्न करता रहता है। परन्तु गुरुकृपासे जब स्वरूपकी पहचान होती है, सत्परमानंद स्वरूपका निश्चय होता है तब स्वरूपमें सुखबुद्धि होकर यह मिथ्या अभिप्राय मिटता है।

कर्ताबुद्धि : अनादिसे जीवको राग एवं परका कर्तृत्व है, जिसके मूल काफी गहरे हैं। इस प्रकारका मार्ग अवरोध मिटना अति दुर्लभ है लेकिन अगर यथाक्रमसे जीव भेदज्ञानके

प्रयोगमें चढ़े तो स्वानुभूति प्राप्त करता है और तभी कर्ताबुद्धिका अभाव होकर मार्ग प्राप्ति होती है। (१७२७)



आत्मकल्याणके सर्व साधनोंमें सत्संग सर्वश्रेष्ठ साधन है, यह निःसंशय है। उस सत्संगकी साधनरूप प्रतीति जीवको ज्यों-ज्यों विशेषरूपसे आती है, त्यों-त्यों उसका आराधन विशेषरूपसे होता है, जिसका क्रम निम्न प्रकारसे समझने योग्य है।

प्रथम भूमिकामें अपनी उलझनका - जिसकी उलझन हो उन प्रश्नोंका समाधान मिलनेसे, आकुलता / तनाव घटनेसे जो विश्वास उत्पन्न होता है, उसके अनुपातमें सत्संगकी महिमा आती है। तत्पश्चात् वह जीव भव-परिभ्रमणके दुःखोंको समझता हुआ वेदनापूर्वक आत्मकल्याणकी भावनासे निर्मलता-प्राप्तिके क्रममें प्रवेश करता है; तब उसे अपने अनुभवसे सत्संगका मूल्यांकन समझमें आता है और तबसे सत्संगकी सर्वाधिक मुख्यताका (Top Priority) अभिप्राय बनता है। फिर ज्यों-ज्यों (प्राप्त उपदेशको अवधारण करनेका पुरुषार्थ बार-बार करनेमें...) वह जीव मुमुक्षुतामें आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अंदरमें पुरुषार्थ और बाहरमें सत्संगसे प्राप्त हुआ बल, सत्संगके मूल्यको वृद्धिगत करता है। भावभासन तो परम सत्संगयोगके सिवा अप्राप्य होनेसे और इसके पहले ज्ञानीपुरुषकी पहचान भी प्रत्यक्ष योगमें ही संभवित होनेसे, दोनों स्तरमें सत्संगकी महिमा अत्यंत-अत्यंत ओघसंज्ञाकी निवृत्तिपूर्वक आती है। इसीलिए वह जीव ज्ञानदशा प्राप्त करके 'सत्संग करनेका बोध संपूर्णदशा प्राप्त न हो तब तक' करता है, क्योंकि स्वानुभवसे उनका आत्मा उस सत्संगके गीत गाता है। जिसमें सही महिमा होती है।

(१७२८)



अनेक प्रकारके विपरीत / मिथ्या अभिप्रायसे जीवका अज्ञान प्रगाढ़ हुआ है। जो बदलकर यथार्थ नहीं हो, तब तक जीवका कल्याण नहीं होता। तथापि इसके पहले कोई अन्य धर्मसाधन (त्यागादि) सफल नहीं होते। मुमुक्षुकी भूमिका अभिप्रायकी भूल सुधारनेकी है। भूमिका अनुसार जो सुधार होता है उसका विचार यहाँ पर कर्तव्य है। परिणाममें अभिप्रायकी ही मुख्यता होती है।

प्रथम परिभ्रमणकी वेदना आने पर जीवका संसारकी उपासनाका अभिप्राय मिटकर, पूर्णताका लक्ष बननेके साथ, किसी भी कीमत पर आत्मकल्याण कर ही लेना है, वैसा अभिप्राय बनता है, जो पुरुषार्थकी उत्पत्तिका कारण बनता है। यह मूलभूत फेरफार है। तत्पश्चात् अवलोकन होनेके परिणामका क्रम है, इसमें दोषके अवलोकन कालमें, दोषके अभिप्राय तक ज्ञान पहुँचता

है और अनेक प्रकारके विपरीत अभिप्राय - एकत्वबुद्धि, आधारबुद्धि, सुखबुद्धि, कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि इत्यादि ज्ञानमें यथार्थरूपसे पकड़में आते हैं और वे सभी ढीले पड़ते हैं। और जब भेदज्ञानके प्रयोगकालमें क्रमसे स्वरूपका भावभासन उत्पन्न होता है, तब ये ढीले पड़े हुए अभिप्राय बदल जाते हैं। सिर्फ देहात्मबुद्धि और रागका एकत्व वीतराग निर्विकल्प दशा होने पर मिटते हैं और विपरीत अभिनिवेश रहित सम्यक्ज्ञानका सूर्य प्रकाशित होता है।

(१७२९)



जिज्ञासा :- कोई शंकासे प्रश्न करे, कोई आशंकासे, दोनोंमें प्रकारांतर किस प्रकारसे है ?

समाधान :- शंका करनेवाला अविश्वासपूर्वक पुछता है, उसमें समझनेका अभिप्राय नहीं होता, जबकि आशंका करनेवालेको समझनेकी जिज्ञासा होती है, इसलिए वह विश्वासपूर्वक पुछता है। - इस प्रकार दोनोंमें बड़ा फर्क है।

(१७३०)



जीवको कुछ अंशमें पात्रतारूप योग्यता आने पर, सत्पुरुष और मुमुक्षुओंकी ओरसे आदर मिलता है। उसको हजम करनेके लिए विशिष्ट योग्यता चाहिए। अगर यह प्रकार हजम नहीं हुआ, तो जीव सहजमात्रमें स्वच्छंदमें आ जाता है, और यदि इस प्रकारको जीव हजम कर लेता है, तो पात्रता वृद्धिगत होकर वह जीव सन्मार्ग समीपतारूप आदर्श आत्मार्थीताकी भूमिकाको संप्राप्त कर लेता है। प्रगाढ़ दशा आनेके पहले ऐसा प्रकार संभवित है, अतः नीवमें ही अवगाढ़ आत्मकल्याणकी भावना होनी जरूरी है।

(१७३१)



जीवको अनादिकालसे सच्ची मुमुक्षुता नहीं आयी, अर्थात् संसारसे छूटनेका राग (शुभभाव) अनन्तवार किया है, परन्तु अंतरसे आत्मवृत्ति नहीं हुई है। यदि एकबार भी सच्ची - सही मुमुक्षुता उत्पन्न हो जाये, तो सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगका अपूर्व, दुर्लभ एवं परम हितकारी ऐसा प्रसंग सुलभ होता है। अथवा महाभाग्यसे यदि जीवको सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योग प्राप्त हो, तो जीवको सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न होनेका संभव है।

(१७३२)



तत्त्व-अभ्यास करनेवाला मुमुक्षु भी अगर खुदको लागू पड़ती हो वैसी बातोंको ध्यानमें लेकर Co-ordination पूर्वक आगे बढ़नेकी रीत ग्रहण नहीं करता है तो, कल्पनासे विधिका निश्चय करके प्रवृत्ति करता है, परन्तु मार्गको प्राप्त करनेमें असफल रहता है। इतना ही

नहीं, प्रायः वह कल्पित उपायको दृढ़ कर लेता है, जिसके कारण मूलसे यथार्थ प्रकारमें प्रवेश पानेमें बहुत कठिनाईभरी परिस्थिति हो जाती है, जिसमेंसे निकलनेमें काफी परिश्रमकी आवश्यकता पैदा हो जाती है। (१७३३)



मुमुक्षुकी भूमिकामें प्रमाद अर्थात् स्वकार्यमें शिथिलता - यह अरुचिका लक्षण है। यद्यपि कोई जीव बिना रुचिका नहीं है। जीवको पररुचि तो अनादिसे है ही। परन्तु शिथिलतामें जीव जो भी बाह्य धर्मसाधन करता है उसमें 'ऐसा करते-करते मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा हूँ अथवा आगे बढ़ूँगा;' - ऐसी वंचनाबुद्धिमें आ जाता है और प्राप्त सत्संग निष्फल जाता है। प्रायः इस प्रकार दुर्लभ ऐसे मनुष्य आयुका बहुभाग समय व्यतीत हो जाता है।

(१७३४)



इस सारे जगतमें यथार्थ सत्संग मिलना, वह अति दुर्लभ है। महा पुण्योदयसे / महाभाग्यसे उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु जीवको सच्ची मुमुक्षुताके अभावमें उसकी पहचान नहीं हो सकती। इसलिए उसका परम हितकारीपना भासित नहीं होता और परम प्रेमसे उसकी उपासना नहीं होती। अतः विशिष्ट पुण्ययोगको हार जाता है।

इष्ट मूल्यवान वस्तुके वियोगका नुकसान हो जाये, यानी कि निर्धनता आदि आ पड़े तो जीव बहुत दुःखी हो जाता है, परन्तु अरेरे! सत्संग जैसा महा पुण्ययोग निष्फल जाता है, फिर भी जीवोंको उसका खेद नहीं हो रहा है, यह कोई कम आश्चर्यजनक नहीं है।

(१७३५)



जगतमें आत्मकल्याणकी सच्ची भावना जैसा कोई बलवान परिणमन नहीं है। ऐसी भावना ही मोक्षमार्गकी प्राप्ति कराती है। भावनावाला जीव कभी भूला नहीं पड़ता। कदापि तीव्र उदय आ जाये और उसमें जुड़ जाये, तो भी खुदको सँभाल लेता है, क्योंकि भावनाको ठेस पहुँचती है; अगर क्षयोपशम अल्प हो तो भी भूलावेमें नहीं पड़ता। ऐसी भावना अंतःकरणको शुद्ध करती है।

(१७३६)



जिज्ञासा :- स्वाध्याय पद्धति कैसी होनी चाहिए ?

समाधान :- स्वाध्याय स्वलक्षपूर्वक होना चाहिए - ऐसा नियम है, जिसका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। स्वलक्षसे स्वाध्याय करनेवालेकी दृष्टि प्रयोजन पर रहती है, जिससे स्वाध्यायमें

प्राप्त उपदेश तुरंत ग्रहण होता है, चुकता नहीं है। कभी-कभी ऊपरकी भूमिकाकी बात चले तो इसकी भावना भाता है परन्तु जानकारी बढ़ानेके लिए नहीं सुनता। जानकारी बढ़ानेके अभिप्रायसे (यदि) सुने / पढ़े तो परलक्ष बढ़ता है और शास्त्रीय अभिनिवेश - अहम्भाव उत्पन्न होता है। प्रयोजन तो अपनी वर्तमान भूमिकासे आगे बढ़कर पूर्ण होनेका है। अतः ऊपरकी भूमिकाका विषय भावनाका बनता है। अनेक दृष्टिकोणसे अपने आत्महितके एक प्रयोजनको केन्द्रस्थानमें रखकर प्रवर्तन करना चाहिए। (१७३७)



यथार्थ भावनाके साथ दृढ़ता होना अविनाभावी है। एक सिक्केकी दो पहलूकी तरह। भावना स्वयं कोमल स्वभावी है, परन्तु शिथिल नहीं है। भावनावालेकी दृढ़ता अद्भुत व आश्चर्यकारी होती है। जिसका प्रभाव कुदरत पर पड़ता है। इतना ही नहीं, भावना प्रयोजनकी दृष्टिको साधती है, जिससे मुमुक्षुता वृद्धिगत होती है। (१७३८)



जिज्ञासा :- श्री सद्गुरुकी आज्ञाकारिता कैसे प्राप्त हो ?

समाधान :- सद्गुरुकी अत्यंत भक्ति आज्ञाकारिताको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुकी भूमिकामें कुछएक दोष तो मिटाने अति दुष्कर हैं, अथवा जो-जो दोषका दमन करना पड़ता है, ऐसे दोष सहजमात्रमें आज्ञाकारिता / आज्ञारुचिके परिणामोंसे उत्पन्न ही नहीं होते। - यह कैसा सरल उपाय है ! इसी वजहसे सद्गुरुकी आज्ञा सर्व धर्म सम्मत है। विचारवान जीव इस उत्कृष्ट उपायको ग्रहण करके अंततः सिद्धपदको प्राप्त करता है। (१७३९)



मुमुक्षुकी भूमिकामें कुछएक गुणका होना आवश्यक है; जिसमें आत्मरुचिकी प्रधानता है। जिसके कारण सरलता, प्रयोजनकी पकड़, यथार्थ उदासीनता इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं। आत्मरुचिके बिना क्षयोपशमज्ञान कार्यकारी नहीं होता, क्योंकि प्रयोजनभूत बात पर लक्ष नहीं जाता; पारमार्थिक सरलता उत्पन्न नहीं हो पाती। देव, गुरुके प्रति अर्पणता, आत्मार्थिता आदिके मूलमें आत्मरुचिका होना ज़रूरी है। आत्मरुचि ही जीवको संसारसे यथार्थ उदासीनतामें रखती है; और अंतर जिज्ञासापूर्वक अंतर खोजको उत्पन्न करती है। दर्शनमोहको मंद करनेवाला यह मुख्य गुण है। स्वरूपके भावभासनपूर्वक उत्पन्न हुई अनन्य रुचि सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाला मुख्य गुण है। जिससे अपने अंदरमें देखना मुमुक्षुजीवके लिए ज़रूरी है। (१७४०)



आत्मकल्याणकी तीव्र भावना सहित उदयमें प्रयोग होना चाहिए, वरना जीव उदयमें जुड़कर

नया कर्मबंध कर लेता है। मोक्षाभिलाषी जीव तो उदयको प्रयोगका साधन बना लेता है; जिसके कारण उदयसे न तो डरता है या चिंतित होता है, ना ही उदयमें परिणाम बिगड़ने देता है, और इस प्रकार उदयमें अपनत्व मिटानेका प्रयास करता है। सचेत-अचेत दोनों द्रव्योंकी स्वतंत्रताका स्वीकार करके पर्यायमें रही कर्ताबुद्धिको तोड़नेका प्रयास करता है। अपनत्व कम होने पर विभावका रस तीव्र नहीं होता। इस तरह भेदज्ञानके प्रयोग द्वारा अनुदय परिणामरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है। (१७४१)



यथार्थ समझमें पारमार्थिक लाभका तुलनात्मक बुद्धिसे सर्वोत्कृष्ट मूल्यांकन आता है। जिसके कारण अन्य व्यवहारिक प्रसंग अर्थात् उदय गौण हो जाते हैं। इसमें भी जिससे (पारमार्थिक विषयमें) उपकार हुआ हो, उसके दोष-अयोग्यता इत्यादि गौण हो जाते हैं - ऐसी गौणता होना, यह स्वयंके लाभका कारण है। इस प्रकारका लाभ जिसकी समझमें आता है, उसे हित-अहितकी सूझ अंदरसे आती है। ऐसा समझने योग्य है। (१७४२)



जिज्ञासा :- आत्मकल्याणकी यथार्थ भावनाका स्वरूप कैसा होता है ?

समाधान :- यथार्थ भावनावालेको अपना आत्मकार्य शीघ्र - जल्दी करनेके भाव - उसरूप लगन लगती है। और निजहित / प्रयोजनकी दरकार पैदा हो जाती है। जिसके कारण चलते हुए परिणामोंमें अवलोकन अर्थात् जागृति रहा करती है। जिससे खुदके भावोंका परिचय / अनुभवज्ञान होकर स्वभाव-विभावकी परख आती है। और ज्ञान व रागका मिलान करके भेदज्ञानका प्रयोग होता है। इस प्रकार यथार्थ भावनावाला जीव भेदज्ञानके प्रयोग तक पहुँच जाता है। भेदज्ञानपूर्वक स्वरूपनिश्चय होकर स्वानुभव प्रगट होता है। यथार्थ भावनासे अंतरका भेद (छेद) होता है। यानी कि अनादि संसार परिणतिका छेद होकर अपूर्व आत्मजागृति आती है और अंतमें स्वभावका ग्रहण होता है। यह गहरी भावना कोई अलग ही प्रकारकी होती है। अर्थात् ऊपर-ऊपरकी भावनासे कुछ काम नहीं होता है। (१७४३)



प्रश्न :- कोई मुमुक्षु सत्संग प्रसंगमें खुदके दोष बतलानेके लिए विनती करे, तब उसके दोष बतलानेका यथार्थ प्रकार कैसा होता है ?

समाधान :- मुमुक्षुको किसी अन्यके दोष देखनेका उपयोग नहीं होना चाहिए, परन्तु यदि सहज ही खयालमें आ गया हो, तो भी 'ये मेरा परलक्ष है;' उसका डर-उसके नुकसानसे होनेवाले भयके साथ नम्र भावसे बताना चाहिए। बताते वक्त खुदकी बड़ाई (Superiority) नहीं

होनी चाहिए, अथवा मैं जो बताता हूँ 'वह बराबर ही है' - ऐसा आग्रह नहीं होना चाहिए। नम्रतापूर्वक दर्शानेका प्रकार होना चाहिए, वरना दोषदृष्टि बलवान हो जायेगी, इसकी एकदम जागृति रहनी चाहिए, साथ ही साथ कहनेवालेको खुदके दोष भी बतलानेके लिए विनती / प्रार्थना करनी चाहिए। (१७४४)



जिज्ञासा :- प्रयोग कैसे होता है ? और इससे क्या लाभ होता है ?

समाधान :- स्वलक्षी यथार्थ समझके अनुसार चलते हुए परिणमनको देखनेसे प्रयोग होता है। सिर्फ विचार-विकल्प चलते रहें, इससे प्रयोग / कार्य नहीं होता। प्रयोग होनेसे समझ और परिणमनके बीच जो विरुद्धता होती है, वह मिटती है और विपरीत अभिप्राय भी मिटता है। (१७४५)



अनादिसे जीवकी शरीर व रागके साथ गाढ़ हुई एकत्वबुद्धि है, जो सिर्फ बारंबार भेदज्ञानके प्रयोगाभ्याससे ही टूटती है, इसके अलावा त्याग आदि कोई उपाय नहीं है। देह-रागादिसे भिन्न ज्ञानमय स्वयं ही है, ऐसा बारंबार भाना, बारंबार अवलोकनमें लेना, सिर्फ विकल्प-विचारसे एकत्वबुद्धि नहीं टूटती, या वांचन-श्रवण करनेसे (भी) एकत्वबुद्धि नहीं टूटती। भेदज्ञानपूर्वक स्वरूपमें एकत्व-अनुसंधान होते ही रागके साथ एकत्व टूटता है। (१७४६)



आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेके लिए प्रत्यक्ष ज्ञानी चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञानी मिलने पर, उस ज्ञानकी सफलता हेतु यदि निम्न चार प्रकारसे प्रवर्तन किया जाये तो अवश्य ज्ञानप्राप्ति होती है।

१. आज्ञांकितपने रहना।
२. एक निष्ठासे प्रवर्तन करना।
३. तन, मन, धनकी आसक्तिका त्याग होना।
४. अत्यंत भक्तिका होना।

१. आज्ञाकारिता माने उपदेशमें जो-जो बात खुदको लागू होती हो, शीघ्रतासे उसके अमलीकरणका प्रयास रहता हो, उत्साहसे प्रयास करता हो।

२. एकनिष्ठा माने पूर्ण विश्वाससे, निःशंकतापूर्वक, मार्ग व मार्गदाताके प्रति पूर्ण श्रद्धासे प्रवर्तन करना वह। ऐसी एकनिष्ठा होने पर ही उपदेश परिणमित होता है।

३.(A) तनकी आसक्ति - शरीरमें सुखबुद्धि और देहात्मबुद्धिके कारण होती है, जो कि आत्मामें आत्मबुद्धि होनेमें प्रतिकूल है। (B) मन अर्थात् इच्छाएं-परपदार्थमें सुखकी कल्पनासे

विभिन्न पदार्थोंके प्रति आकर्षित होना वह। और (C) धनमें आधारबुद्धि और सुखबुद्धिपूर्वक प्राप्त संपत्तिमें अपनत्व-अधिकारबुद्धिसे उसकी रक्षा करनेकी चिंता, भोगनेके परिणाम, अनुकूलताओंकी कल्पना इत्यादि परिणाम ज्ञान प्राप्तिमें बाधक हैं।

४. खुदके आत्मा पर अनुपम उपकार हुआ होनेसे सत्पुरुषके प्रति बहुमान, सर्वाधिकरूपसे, सर्वार्पणबुद्धिसे उत्पन्न तीव्र झुकाव; कि जिसके कारण तन, मन, धनके प्रति आकर्षण सहज ही कम हो जाये और दर्शनमोहका अनुभाग कम हो जाये और सुगमतासे ज्ञानप्राप्ति होवे।

(१७४७)



स्वरूपमहिमा आनेमें, सर्व प्रथम स्वरूपके विषयमें जानकारी होती है, तब वहाँ बहुभाग जीव जानकारी बढ़ानेमें लग जाते हैं, परन्तु इससे कोई आत्महितरूप प्रयोजन नहीं सधता। स्वरूपकी समझ होनेके पश्चात् सिर्फ विकल्प नहीं करके, भावभासनकी दिशामें, दृढ़ मुमुक्षुता प्राप्त होने पर, सत्पुरुषकी पहचान होनेसे, उनके वचनकी प्रतीति, आज्ञारुचि और स्वच्छंद निरोध भक्ति आती है, बादमें अंतर अवलोकन द्वारा सूक्ष्म व निर्मल ज्ञान, ज्ञानवेदनके आधारसे, स्व-सामर्थ्यके अस्तित्वको ग्रहण करता है तब यथार्थ महिमा आती है, जिसके फलस्वरूप स्वानुभूति उत्पन्न होती है। - इस प्रकार स्वरूपमहिमाका, ज्ञानके क्षयोपशमके साथ कारणरूप सम्बन्ध नहीं है। अल्प क्षयोपशमवाला जीव भी यदि प्रयोजनको पकड़कर यथार्थ प्रकारसे प्रवर्तन करे, तो अस्तित्व ग्रहणपूर्वक, भेदज्ञान सहित स्वरूप महिमामें आ सकता है।

(१७४८)



जिनवाणी अचेतन होने पर भी, आत्मकल्याणमें उपकारी होनेसे उसका पूजन, वंदन, नमस्कार, योग्य एवं प्रमाण है। जब सज्जन भी किये गये उपकारको नहीं भूलते, तो मोक्षमार्गी उपकारीका मूल्य विशेषरूपसे गाये, यह न्यायसंपन्न ही है। अनन्त लाभके कारणके प्रति अनन्त भक्ति उत्पन्न होना यह बहुत स्वाभाविक है। जिसकी आत्मा पर उपकार हुआ हो - वर्तता हो, उसीको अनुभवसे वह भाव समझमें आता है, दूसरोंको वह समझमें नहीं आता और जब तक वैसी उपकारबुद्धिपूर्वक सर्वार्पणबुद्धि नहीं आती, तब तक उपदेश भी परिणामित नहीं होता।

(१७४९)



जो जीव स्वरूपकी महिमा करके स्वरूपका अनुभव करना चाहता है, परन्तु स्वरूपप्राप्तिकी यथार्थ विधिके विषयमें उदासीन है, तो उसे सिर्फ विकल्पका राग है, वास्तवमें स्वरूपकी चाह - रुचि नहीं है। चाहवाला कभी राहमें उदासीन नहीं रह सकता, बल्कि यथार्थ विधिके लिए

वह आतुर होता है। शास्त्रोंमें भी जिन-वचनोंमें परस्पर विरोधाभासी कथनका मेल / संधि, आसन्न भव्य जीव ही करता है - ऐसा विधान है। विधि पर्यायनयका विषय है, ऐसा मानकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अपेक्षासे वह प्रयोजनभूत विषय है। इतना ही नहीं स्वरूप महिमा भी पर्याय है, स्वानुभूति भी पर्याय है, अतः उसकी यथार्थता व सम्यक्ता होनी आवश्यक है। (१७५०)



सितम्बर - १९९८

जिज्ञासा :- कृपालुदेवने लिखा है कि, 'जीवको एक बार भी सच्ची मुमुक्षुता नहीं आयी है', तो ऐसी सच्ची मुमुक्षुताका स्वरूप कैसा है ?

समाधान :- 'अनन्त जन्म-मरण कर चुके ऐसे इस (आत्माकी) करुणा वैसे अधिकारी जीवको उत्पन्न होती है, और वही कर्म-मुक्त होनेका सच्चा अभिलाषी कहा जाता है।' अर्थात् जिस जीवको परिभ्रमणके दुःखोंसे छूटनेकी, (आत्माके अंतरमेंसे) भावना हुई - वेदना हुई उसे ही सच्ची मुमुक्षुता कह सकते हैं और वही जीव चाहे कैसे भी उदयमें छूटनेके यथार्थ पुरुषार्थमें जुड़ता है - वैसी सूझ उसे आती है। इस प्रकारकी सूझमें, स्वच्छन्द नहीं हो इसलिए वह आत्मज्ञान जिसे हुआ है, उस पुरुषके शरणमें रहकर ज्ञान प्राप्ति करना चाहता है। और आज्ञाधीन रहकर निजकल्याण साध लेता है। (१७५१)



वस्तुधर्म दो प्रकारसे हैं। वस्तु अपरिणामी भी है और परिणामी भी है। पूरी वस्तुका धर्म हमेशा परिणामनशील रहनेका है, जब कि त्रिकाली शुद्ध स्वभाव जो कि अनन्त गुणोंका एकरूप है, वह अपरिणामी है; वह कूटस्थ, ध्रुव रहता है। इस तरह वस्तुस्वरूपमें परस्पर विरुद्ध स्वभावपना है। निश्चयनय जब त्रिकाली आत्मस्वरूपका अवलंबन लेता है, तब स्वानुभूति प्रगट होती है, जिसमें द्रव्य-पर्यायका युगपत् अनुभव होता है, जिसे ज्ञानानुभूति भी कही जाती है, क्योंकि ज्ञेयाकार ऐसे ज्ञानविशेषका तिरोभाव करके ज्ञानसामान्यके आविर्भावरूप यह अनुभूति है। (१७५२)



स्वानुभूतिरूप ज्ञान मोक्षमार्ग है, द्वादशांगका ज्ञान विकल्प है, मोक्षमार्ग नहीं। द्वादशांगमें अनुभूति करनेका विधान है; परन्तु अनुभूति बाह्य (शास्त्र) ज्ञान करनेकी प्रेरणा नहीं देती। अध्यात्ममें अंतर्मुख परिणामोंका आदर है और बहिर्मुख परिणामोंका निषेध है। अंतर्मुखता स्वभावभूत है, जब कि बहिर्मुखभाव विभाव है, प्रत्येक गुणके परिणामन सम्बन्धित यह नियम है। (१७५३)

अनन्तकालमें आत्महित सधा नहीं और भवरोग चालू रहा है। इसकी गंभीरता - इस समस्याकी गंभीरता जब तक समझमें नहीं आये, तब तक सत्संगसे लेकर सर्व साधनको जीव अगंभीरतासे-हलकेरूपमें लेता है। यह क्षति बहुत बड़ी होने पर भी अगंभीरताके कारण दिखती नहीं है और आत्महितका सधना पूराका पूरा छूट जाता है। अतः इस क्षतिके बारेमें बहुत विचार करना आवश्यक है। (१७५४)



पर्यायनयसे, पर्यायके दृष्टिकोणसे पर्यायके गुण-दोषके विवेकपूर्वक पर्यायमें सुधार हो, वैसा प्रयोजनभूत ज्ञान जब करनेमें आता है, तब उस ज्ञानमें अनेक पहलूसे उसकी विचारणा होती है। जिस विचारणाका एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि, दोषका अभाव होकर शुद्धता प्रगट होवे, परन्तु वह सहज होना चाहिए, कर्तृत्वबुद्धिसे नहीं। अतः वैसा होनेके लिए अवलंबन सम्बन्धित विवेक होता है; और 'अवलंबन लेने योग्य तो एक सहजात्म स्वरूप परमोत्कृष्ट शांत ध्रुव स्वभाव ही है। जिसके अवलंबनसे सहज स्वभावाकार निर्विकार दशा रहती है।' ऐसी यथार्थ समझपूर्वक स्वरूपकी अपूर्व जिज्ञासापूर्वक अंतर खोज शुरू होती है और स्वरूप निश्चय होता है, जबसे भावभासनपूर्वक अस्तित्वग्रहण होता है, तबसे पर्यायनयका (यथार्थरूपसे) विषय गौण होकर, निज कारण परमात्माकी अत्यंत मुख्यता वर्तती है, जो कि गुणके प्रगट होनेके साथ, दोषका अभाव होनेका सम्यक् उपाय है।

सारांश यह है कि, मुमुक्षुताके प्रारंभमें पर्यायकी मुख्यतावाला परिणमन होता है, परन्तु स्वरूप निश्चय होनेके पश्चात् द्रव्यकी अत्यंत मुख्यता हो जानेसे पर्याय गौण हो जाती है और प्रयोजनकी सिद्धि होती है। प्रारंभवालेको पर्यायका कर्तृत्व दृढ़ नहीं हो जाये, यह लक्ष्यगत् करना ज़रूरी है। (१७५५)



स्वरूपकी पहचान किये बिना, सिर्फ जानकारी करके, ओघसंज्ञासे स्वरूपका चिंतवन, रटन करनेसे भावमें शुष्कता आती है, और स्वरूपकी महिमासे जिस प्रकारका पुरुषार्थमें उपाड़ आना चाहिए, वैसा नहीं आता। अतः स्वरूप लक्ष होनेके लिए ज्ञानियोंका उपदेश है, ऐसा समझने योग्य है। जब तक ओघसंज्ञा है तब तक ज्ञान जो है वह रागके आधारयुक्त व कल्पनायुक्त होता है। ज्ञानके आधारसे ज्ञानस्वभाव भासित होने पर चैतन्य वीर्यकी स्फुरणा होती है और स्वभावके समीप जाना होता है। (१७५६)



अध्यात्मका विषय अतिसूक्ष्म है। ज्ञेयाकार ज्ञान और ज्ञानाकार ज्ञान दोनों एक ही पर्यायके

अंग हैं। ज्ञान स्वभावसे ही स्व-पर प्रकाशक है, इसलिए दोनों प्रकारका परिणामन सहज है। फिर भी छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञेयाकार ज्ञानको गौण करनेका उपदेश है। क्योंकि वह ज्ञान अनेक आकाररूप है, जब कि आत्मस्वभाव एकाकार है। अतः ज्ञेयाकार भाव, स्वभाव सदृश नहीं होनेसे, स्वरूपके साथ इसकी सुसंगतता नहीं है।

इतना ही नहीं दोनों अंगमें, एककी मुख्यता रहती है, व दूसरेकी गौणता सहजरूपसे हो जाती है। वहाँ विवेक करना - होना आवश्यक है। ज्ञेयाकार ज्ञानकी मुख्यता होनेसे ज्ञेय लुब्धता - आसक्ति हो जाती है, जिससे दुःखकी उत्पत्ति होती है - मूलमें दुःखकी उत्पत्तिका कारण यह है। (जो) गहरे अध्यात्म ज्ञानसे समझमें आता है, वरना समझमें नहीं आता। और इसके बिना विधिकी भूल नहीं मिटती; मार्ग नहीं मिलता। (१७५७)



जिज्ञासा :- 'स्वरूप-साधना केवल अंतर्मुख परिणामसे होती है' परन्तु कैसे अंतर्मुख होना ? यह समस्या है। इसका समाधान क्या है ?

समाधान :- ज्ञानको ज्ञानका - स्वयंका वेदन अर्थात् स्वसंवेदन अंतर्मुख भावसे होता है। जहाँ ज्ञेयाकार ज्ञान ज्ञेयके प्रति उत्सुक / अपेक्षावाला हो, वहाँ सहजरूपसे बहिर्मुखता होती है अथवा परप्रवेशरूप अध्यासित ज्ञान पर-वेदनरूप, मिथ्या अनुभवरूप परिणामन करता है वहाँ स्वसंवेदनको अवरोध होता है। अतः स्वसंवेदन प्रगट होनेके लिए ज्ञेयाकार ज्ञानमें उदासीनता होनी आवश्यक है।

सामान्यज्ञान - ज्ञानाकार ज्ञान खुद ही स्वयं वेदनरूप है - वेद्य-वेदकरूप है। जिसके आधारसे अखण्ड त्रिकाली अंतःतत्त्व सामर्थ्य स्वरूपका अस्तित्व ग्रहण होता है। जिसमें ज्ञानविशेष अंतरकी ओर झुकता है - यहाँसे अंतर्मुख होनेकी कला प्राप्त होती है। जो यह ज्ञानोपयोग - ज्ञानविशेष, बहिर्मुख होकर ज्ञेयके प्रति झुका हुआ था, वह अंतरमें ज्ञानवेदन पर झुकनेसे, वेदन कि जो निर्विकल्प है, उसमें एकाकारपनेको प्राप्त हुआ - इस प्रकार स्वरूप लक्षसे उपयोगका अंतर परिणामन होता है, वही ज्ञानकला है। स्वरूप सावधानी पूर्वक बार-बार उस प्रकारसे अभ्यास होना चाहिए। (१७५८)



जिज्ञासा :- यथार्थ वैराग्य और अयथार्थ वैराग्य यानी कि उदासीनता किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? दोनोंका परिणाम क्या आता है ?

समाधान :- अयथार्थ वैराग्य यथार्थ ज्ञानके अभावमें उदयके आधारित उत्पन्न होता है। कोई वक्त प्रतिकूलताके कारणसे दुःखगर्भित वैराग्य होता है अथवा मान गर्भित - मानकी

आकांक्षा अथवा लोभ गर्भित वैराग्य भी होता है, जिसमें बाह्य-दृष्टिसे बाह्य त्याग, कृत्रिमता, कर्ताबुद्धि और क्रिया जडत्व अथवा बाह्य क्रिया पर दृष्टि-वजन, आग्रह रहा करता है।

यथार्थ वैराग्यका क्रम परिभ्रमणकी वेदना आने पर आत्मकल्याणकी भावनासे शुरू होकर वृद्धिगत होता रहता है। दृढ़ मुमुक्षुता प्राप्त होने पर, आत्मकार्यके संवेगपूर्वक सहज निर्वेद-उदासीनता बढ़ती है। स्वरूपकी अंतर खोज, अपूर्व जिज्ञासापूर्वक चलती है तब (वह) उदासीनता अध्यात्मको जन्म देनेवाली होती है और स्वरूपके अवलंबनसे स्वरूप ज्ञान गर्भित सहज वैराग्य अकर्ताभावसे होता है। जो कि यथार्थ वैराग्यका स्वरूप है। वह सफल है।

अयथार्थ वैराग्य टिकता नहीं, हमेशा नहीं रहता। जिसके कारण समयांतर पर वह जीव संसारी भावोंमें खींचा चला जाता है और परिभ्रमणसे मुक्त नहीं हो सकता। यथार्थ वैराग्य अध्यात्मदशाका कारण बनकर मोक्षमार्गकी प्राप्ति कराता है। (१७५९)



प्रतिकूलतासे उत्पन्न वैराग्य अनुकूलताके उदयमें अस्त हो जाता है। अपमानसे आयी उदासीनता मान मिलने पर नष्ट हो जाती है। तथापि जीव वैसे वैराग्यके समय वस्तु स्वरूपका यथार्थ विचार करके (आसक्तिके अभावमें वस्तु-विचार होनेका अवकाश पैदा होता है। विकल्प अनुसार अन्य पदार्थका परिणमन नहीं हो रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है इसलिए) ज्ञान - यथार्थ समझपूर्वक यदि उदासीनता आये तो, वैसी प्रतिकूलताको उपकारी समझने योग्य है। जीव यदि यथार्थ समझपूर्वक सन्मार्गको ग्रहण नहीं करता है तो वैराग्य, भक्ति आदि साधन बंधनरूप हो पड़ते हैं। (१७६०)



धर्मक्षेत्रमें ईमानदारीसे दोष मिटानेवाले, यथार्थ कार्य पद्धतिको नहीं समझनेके कारण प्रायः अन्यथा उपाय करते हैं; जिसके कारण मूलमेंसे दोष नहीं मिटते, परन्तु मंद होकर पुनः पनपते हैं। मुख्यरूपसे जीवको पात्रता आये वैसा होना चाहिए। योग्यता आने पर ज्ञानका परिणमन होता है और इसके लिए प्रथम अभिप्राय योग्य होना चाहिए, अभिप्रायमें सुधार हुए बिना परिणमनमें सुधार नहीं होता। ऐसा नियम-सिद्धांत है। इसलिए मुमुक्षुजीवको ज्ञानीके मार्ग पर चलते हुए सर्व प्रथम अभिप्रायकी विपरीतता मिटानी चाहिए। (१७६१)



प्रत्येक मनुष्य गुण-दोषके मिश्र पर्यायरूप होता है। परन्तु जब कोई बड़ा गुण प्रगट हो, तब दूसरे दोषोंको गौण करने लायक है। वह बड़ा गुण माने जिससे दर्शनमोहकी हानि हो, और भाविमें अनन्त बड़ा लाभ हो। ऐसा बड़ा गुण - 'ज्ञानीके मार्ग पर चलनेका दृढ़ निश्चय'

कि जो अचल प्रतीति व प्रेमरूप भक्ति सहित होता है। यह जीव अवश्य दुस्तर ऐसे संसारको तिर जाता है। दूसरी ओर, अनेक लौकिक गुण और मंद कषायी जीव हो, परन्तु दर्शनमोह तीव्र हो, वैसे विराधक परिणामवाले जीवको बड़ा नुकसान होता है। अतः ऐसे गुण गौण करने योग्य है। ऐसा प्रकार अनुसरण करने योग्य नहीं है। गुण-दोषकी तुलना इस प्रकार होनी चाहिए, उसमें यदि विपरीतता हुई, तो नुकसान होता है। (१७६२)



श्रीगुरुके प्रति अर्पणता होनी - यह सर्व धर्म सम्मत है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेका ये बलवान कारण है और सुगम उपाय भी है। संसारी जीव संयोगके प्रति झुका हुआ है - समर्पित है, उसके लिए गुरुके प्रति अपने सर्व अभिप्रायको छोड़कर सद्गुरु आज्ञामें वर्तन करनेमें परम हित है। - ऐसा जिसकी समझमें आता है, उसे सच्ची अर्पणता आती है। सच्ची अर्पणता माने सर्वार्पणबुद्धि, - अभिन्नभाव होना वह। गुणका प्रेम होनेसे, अचल प्रतीति आने पर गुरु-आज्ञाका अमलीकरण होता है, जिससे निश्चित कल्याण सधता है, भवका अभाव हो जाता है। जिसे यथार्थ प्रतीति नहीं है, उसे अर्पणताके साथ अहम्भाव हो जाता है, वह बुद्धिपूर्वक गिनती, कायदे, वायदे इत्यादि भावोंसे प्रायः दर्शनमोह बढ़ा लेता है। उस जीवको अभी खुदको अर्पणताके कारण हुआ लाभ दिखा नहीं है। वास्तवमें तो जिसने गुरुका स्वीकार किया उसने अपना स्वीकार किया है और जो खुदका स्वीकार करता है वही गुरुका स्वीकार करता है। आत्मार्थीको सभी आग्रह छूट जाते हैं। गुरु वचनके आगे खुदका डेढ़-डहापन नहीं करते।

(१७६३)



'लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदायी' - जिनपद समान निजपदका लक्ष-पहचान हो उस आशयसे शास्त्र कहे गये हैं। अतः मुमुक्षुको शास्त्र स्वाध्याय, निज परमपदकी पहचान हो, उस दृष्टिकोणसे करना उचित है। यदि बिना इस दृष्टिकोण शास्त्र स्वाध्याय किया जाये तो, शास्त्रकारका आशय ही ग्रहण नहीं होगा और अन्यथा ग्रहण होनेसे स्वाध्याय सफल नहीं होगा। शास्त्रोंमें जिन-जिन भावों सम्बन्धित बोध दिया हो, उसे खुदके अनुभवमें आनेवाले भावोंके साथ मिलान करके-अवलोकन करके भावभासन करना चाहिए। अर्थात् विभिन्न भावोंका अनुभवज्ञान करना चाहिए। जिससे आकुलतावाले विभावभावोंसे निराकुलरूप ज्ञान भाव भिन्न पहचानमें आये। परख-पहचानकी तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिए।

(१७६४)



विचार है सो प्रयोग नहीं है। भले ही प्रयोगके कालमें विचार होते हैं तो भी। विचार

शक्ति सभी संज्ञी जीवोंको होती है, इसलिए विचार बराबर चलते हैं, परन्तु प्रयोग तो संवेग होने पर ही चलता है। सिर्फ विचार आत्मकल्याणके लिए पर्याप्त नहीं है, (परन्तु) विचारबल भी चाहिए। आत्मसाधना यह कोई विचार नहीं है, परन्तु प्रयोगात्मक परिणामन है। तथापि जिसे संवेग उत्पन्न नहीं हुआ, वह प्रयोगकी बातको विचारकी कक्षामें ले लेता है, इसलिए आगे नहीं बढ़ सकता। मुमुक्षुकी इस प्रकारसे भूल होती है। यह भूल न हो इसके लिए सत्संग परम उपकारी है। स्वलक्षसे यथार्थ समझ होनेके पश्चात्, उदयमें उस समझको लागू करना, वह प्रयोग है। जीवको प्रयोगका सिर्फ विचार चलता है या प्रयोग चलता है, यह स्पष्ट खयालमें / समझमें होना चाहिए। प्रयोगमें अनुभवकी मुख्यता होती है, प्रयोग पद्धति वह अनुभवसे भावोंको समझनेकी अनुभवपद्धति है, और अनुभवपद्धतिसे ही अनुभवप्रधान (स्वानुभूतिरूप) मोक्षमार्गमें पहुँचा जाता है, सिर्फ विचार-रटनसे मोक्षमार्गमें नहीं पहुँचा जाता। खुदके भावोंको अनुभवसे समझनेके अभ्याससे (Practice) स्वभाव भासित होनेका अवसर आता है।

(१७६५)



प्रयोगकी भूमिका मुख्यरूपसे अवलोकनके स्तरमें होती है। निरंतर अवलोकन होनेसे, इसमें सूक्ष्मता आती जाती है। अंतर्मुख होनेके प्रयोगमें, प्रथम अस्तित्वग्रहणका, अर्थात् ज्ञानवेदनके आधार पर रहे ज्ञानस्वभावी आत्माको लक्षगोचर करनेका प्रथम प्रयोग है। यहाँ पर जो बीजज्ञान होता है, वह मंत्ररूप गुप्तभेद है। क्योंकि अंतर्मुख होनेका रहस्य, जो कि अध्यात्मका रहस्य है, उसका यहाँ पर ज्ञान होता है। सर्व अध्यात्मदशाका आधार तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व -कारण परमात्मा है। परन्तु उसकी प्राप्तिकी विधिमें आधार ज्ञानवेदन है। - ऐसा अटपटा आधार-आधेयपना अध्यात्मका 'मंत्र' है, जिस मंत्रसे सम्यक्दर्शन आदि महान दशाएं प्रगट होती हैं।

(१७६६)



जिज्ञासा :- स्वरूपका अस्तित्व ग्रहण होने पर ज्ञानमें कैसी प्रतीति आती है?

समाधान :- स्वरूपके अस्तित्वमें अनन्त सामर्थ्य रहा है, वह 'स्व-रूपमें' प्रतिभासित होता है, अनन्त ज्ञान व अनन्त सुखकी खान प्रत्यक्ष होती है, तद्उपरांत एक ही समयमें उत्पाद-व्यय होनेसे और ज्ञानके सातत्यसे स्वयंकी नित्यता-शाश्वतता अवभासित होती है, जो कि अपने ध्रुव-कारण परमात्माका ग्रहण है, और इससे

(१) मृत्यु आदि सर्व प्रकारके भय मिटते हैं, और

(२) परकी-देहादिकी आधारबुद्धि व सुखबुद्धिरूप बड़े-बड़े विपरीत अभिप्रायोंका नाश होता

है,

- (३) कुतूहलवृत्तिका-परलक्षका पूर्णज्ञानकी प्रतीति नाश करती है,
 (४) परिपूर्ण स्वरूपकी आधारबुद्धि अनादिसे चली आ रही दीनताको मिटाती है, और
 (५) परसे उपेक्षित होकर यथार्थ उदासीनतामें लाती है, - यह उदासीनता अध्यात्मकी जननी है। - इस प्रकार अनेक पहलूसे परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति आती है। (१७६७)



अन्यभावों - उदयभावोंमें जितना तादात्म्यभाव, उतना (भाव) बंध। आत्मकल्याणकी तीव्र भावना -अंतरसे उठी हुई भावना आत्मजागृतिको उत्पन्न करती है, जिससे उदय-प्रसंगोंमें नीरसता - उदासीनता सहज उत्पन्न होती है। परम सत्संग योगमें उत्पन्न हुई अपूर्व आत्मजागृति मोक्षकी समीपताकी सूचक है। जीवको इस भूमिकामें मोक्षकी भनक आत्मामेंसे आती हुई सुनाई पड़ती है, जो खुदको आत्म प्रत्ययी वीर्योल्लासका कारण बनती है, इस तरह आत्मजागृतिपूर्वक चल रहे पुरुषार्थके मूलमें प्रेरकरूपसे आत्मभावना रही हुई है। (१७६८)



अवलोकनमें आगे बढ़े हुए जीवको अपूर्व अंतर जिज्ञासामें आना जरूरी है। स्वरूप सामर्थ्यका यथार्थ निश्चय हो, इसके लिए यह जिज्ञासा कारणभूत है; कि जिस जिज्ञासाके वशात् उदयमें सहज उदासीनता रहती है; और दर्शनमोहका अनुभाग अत्यंत मंद हो जाता है; जिसके कारण ज्ञान निर्मल होकर निजमें निज स्वभावको निजरूपमें ग्रहण करता है। ज्ञानमें स्वभाव प्रगट है; परन्तु निर्मलताके बिना निर्मल स्वभाव लक्षमें नहीं आता। (१७६९)



जिज्ञासा :- कृपालुदेव (श्रीमद्जी) ऐसा लिखते हैं कि, 'एकबार भी यदि जीव सत्पुरुषकी पहचान कर ले, तो वह निर्वाणपदका अधिकारी बनता है।' तो इसमें रहस्य क्या है ?

समाधान :- दृढ मुमुक्षुता प्राप्त होने पर, जीवको अंतरात्मवृत्ति उत्पन्न होती है। अंतरात्मवृत्ति अर्थात् आत्मकल्याणकी अंतरसे उत्पन्न हुई भावना - सच्ची आत्मभावना। ऐसी भावनामें आया जीव जब प्रत्यक्षयोगमें सत् श्रवण करता हो तब, आत्मरससे सराबोर हुए ज्ञानीके आत्मभावके निमित्तसे, उस जीवको अपूर्व आत्मरुचि प्रगट होती है। अत्यंतरूपसे स्वभाव रुचनेसे, स्वभावरुचिके कारणसे जीवको स्वभावके संस्कार डल जाते हैं, जिस संस्कारके बलसे सर्वत्र सत्की प्राप्ति होती है। एकबार स्वभावके संस्कार पड़े, उसको नियमसे सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति होती ही है। संस्कार कभी निष्फल नहीं जाते। आखिरमें वह जीव निर्वाणपदको प्राप्त करता है। इसीलिए सत्पुरुषकी पहचानको प्रथम समकित (उस भूमिकाका) कहा है। स्वभाव आत्माका शाश्वत स्वरूप

है, और ऐसे नित्य आत्मभावके संस्कार अनित्य नहीं होते, क्योंकि वह पूर्ण स्वभाव प्रगट होनेका बीज है, उस बीजमेंसे वृक्ष होगा ही। (१७७०)



अक्टूबर - १९९८

अनादि विपरीत संस्कारसे जीवको शरीरके साथ अति गाढ़ एकत्वबुद्धिपूर्वक एकत्व परिणमन हो रहा है, इसलिए शाता-अशातामें जीवको देहकी मुख्यता वर्तती है। आत्मार्थी जीव देहात्मबुद्धिको मिटानेके लिए प्रयत्नशील होता है। उसमें भी जब-जब अशाताका उदय आता है तब वह उदयको प्रयोगका साधन बनाता है। इसलिए दूसरे आत्मार्थी जीवोंको आत्म स्वास्थ्यकी-परिणामकी व प्रयोगकी चर्चा करनी / पुछनी चाहिए। शरीर स्वास्थ्यकी चर्चा नहीं करनी चाहिए, ऐसा परस्पर व्यवहार होना चाहिए। (१७७१)



आगममें विशाल विषयका प्रतिपादन हुआ है। आत्मार्थी जीवके लिए वह सारा विषय प्रयोजनभूत नहीं होता। उसमेंसे प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूतको अलग-अलग छाँट लेने चाहिए और सिर्फ प्रयोजनभूत विषयको ही मुख्य करके उसके अमलीकरणमें-प्रयोगमें जाना चाहिए। ऐसा होनेके लिए उसकी चाबी यह है कि जीवको प्रयोजन तो,

(१) 'दुःख न हो और सुख हो'- इतना ही है। अतः क्या मुख्य करनेसे उक्त प्रयोजन सधे इसकी सूझ, जो जीव चलते हुए परिणमनमें आकुलताको पकड़ सकता हो, उसे होती है, और वह अपने अनुभवसे मिलान करके, वर्तमानमें प्रयोजनभूत क्या है ? उसका निर्णय करके, हित कर सकता है; जिससे -

(२) विकल्प / अशांति बढे वह गौण हो जाये अथवा जो

(३) अवलंबन लेने योग्य, वह मुख्य होवे। इस प्रकार मुख्य-गौण होना चाहिए कि जिससे स्वरूप शांति प्रगट हो। (१७७२)



प्रश्न :- प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूतका विभागीकरण हो, इसके लिए कौन-कौनसे मुद्दे ध्यानमें लेने योग्य हैं ? और वह किस प्रकारसे ?

समाधान :- निम्नलिखित मुद्दोंको लक्षमें लेकर यथायोग्य प्रवर्तन वा प्रयोग कर्तव्य है।

(१) ध्येय पूर्ण शुद्धिका होने पर भी वर्तमानमें खुदकी निकट दशा अनुसार आगे बढनेका प्रयोजन होना चाहिए।

(२) जाननेका विषय, जाननेकी विपरीतता दूर करके, उस विषयको गौण करके आदर

करने योग्य विषयकी मुख्यतापूर्वक अमलीकरणका पुरुषार्थ होना चाहिए।

(३) विकल्प वृद्धि न हो और अंतमें निर्विकल्प हुआ जाये उस प्रकारसे जिनागमोंका स्वाध्याय होना चाहिए। उसमें भेद-प्रभेद पर वज्रन नहीं चला जाये ऐसा लक्ष होता है। वज्रन अभेदता पर होता है।

(४) सुख-दुःखका सद्भाव व अभावका प्रयोजन होनेसे वर्तमानमें चलते हुए परिणमनमें जागृति होनी चाहिए, और विकल्प / बहिर्मुख भाव सिर्फ दुःखरूप है, विभाव (ज्ञानका भी) दुःखका कारण है, इसका अवलोकनपूर्वक अनुभवज्ञान होना चाहिए; तो ही जीव दुःखसे हटनेके अंतर्मुखताके सहज प्रयासमें आता है।

(५) दोष-अवगुण दुःखका उत्पादक है, और गुण अर्थात् निर्दोषता सुखका उत्पादक है, इसलिए गुण-दोषकी यथार्थ तुलना होनी चाहिए। उसमें दर्शनमोह और चारित्रमोह सम्बन्धित विवेक स्पष्ट होना चाहिए।

(६) अभेद आत्मस्वरूप जो त्रिकाल ध्रुव है, वह अंतर अवलंबनका विषय है, उसकी अपेक्षापूर्वक गुणभेद व पर्यायभेद गौण होने चाहिए। स्वरूपकी पहचान होकर इस प्रकार स्वरूपकी मुख्यता होती है, सिर्फ जानकारीसे विकल्प होते रहें, ऐसा नहीं होता।

परम कृपालुदेव (श्रीमद् राजचंद्रजी) ने सत्य ही कहा है कि,

‘ज्यां-ज्यां जे-जे योग्य जे, तहां समझवुं तेह,

त्यां-त्यां (मुख्यतासे) ते-ते आचरे, आत्मार्थी जन एह।’ - (आत्मसिद्धि शास्त्र-८) (१७७३)



शास्त्रमें अध्यात्मके प्रकरणमें आत्मस्वरूपको समझानेके लिए, आत्मामें रहे अनेक गुण-धर्मोंके दृष्टांत, युक्तियाँ व विभिन्न न्यायसे समझाये गये हैं। जीव उघाड़ ज्ञानमें, अनादि रागकी प्रधानतामें भी, ये सभी बातें समझ सकता है, परन्तु अनुभव तो ज्ञानकी प्रधानतामें प्रयोग होने पर ही होता है। सिर्फ समझने मात्रसे छुटकारा नहीं है, परन्तु अनुभवसे छुटकारा है। अतः वज्रन सिर्फ समझने पर नहीं रहना चाहिए, परन्तु प्रयोगमें चढ़कर अनुभव तक पहुँचना चाहिए।

(१७७४)



आत्माका ‘स्वरूप-ज्ञान जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें उत्पन्न होता है, उस प्रकार उनकी वाणीकी भी पूज्यता है।’ प्रत्यक्षयोग बिना सजीवनमूर्तिके आत्मभावोंका दर्शन नहीं होता और उन आत्मभावोंकी अभिव्यक्ति उनकी वाणी द्वारा होती है, इसलिए स्वरूपज्ञान उत्पन्न होनेके लिए जिस प्रकार ज्ञानी उपकारी हैं, वैसे ही उनकी वाणी भी उपकारी है। भले

ही वाणी अचेतन है, फिर भी जिसको खुदके आत्मा पर उपकार हुआ है, उसे सर्वज्ञ स्वभावको स्पर्शती हुई - अनुसरण करती हुई वाणीका-जिनवाणीका उपकार समझमें आता है, और सहज पूज्यता भी आती है, बेहद भक्ति आती है। दूसरेको - जिसे उपकार नहीं हुआ है, उसे ऐसी पूज्यता समझमें नहीं आती और यथार्थ अर्पणता भी नहीं आती। (१७७५)



जिज्ञासा :- 'भावना, पुरुषार्थ आदि कर्तव्य है।' - ऐसे उपदेशबोधसे पर्यायका कर्तृत्व होनेका भय रहता है, तो पर्यायका कर्तृत्व न हो उसका क्या उपाय है ?

समाधान :- आत्मामें से उत्पन्न हुई सच्ची भावना अर्थात् राग-द्वेषपूर्वक उत्पन्न नहीं हुई-ऐसी भावनावालेको सहजतासे सभी आनुषंगिक परिणाम उत्पन्न होते हैं, इसलिए उसमें कर्तृत्व तीव्र-दृढ़ नहीं होता परन्तु कमजोर पड़ता है। उसे कृत्रिमता नहीं होती। वह जीव पूर्णशुद्धिके लक्षवाला होने पर भी, अवलोकनके दौरान अपूर्व जिज्ञासा सहित स्वरूपकी पहचानकी ओर झुकता है, ऐसी सूझ होनेसे कर्तृत्व दृढ़ कैसे होगा ? स्वरूपके अवलंबनसे सहज शुद्धि व शुद्धिकी वृद्धि होकर पूर्णता अवश्य होगी, ऐसी प्रतीति वहाँ हो जाती है। इसलिए सच्ची भावना होनेसे उन्मार्ग पर जानेका नहीं बनता। (१७७६)



जड़-चेतनकी भिन्नता-यह द्रव्यानुयोगका मुख्य सिद्धांत है। 'भिन्न पदार्थका अनुभव-प्राप्ति सर्वथा अशक्य है'- ऐसा जो सम्यक्ज्ञान जीवको परके प्रति उदासीन करके निज परम आनंद धामके प्रति झुकनेके लिए सहज प्रेरित करता है। ज्ञानी सहज वैरागी, उक्त वस्तु स्वरूपके ज्ञानके कारण होते हैं। आसक्ति भाव, जीवको स्वरूप-ज्ञानके अभावमें व परमें सुखबुद्धिके कारण उत्पन्न होता है, इससे परमें एकत्व गाढ़ हो जानेसे स्वसन्मुख होना दुर्लभ हो जाता है। परन्तु भिन्न ज्ञानवेदन द्वारा आसक्तिमें तीव्र आकुलता-दुःखका अनुभव होनेसे सहज विरक्ति आती है। (१७७७)



जिज्ञासा :- जब परिणमनमें सम्यक्ता आती है तब जीवके परिणाम किस प्रकार परिणमन करते हैं ?

समाधान :- सम्यक् प्रकारके परिणमनमें, स्वसन्मुखता, स्वयंकी अभिन्नता, स्वरूपकी अत्यंत मुख्यता, निज अनन्त सुखधामकी सुखबुद्धि और स्वरूपकी सर्वस्वपने उपादेयता, सहित संवेग / पुरुषार्थ होता है। और,

परद्रव्य - परभावोंसे भिन्नता, शरीर, कुटुम्ब आदि संयोगोंमें परायापन, इससे उत्पन्न

उदासीनता-विरक्ति, उन सभीकी अत्यंत गौणता और उसका हेयपना रहता है। उदयमें अप्रयत्नदशासे समभावपूर्वक वेदन करना - तीनों कालमें ऐसा होता है। यहाँ पर द्रव्यानुयोग परिणमित हुआ है और दर्शनमोहका घात हुआ है। (१७७८)



जो मुमुक्षु अपने दोषका स्वीकार तो करता है, तथापि दर्शनमोहके दृष्टिकोणसे उसके नुकसान व गंभीरताको नहीं समझता है, इसलिए हलकेरूपमें लेता है, उस जीवको रसपूर्वक दोषित परिणमन होता है, इसलिए उसमें आकुलता वेदनमें - पकड़में नहीं आती। इतना ही नहीं विपरीत अभिप्राय भी नहीं मिटता। अतः वैसा दोष बार-बार हुआ करता है, और दोष मिटानेकी इच्छा एवं सत्संग निष्फल जाते हैं। इस प्रकार दोषदृष्टिपूर्वक दोषका सूक्ष्म बचाव भी है, जो कि गुणदृष्टिके अभावका सूचक है। (१७७९)



जिज्ञासा :- किसी भी बाबतमें जो अभिप्राय हो, वह किस कारणसे बदलता है ?
समाधान :- अभिप्राय बदलनेमें खास कारण, इस विषय - बाबतमें 'अनुभव' होने पर वह बदल जाता है। अतः मुमुक्षुकी भूमिकामें अनुभव पद्धति द्वारा विपरीत अभिप्राय बदलनेकी ज्ञानियोंकी शिक्षा है। (१७८०)



ज्ञानीपुरुषकी अनुभव-वाणी है। मुमुक्षुजीवको, ज्यों-ज्यों अनुभव पद्धतिसे-प्रयोग पद्धतिसे परिणमन आता है, त्यों-त्यों उस वाणीका परिणमन होता है। अर्थात् वह वाणी आत्मा पर असर करती है। प्रत्यक्षयोगमें इस वाणीका अति चमत्कारिक फल होता है, जीवकी योग्यता ही बदल जाती है। आत्मार्थी जीवकी आत्म-रुचिको पुष्टि मिलनेका इस वाणीमें अनुपम कारण होता है। 'तू रुचता जगतनी रुचि आळसे सौ'। (१७८१)



ज्ञान एकांत शुद्ध अनुभूतिस्वरूप है। स्वयंका ऐसा शुद्धत्व अनुभवनीय है, इसलिए जीव जब स्वयंके शुद्धत्वका अनुभव करता है तब शुद्ध होता है। शुद्ध होता है अर्थात् श्रद्धाका विपर्यास मिटता है और चारित्रकी मलिनता मिटती है। - इस प्रकार शुद्धका अनुभव करनेसे शुद्ध हुआ जाता है, दूसरा तो कोई उपाय नहीं है। आत्माका शुद्धिकरण करनेके लिए ज्ञानीके मार्ग पर चलना चाहिए। (१७८२)



निष्पक्ष होकर सत्संग कर्तव्य है। यानी कि पूर्वगृहीत मिथ्याआग्रहोंसे ही मैं दोषित हूँ -

दुःखी हूँ - ऐसा निश्चय करके मध्यस्थभावसे यदि सत्संग किया जाये तो 'सत्' समझमें आता है। सत् समझमें आया माने परमार्थ समझमें आया। जिससे अपने विपरीत अभिप्राय कि जो परिभ्रमण करानेवाले हैं इससे छूटनेकी बात समझमें आती है। फिर अगर कोई मुक्तिका मार्ग बतलानेवाले सत्पुरुष मिले तो उन्हें पहचान लेता है कि, वाकई ये पुरुष मुझे भवसे - भवके कारण - भवरोगसे छुड़ाते हैं - ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तब बाह्यदृष्टि टलती है - जिससे फिर सत्पुरुषका बाह्याचरण नहीं दिखता, बल्कि सिर्फ उनके स्वरूपको देखकर परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होती है और वही भवसागर तिरनेका उपाय है। (१७८३)



जिज्ञासा :- हेय और उपादेय - दोनों भावमें विकल्प - शुभराग भी है और विवेकरूप ज्ञान भी है, तो वहाँ राग है या ज्ञान है ? उसका निश्चय कैसे हो ? विवेकका सम्यक् प्रकार कौनसा है ?

समाधान :- हेय-उपादेय भाव अनेकविध स्तरमें अनेक प्रकारसे होते हैं, इसलिए उसके विकल्प अनेक हैं। जिस रागसे उसमें अटकता है, इसमें रागकी प्रधानता होनेसे ज्ञान गौण है, इसलिए वहाँ राग है ऐसा निश्चय करना। (जब कि) जो ज्ञानप्रधान परिणमन है, उसमें परद्रव्य और परभावोंके साथ एकताकी प्रगाढ़ताको तोड़कर, स्वद्रव्यकी प्रगाढ़ता होनेकी प्रक्रिया होती है, इसलिए ऐसे प्रकारमें अंतमें निर्विकल्पदशा प्राप्त होती है, इसलिए वह सम्यक् प्रकारका विवेक है। (१७८४)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थता कैसे उत्पन्न हो ? और वह निःशंक यथार्थता ही है, यह कैसे मालूम हो ?

समाधान :- जिसे एकमात्र आत्मा ही चाहिए और इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए - ऐसी सच्ची अंतरकी आत्मभावनासे (१) यथार्थताकी शुरुआत होती है। तत्पश्चात् वह जीव खुदके सर्व प्रकारके विपर्यास मिटानेके लिए अंतर-बाह्य प्रयोग करता है, तब उसे अपने परिणमनमें जो-जो अनुभव होता है, उस अनुभवमें आनेवाले भावोंमें आकुलता, मलिनता, विपरीतता, कषायरस, अभिप्रायकी भूल, इत्यादि अनुभवज्ञानसे (२) यथार्थता आती है। इसके अतिरिक्त (३) सत्पुरुषके प्रति निष्काम प्रेम-भक्तिसे दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे यथार्थता उत्पन्न होती है। - इन तीनों कारणोंसे दर्शनमोह निर्बल होता है, यही यथार्थता आनेका सामान्य कारण है। तब ज्ञानकी निर्मलता और अनुभवसे, निःशंकतासे यथार्थतामें ऐसा ही होता है, ऐसा सहज मालूम पड़ता है। गौणरूपसे दर्शनमोह घटनेके अनेक कारणरूप परिणाम होते हैं। (१७८५)

परिणाममें रसवृद्धि होनेका उपाय, उस-उस विषयमें बार-बार अनुभव करनेसे होता है। पंचेन्द्रियके विषयमें जिसे जो विषयकी आसक्ति अथवा सुखबुद्धि होती है, वह बार-बार उस विषयका अनुभव करके रसवृद्धि करता है। यह सबको अनुभवगोचर है। इस सिद्धांत अनुसार ज्ञानानुभवसे ज्ञानरस - आत्मरसकी ज्ञानी वृद्धि करते हैं। आत्मार्थीको विभावरस तोड़नेके लिए कोई भी विषयमें पूर्वग्रह विरुद्ध परिणाम द्वारा उल्टे प्रयोगसे अंतर-बाह्य प्रयास कर्तव्य है। अशाता वेदनीके उदय प्रसंगमें भी देहात्मबुद्धि मंद होनेके लिए उपचारके परिणाम अल्प होने चाहिए। (१७८६)



परपदार्थमें अपनत्वके परिणाम और अपनत्वका अभिप्राय, परिभ्रमणकी वेदना आने पर मंद पड़ता है, देहात्मबुद्धि मंद होनेके लिए, देहमें अशाताका उदय आने पर यदि यथार्थ प्रकारसे अवलोकन आदि प्रयोग करनेसे आकुलता पकड़में आये तो आकुलतासे हटनेके प्रयासमें आंशिक सफलता मिलती है। रागसे एकत्व मिटना अति सूक्ष्म व कठिन है, यह एकत्व ज्ञान और रागकी संधि, - आकुलता, मलिनता और विपरीतताके अनुभवज्ञानसे पकड़में आता है, साथ ही मार्गकी अप्राप्तिकी खटक या वेदनासे उत्पन्न भेदज्ञानसे मंद पड़ता है। मुमुक्षुकी भूमिकामें उपरोक्त प्रकारसे परद्रव्य और परभावका एकत्व मंद हो तो, ज्ञानदशाकी प्राप्ति सहज होती है। जो कुछ भी दुर्लभ है वह तो मुमुक्षुतामें यथार्थता प्राप्त होना वह है, इस कारणकी दुर्लभता होनेसे अनन्तकालसे परिभ्रमण हो रहा है। कारण मिलने पर कार्य सहज और सुलभ है। (१७८७)



मुमुक्षुजीवको दर्शनमोह मंद होनेके लिए उदयभावमें खुदको नीरसता सहज रहे, यह जरूरी है। उसके लिए शाता-अशाता, खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना इन सबमें प्रयोगसे योग्य फेरफार करना उचित है। विभावरस दर्शनमोहकी वृद्धिका कारण है, ऐसी समझपूर्वक उदयभावमें हो रही आकुलताके अनुभवसे हटनेके प्रयासमें यदि विभावरस सहज मंद पड़ जाये तो, जीवकी मुमुक्षुता निर्मल होती है। मुक्त होनेके अभिलाषी जीवको उक्त प्रयोगमें उमंग रहता है। (१७८८)



इच्छाकी पूर्ति करनेवालेके प्रति राग हो जाना सहज है। वीतराग होनेवाले मुनिराज इसीलिए आहार, निवास आदिकी दूसरे लोग द्वारा पूर्व योजित अनुकूल व्यवस्थाका स्वीकार नहीं करते, बल्कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रतिबंध रहित होकर विचरते हैं। जब कि उन्हें अनुकूल - प्रतिकूल जैसा कुछ होता ही नहीं, ऐसा समभाव होता है, इसलिए राग उत्पन्न हो वैसे कारण - प्रकारसे

सहज ही दूर रहते हैं। धन्य मुनिदशा !

(१७८९)



जिज्ञासा :- अभिप्राय व दृष्टिकोण एक ही पर्याय है या भिन्न-भिन्न प्रकारका ज्ञान है ?

समाधान :- दोनों ज्ञानकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी पर्याय है। अभिप्रायपूर्वक दृष्टिकोण प्रवर्तता है, इतना - वैसा सम्बन्ध है।

ज्ञान हमेशा अभिप्राय अनुसार रहता है अर्थात् उस प्रकारका पूर्वग्रह उत्पन्न होता है, जिसे विपरीत अनुभवसे पलटने योग्य है।

दृष्टिकोण विभिन्न समयमें उस समय हेतु / उद्देश्य अनुसार प्रवर्तमान ज्ञानकी पर्याय है। - इस प्रकार दोनोंके बीच तफावत है। (१७९०)



नवम्बर - १९९८

जिज्ञासा :- समकितकी स्पर्शना हुई हो (तो) इससे कैसी दशा होती है ? - यह मुमुक्षु अपने किस अनुभवसे कह सकता है ?

समाधान :- यथार्थ मुमुक्षुता होती है वहाँ चलते हुए परिणमनमें हित-अहितरूप परिणाम अनुभवसे समझमें आने पर उसका विवेक आता है, वह ज्ञानकी निर्मलता, मोह और कषायके उपशमसे होता है - ऐसा प्रकार समकितमें भी होता है। - इस तरह समान जातिके अनुभवसे समकितकी स्फुरणा और (उस) दशाको मुमुक्षु कह सकता है। -१

दूसरा, सत्पुरुषकी पहचान होने पर उनके प्रति परमभावसे भक्ति - प्रेमरूप होनेसे खुदकी संसार परिणति शांत हुई होनेसे उदय प्रसंगों व उदयभावोंमें हो रहा यथार्थ उदासीनताका अनुभव ज्ञानीके सम्यक् वैराग्यको पहचान लेता है। -२

खुद सम्यक् प्राप्ति हेतु प्रयत्न - प्रयोग करता है, उस प्रकारके अनुभव परसे ज्ञानीपुरुषके अलौकिक पुरुषार्थसे उत्पन्न समकितको (वह मुमुक्षु) कह सकता है। -३

चलते हुए विकल्पमें आकुलता, मलिनता और विपरीतताके अनुभवसे, इसके प्रतिपक्षमें ज्ञानीपुरुषकी शांत, पवित्र और अविपरीत (सम्यक्) दशा समझमें आती है। और आत्मशांतिकी परख होती है, क्योंकि अमुक अंशमें (दर्शनमोहकी मंदताके अनुपातमें) शांतिका अनुभव, यथार्थ समाधानपूर्वक होनेसे समकितकी स्पर्शना और दशाको कह सकता है। (१७९१)



अनुभवशक्ति प्रत्येक जीवकी होती है। उसमें संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव विचार सहित अनुभवशक्ति होनेसे पारमार्थिक विवेकपूर्वक स्वानुभव कर सकता है। ज्ञानगुण शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेका

है, तदर्थ परिणमनको, निजमें निजका अनुभव करे - इस तरह घड़ना आवश्यक है, कि जिससे परिभ्रमण मिटे। अनादिसे परमें स्वका अनुभव करके संसार परिभ्रमण हो रहा है। निजावलोकन द्वारा अनुभवशक्ति बढ़ाते-बढ़ाते 'ज्ञानगुण' प्रगट करने योग्य है, वरना अन्यथा प्रकारसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। (१७९२)



ज्ञान शब्द वाचक है, ज्ञान भाव उसका वाच्य है। जहाँ शब्द साधन है, वहाँ ज्ञान पदका अर्थ ज्ञानके अनुभवसे साध्य होना, वह ज्ञान-पदार्थका भावभासन है। ज्ञानका स्वरूपमें भावभासन होते ही सहज ज्ञानरस - आत्मरस उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिनवाणीसे उपकार होता है। (१७९३)



स्वरूपकी उपादेयता वास्तविकरूपसे तो स्वरूप सन्मुख होनेमें है। हेय-उपादेयके विकल्पकी दिशा स्वरूपसे विमुख है। उपयोग स्वरूप सन्मुख होने पर जो स्वरूप जाननेमें आता है वह 'सर्वस्वपने उपादेय है' -ऐसा जाननेमें आता है। ऐसे खिँचावमें अन्य सर्व द्रव्य-भावोंसे उदासीन होना सहज है। उपादेयभूत ऐसे निर्विकल्प अभेद अनन्त महिमावंत स्वरूपके प्रति महिमा वृद्धिगत होकर, निर्विकल्प स्वरूपाकार स्वसंवेदन भावसे अमृतरसका पान कराती है। हेय-उपादेयका यह सम्यक् स्वरूप है। (१७९४)



श्रुतज्ञानमें स्वरूपका अनुभव करना उसे भावश्रुत कहते हैं। द्रव्यश्रुतके वाच्यका अनुभव करना यानी कि 'परमात्मा उपादेय है' - ऐसे द्रव्यश्रुत द्वारा निज परमात्माकी उपादेयता - साक्षात् उपादेयता भावमें रहे - वही भावश्रुत है। निज परमेश्वरपदका साक्षात्कार वही सम्यक् उपादेयता है, अथवा अनुभव कालमें ही परमपद उपादेय होता है, जब तक हेय-उपादेयका विकल्प है उसमें, तब तक वास्तवमें स्वरूप उपादेय नहीं हुआ। परन्तु श्रुतज्ञानमें अभेद स्वरूपका अभेद अनुभव होना वह भावश्रुत है। वह अमृतरस है। जिसका अनन्यरुचिसे परम प्रेमसे आस्वादन कर्तव्य है। (१७९५)



समाधान दो प्रकारसे है। (१) युक्तिसे, मनोबलसे व निश्चयबलसे जो समाधान होता है, वह कृत्रिम होनेसे स्थायी - कायमी नहीं टिकता। आखिरमें असमाधान और अशांति - क्लेश उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते, क्योंकि उसका आधार परसंयोग और राग है, और वे दोनों अस्थिर और अस्थायी है। उपरोक्त समाधानसे प्रतिकूलता परसे उपयोग पलटा जा सकता

है, परन्तु रागसे एकत्व नहीं तोड़ा जा सकता।

(२) सर्वांग समाधान स्वरूप आत्माके आधारसे जो समाधान होता है, वह सहज सम्यक् समाधान है। सर्व परद्रव्य और परभावसे भिन्न ज्ञानमय आत्माके अवलंबनसे सहज समाधि रहती है। और रागका एकत्व तोड़नेके लिए भेदज्ञानका प्रयोग एकमात्र साधन है। उससे शाश्वत शांति प्राप्त होती है, क्योंकि उसकी सिद्धि आत्मबलसे है। (१७९६)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुको तत्त्वज्ञानका अभ्यास, पूजा-भक्ति, दान आदि करनेके बावजूद भी मार्ग नहीं मिलता है, इसका क्या कारण ? करने जैसा क्या है कि जो रह जाता है ?

समाधान :- उपरोक्त बाह्य साधन करने पर भी, परलक्ष होनेसे मार्ग अवरोधक ऐसे प्रतिबंधक भावके प्रति ध्यान नहीं जाता। और एक लयसे अंतरकी भावनापूर्वक जो तीखा - उग्र पुरुषार्थ उठना चाहिए वह नहीं उठता, और उसकी जो खटक होनी चाहिए, वह भी यदि नहीं हो, तो मार्ग कैसे मिले ? उपदेशका परिणमन हो इसके लिए प्राप्त उपदेशको प्रयोगान्वित करना चाहिए। और इसके लिए सतत पुरुषार्थ चलना चाहिए, तो कार्य होता ही है - मार्ग मिलता ही है। ऐसी ज्ञानी - अनुभवी पुरुषोंने गारंटी दी है। (१७९७)



जिज्ञासा :- प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें परम सत्संग प्राप्त होनेके पश्चात् स्वरूपकी पहचान होनेके लिए कैसा प्रयास अपेक्षित है ?

समाधान :- स्वरूपकी पहचान है, वह बीजज्ञान है और सम्यक्त्वका अंग है। क्योंकि स्वभावके संस्कारका कारण होनेसे उसका महत्त्व बहुत है। उसकी पहचान ज्ञानलक्षण कि जो स्वसंवेदनरूप है, उससे होती है। लक्षणसे लक्षित हुआ निज परमात्मपदका लक्ष नहीं मिटता, और स्वरूप लक्षसे हुआ सामान्य ज्ञानके आविर्भावसे (विशेषज्ञानके तिरोभावपूर्वक) परमार्थ निर्विकल्प सम्यक्दर्शन और स्वानुभवकी प्राप्ति है।

वेदनभूत ऐसा जो ज्ञानलक्षण, वह सर्वकालमें जीवोंको प्रगट है, फिर भी ज्ञानकी निर्मलता व सूक्ष्मताके अभावके कारण मालूम नहीं पड़ता। अर्थात् भ्रांतिके कारण आवरण प्राप्त होनेसे मालूम नहीं पड़ता। वह (आवरण) दूर हो इसके लिए यथार्थ प्रकारसे विभावरस मंद पड़ना चाहिए, इसके अलावा चाहे कैसे भी उदयकालमें रस तीव्र नहीं हो इसकी जागृति रहनी चाहिए। विभावरस मंद होनेके लिए ज्ञानीपुरुषकी अचल प्रतीति समेत स्वच्छंद निरोध भक्ति, कि जिस भक्तिके सद्भावमें संसार भक्ति - संसार परिणतिका छेद होवे और (उदयमें) सहज विरक्ति रहे। दूसरा प्रयोग निज परिणामोंका सतत अवलोकन रहना वह है, कि जिस अवलोकनके

अभ्याससे ज्ञान सूक्ष्म और निर्मल होकर ज्ञानवेदन तक पहुँच जाये, जिसके आधारसे स्वरूप पहचानमें आये। अवलोकनका अभ्यास विभावरसको तत्काल तोड़ता है, जिससे दर्शनमोहकी यथार्थ प्रकारसे हानि होती है, यहाँ ज्ञानबल सहज बढ़नेसे मनोविकाररूप मन बिमार पड़ता है और भेदज्ञानके स्तरमें यथार्थ प्रकारसे मनोजय होता है। (१७९८)



जिज्ञासा :- जिस समयमें स्वरूपकी पहचान-रूप 'बीजज्ञान' की प्राप्ति होती है, उस वक्त परिणाम कैसे होते हैं ? और बीजज्ञानकी प्राप्ति हुई है, यह किन-किन लक्षणोंसे समझमें आये ?

समाधान :- प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुषका निश्चय हुआ है जिसको, और स्वरूपकी अंतर खोज - उस रूप अपूर्व जिज्ञासासे कषायरस जिसका अत्यंत मंद हुआ है, वह जीव ज्ञानीके निर्मल वचन व चेष्टा द्वारा वेदनभूत ज्ञानलक्षणके आधारसे, अंशतः रागके अवलंबनका अभाव करके ज्ञानवेदनकी प्रत्यक्षताके अनुभवांशसे पूर्ण स्वभावका निर्णय करता है। उस वक्त ज्ञानमें स्पष्ट प्रतीति उत्पन्न होती है क्योंकि यह निर्णय सविकल्पदशामें हुआ है फिर भी रागमें रागसे नहीं हुआ, परन्तु आत्मासे आत्मामें आत्माका हुआ है। स्वरूप निश्चयसे निश्चयबल - ज्ञानबल प्रगट होता है, वह चैतन्यवीर्यकी स्फुरण है। पुरुषार्थ, निज निधानको देखनेसे, स्वरूप सन्मुख होकर उछलता है। स्वरूपकी अनन्य रुचि और बेहद स्वरूप महिमाका घुटन हुआ करता है। उपयोग बारबार उदयमेंसे छटक-छटक कर स्वरूपलक्षपूर्वक स्वरूप सन्मुख हुआ करता है - ऐसी सम्यक् सन्मुख दशा होने पर, उसे 'वह केवलको बीज ज्ञानी कहे'। (१७९९)



आत्मकल्याणकी अवगाढ भावना हुए बिना तत्त्वज्ञानका अभ्यास शुष्कज्ञान, स्वच्छंद और अतिपरिणामीपना इत्यादि दोषको उत्पन्न करता है। ऐसी स्थितिमें जीव अपने स्वरूपका - ज्ञायक स्वभावका विकल्प करता है, तो भी उसमें टिक नहीं सकता। कोई जीव यदि हठपूर्वक ज्ञायकके विकल्प करके, विकल्पमें चढ़कर, इसका आदी हो जाये, तो बहुत फँस जाता है, क्योंकि उसे वह हठकी वजहसे पड़ी हुई आदत, सहज दशा जैसी लगती है। उसमें भेदज्ञानके प्रयोगका - तथारूप पुरुषार्थका, अभाव होनेसे स्वानुभवकी प्राप्ति नहीं होती। मूलमें प्रयोजनकी दृष्टिका अभाव होनेसे (वह भी अवगाढ भावनाके अभावमें) जीव भूलमें / मिथ्यात्वमें रह जाता है। (१८००)



उदयभावोंमें वज़न नहीं जाना चाहिए। वज़न जानेसे मुख्यता होकर उसका आग्रह हो जाता है, उन-उन भावोंमें रस वृद्धि हो जानेसे पूरा आत्मा वहाँ अटक जाता है। जब कि आखिरमें तो प्रमत्त-अप्रमत्त समस्त पर्यायों परसे ही अपनत्व उठाकर एकमात्र संपूर्ण वज़न देने योग्य ऐसे निज परमपदका ही वज़न रहना चाहिए, इसके बजाय सामान्य उदयमें वज़न रहा करेगा तो स्वभाव पर वज़न देनेका तो अवकाश ही नहीं रहता। इस प्रकार वज़न देनेकी भूलसे परिणामका प्रवाह उलटी दिशामें चला जाता है। 'सच्ची बातका आग्रह' - वह भूल नहीं है, मूलमें इस अभिप्रायसे बहुभाग (प्रायः) ऐसी भूल होती है। सूक्ष्म विचारवान जीव हो तो उसे वह समझमें आता है, दूसरेकी समझमें नहीं आता। मार्ग अवरोधका यह एक प्रकार है। (१८०९)



जिज्ञासा :- तिर्यचको सम्यक्दर्शन - स्वानुभूति होती है, तब उसे तत्त्वज्ञानका अभ्यास या श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रकी स्पष्टता (उघाड़ ज्ञानमें) नहीं है, फिर भी उस जीवका कार्य कैसे सधता है ?

समाधान :- तत्त्व सम्बन्धित विचारज्ञान वह बाह्यज्ञान है, जब कि अनुभवमें आ रहे भावोंका भासन होना वह अंतरज्ञान है। बाह्यज्ञानके दो प्रकार है। एक स्वलक्षी और दूसरा परलक्षी। परलक्षी ज्ञान अंग-पूर्व तकका निष्फल जाता है, जबकि स्वलक्षी अल्पज्ञान हो तो भी अंतरज्ञानरूप परिणाम करता हुआ, प्रयोजनको साधता हुआ सफल होता है। तिर्यच भी शांति-अशांतिके अनुभवको पहचानकर अशांत ऐसे विभाव भावोंसे हटकर शांत स्वभावी ज्ञानभावके प्रति झुकता है। वह सच्ची शांतिकी पहचान करता है और भेदज्ञान करके स्वानुभूति प्रगट करता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच जीव भी सुख-दुःखके प्रयोजनको समझकर, प्रयोजनको मुख्य करके प्रयोजनको साधनेके लिए सक्षम है, इसलिए संज्ञी तिर्यच स्वानुभव कर सकता है। (१८०२)



मुमुक्षुजीव प्रतिकूलताकी उपेक्षा करके जब परिभ्रमणसे मुक्त होनेका प्रयास / प्रयोग करता है, तब उसमें हार नहीं जाता क्योंकि प्रतिकूलताका दुःख परिभ्रमणके दुःख समुद्रके आगे एक बिंदुसे भी कम है और उस पुरुषार्थके फलमें रहे अनंत सुखकी प्राप्तिके लिये अल्प दुःख सहन करना पड़े अथवा प्रतिबंध (कुटुम्ब, शरीरका) छोड़ना पड़े तो उसमें क्या हुआ ? (उसे) ऐसी समझ होती है। अतः प्रयोग एवं पुरुषार्थमें उमंग व उल्लास वर्तता है। जो हार जाता है उसे प्रायः ऐसी समझ नहीं होती है, उसका प्रयास कृत्रिम होता है। (१८०३)



‘मैं ज्ञानमात्र हूँ - ऐसी स्वरूप सावधानीके परिणामनमें भेदज्ञानकी सिद्धि है। और स्वावलंबनसे आत्माको एकत्वका अनुभव होता है। सविकल्पदशामें भेदज्ञानरूप परिणामन उदयको निष्फल करता है, अर्थात् उदयके प्रति उदासीन करता है, जिससे उदयकी असर आत्माको नहीं होती। यह संसार तिरनेका अमोघ अनुभवसिद्ध उपाय है। (१८०४)



कुटुम्ब प्रतिबंध मिथ्यात्वको गाढ़ करता है। जिससे प्राप्त परम सत्संग निष्फल जाता है। सत्संगके चाहक जीवको कुटुम्बकी चाहना छोड़नी जरूरी है। प्रायः तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले जीवका परिभ्रमण - दुर्गतिके कारणरूप इस महादोषके प्रति ध्यान नहीं जाता है, इसलिए (उसका) वह अभ्यास निष्फल जाता है। बाह्यमें व्यवसायादिसे निवृत्ति लेकर, मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिए जब कोई जीव धर्मप्रवृत्ति करता है, तब एक पहलू इतना सुंदर होने पर भी, दूसरे पहलूमें कुटुम्ब प्रतिबंधके परिणामोंका पाड़ा धर्मप्रवृत्तिके घासके पूलोंको चबा जाता है; और अंधजनकी माफिक जीवको इसकी खबर भी नहीं रहती है !! कुटुम्बीओंके प्रति अपनत्वसे स्नेह रहना, वह कुटुम्ब प्रतिबंध है। संसारमें वह एकदम सामान्य (Normal) हो चुका है। इसलिए उसकी भयंकरताका बिलकुल भी खयाल, तत्त्वके अभ्यासी जीवोंको भी नहीं आता है। स्वलक्षके अभावमें, उक्त प्रकारसे वंचनाबुद्धिसे, दुर्लभ ऐसे मनुष्यभवको मिथ्यात्वका नाश किये बगैर ही गवाँ देते है !!! (१८०५)



दिसम्बर - १९९८

आत्मकल्याणकी अल्प भावना अर्थात् इच्छासे जीव परम सत्संग और सत् शास्त्रका परिचय करता है, परन्तु अंतरकी सच्ची भावना नहीं होनेसे, पारमार्थिक लाभ नहीं होता। यह हाथमें आये हुए अमूल्य रत्नको परिभ्रमणके समुद्रमें गिरा देनेके बराबर है, क्योंकि ऐसी अमूल्य तकका जीवको यदि मूल्यांकन होकर, सच्ची भावना प्रगट होवे, तो अवश्य आत्मकल्याण होता ही है। - सभी अनुभवी पुरुषोंका यह अनुभव है, साक्षात्कार है। सच्ची भावना प्रगट होने पर जीवको आत्मकल्याणकी लगन लगती है, जिससे फिर एक लयसे उसका आराधन होता है। (१८०६)



पात्रतावान जीवको आत्महितकारी ऐसे गुरुवचन दिव्य अमृतकी शीतलताका अनुभव कराते हैं। जो परमोत्कृष्ट शांत शीतलता (स्वरूपमेंसे) प्रगट होनेका लक्षण है। (१८०७)



सम्यक् निर्दोषता, वह जिनेश्वरके मार्गकी सुंदरता है और यह मार्ग शांत अमृतरसकी सुगंधसे महकता है। किस जीवको वह प्रिय नहीं होगा !! प्रिय नहीं लगेगा ! (१८०८)



अंतरंगमें ज्ञान 'स्वयं' उत्पन्न होता है, - ऐसे स्वयं अपूर्व जिज्ञासासे - परसे व रागसे उदास होकर, - देखे तो ज्ञानकी निरालंब निरपेक्षता अनुभवमें आती है। यानी कि खुदकी सहज संपूर्ण स्वतंत्रता, भिन्नता, असंगता, (निर्लेपता), निर्विकारता (शुद्धता), निरूपाधिता, सहज कार्यशीलता, नजरमें आती है। इस प्रकार ज्ञानसे स्वयंका अवलोकन होनेसे ज्ञानकी व्यापकता, वेदकता और प्रत्यक्षता मालूम पड़ती है। ज्ञानस्वरूपी आत्माको 'इस प्रकार' देखनेसे मोह पर विजय प्राप्त होता है, परमें एकत्व और कर्तृत्व मिटता है; आसक्तिका सहज अभाव, स्वरूप सुखके प्रति खिँचाव होनेसे होता है। (१८०९)



प्रयोजनकी दृष्टिवान जीवका उपयोग खुदको लागू होनेवाले उपदेश पर जाता है, तब वह खुद अपने लाभ-नुकसानको समझकर, खुदका सुधार करनेके अभिप्रायवाला होनेसे, खुदका यथार्थ सुधार / अमलीकरण शीघ्र ही होता है। उक्त अभिप्रायकी भूमिका बोधप्राप्ति की योग्य भूमिका है। ऐसा होनेसे आत्मार्थीको उपदेश प्राप्त होनेके प्रसंगमें, स्वयंके परिणमनको लागू होनेवाली - स्पर्श करती जो भी बातें आये, तब स्वलक्षसे उसे अंगीकार करना चाहिए, सत्कार करना चाहिए। (१८१०)



परलक्षका अपराध बहुत बड़ा है, कि जो निज परमात्माका लक्ष छोड़करके होता है। वास्तवमें लक्ष करने योग्य तो अंतरमें आनंद सागर है; जिसकी उपेक्षा व अनादर करके जीव परलक्ष करता है। इस अपराधका जीवको खयाल नहीं आता है; इसलिए इस अपराधको जीव हलके रूपमें ले लेता है। जिसके कारण यह दोष चालू रहता है। और इस कारणसे जीवको उपदेश नहीं चढ़ता। जीवको दूसरोंके प्रति भावनाके बहाने भी परलक्ष करने योग्य नहीं है, यह वंचनाबुद्धि है। अतः वैसे प्रकारमें जागृति रखनी आवश्यक है। (१८११)



आत्मस्वभाव समझना सो एक बात है और उसका ग्रहण होना सो दूसरी बात है। स्वभावको सिर्फ विचारकक्षामें / श्रेणीमें रखना - वह उचित नहीं है। क्योंकि वह अनुभव करने योग्य है अर्थात् अनुभवनीय है। अतः उसे देखनेका प्रयास करना चाहिए। जैसे अग्निकी एक चिंगारीमें उसकी जलानेकी असीम शक्ति देखी जाती है, वैसे वर्तमान ज्ञानकी पर्यायमें अनन्त सामर्थ्य

देखनेमें और देखकर भानेसे, उसमें तदाकार होने पर स्वभाव प्रगट होता है। (१८१२)



जिज्ञासा :- 'ज्ञानीपुरुषके प्रति प्रीति-भक्ति हुए बिना उपदेश परिणमता नहीं - कृपालुदेवके इस वचनामृतमें प्रीति और भक्तिका स्वरूप / लक्षण कैसा होता है ?

समाधान :- दूसरे सब कार्य एक ओर (गौण) कर दे वह प्रीति है और उपकारबुद्धिसे सर्वाधिक मुख्यता हो, उसे भक्ति कहते हैं। उपदेश परिणमित होनेके लिए यह खास प्रकारकी योग्यता है। (१८१३)



खुदकी भूमिका समझे बिना, सिर्फ धारणाज्ञानसे यदि कोई जीव समाधान करता है, तो तब वर्तमानमें उसका कषाय तो मंद होगा, परन्तु आत्मदशामें उसका परिणमन नहीं आता बल्कि उससे बड़ा असमाधान खड़ा हो जाता है, कि जिसका निराकरण अपने आप होना बहुत कठिन हो जाता है। फिर भी यदि जीव खोजी हो तो मार्ग मिलना संभवित है। धारणासे प्राप्त समाधान मिथ्या समाधान है जो कि मिथ्यात्वको दृढ - बलवान करता है। अतः वहाँसे छुटना और भी मुश्किल हो जाता है। (१८१४)



जिज्ञासा :- भेदज्ञानके प्रथम स्तरमें, परद्रव्य और परभावसे भिन्नता कैसे आती है ?
समाधान :- भेदज्ञान भले ही सविकल्पदशामें होता है, तथापि वह विकल्पात्मक नहीं (बल्कि) प्रयोगात्मक है। उसकी शुरुआतमें, सिर्फ भिन्नताके विकल्पमें - विचारमें नहीं अटक कर, ज्ञानकी स्वतः स्वतंत्र उत्पन्न होनेकी क्रियाके अनुभव द्वारा भिन्नता भासित होनी चाहिए। निजावलोकन द्वारा खुदका ज्ञान अपने आप (स्वयं) उत्पन्न होता हुआ अनुभवमें आता है, तब वह ज्ञानाकाररूप (सामान्य ज्ञानरूप) अनुभवमें आता है। यहाँसे स्वानुभवकी श्रेणीका प्रारम्भ होता है। ज्ञेयाकार ज्ञान और ज्ञेयोंका अपने आप व्यवच्छेद हो जानेसे ज्ञानकी स्वयंमें व्यापकताका अवलोकन करना आगे जाकर सुगम हो जाता है। जिससे भेदविज्ञानका विकास होता है। (१८१५)



जीवको यदि अंतरमें खुद ही 'अनन्त सुखधाम' भासित हो तो, अहोरात्र उसीका लक्ष रहा करे - यह यथार्थ भावभासनका स्वरूप है, अथवा वास्तविकता है वरना कल्पना है। यह गुण निधानका प्रेम है। जैसे तीव्र दुःखजनक चिंता विस्मरण नहीं होती, - उसका विस्मरण नहीं हो सकता, यदि करना चाहे तो भी, तो फिर 'अनन्त सुखधाम' का विस्मरण कैसे होगा ? (१८१६)

ज्ञानक्रियाके आधारसे ज्ञान स्वभावका ग्रहण होने पर परद्रव्य और परभावसे भेदज्ञान होता है, और उस प्रकार भेदज्ञानपूर्वक परके साथ चली आ रही आधारबुद्धिका नाश होता है। आधारबुद्धिका अभाव होनेसे एकत्वबुद्धि, कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि और सुखबुद्धिका भी साथ ही साथ नाश होता है और आत्मशुद्धि - स्वरूप निर्मलता प्रगट होती है। ज्ञानक्रिया स्वतः ही निरंतर हुआ करती है, ऐसा अंतरंगमें भिन्नताका अनुभव कर्तव्य है। (१८१७)



उत्तम मुमुक्षुको अंदरमें भेदज्ञान और बाहरमें स्वच्छंद निरोध भक्ति, - दर्शनमोहका अनुभाग कम होनेका व निर्मलता उत्पन्न होनेका कारण है। गुण और गुणवान प्रतिका प्रेम, निज आत्म गुणोंका प्रेम है। अतः भक्ति प्रेमरूप होती है, रागरूप नहीं होती। (१८१८)



यथार्थतामें गुण-दोषकी तुलनात्मक मति होती है, जिसमें छोटा दोष बड़ा नहीं दिखता और बड़ा दोष छोटा नहीं दिखता। आत्मार्थीको सहज ऐसा होता है। छद्मस्थको संपूर्ण गुण प्रगट हुए नहीं होते; परन्तु धर्मीको और धर्मको प्राप्त करने योग्य जीवको बड़े दोष पहले मितते हैं अथवा बड़ा गुण पहले प्रगट होता है; इसकी तुलना करनेमें अर्थात् उस विषयमें वजन देनेमें यदि भूल हुई, तो वह विपर्यासको सूचित करता है कि जो विपर्यास आत्मार्थको प्रतिकूल है; अथवा मार्ग प्राप्तिमें अवरोधक है। (१८१९)



उपदेशबोध प्रायः पर्याय सुधारके हेतुवादारूप है। वह आत्म हित-अहितके विवेकका प्रकरण होनेसे उसमें ज्ञान-प्रधानता है। इसमें इतना वजन नहीं चला जाना चाहिए कि जो सम्यक्दर्शनसे प्रतिकूल जाये। सम्यक्दृष्टि 'पर्यायमें अहंभाव' का नाश करके प्रगट हुई है। इसलिए समकित्ती जीवका पर्याय सम्बन्धी विवेक भी पर्यायमें अहम्भावका उत्पादक नहीं होता। 'द्रव्यस्वभावमें अहंबुद्धि' अचलित रहते हुए पर्यायमें सूक्ष्म अविवेक भी नहीं हो, इस अभिप्रायपूर्वक भूमिका अनुसार ज्ञानकी आचरणा / प्रवर्तना होती है। सम्यक्त्वका यह एक लक्षण है। जिसकी विशालता विशाल ऐसे उपदेशबोधमें सर्वत्र होती है, जो कि अद्भुत है। (१८२०)



सत्श्रवण आत्मकल्याणकी अत्यंत भावना सहित स्वलक्षसे होना चाहिए, जिससे प्रयोजनका दृष्टिकोण साध्य होवे। वरना तो श्रवण - अश्रवण दोनों समान हैं। उपरोक्त भावसे श्रवण - क्रमशः भावश्रुत प्रगट होनेका कारण बनता है। अन्य प्रकारका श्रवण निष्फल जाता है। (१८२१)



प्रयोगका विषय प्रयोगकी भूमिका प्राप्त करके यदि प्रयोगात्मकरूपसे समझमें आये तो उसका पारमार्थिक लाभ होता है। इसके पहले सिर्फ बुद्धिगोचर करनेसे उसकी कल्पना होती है। कल्पना विपर्यासमें परिणमित होती है और विपर्यास दुःखका कारण है। इसलिए अपरिपक्व अवस्थामें प्रयोगकी समझ हो गई, ऐसा संतोष नहीं होना चाहिए। इससे गृहीत मिथ्यात्व हो जानेका जोखिम है, जो अति गंभीर है। कल्पित भाव दृढ़ होने पर, उससे मुक्त होनेमें अति परिश्रम लगता है। (१८२२)



तत्त्वज्ञानका अभ्यास प्रायः बुद्धिजीवी लोग करते हैं। द्रव्यश्रुत वस्तुस्वरूपकी व्याख्या है। इससे व्याख्यात्मक ज्ञान (Theoretical Knowledge) प्राप्त होता है। परन्तु आत्मज्ञान तो अनुभवज्ञान है, इसलिए पात्र जीव अनुभव पद्धतिसे तत्त्वअभ्यास करता है और स्वानुभवकी प्राप्ति करता है। द्रव्यश्रुतमें प्रयोगकी प्रेरणा होती है। इसके द्वारा पात्र जीव प्रयोग पद्धतिको पकड़ लेता है। सिर्फ विचार पद्धतिमें प्रयोगका विषय विचारसे - बुद्धिसे बुद्धिगोचररूप समझमें आने पर कल्पना होती है और इससे विपर्यास उत्पन्न होता है। विपरीत ज्ञानसे आत्मशांतिकी प्राप्ति नहीं होती, अनादि आकुलता नहीं मिटती; परन्तु फलमें दुःख - आकुलता प्राप्त होती है। यथार्थ स्वाध्याय पद्धतिके अभिलाषी जीवको इसका विचार करने योग्य है। (१८२३)



जब तक प्रयोजनभूत विषयमें विपर्यास होता है तब तक पुरुषार्थकी दिशा स्वरूप सन्मुख नहीं हो सकती - ऐसा वस्तु स्वरूप है। ऐसे प्रयोजनभूत विषय - देव, गुरु, शास्त्र, सत्पुरुष और स्वरूप प्राप्तिकी विधि - कार्य पद्धति हैं। नौ तत्त्वमेंसे एक भी तत्त्वका विपर्यास हो तो ज्ञान सम्यक् हो ही नहीं सकता। (१८२४)



संसारमें जीवको पूर्वकर्मका उदय सदा ही रहता है। प्रायः जीव स्वरूप सावधानीके अभावमें दुःखी होकर नये कर्म बंधनका नुकसान करता है। जीव यदि मुक्त होनेका अभिलाषी हो तो प्राप्त उदयके निमित्तसे आत्म प्रत्ययी पुरुषार्थ करके संसार तिर सकता है। अतः उदयसे चिड़चिड़ानेकी जरूरत नहीं है परन्तु उदयका लाभ लेने जैसा है। यह सही जीवन कला है। (१८२५)



जनवरी - १९९९

किसी भी ज्ञेयका सिर्फ बाह्य ज्ञान (ज्ञान विशेष) में प्रतिबिंब पड़ता है, जो सिर्फ ज्ञानकी

सपाटीके ऊपर-ऊपर ही शीघ्र विलयको प्राप्त होने योग्य होता है। उसी वक्त खुद तो अखण्ड ज्ञान पिंड - निविड़ ज्ञानका दल, ज्ञानके संवेदन सहित भिन्न ही रहता है। ज्ञानविशेष भी ज्ञेय पदार्थसे अत्यंत भिन्न ही है। - इस तरह भिन्नताकी मुख्यतामें रहना वह निरूपाधिक होनेका सम्यक् उपाय है। वही धर्मध्यानरूप द्रव्यानुयोगका परिणमन है कि, जो शुक्ल ध्यानका कारण है। (१८२६)



जिज्ञासा :- अंतर्मुख कैसे हुआ जाये ? कैसी परिस्थितिमें सहज हुआ जाये ?

समाधान :- बहिर्मुख भावोंमें जिस जीवको आकुलता वेदनमें आये, विकल्पमात्रमें दुःख लगे, थकान लगे और ज्ञान सुखरूप भासित होवे, 'ज्ञानमात्र' भाव कषाय रहित होनेसे सुखरूप भासित होवे, तब जीवकी सुखके लिए चल रही अपेक्षावृत्ति सुखके प्रति सहज झुकती है। इसलिए बाह्य पदार्थोंके प्रति जो उपयोग आकर्षित था वह उपयोग उदास होकर - उपेक्षित होकर ज्ञानसामान्य कि जो स्वयं वेद्य - वेदक भावरूप है, उसके प्रति झुकता है। यही ज्ञानवेदना है। जो आत्म - वेदनरूप है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान-वेदनामें वेद्यरूप होवे ऐसा है। (१८२७)



व्यवहारको व्यवहारके स्थानमें श्री वीतरागने स्थापित किया है। जो कि आत्महितार्थ योग्य लगता है, सम्मत होता है। निश्चयसे उसका निषेध सम्यक् है। ऐसी ही जिन नीति है। व्यवहारके अनेक भंग-भेद हैं, जिसका हेय-उपादेयके दृष्टिकोणसे विचार कर्तव्य है। कहीं पर भी एकांत कर्तव्य नहीं है। तथापि धर्मात्माका सम्यक् एकांत कि जो निज परमपदकी प्राप्तिके हेतुभूत है, वह तीनोंकाल वंदनीय है। उनकी आराधना जयवंत वर्ता। (१८२८)



अहो ! ज्ञानीका विवेक ! जिन्हें अपने उपकारी मुमुक्षुके प्रति भी विनय-नम्रता सहज उत्पन्न होते हैं; जो नम्रता ही स्वयं उनकी महानता है। ज़रा सी भी अपने गुणोंकी मुख्यता नहीं होती। यहाँ पर इतना विनयभाव है कि, निमित्तकी मुख्यतामें उपादान गौण हो जाता है, तो भी अवगुण उत्पन्न नहीं होता ! कैसी अगम-निगमकी घटना है !! मुमुक्षुजीवको भी आत्माकी निर्मलता हेतु उपकारी श्रीगुरुके प्रति परम भक्तिभाव उत्पन्न हो आता है, तब निमित्तकी मुख्यता होती है, जब कि वास्तवमें आत्माकी मुख्यता है, ऐसा समझने योग्य है। (१८२९)



उदासीनता, वैराग्य, नीरसता भूमिका अनुसार होते हैं। जिसकी यथार्थ प्रकारसे शुरुआत

परिभ्रमणकी चिंतनासे होती है। और जैसे-जैसे मुमुक्षुता वर्धमान होती है, वैसे-वैसे उदासीनता-नीरसता भी बढ़ती जाती है। उसका लक्षण यह है कि, अनुकूलतामें भी अच्छापना नहीं होता, और संसार प्रत्ययी परिणाम होने पर जीवको कायरता आ जाती है। यथार्थ विरक्तिसे अनंतानुबंधी कषाय व दर्शनमोहकी शक्ति कम होनेसे उसका अभाव होनेका अवसर आता है, और मोक्षमार्गमें प्रवेश होता है।

ओघसंज्ञामें बाह्यदृष्टिसे अयथार्थ वैराग्यसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है, और अवैराग्यदशामें - वैराग्य बिना भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है।

मोक्षमार्गमें शुद्ध स्वरूपका अनुभव ही वैराग्य और सर्व उदय प्रसंगमें समभावका उत्पादक है। शुद्धज्ञान जहाँ भिन्नरूपसे ही अनुभवमें आता है, वहाँ सहज नीरसता रहती है। (१८३०)



काललब्धि पकती है तब जीव परमार्थ मार्गके प्रति झुकता है। ऐसा होनेमें जीव स्वयं ही कारण-कार्यरूप है। उसकी यथार्थ समझ जिसकी काललब्धि पकी नहीं, उसे नहीं होती। जिसकी काललब्धि पक गई है, उसे उसकी यथार्थ समझ होती है। और उस वक्त सहज पुरुषार्थ और निमित्तादि होते हैं, उसका सभी पहलूसे समाधान भी आता है। जो जीव काललब्धि प्राप्त होनेके पहले आगमसे उस विषयकी धारणापूर्वक अपने लिए काललब्धिका अवलंबन लेता है, वह भूलावेमें पड़ता है, मार्ग / उपायकी भूल करता है। ज्ञानी भी काललब्धिका अवलंबन नहीं लेते, परन्तु उसका ज्ञान उन्हें होता है। (१८३१)



परम सत्संगमें अनुपम व अलभ्य ऐसा अपूर्व आत्मकल्याणकारी उपदेश स्पष्टरूपसे प्राप्त होने पर भी यदि जीव आज्ञांकित भावसे उस सत्संगकी उपासना नहीं करता है तो उसका पारमार्थिक लाभ जीवको प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि आज्ञाकारिता - वह ज्ञानकी निर्मलताका कारण है। संपूर्ण आज्ञाकारिता जिसे आती है, उसे परम सत्संग योगका सही मूल्यांकन हुआ है अथवा निज हितकी सही सूझ आयी है, जिसके फलस्वरूप जीवको अवश्य ज्ञान प्राप्ति होती है और वह संसार तिर जाता है। संपूर्ण आज्ञाकारितासे सर्वार्पणबुद्धि आती है। जिसके कारण फिर मोहको रहनेका कोई ठिकाना - आधार नहीं रहता। वह जीव आज्ञामें ही एकतान रहता है। (१८३२)



कोई-कोई धर्मात्माको श्रुतज्ञानकी लब्धि होती है। पूर्वमें द्रव्यश्रुतकी उपासनासे प्राप्त विशुद्धिके फल स्वरूप अनेकविध प्रकारसे लब्धि उत्पन्न होती है, जो प्रायः जिनशासन वृद्धिकर होती

है। लब्धि है वह ज्ञानकी ऋद्धि है, जिसका कारण आचरण - संयम आदि होते हैं। ज्ञानकी स्वरूप ग्रहण शक्ति, वह ज्ञानकी सिद्धि है। (१८३३)



द्रव्यानुरोग और अध्यात्मकी चाहे कितनी भी स्पष्ट समझ हो, परन्तु अंतरंगमें उस भावोंके अनुभवपूर्वक (अगर) भावभासन हो, तो ही उसकी यथार्थता है, वरना ओघसंज्ञा या परलक्षी ज्ञानकी स्पष्टताकी कोई सार्थकता नहीं है। वैसी समझमें अन्यथा परिणामन होनेकी संभावना है। (जबकि) अनुभवयुक्त समझ परमार्थको साधती है। (१८३४)



आत्मस्वरूपके अभेद अनुभवमें, भेदाभेदका ज्ञान सम्यक् प्रकारसे हो जाता है, अर्थात् अभेदका अवलंबन लेनेमें आता है और भेदोंका ज्ञान सहज होता है। इसके पहले शास्त्र सिद्धांतसे भेदाभेदस्वरूप वस्तुको बराबर समझने पर भी, उस समझके कालमें विकल्प और विकल्पका एकत्व उत्पन्न हो जाता है, जिस विकल्परूप खुदका अनुभवन और भेदका अवलंबन लेनेमें आ जाता है। यहाँ पर अवलंबनकी और अनुभवकी - दोनों भूल है, इसलिए वह ज्ञान मिथ्या है - अपरिपक्व भी है। इसीलिए ज्ञानियोंने अनुभवपद्धतिकी मुख्यतासे बोध दिया है।

स्वरूपका भावभासन होने पर भेद और विकल्प गौण हो जाते हैं और अभेद स्वरूपके लक्षसे पुरुषार्थकी गति और भेदज्ञानकी प्रक्रिया सहज भावसे वर्तती है। जिससे विकल्पका एकत्व और अध्यास निवृत्त होकर अभेद स्वरूपके अनुभवको साधनेमें आता है। (१८३५)



तीर्थप्रवृत्तिकी शुरुआत भगवान श्री ऋषभदेवस्वामी द्वारा व्रतादि विधिसे हुई, और मुक्तिगामी ऐसे श्री श्रेयांसकुमार द्वारा दान-विधिसे हुई। जिसकी परम्परा वर्तमानमें चालू है। व्रत - संयमकी उपासना करते हुए उदासीनताकी प्राप्ति होकर, आत्ममार्ग-अध्यात्ममार्ग सुगम होता है अर्थात् आसक्तिका अवरोध दूर होता है।

दान = प्राप्त संयोगोंका स्वामित्व छूटनेसे उत्पन्न हुआ स्वस्वरूपमें स्वामित्वभाव। - इस प्रकार दोनोंका सुमेल धर्म और धर्म प्रभावनामें परिणमित होता है। (१८३६)



जिसे जीवका स्वरूप समझमें आया, उसे किसी भी व्यक्तिके प्रति द्वेषबुद्धिपूर्वक द्वेष नहीं आता, संसारीको दुःखी देखकर करुणा आती है, मोक्षमार्गी या मार्गच्छावानको देखकर प्रेम - वात्सल्य आता है, परमेष्टिपद प्राप्त जीवके प्रति पूज्य भाव आता है। - यथार्थतामें ऐसा सहज

होता है।

(१८३७)



सत्श्रवणका भाव रहे वह अच्छा है, सत्श्रवणमें उल्लास आये वह अधिक अच्छा है, तथापि वह पर्याप्त नहीं है, अर्थात् इतनेसे अटकना नहीं चाहिए। सत्का परिणमन होनेके लिए पुरुषार्थसे उसका प्रयोग होना चाहिए वरना सब (श्रवण और उल्लास) निष्फल जाता है। अथवा इतनी हद तक उल्लास आना चाहिए कि वह आगे जाकर प्रयोगमें परिणमित हो जाये, ऐसा हुए बिना रहे नहीं। जिसे सत् प्राप्तिका लाभ समझमें आता है, वह पुरुषार्थ करनेके लिए पीछे पड़ जाता है - ऐसी स्वकार्यकी लगन लगती है। (१८३८)



बुद्धिकी - ज्ञानकी विशालता जीवको अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होनेका कारण बनती है और वह किसी जीवमें यदि गुण हो तो उसे समझकर स्वीकार करनेमें कारण बनती है। इतना ही नहीं ज्ञानीके वचन और शास्त्र वचनकी अपेक्षाओंको आत्मकल्याणके पारमार्थिक दृष्टिकोणसे समझने पर, ऐसी अपेक्षाएं साधनामें कारण बनती हैं। क्षमा, वात्सल्य और प्रभावना, विशालतामें से पनपते हैं अथवा जन्म लेते हैं। (१८३९)



करणानुयोगमें जीवके विभाव परिणामोंके निमित्तसे अनन्त प्रकारसे प्रकृति, स्थिति आदि कर्म बंधते हैं, उसका विस्तार है। ज्ञानीपुरुष उसमेंसे परमार्थ दर्शाते हैं कि, कोई भी कर्मबंध अनादि अनन्त नहीं है, इसलिए जीवको मोक्षका अवकाश है। जीव कभी भी मोक्षके लिए प्रयास कर सकता है। इससे पात्रजीवको पुरुषार्थकी प्रेरणा मिलती है। (१८४०)



ज्ञानकी परप्रकाशताका निषेध कर्त्तव्य नहीं है। परन्तु परलक्ष और परसन्मुखता, जो कि स्वको चुकनेसे होती है और जो ज्ञानका विभाव है, उसका निषेध उचित है। वास्तवमें तो 'स्व'के ज्ञानपूर्वक परका ज्ञान सहज होता है। 'स्व' 'पर' अपेक्षित होता है। परकी अपेक्षा बिना 'स्व' नहीं कहा जा सकता। इसलिए 'पर जाननेमें नहीं आता है' ऐसा एकांत नहीं होगा। (१८४१)



जिज्ञासा :- आत्मानुभूति संपन्न ऐसे महात्माओंकी वाणी - द्रव्यश्रुत आज भी विद्यमान है, उपलब्ध है, इसका परमार्थ क्या है ?

समाधान :- जिस द्रव्यश्रुतमें अपूर्व ऐसा परमात्मपद और उसकी प्राप्तिका उपाय दर्शाया

है, और जिसके कारण आज भी एकावतारी हो सकते हैं, इस संभावनाको जानकर सुपात्र जीवको तथाप्रकारकी प्रेरणा और वीर्योल्लासका कारण है। ऐसा बलवान निमित्तत्व जिस वचनयोगमें रहा है, वह निश्चितरूपसे पूजनीय है, अभिवंदनीय है। (१८४२)



बाह्यदृष्टिवान जीव अनुभवको नहीं समझता, उसे अनुभवकी महिमा - अधिकता नहीं आती, इसलिए वह वेष (त्याग) को, क्रियाको, भाषाको, क्षयोपशम ज्ञानको, तर्कको, व्यक्तित्वको - ऐसे-ऐसे बाह्य द्रव्य-भावोंको नमन करता है, उसकी महिमा और अधिकता करता है, इसलिए ज्ञानीपुरुषकी पहचान नहीं होती। बाह्यदृष्टि जीवको अंतरदृष्टिसे दूर ले जाती है, यह विस्मरण करने योग्य नहीं है। (१८४३)



अज्ञानदशामें जीव उपवास करता है, मोहकंदको मजबूत करता है, परन्तु वहाँ जीव कषायरस पीता है। जब कि ज्ञानी उपवास या आहारमें आत्मरस-ज्ञानरस, कि जो अकषायरस है, उसको पीते हैं। (१८४४)



जिज्ञासा :- सम्यक्त्व प्राप्त करनेके लिए त्याग करना आवश्यक है ? मुमुक्षुकी भूमिकामें त्यागका महत्त्व कितना समझना ?

समाधान :- मात्र त्याग करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। वास्तविक अंशतः त्याग तो मोक्षमार्गीको पाँचवे गुणस्थानसे रागका आंशिकरूपसे अभाव होता है, तदनुसार शुरु होता है। मुमुक्षुकी भूमिका त्यागकी भूमिका नहीं है, परन्तु उदय प्रसंगमें नीरसता - उदासीनता वृद्धिगत करनेकी है, जिसमें कोई मुमुक्षु अच्छी योग्यताके कारण प्राप्त संयोगोंके बीच भी उदास रहता है। परन्तु जिसकी हीन योग्यता है, उसे जहाँ-जहाँ, जिस-जिस उदयमें रस बढ़ता हो, उस-उस प्रकारमें रस विरुद्ध प्रयोग करके; मोहको - रसको समझकर मंद करना चाहिए। उसमें अनुभवी जीवका मार्गदर्शन सत्संगके योगसे मिलने पर, यथार्थ प्रयोग हो सके अथवा भूल न रहे उसकी दरकार रखनेके लिए सत्संगमें खुले मनसे परिणामकी चर्चा उस विषयमें करने योग्य है। जिससे नीरसता वृद्धिगत हो।

परन्तु त्यागकी भूमिका नहीं है, ऐसा पकड़कर पररुचिका अनुमोदन नहीं होना चाहिए और प्रयोगका निषेध नहीं होना चाहिए।

आत्मीयको आत्मभावनाकी परिणति होनी चाहिए, जिससे सहज उदासीनता रहे। (१८४५)



फरवरी - १९९९

योगका मार्ग विषम है। यदि मन, वचन, कायासे वह परमें जुड़े, तो आत्माको बंधन होता है। और यदि स्वरूपमें योगी योग साधते हैं, तो मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिए गुरुगमसे योगमार्गका आराधन करना चाहिए। (१८४६)



आगम स्वरूपमें प्रवेश करनेके लिए है, उसके बजाय स्वरूपको छोड़कर आगममें ही प्रवृत्त रहना - यह विपरीत प्रवृत्ति है। अध्यात्मदृष्टिसे भी आगममें प्रवृत्ति करना वह बहिर्भाव है, तथापि आगम स्वरूपमें प्रवेश करनेकी विधिका उपदेश - प्रेरणा देते होनेसे किसी एक भूमिकामें उपकारी (स्वरूपमें प्रवेश करनेके पुरुषार्थीको) गिना है। बाकी वैसे तो महामुनियोंने तो आगममें विचरनेवाली बुद्धिको व्यभिचारीणी कहकर - स्वरूप रमणताकी उपादेयताको विशिष्टरूपसे प्रकाशित की है। (१८४७)



स्वभावका प्रतिबंध दुःख उत्पन्न करता है, ज्ञान रुकनेसे - आवरित होनेसे अकुलाहट होती है, आकुलता अनुभवज्ञानको रोकती है। जब कि विकल्पका अभाव होकर निर्विकल्प होते ही अपूर्व आनंदके फव्वारे छूटते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवको अन्य द्रव्य-भावके प्रतिबंधसे मुक्त होनेके लिए पुरुषार्थ कर्तव्य है। (१८४८)



मोक्षका कारण जीव द्रव्यका शुद्धत्व परिणमन है, और उसका कारण ज्ञानमें अनुभवशक्ति है, अतः ज्ञानवेदन है, उसका (अन्य द्रव्य-भाव के प्रतिबंधसे मुक्त होकर) आविर्भाव करना वह है। उसे ज्ञानगुण - ज्ञानस्वभाव जानने योग्य है। स्वरूपकी प्राप्ति ज्ञानगुणसे ही है, अन्य प्रकारसे नहीं। (१८४९)



प्रयोग है वह अनुभवप्रधान परिणमन होनेसे प्रतीतिका कारण है। यथार्थ विचारणापूर्वक त्यागादि प्रयोग, परका परपना जानकर होनेवाला प्रयोग, मुक्तिसुखकी प्रतीति उत्पन्न करता है। ज्यों-ज्यों प्रयोगकी सहजता होती जाती है, त्यों-त्यों श्रद्धा-ज्ञानकी प्रगाढ़ता होती जाती है। भेदज्ञानका प्रयोग स्वसंवेदनमें परिणमित होता है, और वह सर्व सिद्धि-शुद्धिका कारण है। (१८५०)



जिज्ञासा :- पूर्वमें हुए महात्माएं - तीर्थकरादि सर्वज्ञ ज्यादा उपकारी या वर्तमानमें प्रत्यक्ष

आत्मज्ञ पुरुष, मुमुक्षुको अधिक उपकारी ? दोनोंकी भक्तिका भाव होता है, तो उसमें अधिक लाभदायक कौनसा भाव ?

समाधान :- मुमुक्षुजीवको तिरनेके लिए निमित्तत्व दोनोंके वचनोंमें एकसा है। तथापि परोक्ष वचनकी असरसे, प्रत्यक्ष वचन स्वरूपके प्रतिकी चेष्टा सहित होनेसे अधिक असर करते हैं। अतः जिसे अपने आत्मा पर असर आती है, उसे सच्ची उपकारबुद्धि उत्पन्न होती है और प्रत्यक्ष योगका महत्त्व समझमें आता है। इस प्रकारकी असरके अनुभवसे प्रत्यक्ष - परोक्षका भेद समझमें आना चाहिए। पुनः परोक्ष महापुरुषकी भक्तिसे प्रत्यक्ष सद्गुरुके सान्निध्यसे उपरोक्त असरके कारण भक्ति - बहुमानका तारतम्य वृद्धिगत होनेसे दर्शनमोह विशेष प्रमाणमें गलता है। वह भी अनुभवसे ही समझना चाहिए। (१८५१)



काललब्धिकी यथार्थ समझ, जिसकी काललब्धि पक गई हो और परमार्थ साधनेमें वीर्योल्लास वर्तता हो, ऐसे जीवको होती है। इसके पहले उसकी समझसे प्रायः विपरिणाम आता है। अर्थात् जिस जीवका पुरुषार्थ उठता नहीं है वह जीव काललब्धिका अवलंबन लेकर अटक जाता है। इस प्रकार काललब्धिके अयथार्थ ज्ञानसे नुकसान होता है। (१८५२)



कुदरतकी कला अंदाज़ नहीं लगा सके इतनी गंभीर है, ऐसा समझने योग्य है। जिसकी अनेक घटनाएं दृष्टांतरूपसे देखने मिलती है। जैसे कि अनेक महात्माएं अन्य मतमें जन्म पानेके बावजूद भी आखिरमें मूलमार्गको प्राप्त करते हैं, तो कोई महान साधक जीव; साधनाको गौण करे तो भी उनके निमित्तसे - उनके बाह्य परिणमनके निमित्तसे शासन पर - जगत पर अनुपम उपकार हो जाता है। जिसका दृष्टांत श्रीमद् विश्नुकुमार मुनिराज प्रसिद्ध है। जिनके विकल्पके निमित्तसे सातसो भावलिंगी मुनियोंका उपसर्ग दूर हो गया !! दूसरा दृष्टांत श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्यदेवका है। उन्हें ध्यानमें निर्विकल्पता छुटकर विकल्प (?) / भावना हुई, 'साक्षात् तीर्थकरदेवके दर्शन व दिव्यध्वनि - श्रवणकी,' तो इस उत्कृष्ट पुण्यभावका फल भी तुरंत ही आया। महाविदेहकी यात्रा हुई, दर्शन - श्रवण प्राप्त हुआ और मुमुक्षु जगतको समयसारजी आदि चौराशी पाहुड (भेंट) की प्राप्ति हुई, जिसके निमित्तसे अनेक धर्मात्माओंकी उत्पत्तिकी परम्परा चली। परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र देव - दोनों युगपुरुष श्री समयसारजीसे उपकृत हुए हैं। महात्माओंके विकल्प हमेशा जगतके लिए कल्याणकारी हुए हैं; ऐसे महान् आत्माओंकी साधनाका माहात्म्य गानेकी शक्ति वाणीमें नहीं है। उनकी निष्कारण करुणाकी स्तुति भी मोहका क्षय करके आत्मस्वभावको प्रगट

करती है। अहो ! अहो !

(१८५३)



ज्ञानीपुरुषकी पहचान होने पर, जीवको यथार्थ प्रकारसे उदासीनता अवश्य वर्धमान होती है। इसके दो कारण है। एक तो ज्ञानीपुरुषकी विरक्तता, जिसके प्रत्यक्ष दर्शनकी असरसे उदासीनता बढ़ती है; दूसरा, गुणका प्रेम - गुणीयल ज्ञानीके प्रति परम प्रेमसे भीगे हुए जीवको अन्य कहीं भी प्रेम - संसार प्रेम नहीं आता। इसलिए उदयके प्रति सहज उपेक्षा रहती है।

(१८५४)



संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्थामें जीव स्वानुभव प्रगट कर सके ऐसी शक्ति प्रगट है, परन्तु उस शक्तिको मोहवश परका अनुभव करनेमें खर्च कर देता है, जिसके कारण स्वानुभव करनेकी अयोग्यता वर्तती है। मोहसे जीव परमें और रागमें एकत्वबुद्धिपूर्वक अति एकत्व करता है, तीव्र रससे एकाकार भावसे मिथ्या अनुभव करता है, अति प्रगाढ़ता हो जानेसे भेदज्ञान करनेकी शक्ति - योग्यता आवरित हो जाती है। तथापि मुक्त होनेकी अंतरकी भावना प्रगट हो तो भेदज्ञान करनेकी योग्यताको संप्राप्त कर सकता है, और स्वानुभव कर सकता है। (१८५५)



महामुनियोंको जिनदर्शनसे उत्पन्न सुखसे इतना संतोष होता है कि जगतके किसी भी पदार्थकी, अरे ! इन्द्रके वैभवकी भी वांछा नहीं होती, तो अभेद आत्मदर्शनसे कैसा अर्चित्य सुखामृत प्राप्त होता होगा !! यह गवेषणीय है। तो जो जीव जिन-दर्शन करके सिर्फ पुण्यफलकी अपेक्षा भाते हैं, वे मूलमार्गसे कितने दूर हैं !! और दुर्भागी भी हैं ! यह शोचनीय है।

(१८५६)



यथार्थ प्रकारसे - आत्मकल्याणके लक्षपूर्वक प्रयोग करनेवालेको तत्काल लाभ होता है। प्रयोगके कालमें ही दर्शनमोह मंद होकर अंशतः कषायरस गलता है। इसलिए मुमुक्षुको प्रत्येक स्तरमें प्रयोग कर्तव्य है। भेदज्ञानका प्रयोग तो स्वानुभूतिको प्रगट करता है। अतः आत्मशुद्धि हेतु प्रयोगरूप उपाय - सर्व श्रेष्ठ उपाय है अथवा एकमात्र उपाय है। यदि एक लयसे प्रयोग हुआ तो जीवकी तद्अनुसार परिणति बनती है, जिससे उदयकालमें सहज उदयभावमें मंदरससे प्रवर्तन होता है और इसलिए प्रयोगमें अधिक सुगमता रहती है। पहलेकी तरह प्रयोग कठिन नहीं लगता। और साथ ही आत्म रस - रुचि भी बढ़ते हैं।

(१८५७)



जिज्ञासा :- मुमुक्षुकी भूमिकामें पात्रतावान जीवको ज्ञानकी निर्मलता होना, माने क्या ?
ऐसी निर्मलताका स्वरूप कैसा है ?

समाधान :- आत्मकल्याणकी भावनासे, स्वलक्षसे खुदको वर्तमान योग्यतामें लागू होता हो, उस उपदेशका अवधारण किया हो - तद्अनुसार अमलीकरण और प्रयोग होनेसे ज्ञानमें निर्मलता आती है। जिससे ज्ञान निज हितरूप प्रयोजन साधनेमें सूक्ष्म व तीक्ष्ण होता है, और विशेष सूक्ष्मरूपसे प्रयोजन सधता है, ज्ञानमें निजहित सम्बन्धित विवेक / सूझ वर्धमान होती है। ज्ञानकी निर्मलतासे प्रयोजन सधे वैसा दृष्टिकोण साध्य होता है। अत्यंत / परिपूर्ण निर्मल ऐसा प्रयोजनभूत आत्मस्वरूप जिस निर्मल ज्ञानमें भास्यमान होवे, ऐसी निर्मलताकी शुरुआत उपरोक्त प्रकारसे होती है और वृद्धिगत होती है। - इस प्रकार ज्ञानकी निर्मलतासे परम प्रयोजनभूत निज परमेश्वर पदकी प्राप्ति होती है। (१८५८)



उपयोग स्वरूप लक्षपूर्वक स्वसंवेदनके प्रति नहीं जाकर, बाहर ज्ञेयके प्रति खींचता है, उसमें लाभ-नुकसानकी बुद्धि, सुखबुद्धि अथवा परमें अपनत्वकी बुद्धिरूप विपरीत अभिप्राय होता है। जिसके कारण जीवको अंतर्मुख होनेमें अवरोध रहता है। अंतर्मुख होनेके इच्छुक मुमुक्षुको इसीलिए स्वरूप महिमापूर्वक उदासीनता अपेक्षित है। ज्ञानदशामें तो पूर्व संस्कारित अस्थिरताके कारण उपयोग बाहर जाता है। उतना मोक्षमार्ग रोधक भाव ज्ञानियोंने सम्मत किया है। परसत्ताका आंशिक अवलंबन मोक्षमार्ग नहीं है। इसलिए निषिद्ध है। (१८५९)



जिज्ञासा :- परिणाममें रसकी उत्पत्ति होनेका विज्ञान क्या है ? परमार्थकी अपेक्षा रस कैसा होता है ?

समाधान :- रस विभाव परिणाममें भी होता है और स्वभाव परिणाममें भी होता है। परिणामनमें विभाव शुभाशुभ भावके साथ तीव्र और मंद ऐसे दो प्रकारसे परिणामन करता है, जो कि कर्मके अनुभाग बंधका निमित्त है। - यह अनात्मरस है, जो कि तत्त्वदृष्टिसे बंध तत्त्व है। रसका विज्ञान समझने जैसा है। ज्ञान जो भी ज्ञेयमें लीन-एकाग्र हो, वह यहाँ तक कि :- अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं हो, - उसे रसभाव समझने योग्य है। वह ज्ञानपूर्वक लीनता है। जीवको जिसमें रस होता है उसकी मुख्यता होती है, उसकी रुचि होती है, उसका वजन होता है। जिसको खुदके परिणामका अवलोकन चलता है उसे रस पकड़में आता है - प्रायः अभिप्रायपूर्वक होते भावोंमें रस उत्पन्न होता है और वही उस परिणामकी शक्ति है। आत्मरसमें आत्मशक्ति प्रगट होती है। अतः आत्मरसके कारण आत्मामें एकाग्रता होकर जीव मुक्त होता

है।

(१८६०)



वर्तमान विषमकालमें हीन योग्यतावाले जीवोंकी संख्या अधिक मात्रामें है, इसलिए आत्मार्थी जीवको असत्संग और असत्प्रसंगसे दूर रहनेके लिए लोकपरिचयसे दूर रहना उचित है, यदि ऐसा विवेकपूर्ण वैराग्य हो तो ही निजहित साधा जा सकता है। उसमें भी जो प्रभावना कार्य जैसे उदयमें प्रवृत्तियोगमें हो, उनको बलवानरूपसे उदासीनताका सेवन करना चाहिए - ऐसा महापुरुषोंने स्व-आचरणसे बोध दिया है। क्योंकि लोकत्याग बिना वैराग्यका सद्भाव नहीं होता। प्रभावक पुरुषकी शोभा निष्कामता और वैराग्यमें है, वही इनके आभुषण हैं। (१८६१)



आत्मार्थीको धर्म प्राप्तिके इस क्षेत्रमें प्रवेश किस हेतु - कारणसे किया है ? इसकी जाँच कर लेनी आवश्यक है। केवल आत्मशांतिके हेतु प्रवेश हुआ हो तो वह यथार्थ है। दूसरे किसी भी कारणसे प्रवेश हुआ हो तो, आत्मशांति प्राप्त होना असंभवित है। आत्मशांति अकषाय स्वरूप है। इसलिए उसकी प्राप्तिकी भावनामें अकषाय स्वभाव प्राप्त होनेका आशय गर्भित है। वरना सकषाय - हेतु भावसे हुआ प्रवेश अकषाय स्वरूप धर्म पानेमें सफल नहीं होता। जैसे कि प्रतिकूलताके दुःखके निमित्तसे हुआ प्रवेश, अनुकूलता होने पर अटकनेका कारण बनता है, यहाँ पर आशय अन्यथा होनेसे पारमार्थिक आशयका ग्रहण होना नहीं बनता। इसी तरह किसी भी प्रकारके राग-द्वेषसे प्रवेश हुआ हो, तो वह सफल नहीं होता। (१८६२)



स्वरूपमें आस्तिक्यभावकी उत्पत्ति हेतु प्रयोगके कालमें निज स्वरूपकी असंगता, शुद्धता बारबार देखें, उसमें भी उदयभावके वक्त उस उदय भाव विरुद्ध स्वभाव भावका लक्ष होना चाहिए। जैसे कि तन्मयता - अपनत्व होने पर असंगताको लक्षमें लेनी चाहिए, उपाधिके कालमें निरूपाधिकपना, विकारके वक्त निर्विकारता, पर अवलंबन - आधारके सामने निरावलंबनपना, अपेक्षाभावके सामने निरपेक्षता, अशांतिके आगे परम शांत स्वभाव, विकल्पके सामने निर्विकल्प स्वभाव आदि प्रकारसे अभेद एकरूप द्रव्यमें अहम्भाव होनेसे स्वरूपमें आस्तिक्य दृढ होता है। (१८६३)



निज विचार होनेका अवकाश प्राप्त हो, वैसे सत्संग योगमें जीवका पुरुषार्थ नहीं उठना, यह शिथिलताका प्रकार है। उसे सिर्फ शिथिलता समझकर, हलका दोष समझकर निर्भय रहना या अजागृत रहना - थोड़े समयके लिए भी निर्भय या उपेक्षित रहना यह जीवकी

अतिशय निर्बलता है, अविवेकता है, जिसे टालनेके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए, ऐसा बलवान मोह है, और वर्तमान स्थिति बहुत हानिकारक नहीं है - ऐसी भ्रांति है। बहुभाग मुमुक्षुकी यह दशा है, वैसे जीवोंके लिए कृपालुदेवका यह महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन है, जिसे ज़रा सा भी गौण करने योग्य नहीं है। (१८६४)



शाश्वत निज स्वरूपकी प्रतीति जिन्हें रहती है, उनके लिए जीवन और मृत्यु समान होते हैं, देहके संयोग-वियोगका हर्ष-शोक नहीं होता, दोनों ज्ञानके ज्ञेय रहते हैं। जिनको जीवन-मृत्युमें साम्यता है, उन्हें दूसरे किसी भी प्रकारके संयोग-वियोगरूप उदय-प्रसंगमें विषमभाव नहीं होता। और इसके उपरांत शाश्वत स्वरूपके अवलंबनसे अन्य द्रव्यकी आधारबुद्धिका नाश होता है और चिंता, शंका, भयके कारण जो आकुलता होती है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। सर्व प्रकारके भयका अभाव होता है, ध्रुवतत्त्वके प्रबल अवलंबनके कारण दीनता नहीं आती। जीवका पर्यायबुद्धिरूप मिथ्यात्वका नाश, निज शाश्वत पदके अवलंबनके अलावा अन्य प्रकारसे नहीं होता। स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यका स्वीकार ध्रुवतत्त्वके स्वीकारसे आता है। यह एक गंभीर विषयको समझने जैसा है। (१८६५)



मार्च - १९९९

ज्ञानीपुरुषका मार्ग मोहका नाश करनेका है, उस विषयके वे अनुभवी हैं। मोहके कारण ही संसार है। जो जीव मोहभावको नहीं समझ सकता, वह अन्यथा उपायमें लगता है। प्रायः संप्रदाय ऐसे अन्यथा (उपायमें) चलते हैं। मोहके कारण पदार्थका स्वरूप इष्ट-अनिष्ट भासित होता है अथवा अपने नहीं ऐसे अन्य पदार्थमें अपनत्व होता है, और उसमेंसे असंख्य प्रकारके दोष पनपते हैं। दोषके फलमें दुःखकी उत्पत्ति है। (१८६६)



जिज्ञासा :- प्रमाद व अधीरज कर्तव्य नहीं है। धीरजसे स्वकार्य करना है - ऐसा उपदेश है। तो मुमुक्षुकी भूमिकामें प्रमादका लक्षण व धीरजका स्वरूप क्या ?

समाधान :- स्वकार्यकी रुचिकी मंदताके कारण शिथिलता आती है। अतः मंदकषायकी प्रवृत्ति - शास्त्रोंका वांचन, पूजा-भक्तिमें समय व्यतीत होता है, वर्तमान स्थितिका सूक्ष्मरूपसे संतोष भी लेनेमें आता है, जिसके कारण विकल्पमें दुःख नहीं लगता। - यह जीवका प्रमाद है। कोई जीव भावुकतामें आकर बाहरसे त्यागादि करता है, जब कि कोई हठसे करता है। खुदकी दशा - शक्तिका नाप समझे बिना उतावलीसे (हड़बड़ीमें) प्राप्त करनेकी रीतको

अधीरज कहते हैं। जिसमें परिपक्वताका अभाव होता है। जो जीव अपनी शक्ति अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका विवेक करके, पूरी दरकारसे विधि / क्रमसे पुरुषार्थमें लगता है, वह परिपक्वतापूर्वक यथार्थ एवं दृढ़ निर्णयपूर्वक आगे बढ़कर निश्चितरूपसे सफलताको प्राप्त करता है। धीरजके पर्यायमें तंदेही होती है, फिर भी धैर्य विवेकके कारण होता है।

(१८६७)



मनोजय यथार्थरूपसे भेदज्ञान द्वारा होता है। भेदज्ञानके अभ्यास बिना इच्छाएं - भावेन्द्रियका जीतना नहीं हो सकता। भेदज्ञानसे निरीक्षिक ऐसी चैतन्य शक्तिकी प्रतीति आती है। जिसके अवलंबनसे सम्यक् प्रकारसे इच्छाओंका सहज अभाव होता है। इसके सिवा इच्छाओंकी अग्निको शांत करनेका विश्वमें कोई (दूसरा) उपाय ही नहीं है।

(१८६८)



जीव यदि पात्र होकर, 'स्वयमेव अनुभवमें आनेवाले' अपने चैतन्य स्व-रूपकी असंगताको देखे तो इन्द्रियके विषयभूत पदार्थसे भिन्न निज सत्ताका अवलंबन आता है। - इस प्रकार भेदज्ञानपूर्वक आसक्ति सम्यक् प्रकारसे मिटती है और जितेन्द्रियता प्राप्त होती है। (१८६९)



जिज्ञासा :- आत्मस्वभाव शक्तिरूप है, उसकी भावना अथवा स्मरण कैसे करें ? कि जिससे स्वभाव आविर्भूत हो ?

समाधान :- शक्तिको - शक्तिवानको व्यक्तरूपसे भानेसे पर्यायमें वह व्यक्त - प्रगट होता है। अंतरंगमें नित्य उद्योतरूप होनेसे आत्मा प्रत्यक्ष प्रकाशमान है। आवरण तो पर्यायमें पर्यायको होता है। स्वरूपको आवरण-निरावरणकी अपेक्षा लागू नहीं होती, स्वरूप तो जैसा है, वैसा सदा ही है। स्वरूप प्रत्यक्षता ज्ञानमें प्रतिभासित होनेसे पुरुषार्थमें उग्रता आकर स्वभाव भावका आविर्भाव होता है।

(१८७०)



देहादि परद्रव्य और रागादि परभावोंकी भिन्नता तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जीवको जानने मिलती है। यथार्थ पारमार्थिक दृष्टिकोणके अभावमें जीवको यदि परके प्रति रस चालू रहे, तो परमें उदासीनता नहीं आती और परका एकत्व नहीं मिटता। यदि 'निजरस' से भिन्नताको जाने तो, सहज उदासीनताको प्राप्त होकर, आत्मरस वृद्धिगत होकर स्वरूपमें एकत्व हो सकता है। अतः हित सधना या नहीं सधना इसका आधार ज्ञानके अलावा रस पर भी आधारित है। तत्त्वके अभ्यासी जीवको यह समझना प्रयोजनभूत है।

(१८७१)

ज्ञानीको रागरस रहित, उदासीनतापूर्वक संसार प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर सर्वसंग परित्यागकी भावना होनेसे, संसारी जीवोंके संगमें व्यवहार निभाते वक्त संगवासीओंको ज्ञानीका नीरस वर्तन नहीं सुहाता। प्रारब्धयोग व संपूर्ण वीतरागताका अभाव, अन्य जीवोंके प्रति अनुकम्पा, फिर भी अंतर्मुखताका पुरुषार्थ - सब साथमें होता है। प्रारब्धयोगसे साथमें रहनेवाले, ज्ञानीको खुदके समान जानकर इनसे अनेक अपेक्षाएं रखते हैं। जिसकी पूर्ति नहीं होनेसे क्लेश उत्पन्न होनेके अनेक प्रसंग बनते हैं, वैसे प्रसंगमें उदयसे भिन्न रहकर आत्मिक पुरुषार्थमें वृद्धि करना, यह ज्ञानीकी गुप्त आचरणा है। वह (ज्ञानीका) अंतर चारित्र्य वंदनीय है। अहो ! ज्ञानीका पारमार्थिक गांभीर्य !! अहो ! अहो ! (१८७२)



ज्ञान सर्व अन्य द्रव्य - भावसे सर्वथा भिन्न है, ऐसी जो भिन्नता है, वह स्वयंकी पूर्ण व बेहद शुद्धताको प्रसिद्ध करती है। - इस प्रकार प्रथम न्याय, आगम और युक्तिसे समझमें आता है, परन्तु वह समझ अनुभवको स्पर्श करती हुई परिपक्व होनी चाहिए। इसकी विधि पारमार्थिक है। वह इस प्रकार कि - ज्ञानकी उत्पत्ति, ज्ञेय निरपेक्ष, स्वयमेव हो रही है, उसे अंतरंगमें देखने पर अपनेमें देखे तो स्पष्ट अनुभवमें आयेगा कि किसीकी भी सहाय बिना ज्ञान (स्वतः) हो रहा है। ऐसा ज्ञानका स्वतंत्ररूपसे हमेशा होना - ऐसा जो अनुभव, वह स्वयंकी संपूर्ण भिन्नता व शुद्धताके अनंत सामर्थ्यकी प्रतीति उत्पन्न करता है। - इस प्रकार प्रतीति सहितका ज्ञान वही यथार्थ ज्ञान है, जो कि सुखका कारण है अथवा प्रयोजनका साधक है। (१८७३)



परिणामकी भूमिका जितनी कमजोर होती है, उतना कार्यका सधना असुगम - मुश्किलभरा होता है। उस दृष्टिकोणसे परिणामोंकी उत्तरोत्तर श्रेणीका विचार कर्त्तव्य है। जैसे कि जिस जीवको अधिक संसाररस हो अथवा विपरीत बलवान अभिनिवेश (अभिप्राय) हो, उसे ज्यादा क्षयोपशम होने पर भी तत्त्वज्ञान समझनेमें बहुत परिश्रम व समय लगता है। परन्तु किसी जीवको भले ही क्षयोपशम कम हो, परन्तु सरल मति हो तो तत्त्वको समझना सुगम पड़ता है। उसमें भी उल्लासित वीर्यवानको तत्त्व पाना सुगम है, जो हीनवीर्य जीव है उसे कार्य कठिन लगता है, अथवा आत्मरुचिसे सरल और अरुचिवालेको कठिन लगता है। उसी प्रकार जिसका पुरुषार्थधर्म उग्र होता है, वह मार्गको सुगमतासे सहज साधता है, (जब कि) मंद पुरुषार्थ हो तो आगे बढ़नेमें प्रस्वेद उत्पन्न होता है। - यह नियम प्रत्येक भूमिका (गुणस्थान) के साधकको लागू पड़ता है। (१८७४)

आत्मा ज्ञानज्योत है। ज्ञान वेदनके रूपमें सदा ही प्रगट है परन्तु विभावरससे आच्छादित हो चुका है। जैसे धुँएँमें अग्नि आच्छादित हो जाती है वैसे। तथापि बिना अग्नि धुँआँ नहीं है। वैसे विचारवान आत्माकी हयातीको समझता है। ज्ञानीपुरुष सर्व प्रथम विभावरस यथार्थ प्रकारसे गले, इसका उपाय बतलाते हैं। ऐसी पारमार्थिक योजनामें जो योजनेवाले होते हैं, वे परमार्थ ज्ञानी हैं। विभावरस / रागरस यथार्थ प्रकारसे मंद होने पर मोह मंद पड़ता है; जिससे मोहका अभाव होनेका अवकाश होता है। मोह मंद होनेसे ज्ञानज्योति अवभासित होती है और अभाव होनेसे प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है, क्योंकि खुद अनुभूति स्वरूप है।

(१८७५)



परमार्थ प्रयोजन विरुद्ध ज्ञानकी प्रवृत्ति अथवा समझ वह एकांत है। वैसा (एकांत) होनेसे विपर्यास होता है, वज्रन व मुख्यता इस प्रकारसे रहते हैं कि जिससे साधना - स्वानुभवके लिए जीव असमर्थ होता है। जैसे कि 'ज्ञान परको नहीं जानता' ऐसा एकांत ग्रहण करनेसे ज्ञानके जाननेके सामर्थ्यका अभाव माननेका प्रसंग है, श्रद्धामें ज्ञानकी निर्मलताका अस्वीकार होता है, कि जो निर्मलता-स्वच्छता पूर्ण होती है तब लोकालोक प्रतिबिंबित होता है। तथापि परज्ञेयको गौण करके, ज्ञानवेदनके आविर्भूत होनेके लिए उसी वचनकी सार्थकता भी है, सम्यक्ता भी है। इस प्रकार एक ही कथनके अनेक (सम्यक् व मिथ्या) अर्थ-भाव होते हैं। यदि जीवका लक्ष एकमात्र आत्मकल्याणका होता है तो 'अनर्थ' नहीं होता, वरना अनर्थ होता है।

(१८७६)



ज्ञानदशामें उदयकी गौणता वर्तती है। क्योंकि उदय स्वप्नवत् लगता है, इसके उपरांत जब जो भी उदय हो उसका स्वरूपमें अभाव लगता है, उस कारणसे भी उसकी गौणता होना स्वाभाविक है। और जब उदय गौण हुआ तो फिर प्रतिबद्धता किसके साथ ? जीव उदयमें अज्ञानभावसे सर्वस्व मानता है, इसलिए बँधता है। ज्ञानी-अज्ञानीको ऐसा सहज है वैसा जानकर मुमुक्षुजीवको यथार्थ प्रकारसे उदयको गौण करनेका प्रयास कर्तव्य है, जिससे कि अनेक प्रकारके दोषोंसे सहज बच सकें।

(१८७७)



आत्मकल्याणका उपाय किसे कठिन लगता है, कि जिसे संसारमें मोह ज्यादा होता है उसे। परन्तु जिसे आत्मकल्याण व उससे पूर्ण सर्व अनन्त काल पर्यंतका सुख प्राप्त होनेका मूल्यांकन होता है, उसे अंतरमेंसे स्वकार्यका उत्साह आता है, जिसके कारण कठिन नहीं

लगता।

(१८७८)



टिप्पणी :

(निम्न वचनामृत, पीछेसे मिली पूज्य भाईश्रीकी पुरानी डायरीमेंसे प्रकाशित किये गये हैं। जिनमेंसे कुछएक वचनामृत शुरुआतमें आ चुके हैं।)

संवत् - २०१२

'दूसरे जीवोंको दुःखी करनेका कारण आत्मा बने तो सहज इसकी चिंता करे।' - श्रीमद्जी

(१८७९)



शास्त्र श्रवण और वीतराग वचनामृतका परिणमन आये तो भावश्रुत वरना द्रव्यश्रुत - जिसका कोई अर्थ नहीं (निरर्थक) है। मुमुक्षुजीवको खुदको योग्यता प्राप्त हो, वैसी विचारणा करनी चाहिए। जिसका मुख्य साधन आत्मलक्ष (स्वलक्ष) पूर्वक सत्संग (है)।

(१८८०)



जीवने महापुरुषकी वाणी - सत्शास्त्रोंका पठन कईबार किया है। उन शास्त्रोंमें बतलाया हुआ मार्ग सत्य है, परन्तु उसकी समझ अभी तक असत् (मिथ्या) है और इसीलिए अभी तक परिभ्रमण अटका नहीं। गुरुगमसे अगर इसकी समझ आये तो निश्चितरूपसे भवभ्रमण अटक जाये, यह निःसंशय है। पहलेकी मिथ्या समझ (कल्पना) भूलकर, 'सत्' ऐसे गुरुसे यदि 'सत्'का श्रवण हुआ, तो ही भव-अंत है, वरना नहीं।

(१८८१)



समाधिमरण समाधि जीवनके कारण ही होता है। जो समाधि जीवन जीता है वही समाधि मरण प्राप्त करता है, दूसरा नहीं। और जिसका समाधिमरण हुआ, उन्हें वापिस समाधि जीवन प्राप्त होता है, यह निःशंक है। वरना तो क्षण-क्षण (प्रतिक्षण) अत्यंत भयंकर भावमरण ही है।

(१८८२)



पुण्य और पाप सम्बन्धित विचार : आत्मज्ञानके बिना पुण्य भी पापका हेतु बनता है। जैसे कि पुण्यभावके फलमें लौकिक सुख-साधनका योग होने पर, उसकी प्रीति होने पर पाप ही बँधता है। ज्ञानी कभी लौकिक सुखकी आशा नहीं करते। पूर्व पुण्यके योगमें उदयके प्रति उदासीन हैं, पूर्व पापके उदयमें खेद नहीं करते हुए, पुरुषार्थ बढ़ाते हैं।

(१८८३)



मायाभावकी प्रबलताका विचार प्रसंग-प्रसंग पर कर्तव्य है। आत्माको प्रतिबंधक होनेमें यह प्रबल कारण है, ऐसा जानकर सरलता - मन, वचन, कायासे सर्व व्यवहारमें कर्तव्य है। मिथ्यात्व मायाका स्वरूप (प्रकृति) है। उसके विलयमें सरलता प्रधान साधन है। (१८८४)



ज्योतिषादि कल्पित विषयका त्याग करने योग्य है। उसमें रस लेनेसे देहात्मबुद्धि बढ़ती है। आत्मार्थीको देहकी चिंता नहीं होती। (१८८५)



शास्त्रादिके ज्ञानसे छुटकारा नहीं है, परन्तु अनुभवज्ञानसे छुटकारा है। शक्य हो वहाँ तक मतमतांतरका लक्ष छोड़ना चाहिए। (श्रीमद्जी) (१८८६)



‘उदयका अबंध परिणामसे वेदन किया जाये तो ही उत्तम है।’ (श्रीमद्जी) (१८८७)



‘‘अनन्तकालसे स्वरूपका विस्मरण होनेसे अन्यभाव साधारण हो गया है। दीर्घकाल तक सत्संगमें रहकर बोधभूमिकाका सेवन होनेसे, ‘अन्यभावकी साधारणता’ और स्वरूपका विस्मरण टलता है, इसमें संदेह नहीं होता।’ (श्रीमद्जी) (१८८८)



‘किसी भी कामके प्रसंगमें अधिक शोकमें पड़नेका अभ्यास कम कीजिये; ऐसा करना या होना यह ज्ञानीके मार्गमें प्रवेश करनेका द्वार है।’ (श्रीमद्जी) (१८८९)



पात्र जीवको (स्व-स्वरूप नहीं होने पर भी) स्वपना जिसमें (जिन संयोगोंमें) रहता है, उसमें घभराहट होती है। (१८९०)



जीव कभी जड़का कार्य नहीं कर सकता, वैसे ही जड़ जीवका कार्य नहीं कर सकता, वैसे ही दोनों मिलकर कोई एक कार्य नहीं कर सकते, और दोनों प्रकारके परिणाम उन दोमें से एक द्रव्यसे नहीं हो सकता। जड़ जड़में और चेतन चेतनमें ही परिणमन करता है। यह बात ‘यथार्थरूपसे’ समझने योग्य है और अनुभवगोचर करने योग्य है। जिससे कि भेदज्ञानकी सिद्धि हो, जिसका फल सिद्धदशा है। (१८९१)



इस लोककी रचना ऐसी है कि, इसमें सत्यका भासन होना परम विकट है, सारी रचना

असत्यका आग्रह करार्ये, वैसी है। (श्रीमद्जी) (१८९२)



ॐ

भेदज्ञानका प्रयोग : जीवको पूर्वकर्मके उदय अनुसार प्रतिक्षण शुभ या अशुभ प्रसंग होता है, उन शुभाशुभ कर्मोदयसे मैं - आत्मा भिन्न हूँ। जड़ उदयकी क्रिया चैतन्यको स्पर्श नहीं करती, इस प्रकार समभावसे 'स्व-का वेदन करना' - प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक प्रसंगमें यह अभ्यास (इस अभ्यासमें अंतर्मुखताका प्रयत्न है) कर्तव्य है। जिससे 'ज्ञान'की घड़ाई होवे। यही एक सन्मार्ग है। जो 'सत्संग' से सुगम होता है। (१८९३)



(स्वमें) अनअवकाशरूपसे आत्मत्व जाने बिना, ऐसी स्थिति बिना, अन्य सर्व क्लेशरूप हैं। (श्रीमद्जी) (१८९४)



आत्मारूप आत्मा रहे वही लक्ष है। (श्रीमद्जी) (१८९५)



जागृति : ज्ञानी स्वरूपमें सतत जागृत हैं। आत्मार्थी जीवको भी प्रथम जागृति आती है, बादमें ज्ञानदशा आती है। 'में ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी भावरूप सावधानी - वह जागृति है, जिससे अन्यभाव सहज बंद होते हैं और गुण प्रगट होनेका अवकाश होता है। जीवको यदि उपरोक्त जागृति न रही तो, सन्मार्गके अनुकूल जो भी योग बना हो, वह वृथा है। सब प्रमादमय है। काल गवाँना हो जाता है। (१८९६)



जिस कुलमें जन्म हुआ है और जिसके सहवासमें जीव रहा है, वहाँ अज्ञानी ऐसा यह जीव ममत्व करता है और उसमें निमग्न (ओतप्रोत) रहा करता है। (जो कि परिभ्रमणका कारण है।) (श्रीमद्जी) (१८९७)



ज्ञानीकी प्रवृत्ति पूर्व उपार्जित कर्मके कारणसे है, जब कि दूसरोंकी प्रवृत्तिमें भावि संसारका हेतु है। इसलिए (दूसरोंसे) ज्ञानीका प्रारब्ध अलग पड़ता है। (वर्तमानमें) ज्ञानीको प्रवृत्तिरूप प्रारब्ध (उदय होने पर) भी ज्ञानदशा होती है। जो कि प्रायः जीवोंको अंदेशाका हेतु बनता है। तथापि योग्यतावश वह दशा किसीको स्पष्ट जाननेमें आये तो, वह प्रवृत्तिरूप उदय उसको अंदेशाका हेतु नहीं बनता (बल्कि उपकारमें निमित्त पड़ता है)। (श्रीमद्जी) (१८९८)

इस कालमें मुमुक्षुजीवको संसारकी प्रतिकूल दशाएं प्राप्त होना, यह उसे संसारसे तिरनेके समान है। अनन्तकालसे अभ्यस्त इस संसारका स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल प्रसंगमें विशेष होता है। (श्रीमद्जी) (१८९९)



जो मुमुक्षुजीव व्यवहारमें वर्तता हो, उसे तो सर्व व्यवहारमें अखण्ड नीतिका मूल प्रथम आत्मामें स्थापित करना चाहिए, वरना उपदेशादि निष्फल जाते हैं। (श्रीमद्जी) (१९००)



आरम्भ और परिग्रह - ये वैराग्य और उपशमके कालरूप हैं। आरम्भ-परिग्रहका कारण वैराग्य-उपशम नहीं हो सकते - नहीं होते और यदि हो तो भी क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। वैराग्य और उपशम ज्ञानके बीजभूत होनेसे, उसमें स्थित हुआ जीव आगे बढ़ सकता है। सिद्धांतज्ञान उस जीवमें परिणमन करता है। इसलिए वैराग्य और उपशमका ज्ञानीपुरुषोंने जगह - जगह उपदेश दिया है, वह यथार्थ है (सारे संसारको निर्मूल्य जानकर इसके प्रतिका रस कम हो जाना, वह वैराग्य-उपशम है।) (१९०१)



ज्ञानीपुरुषकी उदयमें आयी हुई भोग प्रवृत्ति भी पूर्व-पश्चात् पश्चाताप सहित और अतिशय मंद परिणाम (रस) संयुक्त होती है। (श्रीमद्जी) (१९०२)



ज्यों-ज्यों चित्तकी शुद्धता होती जाये, स्थिरत्व आता जाये, त्यों-त्यों ज्ञानीके वचनका यथायोग्य विचार हो सकता है। (श्रीमद्जी) (१९०३)



संयमकी वृद्धिका कारण सम्यक्दर्शनका निर्मलत्व है। (श्रीमद्जी) (१९०४)



शुद्ध आत्मस्थितिके दो मुख्य अवलंबन हैं :- पारमार्थिक श्रुत और इन्द्रिय जय (वृत्ति जय)। सुदृढतासे उपासना करनेसे वे सिद्ध होते हैं। निराशाके वक्त महात्मापुरुषोंके अद्भुत आचरणका स्मरण करने योग्य है। उल्लासित वीर्यवान, परमतत्त्वकी उपासनाके लिए मुख्य अधिकारी है। (श्रीमद्जी) (१९०५)



प्रमत्तभावने इस जीवका बुरा करनेमें कोई कसर नहीं छोड़ी। तथापि इस जीवको निजहितका उपयोग (सावधानी) नहीं है, यही अतिशय खेदकारक है। उस प्रमत्तभावको उल्लासित वीर्यसे

कमज़ोर करके, सुशील सहित सुश्रुतका अध्ययन करके निवृत्तिमें आत्मभावका पोषण किजीयेगा।
(श्रीमद्जी) (१९०६)



आत्माके सहज सुखका अनुभव - स्वसंवेदन - आस्वाद ही जीवकी विषयसुखकी तृष्णाके रोगको शांत करता है। (१९०७)



चल पदार्थोंकी प्रतीति उपयोगको निरंतर चलरूप करती है परन्तु एकरूप रहने नहीं देती। अचल पदार्थकी सम्यक्प्रतीति उपयोगको अचल करके वास्तविक शांतताका अनुभव प्राप्त कराती है। प्रतीति अन्यथा होनेसे ज्ञान (दशा) भी निरंतर चित्र-विचित्र प्रकारसे भटकता रहता है, अर्थात् स्व-उपयोगको अशांति और दुःखका ही अनुभव कराती है। (जैसी) प्रतीति वैसा ज्ञान और जैसा ज्ञान वैसा चरण (प्रवृत्ति); इस प्रतीतिको सम्यक् होनेका उपाय भी ज्ञानकी सम्यक् आराधना है। अविनाशी परम निःश्रेयस पदके अभिलाषी जीवोंके लिए योग्य है कि :- वे सतत ज्ञान आराधनाका प्रीतिपूर्वक आराधन करें, क्योंकि ज्ञान ही जीवका वास्तविक मूल स्वभाव है। - 'आत्मानुशासन' (१९०८)



आत्माका वास्तव्य विश्वास और अनुभव, आत्माके परिचयी होने पर ही होता है। - 'आत्मानुशासन' (१९०९)



संवत् - २०१३

सत्संग अफलवान होनेके कारणोंमें; मिथ्याआग्रह, स्वच्छंदता, प्रमाद और इन्द्रिय विषयकी उपेक्षा नहीं की हो तो सत्संग फलवान नहीं होता, अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा और अपूर्वभक्तिका जितने अंशमें अभाव उतना सत्संगका अफलवानपना होता है। [भावार्थ आगे बोल नं - २०१५में]
- श्रीमद्जी (१९१०)



मन शंकाशील हो, तब द्रव्यानुयोगका विचार करना।

मन प्रमादी हो, तब चरणानुयोगका विचार करना।

मन कषायी हो, तब धर्मकथानुयोगका विचार करना।

मन जड़ (जैसा) हो, तब करणानुयोगका विचार करना। (१९११)



जिन्हें वस्तुका स्वभावज्ञान है, उन्हें महा सौंदर्यसे सभर देवांगनाके क्रिडा विलासका निरीक्षण करते वक्त, अंतःकरणमें कामसे विशेष-विशेष वैराग्य छूटता है; धन्य है उन्हें - नमस्कार है उन्हें !! (१९१२)



परमात्माका (आत्माके परम स्वरूपका) ध्यावन करनेसे परमात्मा हुआ जाता है। परन्तु वह ध्यावन सत्पुरुषके चरण कमलकी विनयोपासना बिना नहीं हो सकता - यह निर्ग्रथ भगवानका सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है। (श्रीमद्जी)

भावार्थ : परमात्मपदरूपी ध्येयकी सफलताका उपाय, उस पदका अपूर्व महिमापूर्वक ध्यावन होना वह है, और इसके लिए सत्पुरुषके वचनों (चरणकमल) को यथार्थरूपसे ग्रहण करना, यानी कि हृदयमें अवधारण करना, यह विनय और उपासना है। (तत्सम्बन्धित) क्रमबद्ध (पद्धतिसर / सुव्यवस्थित) मार्गदर्शन निर्ग्रथ प्रवचनमें रहा है। (१९१३)



'आत्मा' जिस पदार्थको श्री तीर्थकरने कहा है, उसी पदार्थकी, उसी स्वरूपमें प्रतीति हो, उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो, तब जीवको परमार्थ (निश्चय) सम्यक्त्व है, ऐसा श्री तीर्थकरका अभिप्राय है। ऐसा स्वरूप जिसे भासित हुआ है (तथापि) उस पुरुषमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उसे बीजरुचि सम्यक्त्व है। ऐसे पुरुषकी निष्काम भक्ति अबाधरूपसे प्राप्त हो, ऐसे गुण जिस जीवमें हो, वह जीव मार्गानुसारी होता है, ऐसा श्री जिन कहते हैं। (श्रीमद्जी) (१९१४)



संसारकी ज्वालाको देखते हुए चिंता मत किजीयेगा, चिंतामें यदि समता रही तो वह आत्मचिंतन जैसी है। (श्रीमद्जी)

भावार्थ : 'चिंतामें समता' लौकिक प्रकारसे नहीं, परन्तु स्वरूप लक्ष्यपूर्वक, चिंताका विषय जो है, उसमें स्वरूपका अत्यंत अभाव जानकर, उससे विरक्तताका अनुभव करना - इस प्रकारकी समता आत्मचिंतन जैसी है। (१९१५)



अनेकान्त, वस्तुको परसे असंग बताता है। स्वरूपकी असंगताकी स्वतंत्र श्रद्धा, वह असंगताकी खिलवटका उपाय है। अनेकान्त वस्तुको स्व-पने 'सत्' बताता है। सत्को अन्य सामग्रीकी जरूरत नहीं है। खुदका निर्णय सत्के प्रकाशनके लिए पर्याप्त है। (१९१६)



जीवका सहज स्वरूप माने कर्म रहितपने मात्र एक आत्मस्वरूप जो स्वरूप है, वह ऐश्वर्यता है; जिसमें ज्ञानादि ऐश्वर्य है, यह ऐश्वर्यता आत्माका सहज स्वरूप है, जो स्वरूप 'कर्म प्रसंगमें' मालूम नहीं पड़ता, परन्तु उसे अन्य स्वरूप जानकर जब दृष्टि आत्माकी ओर होती है, तभी सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य आत्मामें मालूम पड़ते हैं। - तब आत्माकी वास्तविक महिमा - ध्येयरूप परमात्मस्वरूपकी दृष्टि - ज्ञान होता है और सहज स्वरूप ज्ञानानंद चैतन्यमूर्तिका बार-बार अवलंबन लेकर - स्थिर होकर शुद्धताको प्राप्त होता है। (१९१७)



अहो ! महान् संत मुनिश्वरोंने जंगलमें रहकर आत्मस्वभावके अमृत बहाये हैं। आचार्यदेव धर्मके स्तंभ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्मको टिकाये रखा है। गजबका कार्य किया है। साधकदशामें स्वरूपकी शांतिको वेदते-वेदते परिषहको जीतते हुए परम सत्यको जीवंत रखा है। आचार्यदेवके कथनमें केवलज्ञानकी भनक सुनाई पड़ती है। ऐसे महान शास्त्रोंकी रचना करके आचार्योंने अनेक जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो ! पद-पदमें कितना गंभीर रहस्य है ! यह तो सत्यकी प्रसिद्धि है, और इसके संस्कार कोई अपूर्व चीज है। और यह समझ तो मुक्तिसे विवाह होनेके शकुन है। जो समझेगा उसका मोक्ष (निश्चित) ही है। (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी) (१९१८)



आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिन 'त्याग' कहते हैं। (श्रीमद्जी) (१९१९)



स्वभाव सन्मुखता, और उसकी दृढ़ इच्छा भी देहके छूटने सम्बन्धित हर्ष-विषाद (शोक) को मिटाती है। (श्रीमद्जी) (१९२०)



संवत् - २०१५

प्रथम श्रद्धा करे कि नयपक्षके विकल्प रहित मेरा सहज स्वरूप एकाकार है, इतना निःशंक होने पर - बादमें विकल्प हो तो भी, वह आगे जायेगा, विकल्पको तोड़ेगा और स्वभावमें जायेगा। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९२१)



उक्त (सर्व) ज्ञानमें साक्षात् मोक्षका मूल, निज परमात्म तत्त्वमें स्थित ऐसा एक सहज ज्ञान ही है। इसके उपरांत सहजज्ञान पारिणामिकभावरूप स्वभावके कारण, भव्यका परम स्वभाव

होनेसे, सहज ज्ञानके अलावा दूसरा कुछ उपादेय नहीं है। (नियमसार गाथा : १२) (१९२२)



संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन करना, वह गुप्ति है। (१९२३)



गुप्तपापसे माया होती है। योग्य स्थानमें धनके व्ययका अभाव, वह लोभ है। (नियमसार)
(१९२४)



एक समयमें मैं चिदानन्द परिपूर्ण हूँ, ऐसी प्रतीति भवके नाशका कारण है। ऐसी प्रतीति होनेके पश्चात् अल्प राग रहे, वह परके खातेमें जाता है। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९२५)



हे जीव ! लौकिक संग्रामकी रुचि छोड़कर भाव संग्रामको सँभाल !! (१९२६)



ज्ञानके सिवा अन्यभावमें 'मैं पने' का स्वीकार करना वह अज्ञान चेतना है, कि जो अनन्त संसारका बीज है। इसलिए साराका सारा असद्भुत व्यवहार मोक्षमार्गसे बाह्य (विमुख) गिननेमें आया है। अतः मोक्षार्थी पुरुषको उस अज्ञानभावके त्यागकी भावनाकी दृढता हेतु स्वभावभूत ऐसी ज्ञान चेतनाको ही हमेशा भाना चाहिए। (ज्ञानमात्रका अनुभव करना - चेतना, वह ज्ञान चेतना है) (समयसार गाथा - ३८८, ३८९ परसे) (१९२७)



शुभ परिणामका ममत्व, श्रद्धानकी विपरीतताका सूचक है, क्योंकि शुभ परिणाम पराश्रित परिणाम हैं। जिसने आत्मा जाना है, उसे आत्मस्वरूपकी ही महिमा होती है, पराश्रित ऐसे शुभ परिणामोंकी नहीं। इसलिए शुभ परिणामकी महिमावालेने आत्माको नहीं जाना है, यह स्वतः सिद्ध होता है। (१९२८)



स्वभावके प्रति 'सर्व उद्यम' हुए बिना स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। चलती हुई परिणतिमें ऐसा पुरुषार्थ होते ही अनुभव होता है, अन्यथा नहीं। (१९२९)



पर्यायमें विकार होने पर भी, उसका अभाव कहना - यह अपूर्व अंतरदृष्टिकी बात है। शुद्ध द्रव्य पर जिसकी दृष्टि होती है उसीको वह समझमें आती है। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९३०)



ज्ञानमें परद्रव्यका प्रतिभासन होने पर भी, आत्माको स्वद्रव्यरूप अवलोकन करनेमें ज्ञानी निपुण (प्रविण) होते हैं, इसलिए ज्ञानी विशुद्ध ज्ञानपूर्वक पूर्ण होकर (जीवन) जीते हैं, अर्थात् ज्ञान (स्वयं) नाशका अनुभव नहीं करके पूर्णता होनेके लिए बढ़ता जाता है। (समयसार-कलश -२५२ परसे) (१९३१)



ज्ञानस्वभावके बारंबार अभ्यास द्वारा विकारीभावका एकत्व छूट सकता है। ज्ञानीको तो विकार - परस्वरूप - ज्ञानमें भासित होता है, यानी कि विकारका ज्ञान भूतार्थ स्वभाव आश्रित होनेसे, ज्ञान स्वयं विकाररूप नहीं होता। ज्ञानका स्वभाव सहजरूपसे परसे उदासीन रहनेका है। (१९३२)



स्वरूपकी तीव्र सावधानी आये बिना परसे भिन्न पड़ना संभवित नहीं है। - अतः आत्मार्थीको इस प्रकारका सर्व उद्यम 'खास' कर्तव्य है। (१९३३)



जिज्ञासु जीवको सत्यके स्वीकार हेतु, अंतर विचारके स्थानमें सत्यको समझनेका अवकाश अवश्य रखना चाहिए। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९३४)



संवत् -२०१६

जैसा स्वरूप ज्ञानमें भासित हुआ 'वैसा ही मैं हूँ' - ऐसा स्वरूपका अंतरंग - अंतर्मुखी - निर्णय होनेके पश्चात्, महिमाकी वज़हसे उस तरफ़ी झुकाव परिणतिमें चालू रहे - घुटता रहे - ऐसी जो स्वरूपकी लय लगी है उसमें सम्यक् सन्मुखता है। तथाप्रकारका अंतर अभ्यास चालू रहनेसे, उसमें लयलीन रहनेसे, वह निर्विकल्प होनेका कारण बनता है। इस निर्णयमें स्वरूपका मूल्यांकन अर्थात् महिमा ऐसी है कि 'जगत इष्ट नहीं आत्मसे' - ऐसा आत्माका इष्टपना भासित हुआ है कि जिसके आगे सर्व जगत (जगतके किसी भी विषयके प्रतिका झुकाव) अनिष्ट है, (और) दुःखमय लगता है। सर्व उद्यमसे खुदके लिए इष्ट हो, इसकी सहज सावधानी - वह सत्य पुरुषार्थ है। (१९३५)



साधकको परद्रव्य सम्बन्धित प्रवृत्ति और विकल्प होने पर भी उसमें अत्यंत नीरसता होती है, उसका कारण बाह्य संयोगोंसे भिन्नता वेदनमें है, और स्वरूपके ध्येयमें परिणति स्वरूपपरसपूर्वक - अभेदभावपूर्वक लगी हुई है। (१९३६)

स्वरूपकी तीव्र रुचि जगे तभी स्वरूपका सहज पुरुषार्थ सफल होता है। स्वरूपके अलावा दूसरे विषयमें जिन्हें चैन नहीं पड़ता है, उन्हींको तब सहज स्थितिमें पुरुषार्थकी वृद्धि होकर अपूर्व दशा प्रगट होती है। जिसे अभी कृत्रिम विकल्प द्वारा स्वरूपकी भावना करनी पड़ती है, उसके परिणामनमें परसन्मुखताका वेग बहुत है, रुचिकी 'बहुत कमी' है। अहो ! सहज स्वरूपमें कृत्रिमता कैसी ? सहजके आगे कृत्रिमता विरुद्धभाव है। सहज स्वभावमें तो प्रवृत्ति सहज भावसे होनी चाहिए। धन्य है ऐसे वीरल जीवोंको !! (१९३७)



'विचारदशाके विना ज्ञानदशा नहीं हो सकती' - (श्रीमद्जी)

जो जीव खुदके स्वरूप - रसके प्रति, विचारदशामें भी बेखयाल है, यानी कि विचार की भूमिकामें भी जिसका वीर्य पर प्रतिके उत्साहमें - रसकी तीव्रतामें - क्षोभको प्राप्त नहीं होता है - वह वीर्य दिशा बदलकर स्वरूपमें अभेद कैसे हो सकेगा ? यानी कि ज्ञानदशा कहाँसे होगी !! (१९३८)



भेदज्ञान होनेमें, प्रथम स्वरूपकी सावधानीरूप वृत्तिका होना - यह इसका लक्षण है, उसके द्वारा ही भेदज्ञान होता है। स्वरूप अवलोकनकी अंतर्मुखी विचारणा वह परके प्रति चल रहे रसको तोड़नेमें मुख्य साधन है। स्वरूपलक्षपूर्वक अस्तिस्वभावको सम्यक् प्रकारसे श्रद्धा - ज्ञानमें लेना चाहिए। (१९३९)



परिपूर्ण सामर्थ्यवान वस्तु - आत्मा वर्तमान पर्यायमें अप्रगट होने पर भी, स्वरूपकी अपेक्षासे (वर्तमानमें ही) प्रगट है; ऐसा श्रद्धा - ज्ञानका बल वृद्धिगत होने पर निर्मलता आती है। (१९४०)



टंकोत्किर्ण ज्ञायक स्वभाव न मिटे वैसा, उससे अलग नहीं हो सकते, स्वभावसे वैसा होने पर भी, अज्ञानमें - परकी एकत्वबुद्धिमें, उसको सर्वथा चुक जाता है। यही मूल मिथ्यात्व है। - वास्तवमें यह चैतन्य द्रव्य (स्वयं) जगतका एक स्वतंत्र महान् सत् है, सिवा कुछ नहीं। उसमें अत्यंत तीव्रतासे थम जाना, सर्व उद्यमसे सर्वदा सर्वथा यही कर्तव्य है। (१९४१)



ज्ञानी स्वभावमय होनेसे आदरणीय है।

(१९४२)



अंतर स्वरूप अनादिसे गुप्त है। अंतरशोधन द्वारा उसे श्रद्धान - ज्ञानमें लिया जाता है। स्वरूपकी ही जिसे तीव्र जिज्ञासा है, जो सर्व प्रयत्नसे उसे ही खोजता है, उसे वह ज़रूर मिलता है। सत्पुरुषोंके वचनोंका अंतर-मिलान करके सत्यका - स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वह भी अपूर्व है। (१९४३)



स्वभावके प्रति ज़ोर रहित जानकारी - यथार्थ जानकारी नहीं होनेसे - उसके फलमें सम्यक् प्रतीति उत्पन्न नहीं होती। (१९४४)



स्व-तत्त्वका निर्णय, ज्ञान स्वसन्मुख हुए बिना वास्तविकरूपसे नहीं हो सकता। (१९४५)



स्वानुभवके प्रयत्नवानको, विकल्पके अस्तित्वका लक्ष्य छोड़कर, स्वभावकी ओर लक्ष्यमें उग्रतामें आना उचित है। (१९४६)



अंतर अभ्यास : आत्मा स्वयं खुदको पहचानकर अंतर्मुख (झुकावमें आये), एकाग्र होनेका प्रयत्न हो, वह अंतरका अभ्यास है। (१९४७)



अहो ! वीतराग परमदेव ! आप हमारे हृदयमें बिराजमान हैं। (१९४८)



आत्मभावना : यह आत्मा प्रगट परमशुद्ध निरावरण चैतन्य सामान्य ज्ञानका निबिड़ पिंड, सदा विज्ञानघन स्वभावी है। सर्वसे सर्व प्रकारसे, सदा असंग, निरपेक्ष, निरालंब स्वभावी, परमात्मपद, परम उपादेय स्वरूप है। निरंतर परमात्म भावना कर्तव्य है, अर्थात् आत्मत्वका दृढ़ भावसे एकाग्र चित्तसे घोलन होने योग्य है। यह जिनेश्वरका बोध है।

'आत्म भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे।' (१९४९)



अरे ! आत्मा ! अंतरमें नज़र करके देख तो सही ! कि तू कौन है ? तू सर्वसे भिन्न एक आत्मा हो ! सिवा कुछ नहीं। तो फिर विचार कर कि, यह क्या खेल-तमाशा लगा रखा है ? और किस लिये लगा रखा है ? कब तक ऐसा करते रहना है ? क्या अभी भी तुझे इन व्यर्थ मिथ्याभावोंसे थकान नहीं लगी ? इस अग्निज्वाला (विकल्पोंकी परंपरा) में शांतिका अनुभव हो रहा है ? जलनमेंसे शांति या शीतलता प्राप्त हो सकती

है क्या ? तेरे निज कल्याणकी जवाबदारीका विस्मरण क्यों करते हो ? और भान भूलकर प्रवृत्ति करते हो ? और बेजवाबदारकी कीमत कितनी ? बेजवाबदारीसे वर्तनेसे उसका फल भी भोगना ही पड़ेगा। (१९५०)



यह आत्मतत्त्व ऐसा है कि, जिसका लक्ष्य होने पर अन्य कुछ नहीं रुचता। अहो ! स्वभाव प्रतिके (अत्यंत मंदकषाययुक्त उच्च शुभरूप) विकल्पमात्रसे भी हटनेकी जिनकी तैयारी रूप योग्यता है, उन्हें संसारके संयोग - प्रसंग रुचे, यह असंभवित है; ज्ञानीका हृदय (अंतर परिणमन) अगम्य है। आत्मा वेदनमें आये उसे ही ज्ञानीकी पहचान होती है। (१९५१)



उच्च प्रकारके व्यवहारीक प्रवर्तनमें रहे जीवको भी उस व्यवहारकी मीठास लेने योग्य नहीं है। - उदासीनता ही कर्तव्य है ऐसा ज्ञानीका बोध है। आत्मा अनुपम, अनन्त गुणोंका धाम है, उसकी ही महिमा कर्तव्य है। इस प्रकार स्व-रूपकी सावधानीमें क्षणिक अपूर्णभावरूप व्यवहार गौण होनेसे उसकी मीठास नहीं आती। यह व्यवहारकी मीठास तो आत्माके अमृतमय जीवनके आगे ज़हर है। (१९५२)



स्वरूप ध्याताके लक्षण : यथार्थ वस्तुज्ञान, वैराग्य सहितपना, इन्द्रिय मन वश, स्थिर चित्त, मुक्तिका इच्छुक, आलस रहित, उद्यमी, धैर्यवान। (१९५३)



दृष्टि सम्यक् होनेपर, अभिप्राय ऐसा रहता है कि, मैं तो वीतराग स्वरूप होनेसे, पूर्ण वीतरागरूप ही रहता हूँ। ये स्वरूपसे विरुद्ध जातिके प्रगट हो रहे भावोंमें मेरा कुछ भी नहीं है, अर्थात् मैं इन विजातीय, भावोंको करता नहीं, करवाता नहीं और हो रहे हैं उसमें मेरा कोई अनुमोदन भी नहीं है। (१९५४)



संवत् - २०१८

'आत्मा परमानंदमय ही है' ऐसा दृढ़ नहीं रहने पर मुमुक्षुजीवको लौकिक सुख प्रति झुकाव रहता है, वह बाधक कारण है। स्वरूपकी असावधानी और जगतके प्रति सावधानी, यही अज्ञान है और परिभ्रमणका कारण है। (१९५५)



सत्पुरुषसे विमुख प्रवर्तन जिस जीवका बने, वह अनंतानुबंधीका प्रगट प्रकार है। (१९५६)

स्त्रीका समागम वह अनुकूल जोग है, कि जो आत्मदृष्टिको महा प्रतिकूल है, विशेष (स्त्री) संगके योगसे असंग ऐसा आत्म-स्वरूप भास्यमान नहीं होता, इसलिए ज्ञान निवृत्तिको चाहता है। (श्रीमद्जी) (१९५७)



जो अनित्य है, असार है और अशरणरूप है, वह इस जीवको प्रीतिका कारण क्यों होता है ? यह बात रात्रि-दिन विचार करने योग्य है। (श्रीमद्जी) (१९५८)



जीव सर्वत्र अकेला ही है, अकेला जन्म लेता है, अकेला ही निज परिणाममें सुख-दुःख भोगता है, अकेला ही मरता है, स्वभावको प्राप्त करके सिद्धिमें भी अकेला ही जाता है। (१९५९)



अंतर्मुख-केवल अंतर्मुख उपयोग कर्तव्य है, कि जहाँ चैतन्यरत्न चमकता है। अहो ! जगतको जिसने स्व-से (अपनेसे) खाली देखा, ऐसे जगतमें खुद क्यों स्थिति करेगा ? आत्मामें ही थम जायेगा। (१९६०)



दुर्लभ योग जीवको प्राप्त हुआ है, तो फिर थोड़ासा प्रमाद छोड़ देनेमें जीवको घबरानेकी जरूरत नहीं है, निराश होने जैसा नहीं है। - श्रीमद्जी (१९६१)



मैं सर्वसे सर्व प्रकारसे भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप, परम उत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र, एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ। शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध, परम शांत चैतन्य, मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। (श्रीमद्जी) (१९६२)



ज्ञानलक्षणसे, लक्षित हुआ पूर्ण भगवान निजपद, उसीकी मुख्यता रहे, वह अन्य सर्वसे उपेक्षित होनेका मूल साधन - उपाय है।

आत्मस्वरूपसे विपरीत - शुभाशुभ भावोंमें अटकना वह प्रमाद है।

ज्ञानस्वरूपमें अत्यंत रुचिभावपूर्वक अटकना (स्थिर होना) वह अप्रमाद, वही पुरुषार्थ है। (१९६३)



आत्मस्वरूप महामहिमावान, अचिंत्य दिव्य रत्न है, उसकी सँभाल नहीं लेना, और

अप्रयोजनभूत - निरर्थक अन्य पदार्थोंमें एकत्वभावसे निमग्न रहना यह महा मूर्खता है, अनन्त क्लेशोदधिका कारण है। (१९६४)



संवत् : २०१७

मैं ज्ञानमात्र हूँ - ऐसे स्वाकार परिणमनमें, अन्य सर्व ज्ञेयमात्र जाननेमें आता है, देव, गुरु, शास्त्रके प्रति लक्ष्य जाने पर, वे भी इसी वीतरागी ज्ञानका बोध दे रहे हैं - अनुमोदन कर रहे हैं, ऐसा स्वरूप रुचिके बलसे जाननेमें आता है। (१९६५)



मिथ्याज्ञानमें पुण्यादि संयोग - सामग्रीकी नित्यता भासित होती है, वह इस प्रकारसे कि, मैं हमेशा इन भोगोपभोग सहित ही रहनेवाला हूँ। जब कि इससे उल्टा

सम्यक्ज्ञानमें पुण्यादि योगमें ज्ञानीको बाह्य वैभव होने पर भी उसमें (आत्माकी नित्यता पूर्वक) अनित्यता मालूम पड़ती है, वह इस प्रकार कि, यह चाहे कितने भी अनुकूल कहलानेवाले संयोग तो क्षणवर्ती मात्र है, जब कि मैं तो नित्यानंदमय हूँ। मेरा आनंद मेरेमें से ही आ रहा है, पुद्गलमें बिलकुल नहीं है, यह प्रत्यक्ष है। जितना संयोगके प्रति लक्ष्य जाता है, वह उपाधिरूप है। (१९६६)



परिग्रहके प्रति ममताका अभिप्राय अविवेककी खान है। (१९६७)



जैसे धुँसे आच्छादित हुई अग्नि दिखती नहीं है, वैसे जब पुण्य-पापकी रुचिवाले भावमें ही आत्मत्व माना जाता है तब सम्यक् पुरुषार्थका अभाव वर्तता है, और पर सन्मुख परिणमनका बहना इतना वेगसे होता है कि उससे पीछे हटकर जीव निज अवलोकनमें प्रवर्तन नहीं कर सकता। वीर्यके उलटे वेगमें आत्माका विकल्प भी बेकार जाता है। खुद उलटे ज़ोरमें ऊपर-ऊपर तिर रही पुण्य-पापकी वृत्तियोंमें घिरता हुआ, आत्मस्वरूपकी बेसावधानीरूप प्रवाहमें अत्यंत क्लेशको प्राप्त होता है। वही दुःखका स्वरूप है। (१९६८)



संवत् : २०२०

चैतन्य सामान्य अभंग अंग है। (अनुभवप्रकाश) (१९६९)



वास्तवमें तो स्वरूपका पता लगने पर, अनुभवका प्रकाश होने पर, पर्यायको शुद्ध करनेके

विकल्पका भी कर्तृत्व नहीं रहता - विरामको प्राप्त होता है, तो ऐसेमें परमें - संयोगमें तो कर्तृत्व होवे ही कैसे ? (१९७०)



भाई रे ! देख तो सही तेरा अखण्ड शुद्ध स्वरूप कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं ! पूर्णानंदसे भरे चैतन्यको निहार तो सही ! उसमें तू विकार कर सके, ऐसा अवकाश ही कहाँ है ? कि तू विकार कर सके ! अहो ! निर्विकार चैतन्यके अलावा कुछ अपना दिखता ही नहीं है। (१९७१)



आध्यात्मिक विषयमें रस पड़नेके बाद भी जो इससे बाह्य प्रतिष्ठा चाहता है - ऐसी रुचि जिसको हुई है, उसे आत्माकी रुचि नहीं है (सही - यथार्थ अध्यात्मरस भी नहीं है); परन्तु संयोगकी ही रुचि है, पैसेके लालचीकी तरह। (१९७२)



एक स्वरूप-रसमें सर्व प्रकारके विभावरस फीके ही पड़ जाते हैं। ऐसी परम निजरसकी सर्वोपरिता है। (१९७३)



अहो ! जिस आत्मस्वरूपके भासन मात्रसे, विकारका विलय (वाष्पीकरणकी माफिक) होने लगता है - विभावकी जड़ कटने लगती है, तो साक्षात् प्रत्यक्ष अभेद अनुभवके प्रकाशमें तो मुक्ति अनन्य भावसे ही हो !! उसमें कौनसा आश्चर्य है ? (१९७४)



अहो ! मैं तो चैतन्यमूर्ति हूँ। उसे भूलकर कैसे सो सकता हूँ ? (आराम ले सकता हूँ क्या ?) आरामधामको छोड़कर आराम मिल सकता है क्या ? उसे भूलकर कैसे खाना खा सकता हूँ ? (तृप्ति-शांति कैसे होगी ?) उसमें तो सिर्फ आकुलता ही वेदनमें आयेगी। उसे भूलकर अन्य मित्रसे-संगसे हूँफका (राहतका) अनुभव कैसे हो सकता है ? (आकुलतामय रसकी भ्रांतिमें हूँफ (राहत) मानी है।) (१९७५)



सम्यक्ज्ञानमें दूसरे जीव-मात्र चैतन्यमूर्ति-(द्रव्यदृष्टि होनेसे) मालूम पड़नेसे पुद्गल इतने गौण हो जाते हैं कि मानो जैसे दिखते ही नहीं ! जिससे संयोगकी मीठास उत्पन्न नहीं होती। (१९७६)



ज्ञानीकी विकारांशवाली पर्याय, स्वरूपभानरूपी लगाममें है। इसलिए मर्यादामें परिणमन करती है। वह विकारांश मर्यादामें ही रहकर, जितने अंशमें उत्पन्न होता है, उतने अंशमें कमजोर पड़ते-पड़ते वहीं का वहीं नष्ट होता है और ज्ञान-बल बढ़ता जाता है। मुक्त भावकी मस्ती अलौकिक है। (१९७७)



संवत् - २०२१

महा आनन्दके राशि ऐसे निज स्वरूपसे क्या अधिक है ? कि इसे छोड़कर तू परका ध्यावन करता है ? (१९७८)



तू व्यर्थ ही दूसरेकी वस्तुको खुदकी मान - मानकर नाहक खुशी मनाता है। झूठी भ्रमरूप कल्पना मानकर खुश होता है। कुछ भी सावधानीका अंश नहीं है। तीन-लोकका नाथ होने पर भी नीचपदमें अपनत्व मानकर व्याकुल होता है। - 'अनुभवप्रकाश' (१९७९)



व्यावसायिक प्रवृत्तिकालमें, (उत्साह रूप) भ्रांतिका रस नहीं बढ़ जाये, इस हेतु, शुरुसे ही सावधानी कर्त्तव्य है। जागृत रहना चाहिए। (१९८०)



जो कुछ भी करना है, वह आत्मश्रेयार्थ करना है, इसके सिवा किसी भी प्रकारकी बुद्धि - वासना - जिसके अभिप्रायमें नहीं है - दृढतापूर्वक नहीं है, ऐसा अंतर्लक्ष जिसका है, वह मुमुक्षु आत्मा आत्मश्रेयके प्रति जागृत हुआ होनेसे, परभावके प्रति (भिन्नतामें) सावधान होनेसे, संशोधकभावसे अंतरमें स्वरूपका निर्णय अवश्य कर सकता है। किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका अभिप्राय नहीं होता अर्थात् वह इष्ट-अनिष्टके अभिप्रायसे छूटता जाता है। (१९८१)



परपदार्थमें सुखाभासरूप भावको भ्रांति गिनना चाहिए, भ्रांतदशारूप अवस्थाको रोग गिनना चाहिए। (१९८२)



दुःख झूठ है - कल्पनामात्र है, क्योंकि निजस्वरूपमें दुःख नहीं है - फिर भी जीव आनंदमय ऐसे स्वरूपके विस्मरणसे (बेसावधानीके कारण) दुःखकी कल्पनामें घिर जाता है, यानी कि भ्रमसे खुदका दुःखमयरूप अनुभव करता है। (१९८३)

‘मैं परम निर्दोषतामय द्रव्य - स्वभावसे हूँ’ - ऐसे अंतर अवलोकनमें ‘विकारांशरूप दोष एक अंश मात्र भी मेरेमें उत्पन्न होनेका अवकाश ही नहीं दिखता’ - तब वह विकारांश पर्यायमें होते हुए भी अंतर्मुखताके ध्येयमें - अस्तित्वमें - विकारके कर्तृत्वका या उसे मिटानेका अभिप्राय नहीं रहता। नष्ट होता हुआ विकार ज्ञानमें परज्ञेयरूप प्रतिभासित होता है। (१९८४)



जगतके जीवोंको अज्ञानभावसे पर जीव, पुद्गलोंकी चित्र-विचित्र अवस्थाएं मालूम होने पर - राग-द्वेषके कारणरूप मालूम पड़ते हैं, जब कि सम्यक्ज्ञानमें, अंतर्मुखका ध्येय रहता होनेसे, उन-उन परद्रव्यकी पर्यायें सिर्फ ज्ञेयरूप प्रतिभासित होती हैं; ज्ञान तटस्थ भावरूप है। इसके अलावा ध्येयकी मुख्यतामें वे सभी ज्ञेय अत्यंत गौणरूप मालूम पड़ते हैं। ऐसी जो वीतरागी ज्ञानकला - ऐसी अबंधभावपूर्वक ज्ञानकी चाल (गति) होनी, ऐसा ही जिसका मूल स्वभाव है, वह अनन्तगुण मूर्ति पूर्ण पवित्रधाम निज सिद्धपदको अभेदभावसे नमस्कार !! (१९८५)



साधकजीवको पर्यायकी अत्यंत गौणता होनेसे, पर्यायमें होनेवाले विकारांशको टालनेकी आकुलता मुख्यरूपसे नहीं होती। क्योंकि स्वरूपकी अत्यंत उपादेयता रहती है, उसमें जो अंतर्मुखताका वेग है उसके कारण विकार अपने आप टलता हुआ मालूम पड़ता है। - इस प्रकार कार्यसिद्धि है। (१९८६)



अंतर्मुख होकर, स्वपदका परमेश्वररूप अवलोकन करनेसे, वर्तमानमें ही खुद परमेश्वररूप है !! अहो ! अवलोकन मात्रसे परमेश्वर हो जाये ! ऐसी अवलोकना न करे तो, खुदका निधान खुद लूटाकर दरिद्री होकर भटकता है ! और भव विपत्तिको खुद ही मोड़ लेता है। ‘अनुभवप्रकाश’ (१९८७)



संवत् : २०२२

परपदार्थके प्रति सावधानी भाव बहिर्मुखताका लक्षण है। आत्मस्वरूपकी सावधानीरूप भाव अंतर्मुखताका लक्षण है। परकी सावधानीरूप भाव, स्वमें एकत्व नहीं होने देता। स्वकी सावधानी परमें एकत्व होने नहीं देती। ‘सत्’ का श्रवण होने पर भी, परकी सावधानीमें फर्क नहीं पड़े तो श्रवण हुआ ही नहीं है। और वैसा भावश्रवण हुए बिना आत्मभावका घोलन स्वरूप - लक्ष्यवाला नहीं होता, जिसके कारण जीवको आत्मप्राप्तिकी इच्छा होते हुए भी बेकार जाती है अर्थात् निरर्थक जाती है। मुमुक्षुजीवको यह बारंबार विचार करने योग्य है, जिससे आत्मार्थीता

उत्पन्न हो।

(१९८८)



जागृति : यदि कोई 'वास्तवमें' आत्मार्थी है, अर्थात् जिसकी सर्व प्रवृत्ति आत्मलक्ष्य पूर्वक ही है, उसे चलते परिणमनमें शुभाशुभभावमें या इष्ट-अनिष्टपनेमें, जितना भी खुदका 'रस' होता है, उसका अवलोकन - सूक्ष्म अवलोकन रहता है। जिसके कारण अधिक हर्ष-शोक नहीं होनेसे कषायरस घटता है - कमजोर पड़ता है, जिससे स्वकार्यमें सुगमता होती है, ज्ञानमें निर्मलता होनेकी यहाँ शुरुआत होनेके उपरांत ज्ञान धीरा व गंभीर होने लगता है। इस स्तर पर ज्ञानमें तत्त्वका यथार्थ ग्रहण करनेकी योग्यता, ज्ञानस्वभावकी जागृति (जागृति :- 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी सावधानी) आनेके कारण प्राप्त होती है। ऐसा ज्ञान आत्मभावके संशोधनमें लगता है तब पूर्वभूमिकाकी तैयारी होती है, तब उसमें अध्यात्मके सम्यक् न्यायोंमें रुचि वृद्धिगत होती जाती है, तब अनन्त न्यायके अधिष्ठाता स्वद्रव्यका ग्रहण सुलभ है।

विपरीतताके वेगमें जो अपने कषायरसका भी स्वरूपलक्षपूर्वक अवलोकन कर सके उतना जागृत नहीं है, वह बाह्य क्षयोपशमपूर्वक शास्त्रादिका बहुत पठन करता हो तो भी स्थूल बुद्धिवान है, वैसे प्रयत्नसे वह सूक्ष्म ऐसे स्वरूपभावको ग्रहण नहीं कर सकता। वास्तवमें तो वह आत्मार्थी नहीं है। स्वरूपके अंतर खोजके प्रयत्नमें विपरीत रसका मालूम पड़ना सहज है।

(१९८९)



वर्तमान परिणमनमें, स्वरूपके अंतर संशोधन कालमें ज्ञानकी पर्यायमें, ज्ञानस्वभावका (गुणके 'गुण' का) अवलोकन होने पर, उसमें अकषाय स्वभावका (अभेद निराकुल सुखका) भासन होता है, यानी कि 'मैं निराकुल ज्ञानानंद' स्वरूप हूँ, ऐसा स्वयंके त्रिकाली स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यका भावभासन होता है। इस प्रयोगमें पूर्ण निर्दोषताका अभिलाषी जीव अंतर प्रयत्नपूर्वक (जागृतिपूर्वक) खुदके परिपूर्ण त्रिकाल पवित्र स्वरूपको निहारते हुए अनन्त अतीन्द्रिय सुखका पता ढूँढ़ लेता है। जिससे अतीन्द्रिय सुखकी अपेक्षित पर्यायसे निजानंदका अवलंबन सहज ही लेनेमें आ जाता है। अतीन्द्रिय सुखकी अपेक्षाकी तीव्रतामें, सूक्ष्म विकल्प, जो कि अत्यंत मंद कषाययुक्त होता है, उसकी भी सहज उपेक्षावृत्ति हो जाती है, तो वहाँ संयोगोंकी अपेक्षा तो रहेगी ही कहाँसे ? अर्थात् बाह्य संयोग जो उदयमें होते हैं, उनके प्रति अत्यंत दुर्लक्ष हो जाता है, क्योंकि अंतर्मुखके ध्येयकी तीव्र लगन है।

(१९९०)



* आत्मा उपयोग लक्षणवंत है।

* लक्षण लक्षसे अभेद है। लक्ष = स्वभाव

लक्षकी मुख्यतामें पूरी वस्तु टिकती हुई परिणामन करती मालूम पड़ती है। आत्मसन्मुखतामें आत्मस्वरूप प्रगटरूपसे दिखता है - मालूम पड़ता है। 'यह मैं प्रत्यक्ष ऐसा (सिद्ध समान) हूँ - ऐसा ज्ञानमें प्रगटरूपसे मालूम पड़ना - वह आत्मवीर्यकी स्फुरणाका अनन्य कारण है। ज्यों-ज्यों ज्ञान सुस्पष्टरूपसे स्वरूपका ग्रहण (भावभासन) करता है, त्यों-त्यों आत्माके गुण खिलते जाते हैं और आत्म-आश्रयका बल बढ़ता जाता है। जितना बल अधिक इतनी निर्दोषता (शुद्धि) अधिक - यह नियम है। अहो (!) स्वरूप अद्भुत, अनुपम व अवर्णनीय है। (१९९१)



केवलज्ञानमें विस्मयका अभाव है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान एक समयमें सर्वको तीनकाल सहित जानते हैं, इसलिए यह स्थिति (पर्याय) ऐसी क्यों ? ऐसा भाव उत्पन्न नहीं होता - उस प्रकार सम्यक्दृष्टि, कि जिन्होंने केवलज्ञान - स्वभावको श्रद्धा-ज्ञानमें वर्तमानमें अवधारण किया है, उनके श्रुतज्ञानमें तीनकाल-तीनलोकको व्यवस्थितरूपसे - परोक्षतासे जाननेकी शक्ति होनेसे उनके अभिप्रायमें विस्मय या ऐसा क्यों ? ऐसा भाव नहीं होता - अतः ज्ञानीको सहज स्थिरता - अचंचलता रहती है। (१९९२)



जिन्होंने आत्माको जाना है, उन्हें दूसरे 'आत्मा' के प्रति वैरबुद्धि नहीं होती - यह नियमबद्ध है, सम्यक्ज्ञानमें दूसरा अज्ञानी जीव (उपसर्गकर्ता) सामान्य स्वरूपकी मुख्यतापूर्वक मालूम पड़ता होनेसे, उसकी दोषित पर्याय भी गौण हो जाती है। (१९९३)



जो लोग संयोगी प्रतिकूलतासे डरते हैं, भयभीत हैं, वे संयोगकी अनुकूलताके इच्छुक हैं। जैसे कि मानहानिका जिसे भय है, वह जरूर बाह्य प्रतिष्ठाका कामी है, वैसे ही सर्व प्रकारसे बाह्य संयोगोंमें मान्यता होनेसे, जीव संयोगोंमें फेरफार करनेकी वृत्तिमें सदा प्रवृत्त रहता है, परन्तु उस बाह्य सुख-दुःखका कारण पूर्वके शुभाशुभ परिणाम हैं; जो परमार्थसे दुःखरूप है। जिसके नाशका उपाय विचारवान जीव करता है, जो वास्तविक दीर्घ दृष्टि है अथवा सही दृष्टि है। संयोगकी दृष्टिवाला जीव बाह्यवृत्तिको नहीं छोड़ सकता। (१९९४)



वर्तमान पर्यायमें विकारांश होने पर भी, वर्तमानमें ही मूल स्वरूपको अर्थात् निश्चयस्वरूपको लक्ष्यमें लेना वह सम्यक् है। सम्यक्दृष्टिके बल बिना ऐसा नहीं हो सकता। 'वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ।'

‘निर्विकल्प होना है’ ऐसी इच्छा मात्रसे कार्य नहीं होता, परन्तु मैं स्वभावसे ही निर्विकल्प हूँ और स्वसंवेदनरूप ही रहनेका - परिणमन करनेका मेरा स्वभाव है, दूसरा कुछ होना, स्वभावसे अशक्य है, स्व-आश्रय होनेसे कार्य होता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। (१९९५)



जबसे आत्मस्वरूपका भावभासन हुआ, तबसे उसका विस्मृत होना अशक्य है, ऐसा स्वरूप असाधारण महिमावंत है, और तबसे कोई दूसरा पदार्थ महिमा योग्य नहीं रहा - नहीं रहता। निज अभेद सिद्धपदसे अधिक दूसरा क्या हो सकता है ? अहो ! स्वरूप निधानका पता लगने पर अपूर्व-अपूर्व भाव ही बहे ना....!! (१९९६)



आत्मस्वरूप रागका विषय बिलकुल नहीं है, विकल्पगम्य नहीं है, परलक्षी क्षयोपशम ज्ञानकी कल्पनामें भी वह समाविष्ट नहीं हो सकता। सिर्फ अंतर्मुख ज्ञानमें ग्रहण हो सके, वैसा है। अतः केवल अंतर्मुख उपयोग कर्तव्य है। विकल्पके कालमें भी विकल्पकी आड़ बिना ज्ञान सीधा स्वरूपका ग्रहण करे, वह अंतर्मुखता है। उसमें आत्मा ज्ञानगोचर है। (१९९७)



‘दंसण मूलो धम्मो’ भगवान कुंदकुंद आचार्यदेवके इस सूत्रमें ‘दर्शन-स्वभाव’ (श्रद्धा स्वभाव) की बहुत गहराई (गंभीरता) भरी है, जिसका वास्तविक खयाल अनुभवीको ही होता है। जिस मूल धर्मसे ‘धर्म’ की शुरुआत होकर सर्व गुणांश स्वयं सम्यक् हो जाते हैं, जिसके बलसे मोक्षमार्गकी वृद्धि होकर मोक्षकी प्राप्ति हो ही जाती है, जिसके कारण सिद्ध भगवंत सिद्ध दशामें अनन्तकाल (से) टिके हैं, उस ‘दंसण’ मूल धर्मका हे भव्य ! तू सम्यक् प्रकारसे सेवन कर !

श्रद्धाके पुरसे पूरा परिणमन शुद्ध होता जाता है। अनन्तगुणोंकी निर्मलतामें श्रद्धागुण (स्वभाव) निमित्त पड़ता होनेसे वह - मूलधर्म है। (१९९८)



सत्शास्त्र आत्मानुभवी पुरुषों द्वारा लिखे गये होनेसे उनकी लेखनीमें अनुभवकी गहराई भरी है, उसका अवलोकन अनुभवके दृष्टिकोणपूर्वक करना चाहिए, वरना इनके भावोंका वाच्य ज्ञानगोचर नहीं हो सकता। सिर्फ अनुभवदृष्टिसे ही यथार्थरूपसे वाच्यभूत भाव ज्ञानगम्य होते हैं, ऐसा शास्त्रवांचनका मर्म है। सिर्फ पंडिताईसे यानी कि परलक्षी ज्ञानके उघाड़से प्राप्ति नहीं होगी, इसलिए शास्त्रवांचन अनुभवप्रधान शैलीसे कर्तव्य है। शब्दार्थ-भावार्थसे संतुष्ट नहीं होना। (१९९९)

बोधकला : निज शुद्ध जीवास्तिकायमें अहंबुद्धि होनी, ऐसा निरंतर अभ्यास रहना -(कि) जिसके बलसे निजस्वरूपका उपयोग हो। (२०००)



संवत : २०२३

'ज्ञानीको ज्ञानी ही पहचानते हैं', इसके अलावा 'मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।' इस तरह दो प्रकारसे सत्पुरुषकी प्रसिद्धि होती है। दर्दी और वैद्यके दृष्टांत अनुसार : जिस प्रकार रोगके निदानसे दर्दी वैद्यके ज्ञानकी सत्यताको पहचानता है, वैसे मुमुक्षु, ज्ञानीगुरुको भवरोगके निदानसे, उनका तत्सम्बन्धित ज्ञान सत्य है, ऐसा पहचान सकता है। जैसे वैद्य होकर खुद दूसरे वैद्यके तद्विषयक ज्ञानके आधारसे मिलान करके पहचान लेता है, वैसे ज्ञानी स्वसंवेदनके बलसे, अनुभववाणीको पहचान लेते हैं। (२००९)



आत्मभावना - 'सर्वोत्कृष्ट, परम शांतरसमय, समरस स्वभावी, अनन्त सुखधाम, केवल अंतर्मुख, स्वयं अभेद अनुभवरूप हूँ।' (इसलिए सर्व परमें उपेक्षा सहज है।) (२००२)



संवत - २०२४

सर्व परपदार्थमेंसे आकर्षण छूट जाये और स्वरूपमें ही खिँचाव हो, वैसा ही अनन्त महिमावंत आत्मस्वरूप है। अरे ! पूर्ण केवल ज्ञानादि पर्यायकी भी जिसे अपेक्षा नहीं है, वैसा परम निरपेक्ष आत्मस्वरूप है। ऐसे स्वरूपकी दृष्टिके अभावमें ही अन्य द्रव्य-भावमें मुख्यता होती है। स्वरूप दृष्टिमें तो 'स्वरूप' के अलावा 'अन्य कुछ है ही नहीं।' (२००३)



संवत - २०२६

आत्मस्वरूप प्रगट - प्रत्यक्ष है, ऐसा जाननेवाले पर्यायभावमें परोक्षताका सहज अभाव होता है / हो जाता है, अर्थात् जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता पर्यायमें प्रवर्तमान है, वही आत्मभावका प्रगटपना है। आत्मरस - निजरससे वह उत्पन्न होता है।

अहो ! अनन्त शांत सुधासागरका परम आदरभाव यही महाविवेक है। उसमें उल्लासित वीर्यसे दर्शन है। (२००४)



संवत - २०२७

कारणशुद्धपर्यायका स्वरूप : पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचनमेंसे,

(१) जीवके त्रिकाली स्वरूपमें, केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्ध पर्यायके कारणरूप मौजूद पर्याय परिणमनशक्ति, जो कि द्रव्यमें त्रिकाल है वह।

(२) यह एक भेद है, जैसे समुद्रके दृष्टांतसे पानीमें नीचे स्थिर दलकी ऊपरी सपाटीकी माफिक। जिसके कारणसे यानी कि आधारसे अर्थात् जिसे लेकर अनन्त केवलज्ञानादि शुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं, तो बाकी रहे द्रव्यके सामर्थ्यकी अनंतता कितनी !! (इस प्रकारसे द्रव्यका ज्ञान होना चाहिए।)

(३) अनन्तगुणोंके अभेदभावोंका स्वाकारभावसे ध्रुवत्व स्वरूप वह कारण शुद्ध पर्याय; जो प्रत्येक वर्तमानमें मौजूद है। प्रत्येक वर्तमानमें, कार्यशुद्धपर्यायके कारणरूप तैयार है। (२००५)



विकल्पके कालमें भी, निज अभेद निर्विकल्प चैतन्य स्वरूपका प्रथम 'यथार्थ निर्णय' होनेवालेको निर्विकल्पताका ही काल पक गया है, वह अब विकल्पमें अटकेगा नहीं। शीघ्र विकल्पका वमन कर लेगा। 'ऐसे' आत्माका भावनामें यथार्थ निर्णय किया, उसे निर्विकल्पताका ही अवसर आ गया है। इसलिए वह 'शीघ्र' विकल्पका 'वमन' कर देता है, ऐसा कहा। - समयसार गाथा-७३ -पूज्य गुरुदेवश्री (२००६)



जीवको ज्ञानका ही अनुभव है, ऐसा अंतरमें स्वीकार करने पर सिर्फ ज्ञानकी पर्यायरूप ही अनुभव होता है, वैसा नहीं है। क्योंकि अकेले (मात्र) ज्ञानमें 'स्वभावका आश्रय' हो जाता है, सिर्फ पर्यायबुद्धि वहाँ नहीं होती, इतना ही नहीं विकल्पसे यह द्रव्य और यह पर्याय - ऐसा भेद करना, ऐसा भी वहाँ - उसकालमें सहज नहीं होता। अनुभवज्ञानमें द्रव्यका स्वरूप अभेदरूपसे आ गया है। (२००७)



संवत् - २०२८

भेदज्ञान :- भेदज्ञान होनेमें प्रथम 'ज्ञानसे रागकी भिन्नताका' प्रयोग होता है। उसमें ज्ञानसे ज्ञानका एकत्व होता है, जो खुदका सहज स्वरूप है। इसके अलावा 'एक समयकी शुद्ध पर्यायसे भी मैं त्रिकाली भिन्न हूँ' - ऐसा विकल्प वहाँ नहीं होता। (यद्यपि त्रिकाली आश्रयभूत स्वरूपका ज्ञान होता है।) यह सहज विधि है। उसमें अन्यथा कृत्रिम उपाय कर्तव्य नहीं है। कृत्रिमतासे मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है। (२००८)



परलक्षी क्षयोपशम ज्ञान प्रायः बाधक है; उसमें हुए विकासमें लाभबुद्धि, वह परमें स्व-

पनेका अध्यासरूप भ्रम है; इसलिए 'स्व-लक्ष्यसे' उठा हुआ जीव ही 'यथार्थता' में आता है, जो सत्यके अंगभूत है। (२००९)



संवत् - २०२९

लौकिक समाजकी नहीं, अपितु धार्मिक समाजकी, प्रतिष्ठा मिले तो अच्छा - 'ऐसा आत्मा नहीं है', अरे ! जिनकी दृष्टि अपनी विकसित होती हुई अवस्था पर भी नहीं है (ठीकपना नहीं है,) उन्हें दूसरोंकी अपेक्षा कैसे हो सकती है !! (२०१०)



भव उदासीपना यह ज्ञानीका एक लक्षण है। पूरा भव, यह औदयिक भावोंका समूह है, अतः वर्तमान भवके तमाम प्रसंगोंके प्रति स्वयं उदास है - निरपेक्ष है। इसलिए वर्तमान उदयमें भी सहज उपेक्षा है। हर्ष-शोकमें तन्मय नहीं हैं। मनुष्यगति और मनुष्यगतिके लायक सर्व द्रव्य-भाव, यह सब (मेरा स्वरूप नहीं है) परवस्तरूप है, इसलिए हेय है। इस तरह परकी - उदयकी उपाधि रहित होनेसे (वे) सुखी हैं। अपना सुख अपनेमें अनुभवरूप होनेसे बाहरकी खिँचावरूप आकुलता नहीं होती। (२०११)



खुदके स्वरूप अवलोकनमें अखण्ड रसधारा बरसती है, वह शांत चैतन्य रसधारा अथवा अमृतरसधारा है। एकदेश अवलोकन ऐसा है। - इसके आंशिक आनंदके आगे इन्द्रादि संपदा विकाररूप भासित होती है। - अनुभवप्रकाश (२०१२)



ज्ञानस्वभाव निश्चित हुए बिना (पहचान हुए बिना) विभावका स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता, और इसीलिए मिथ्यादृष्टि जीव किसी न किसी विभाव (कषायकी मंदता अथवा परलक्षीज्ञानका क्षयोपशम) में स्वभावके भ्रमका सेवन करते रहते हैं। (२०१३)



परिणमनमें सहज स्वरूपकी सहज अंतर सावधानी न रही, तो सन्मार्गके अनुकूल जीवका ढलन है ही नहीं। और अन्य भावमें परकी सावधानी होनेसे, वही प्रमादका असल स्वरूप है। (२०१४)



सत्संग अफल होनेके कारण :-

(१) मिथ्या आग्रह :- 'मैं ज्ञान स्वरूप हूँ' ऐसी अंतर सावधानीके अभावमें, विपरीत भाव

(परकी सावधानीरूप) पर वज़न जाना - वह शुभ परिणामका आग्रह भी मिथ्या आग्रह है।

(२) स्वच्छंदता :- 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वरूप सावधानीके अभावमें, अन्य सर्व भाव दोषरूप होने पर भी उसे गौण करना, या नहीं देखना वह, अथवा परकी सावधानीमें उत्साह।

(३) प्रमाद :- 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी सतत जागृतिका अभाव और विपरीत भावका रस रहना-वह।

(४) इन्द्रिय विषयकी अपेक्षा :- यह भाव जड़में तीव्र सुखबुद्धि होनेसे उत्पन्न होता है, जिसे आत्मजागृतिपूर्वक उपेक्षित किये बगैर सत्संग, सन्मार्गको अनुकूल ऐसा योग, नहीं बनता। स्वरूपकी सावधानी अर्थात् 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसे ज्ञान-रस (आत्मरस) में इन्द्रियविषयका रस अभावको प्राप्त होता है। जो कि सत्संगका प्रत्यक्ष फल है।

(५) अपूर्व भक्तिका अभाव :- सत्संगदाता ऐसे ज्ञानी परमात्मामें 'अपूर्व भक्ति' के अभावमें उक्त चारों दोष सहज उत्पन्न हो जाते हैं, अतः ज्ञानीका योग परमहितकारी जानकर, परमस्नेहसे, सर्वार्पणरूपसे, सर्व संयोगको गौण करके, पूर्ण अर्पणतासे इसकी उपासना कर्तव्य है। (यद्यपि ज्ञानीको कोई अपेक्षा नहीं होती, परन्तु मुमुक्षुकी उपरोक्त स्थिति हुए बिना बोध परिणमित नहीं होता - ऐसी वस्तुस्थिति है।) (२०१५)



परविषयमें हो रही सुखकी कल्पना वह झूठा आनंद है, यानी कि उसमें सचमुच आनंद नहीं होने पर भी आनंदका आभास होता है, वह झूठ है - यह नियम, किसी भी कक्षाके मंद कषायमें लागू पड़ता है। प्रयोजनकी दृष्टिवाले जीवको खुद झूठे आनंदमें धोखा नहीं खा जाये इसकी सतत सावधानी प्रसंग-प्रसंगमें रखनी जरूरी है। (२०१६)



ज्ञानीके ज्ञानका विवेक : स्व-पर प्रकाशक ज्ञानमें...

स्व और पर / राग जाननेमें आये तब स्व-परमें,

स्व	पर / राग
* अनन्त महिमावंत	* निर्मूल्य
* स्वरूपकी सावधानीमें एकत्व	* उपेक्षाभावपूर्वक, भिन्न
* स्वआश्रयभावसे, चैतन्यरसमयपने	* अरसपने (नीरसतापूर्वक)

.....सहज परिणमन करता है।

(२०१७)



संवत् - २०३१

इसकालमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हेतु सत्पुरुषों द्वारा (जैसे मानो) अभूतपूर्व स्पष्टता हुई है, परन्तु जीवकी योग्यताकी कमी है। यथायोग्य स्वलक्ष्य हो तो, क्षणमात्रमें हित हो जाये ऐसा है। (२०१८)



पूर्ण निर्दोषताका अभिलाषी - सच्चा इच्छुक ही आत्मारथी है। ऐसे आत्मारथीका प्रयोजन सिर्फ निर्दोषताका ही होनेसे, कहीं पर भी अयथार्थता नहीं होती। सर्व न्याय आदि प्रयोजनके लक्ष्यसे ही समझनेकी पद्धति होनेसे वह (अंततः) सम्यक्ज्ञानमें परिणमित होता है। (२०१९)



संवत् - २०३८

अंतर अभ्यास : प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा प्रत्यक्षताका प्रतीतिके बलसे बार-बार उग्र होना, जोर आना, वह स्वसंवेदनका अंतर अभ्यास है; जो सहजरूपसे होने योग्य है। (२०२०)



द्रव्यदृष्टिपूर्वक दूसरे जीव सिद्ध - स्वरूप मालूम पड़ते होनेसे ज्ञानीको, शिरश्छेद करनेवाले (तीव्र विरोधी) के प्रति भी व्यक्तिगत द्वेष नहीं आता; सिर्फ असत् ऐसी दोषित वृत्तिका निषेध आता है, परन्तु (वह भी) द्रव्यकी मुख्यता सहित। (२०२१)



देवलाली, चैत्र-वदि-११

स्वयं जिस स्वभाव स्वरूप है, उस स्वरूपका भान होना - रहना, वह प्रगट सम्यक्दशा है; जो कि अपूर्व स्वचैतन्यरसके निर्विकल्प वेदनस्वरूप है; और शुद्धोपयोगपूर्वक उत्पन्न होता है। (२०२२)



संवत्-२०३९ मार्गशीर्ष-वदि-८

स्वयंके अस्तित्वका वेदन ज्ञानमयरूप सहज रहना, वह सहज भेदज्ञान है अथवा निजज्ञान है। (२०२३)



संवत्-२०४० वैशाख-सुदी-१०

'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत' - यह सूत्र ध्येय अर्थात् साध्यके दृढ निश्चयका / एकमात्र साध्यका निर्देश करता है। अतः किसी भी शुरुआत करनेवाले जीवको - इस प्रकारके साध्यके

लिए खुदके (परिणमनमें) जाँच कर लेनी आवश्यक है - वरना शुरुआत ही नहीं होगी और शुरुआत नहीं हुई होने पर भी - जैसे-तैसे भी शुरुआत हो गई है, ऐसे भ्रमका सेवन हो जायेगा - अतः अन्यथा प्रकारसे आगे बढ़नेका बिलकुल संभवित नहीं है। (२०२४)



विचारपूर्वक जिस-जिस विषयमें - (द्रव्य, गुण, पर्यायके वस्तु स्वरूपके विषयमें) विपरीत विचार किया हो या स्वीकार किया हो, उन-उन विषयमें विचारपूर्वक सुलटे बिना प्रयत्न योग्य दिशामें शुरु नहीं हो सकता। (२०२५)



असाढ़-सुदी-७

'श्री समयसारजी' शास्त्रमें आचार्य भगवंतने अस्ति-नास्ति दोनों पहलूसे विषय स्पष्ट किया है।

अस्तिसे - दृष्टिके विषयभूत स्वभाव और स्वभावदृष्टिका अनुभवपूर्ण निरूपण है। - स्वभाव दृष्टिवंतके दृष्टिके परिणमनकी मुख्यतावाले पहलूको अद्भुत रीतिसे प्रदर्शित किया है - यही समयसारका हार्द है।

नास्तिसे - मिथ्यात्व और अज्ञान टालनेकी बात मुख्य है। अनेकविध शैलीसे है। (२०२६)



भादों-सुदी-१२, नाईरोबी

रागरस - पुद्गलके प्रति रस जितनी मात्रामें प्रवर्तता है, वह दशाके बहिर्मुख झुकावका - रहनेका प्रबल कारण है। अंतर्मुखका पुरुषार्थ होनेमें बाधक है। अतः अंतर्मुख होनेके लिए चैतन्यके रसकी मात्रा उससे अधिक हुए बिना परिणाम अंतरमें नहीं झुकते। (२०२७)



वाचक शब्दसे वाच्य सधता है, परन्तु वाच्य सधने पर ज्ञानरसका उत्पन्न होना आवश्यक है, तभी शब्दके अर्थकी यथार्थता है, अन्यथा 'मात्र उघाड़' कार्यकारी नहीं है। वास्तवमें तो ज्ञानरस है, वह आत्मरस है।

(१) 'द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन भावश्रुतको साधता है।' - 'अनुभव प्रकाश'

(२) द्रव्यश्रुतके सम्यक् अवगाहनसे श्रद्धागुणज्ञता प्राप्त होती है; जिससे परमार्थ सधता है। (पृष्ठ संख्या : ४६ अनुभव प्रकाश)

इस प्रकार निमित्त-उपादानकी संधि है।

(२०२८)



ज्ञानपर्यायमें ज्ञानका ही वेदन चलता रहता है, परन्तु परप्रवेशका अभावभाव अर्थात् परप्रवेशरूप अनुभव (अध्यास) भावका अभाव हो तब स्वसंवेदन - ज्ञानका ज्ञानको वेदन - उसरूप निजज्ञान होवे अथवा उपयोगमें ज्ञानरूप वस्तुको अनन्त महिमा सहित जाने।

(२०२९)



सदा उपयोगधारी, आनंदस्वरूप खुद स्वयमेव यत्न बिना ही है, है और है; खुदका काम खुदको निहारना, इतना ही है। इतना ही कर्तव्य है। जो है, उसे निहारना है - कुछ बनाना या (नया) करना नहीं है।

(२०३०)



‘मेरे दर्शन ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठ रहा है।’ - ‘अनुभव प्रकाश’
ऐसा अवलोकनसे जाने। परन्तु उपरोक्त वचनको सिर्फ विकल्प - विचारकी मर्यादामें न रखें। ऐसे अवलोकनके प्रयोगसे स्वभावकी सत्ता जाननेमें आती है। बारंबार स्व-पदके अवलोकनका भाव (परसे विमुख होकर) कर्तव्य है।

(२०३१)



जैसे ज़हर खानेसे मृत्यु होती ही है, वैसे रुचिपूर्वक परके सेवनसे संसार दुःख होता है, होता है और होता ही है।

(२०३२)



भादों-वदि-१

स्वानुभवमें सर्व (पूर्ण) ज्ञानके प्रतीति भावका वेदन होने पर ज्ञान शुद्ध - निर्मल होता है - इस प्रकार ज्ञानकी निर्मलताको उपरोक्त प्रतीतिभाव कारण है। यहाँ पर ज्ञानने सर्वज्ञशक्तिका स्वरूपमें अनुभव किया, इसलिए वह सर्वज्ञशक्तिको प्रगट करेगा।

(२०३३)



संवत:२०४१, पौष-सुदि-१०

स्वयंके परमेश्वरपदका समीपतासे अवलोकन करने योग्य है। समीपतासे अर्थात् स्वरूपमें जो सहज प्रत्यक्षता है, उसकी मुख्यता होने पर परोक्षताका विलय सधता है; और आत्मवीर्यकी स्फुरणा सतेज होती है। इसीलिए कहा है कि :

‘अपने परमेश्वरपदका दूर अवलोकन न कर; अपनेको ही प्रभु स्थाप।’ (अनुभव प्रकाश - पन्ना -२६)

अर्थात् स्वरूपमें रही हुई गुप्त चैतन्य शक्तिको व्यक्तरूपसे भानेसे वह व्यक्त होती है।

‘ज्ञानके प्रत्यक्षरसका भावमें वेदन करना वह अनुभव है।’ (अनुभव प्रकाश - पन्ना -३६)
(२०३४)



पौष सुदी-११

(अपने) ज्ञानमें पर-प्रतिबिंबित होकर मालूम पड़ता है। वहाँ स्वमें परकी ओर देखनेसे ‘पर-मात्र’ मालूम पड़ता है (तो) वहाँ स्वको चुकनेसे दुःखकी उत्पत्ति होती है। उसी स्वमें पर मालूम होने पर भी निजमें निजको देखनेकी दृष्टि सुखको उत्पन्न करनेवाली है। - दर्पणमें मोरको (मोरके प्रतिबिंबको) देखनेसे मोर ही दिखता है - दर्पणको देखे तो वह दर्पण ही है - ऐसा दिखता है। उस दृष्टांत अनुसार निजमें निजकी ओर देखनेसे निज ही है। परका तो संपूर्ण अभाव है। (२०३५)



पौष-सुदी-१२

सम्यक् प्रकारसे हेय-उपादेयका विवेक होने पर आखिरमें वह निर्विकल्प निजरस पीनेमें परिणमित होता है। प्रयोजनकी इस प्रकारकी सिद्धिका कारण प्रयोजनके दृष्टिकोणपूर्वक हेय-उपादेयकी छँटनी है। (२०३६)



पौष-सुदी-१३

स्वरूपभावना - आत्मभावना वही सत् कार्यका मूल है। अंतरकी सच्ची भावना निज परिणतिको उत्पन्न करती है अथवा बढ़ाती है। यह भावना ही स्वरूपकी पहचान होनेमें ज्ञानको सहायक है। उसीसे भेदज्ञानका प्रयोग सुलभ होता है। - परिणति विहीन जीव, उपयोगको स्वरूपमें जोड़ना चाहे तो भी शुद्ध-उपयोग हो नहीं सकता। इसलिए परिणति रहित जीवका पुरुषार्थ सफल नहीं होता। यद्यपि परिणति बिना वह (पुरुषार्थ) यथार्थ है भी नहीं - वह भावना ऊपर-ऊपरकी है कि जब तक परिणति उत्पन्न नहीं हुई। (२०३७)



पौष-वदि-२

मति-श्रुतका क्षयोपशम मिथ्यात्वके सद्भावमें परवेदन-रस बढ़ानेमें निमित्त होता है, जब कि वही क्षयोपशम कषाय घटनेसे व स्थिरता बढ़नेसे सम्यक्त्वके सद्भावमें स्वसंवेदन रस वृद्धिका कारण बनता है। ऐसा स्वसंवेदन रस, वह अनन्त सुखका मूल है। (२०३८)



पौष-वदि-४

स्वरूपनिवास परिणाम (उपयोग) करता है। परिणाम वस्तुका वेदन करके स्वरूपलाभ लेते हैं अर्थात् स्वरूप अस्तित्वको - निज ज्ञायकताको ग्रहण करता है। अतः निज ज्ञायकताका उपयोग द्वारा ग्रहण करके उसमें आचरण - विश्राम कर्तव्य है। परिणाम शुद्ध करनेके पीछे इतना ही कार्य है।

'उवओगमओ जीवो' इति वचनात्।

(२०३९)



पौष-वदि-५

ज्ञान सभी गुणोंमें मुख्य गुण है। ज्ञान बिना वस्तुस्वरूपका निश्चय नहीं होता; इसलिए ज्ञान प्रधान है। वस्तुके प्रसिद्ध लक्षणके कारण भी ज्ञान प्राधान्य धारण करता है। इतना ही नहीं ये ज्ञान स्वसंवेदनमें रहकर जानता है। उसमें स्व-पर परस्पर अपेक्षित है अर्थात् विवक्षासे वस्तुसिद्धि है और ज्ञानसे स्वरूपानुभव है।

(२०४०)



पौष-वदि-९१

प्रयोगाभ्यासमें निज अस्तित्वको ज्ञान द्वारा ग्रहण करनेका है, तब वहाँ 'ज्ञानमात्र' में ऐसा विकल्प नहीं, परन्तु ज्ञानकी प्रत्यक्षता - वेदकतासे सत्ताके अनुभव - अवलोकनसे सिद्ध होता है। तब कुछ भी 'करना' - यह विकल्प बाधक होता है। अवलोकन है वह प्रयास-प्रयोगरूप भाव है; जो कि विकल्पसे निरपेक्ष है।

(२०४१)



पौष-वदि-९२

जो जीव धर्मध्यान - निर्विकल्प समाधि चाहता है, उसे प्रथम इष्ट-अनिष्टपना मिटाना आवश्यक है, जो कि स्व-पर पदार्थको मात्र ज्ञान-ज्ञेयके स्थानमें रखनेसे सहज प्राप्त होता है। इष्ट-अनिष्टपना नहीं होनेसे राग-द्वेष मिटते हैं, राग-द्वेष मिटनेसे - अन्य विकल्प (जाल) मिटते हैं; विकल्प - जालरूप चिंता मिटनेसे प्रथम धर्मध्यान होता है। जिसमें निजानंद उत्पन्न होता है। वीतरागी ज्ञानभाव होता है तब स्वरूपमें समाधि उत्पन्न होती है। - स्वरूपमें मन लीन होता है तब इन्द्रादि संपदा रोगवत् भासित होती है; क्योंकि उदयमान संयोगोंके अवलंबन से रस बढ़नेसे प्रत्यक्ष नुकसान है। दुःखका अनुभव होता है।

(२०४२)



पौष-वदि-१३

आकुलताका मूल अनादि अज्ञानरूप भ्रमभाव है। अनात्मा (देह और राग) का स्वपने अनुभवका अभ्यास भ्रमभावसे हो रहा है। उस विपरीत अभ्यासका अभाव होने पर, अपना गुणनिधान परमपदरूप स्थान दिखता है और भववासनाका विलय होता है। तब जगतका नवनिधान सम्बन्धित सुख झूठा भासित होता है। निज परमपदरूप सहजपदका भाव भानेसे आत्मभाव प्रकाशित होता है, तब आत्मशक्ति बढ़ती है। (२०४३)



पौष-वदि-१४

वाचक शब्द, उसके अर्थ (वाच्य) को भाना, श्रुत (ज्ञान) में स्वरूपके 'अनुभवकरण' को भावश्रुत कहा है। दृष्टांतरूपसे परमात्माको उपादेय कहा है। उसका वाच्य अर्थात् उसरूप भाव, वह भावश्रुतरस, उसे पीकर समाधिसे अमरपद सधता है। (२०४४)



जगतमें जीव परमें (प्राप्त संयोगमें) अपनत्व मानकर, अपनेमें सुखकी (प्राप्तिकी) कल्पना करते हैं - यह सर्वथा झूठ है, सबसे बड़ा झूठ है। उसका दंड परिभ्रमण होना, सो है। सुख तो चैतन्य विलासमें उत्पन्न होता है। (२०४५)



माघ सुदी-१५

जो मनोरंजन हो वैसे भाव मोहसे करता है, वह झूठे आनंदसे खुदको ठगता है। यदि जीव स्वरस अर्थात् आत्मरसका सेवन करे तो परभावकी प्रीति तनिक भी नहीं करे। अनन्त महिमा भंडार स्वरूपका ज्ञान-चेतनामें अपनेरूप अनुभव करे, तो अवश्य तिर जाये। (२०४६)



माघ वदि-१०

आत्मार्थीकी भूमिकाकी अस्ति - नास्ति।

अस्ति :

- (१) सन्मार्ग प्राप्तिका एकमात्र लक्ष। (G)
- (२) स्वरूपप्राप्तिकी तीव्रतम भावना - अपूर्व भावना। (C)
- (३) अनंत जन्म-मरण (परिभ्रमण) से मुक्त होनेकी वेदनापूर्वक उत्पन्न हुई अपूर्व जिज्ञासा। (G)
- (४) परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशा प्राप्त करनेका ध्येय होना वह। (C)

- (५) ध्येयके पीछे पूरी लगनसे लगनेवाला। (C)
- (६) ध्येयके लिए पूरी उत्कंठासे आगे बढ़नेवाला। (C)
- (७) उपरोक्त कारणसे निज प्रयोजनमें सहज तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टिपूर्वक प्रवर्तन करनेवाला। (G)
- (८) उच्चकोटिके स्वभाव सम्बन्धित शुभ विकल्प होने पर भी, अनुभूतिका अभाव होनेसे अंदरमें खटक रहा करे। (C)
- (९) (लेश्या) परिणतिमें रागरससे रंजितपना कम होनेसे, मुमुक्षुके योग्य ज्ञानकी भूमिकामें, सत्पुरुषोंके वचन - शास्त्रादिकी समझमें यथार्थता, रुचि - आदि (B,C,G)
- (१०) स्वकार्यकी लगन (C)
- (११) उदय - संसारके कार्य बोझरूप लगे, प्रवृत्तिमें थकान - त्रास लगे, अरुचिके कारण उदयजनित परिणामबल कम होने लगे। (B,C)
- (१२) प्रयोजनभूत विषयमें रस बढ़े। (C)
- (१३) तत्त्वज्ञानके अभ्यासकी प्रवृत्ति, अंतर संशोधनपूर्वक होवे। (G)
- (१४) एक आत्माके अलावा, जगतमें दूसरी कोई अपेक्षा नहीं हो, वैसी दृढ़ वृत्तिवाला। (C)
- (१५) यथार्थ समझको शीघ्र प्रयोगात्मक अभ्यासमें उतारनेवाला। (C)
- फागुन सुदी-९
- (१६) उदय सम्बन्धित प्रवृत्तिमें समय देना पड़े, उस व्यर्थ समयको गँवाना नहीं पोसाता - परिणतिमें ऐसा झुकाव हो जाये। (G,C)
- (१७) पूर्णताका लक्ष होनेसे चलते हुए परिणमनमें - विकासमें संतुष्ट नहीं हो जाता। (C)
- (१८) गुणकी महिमा - मुख्यताके दृष्टिकोणवाला। (G,C)
- (१९) सत्की गहरी जिज्ञासा वश उदयप्रसंगमें नीरसता हो जाये। (G,C)
- (२०) गहरी रुचिपूर्वक प्रयोजनभूत विषयको सूक्ष्म उपयोगसे पकड़नेवाला। (B,G)
- (२१) आत्मिकरुचिको पुष्टि मिले उस प्रकारसे गहरा मंथन करके मूल वस्तुस्वरूपको समझनेवाला। (B,G)
- (२२) पारमार्थिक रहस्यसे भरपूर सत्पुरुषोंके वचनोंका गहन चिंतन करके मूलमार्गको - अंतर्मुख होनेकी रीतको खोजनेवाला। (G)
- (२३) समग्रप्रकारसे गहराईसे-जोर व उल्लासपूर्वक प्रयत्न करनेवाला-पुरुषार्थवंत। (C)

(२४) विकल्पमात्रमें अंदरसे दुःख लगे। भेदज्ञानका प्रयासकाल होनेसे आत्मस्वरूपके विकल्पमें भी आकुलता भासित होती हो - लगती हो। (G)

(२५) (इस वजहसे) स्वभावके सूक्ष्म विकल्पसे भी हटनेकी तैयारी (तत्परता) वाला हो। (C)

(२६) उदयभाव बोझरूप लगे। (C) (इसके कारण)

(२७) उदयप्रसंगमें कहीं पर भी (सुहाता न हो) रुचता न हो। (C)

(२८) स्वकार्य - बादमें करूँगा, ऐसा कभी नहीं होता। (नास्ति) (C)

(२९) सत्पुरुष (प्रत्यक्ष ज्ञानी) की आज्ञाका आराधन एकनिष्ठासे करनेके लिए तत्परवृत्तिवाला हो। (C)

(३०) ज्ञानीके प्रति सर्वार्पणबुद्धिवाला हो। (G)

(३१) गुण अभिलाषापूर्वक गुणके प्रति प्रमोदभाववाला। (C)

(३२) अंतर निवृत्तिपूर्वक स्वकार्यकी लगनवाला। (C)

(३३) विकल्पोंकी जालवृद्धिको अटकानेवाला - बह्यचर्यकी चाहतवाला। (C)

फागुन सुदी-१०

(३४) स्वदोषको अपक्षपातरूपसे देखनेवाला, जाँच करनेवाला (निजहितकी बुद्धिसे,) जिससे स्वच्छंदसे बच सके। (G)

(३५) एकांत प्रियतावाला (अनेकका परिचय आत्मसाधनाको अनुकूल नहीं है।) (C)

(३६) आहार, विहार और निहारका नियमी, जिससे बाह्यवृत्तिका निरोध हो। तीव्र रागरसवाले जीवका मर्यादा बाहर प्रवर्तन सहज होता है - ऐसे प्रकारका अभाव। (C)

(३७) अपनी गुरुताको दबानेवाला; आडंबरसे दूर रहनेवाला - मान-प्रसिद्धिसे दूर रहनेवाला। (C)

(३८) मोक्ष / मोक्षमार्गका मूल्यांकन करनेवाला अनन्त दुःखका अभाव - अनन्त सुखकी प्राप्तिकी वास्तविकताको समझनेवाला। (G)

(३९) निज परिणाम सम्बन्धित जागृतिपूर्वक सूक्ष्म अवलोकन द्वारा पर रसको तोड़नेवाला - आत्मजागृतिवाला। (G)

(४०) सर्व न्यायोंको प्रयोजनके लक्षपूर्वक समझनेकी पद्धतिवाला, अर्थात् मिथ्यात्व और रागादिका अभाव हो उस प्रकारका लक्ष रखनेवाला। (G)

(४१) स्वकार्यकी तीव्र उत्कंठाकी वजहसे सब तरफसे रस उड़ जाये। (G)

(४२) अपनी मुक्तिकी योग्यताके लिए निःशंक, आगामी भवमें नीचगतिकी शंका भी न

पड़ती हो। (B,G)

* साथ ही साथ निम्न प्रतिबंधोंका अभाव होता है। नास्ति -

(४३) (A) जगतके किसी भी पदार्थमें सूक्ष्मरूपसे सुखकी कल्पना रह जाना। (C)

(B) शाताके परिणाममें अथवा शुभ परिणाममें आश्रयबुद्धि रहना। (C)

(C) इन्द्रिय विषयोंकी उपेक्षा नहीं होना - अपेक्षाका परिणतिमें रहा करना। (C)

फागुन सुदी-११

(४४) स्वच्छंद : (A) मैं समझता हूँ - ऐसे परलक्ष्यी शास्त्रज्ञानमें अहंभाव। (G)

(B) स्व-परके दोषका पक्षपात होना। (C)

(C) ज्ञानीके वचनमें शंका। (B)

(D) ज्ञानीके वचनमेंसे भूल ढूँढनेकी वृत्ति। (C)

(E) मानवृद्धि - स्थान बनाये रखनेके (सामाजिक) लिए अनैतिक साधनका ग्रहण। (C)

(F) सत्पुरुषके उपकारके प्रति कृतघ्नी। (C)

(G) ज्ञानीके वचनके प्रति अचल प्रेमका अभाव। (C)

(H) सत्पुरुषके प्रति परम विनयका अभाव। (C)

(I) सत्पुरुषके प्रति अपने समान कल्पना रहा करे। (C,B)

(J) शास्त्रज्ञानका क्षयोपशम होने पर भी अंतरमें मार्गकी सूझ नहीं पड़े। (C)

(K) सत्पुरुषके आचरणमें चारित्रमोहके दोषको मुख्य करना। (G,C)

(४५) हठाग्रह, असरलता, जिद्द इत्यादि प्रकारके परिणामोंकी तीव्रता। (C)

(४६) (A) लोकभय - समाजभय - अपकीर्तिभयके कारण सत्पुरुषसे विमुख होना। (C)

(B) ज्ञानीके वचनका कल्पित अर्थघटन करना (स्वच्छंद)। (G)

(C) क्षयोपशमकी विशेषता दिखाकर मान प्राप्तिकी इच्छा रहा करे। (G)

(D) परम्परा व क्रियाकांडका आग्रह रहा करे। (C)

(४७) प्रमाद = स्वकार्यमें उल्लासित वीर्यका अभाव। (C)

(४८) अपरिपक्व विचारदशा, अधूरा निश्चय, इससे विकल्पवृद्धि, शंका, विभ्रम आदि दोषोंका सद्भाव। (G)

(४९) अभिनिवेश : (१) लौकिक (२) शास्त्रीय (C)

(१) लोकमें जिस-जिस वस्तु और बातोंका महत्त्व गिना जाता है, उसकी माहात्म्यबुद्धि। (G,C)

(२) (A) आत्मार्थके अलावा शास्त्रकी मान्यता, शास्त्र पठन मात्रसे संतोष - अप्रयोजनभूत

विषयकी जानकारीकी महत्ता, आत्मार्थकी गौणता इत्यादि प्रकारके दोष। (G)

(B) अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश : प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समागमको गौण करके, शास्त्र पर वजन रहना। (G)

(५०) संदिग्ध अवस्था : ज्ञानप्राप्तिके लिए अनेक ग्रंथोंका अध्ययन करते वक्त अनेक प्रकारसे संदेहकी उत्पत्ति होना। जिससे प्रयोजनभूत विषय पर लक्ष्य न जाना। सत्पुरुषका संयोग होने पर भी पहचान न होना। (G,B)

फागुन सुदी-१३

(५१) शास्त्रज्ञानके भेद-प्रभेदकी रुचि होनेसे अटकना - इसके कारण परमार्थको चुक जाना। (G)

(५२) परलक्ष्यी धारणाज्ञानमें ज्ञानप्राप्तिके भ्रमकी वजहसे - अतिपरिणामीपना होना। (G)

(५३) शुष्कज्ञानका होना - इसके कारण जिज्ञासाका अभाव। (G)

(५४) मानार्थसे शास्त्रज्ञानकी प्रवृत्ति। (G)

(५५) मानार्थसे बाह्य क्रिया : 'असत् अभिमान' - क्रिया सम्बन्धित मिथ्याआग्रह। (C,B)

(५६) सिद्धि मोह : बाह्य अनुकूलताकी अभिलाषा। (C)

(५७) दैहिकक्रियामें आत्मनिष्ठा - देहात्मबुद्धिकी दृढताका कारण। (B)

(५८) अयथार्थ प्रकारसे तत्त्वज्ञानका ग्रहण - अभ्यासके कारण कोरा अध्यात्म चिंतवन - शुष्क अध्यात्मीपना होना - स्वेच्छाचारीपना होना - वह अध्यात्मका व्यामोह। (G)

ज्ञानकी मुख्यतावाले - २३ Point - (G) = ज्ञान

रुचिकी मुख्यतावाले - ५ Point - (B) = श्रद्धा

आचरणकी मुख्यतावाले - ३० Point - (C) = चारित्र (२०४७)



वैशाख सुदी-१

मुमुक्षुजीवको आत्माकी महिमा आनी स्वाभाविक है। और इसलिए वह आत्माकी मुख्यता करता है। फिर भी उसमें राग बढ़े अथवा रहे तो वहाँ नयपक्षका विकल्प है। अनादि एकत्वबुद्धि जब मिटी नहीं है, तब वहाँ नयपक्षका राग (शुद्धनयका भी) सम्यक्त्व होनेमें बाधक होता है।

आत्मस्वरूपकी यथार्थ पहचान होने पर मुमुक्षुजीवको स्वरूपकी अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है, और शुद्धनयका अपूर्व पक्ष भी उत्पन्न होता है। परन्तु सिर्फ शुद्धात्माका लक्ष्य होनेसे, ज्ञानबलसे वह आगे बढ़कर रागके एकत्वको तोड़ देता है। अर्थात् राग पर लक्ष्य नहीं होनेसे -

ज्ञानबलसे ज्ञानमयपने व्याप्य-व्यापकभावसे अपना अनुभव करनेसे रागकी उत्पत्ति तब बंद हो जाती है। राग पर लक्ष नहीं होनेसे स्वरूपकी महिमाका राग भी नहीं बढ़ता। अतः मुमुक्षुको आत्मस्वरूपकी पहचान बिना ओघे-ओघे आत्माकी महिमा आये, वह कार्यकारी नहीं है, उसमें सिर्फ प्रशस्त रागवृद्धि होती है, परन्तु राग - विकल्पमें आगे बढ़कर निर्विकल्प / वीतराग नहीं हुआ जाता। (२०४८)

असाढ़ सुदी-१४

नौ तत्त्वका श्रद्धान यथार्थ कब ? कि विपरीत अभिनिवेश रहित हो तो।
शास्त्रज्ञान यथार्थ कब ? कि आत्माके लक्ष्य पूर्वकका शास्त्र अध्ययन किया जाये तो।
सत्पुरुषके प्रति यथार्थ श्रद्धा - विनय कब ? कि असत्पुरुषके प्रति श्रद्धा - विनय न हो तब। (२०४९)



प्रथम श्रावण वदि-७

पात्र मुमुक्षुजीवके लक्षण :

(१) जिसको सिर्फ अपने स्वरूपकी ही प्राप्ति करनी है, और इसके अलावा इस जगतमेंसे जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह खास प्रकारकी पात्रतावाला जीव है, और इसलिए वह स्वानुभूति - विभूषित महापुरुषके चरणका इच्छुक है। एकनिष्ठासे उनकी आज्ञा जिसको शिरोधार्य है, वह अवश्य वर्तमान पात्र है।

(२) स्वरूप चिंतवन - स्वरूप विचारणा होने पर भी अनुभवके अभावकी खटक / असंतोष रहा करे।

(३) अनेक प्रकारके मोहयुक्त परिणामके वक्त उलझनका अनुभव होता हो।

(४) गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी रुचिवाला।

(५) उदयभावों परसे वजन छूट गया हो - कहीं भी सुहाता नहीं हो।

(६) समझमें आये उसका शीघ्र प्रयोग करनेवाला।

(७) दर्शनमोहकी मंदतावाला।

प्रथम श्रावण वदि-१२

(८) शास्त्रके क्षयोपशम सहित उच्च व्यवहारके परिणाम होने पर भी उसके प्रति उपेक्षाभाव - अरस परिणामसे परिणामन करनेवाला - उसमें संतुष्ट नहीं होता।

(९) इन्द्रियज्ञान और जगतके मोटाईवाले प्रसंग व वस्तुओंकी महिमा - रुचि न आती हो।

- (१०) स्वभाव सुनते हुए रुचिकी पुष्टि हो - वृद्धि हो।
 (११) सूक्ष्म अंतर विचारणापूर्वक भेदज्ञानका प्रयत्नशील।
 (१२) पदार्थका यथार्थ निर्णय करनेकी भूमिकावाला।
 (१३) उपकारी सत्पुरुषके प्रति विनय - भक्तिकी कमीके भाव न हो वैसा।

दूसरा श्रावण वदि-९

- (१४) आत्माको अहितरूप परिणाम होने पर घबराहट हो जाना।
 (१५) समझमें अयथार्थता उत्पन्न न हो, ऐसा वृत्तिवान।
 (१६) प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत विषयको अलग-अलग छँटनेवाला। और इसके फलस्वरूप अप्रयोजनभूतके प्रति उदास रहनेवाला तथा प्रयोजनभूत विषयकी गहाराईमें जाकर ग्रहण करनेकी तत्परतावाला।

(१७) प्रतिकूलताके वक्त परिणाम बिगड़नेके बजाय पुरुषार्थके प्रति झुकनेवाला / आत्महितमें सावधान होनेवाला।

- (१८) पात्रताका नाप - जीवको निजहितकी कितनी गरज है, उसके पर आधारित है।
 (१९) भवभयसे डरनेवाला।
 (२०) आत्मलक्ष्यी - आत्मामय जीवन - परिणमनवाला। (२०५०)



दूसरा श्रावण सुदी-१३

आत्माका अध्यात्ममार्ग लोकसे निरपेक्ष होकर स्वयंके पराक्रमसे - पुरुषार्थसे अंतरंगमें विचरना, वह है। जगतमें पराक्रमीपुरुषको नेतापद पर स्थापित किया जाता है; तब जगत उस पुरुषके पराक्रमका आदर करते हैं और नेता भी उस पदके गौरवका अनुभव करता है, जिसमें लोगोंकी व पुण्यकी अपेक्षा है, जब कि मोक्षमार्गमें अलौकिक (पुरुषार्थका) पराक्रम है, कि जिसमें लोगसे व पुण्यसे निरपेक्ष पुरुषार्थमय सिद्धि है। - यह मोक्षमार्गीका अलौकिक गौरव है। मोक्षमार्गी जीवको भी पुण्योदयसे लोग मानते हैं, बहुमान देते हैं, प्रशंसा करते हैं, परन्तु खुद उन लोगोंका प्रेमसे - रागसे परिचय नहीं करता। वे प्रशंसा आदिसे निरपेक्ष रहकर अंतरमें विचरते हैं। यदि खुद रागसे परिचय करे (या) पूर्वमें हुए परिचयकी वृद्धि करने जाये / अपेक्षा रखें, तो खुदका (ही) पतन हो जाये। (२०५१)



दूसरा श्रावण वदि-९

मनोविज्ञान (General Psychology) का सामान्य प्रकार ऐसा है कि, जिसमें पूर्वग्रह महत्त्वका

काम करता है। दृष्टांतरूपसे किसी भी तत्त्वज्ञानीका समागम 'वे आत्मज्ञानी हैं' - ऐसा जानकर किया जाये तो, और इस अभिप्रायके बजाय सिर्फ विद्धता समझकर परिचय किया जाये, इन दोनों प्रकारमें बहुत फर्क पड़ता है। इसीलिए आत्मज्ञानीकी किसी अन्य आत्मज्ञानीके द्वारा पहचान मिले - तो ऐसी ओघसंज्ञारूप पहचान भी समागमके कालमें 'परमहितरूप' समझकर जीव लक्षगत् कर सकता है, वरना तथारूप वजन नहीं जाता और ऐसा प्राप्त हुआ समागम प्रायः अयोगरूप हो जाता है। अतः ज्ञानीको पहचाननेकी क्षमता नहीं हो ऐसे बहुभाग जनसमुदायमें, प्रसिद्ध महापुरुष द्वारा निर्देश होने पर - धर्मबुद्धिवान - आत्मार्थीजीवोंको वह परम उपकारभूत हो जाता है। ऐसे महापुरुषका बोध तो अनन्त उपकारी है (ही) परन्तु यह और एक अधिक उपकार है। ऐसा प्रकार वर्तमानमें पूज्य गुरुदेवश्रीने (पूज्य कानजीस्वामी) पूज्य बहिनश्री (चंपाबहिन) के प्रति किया हुआ निर्देश है। (२०५२)



दूसरा श्रावण वदि-३

आत्मिकगुण परस्पर निमित्तरूप या किसी एक स्तर पर अविनाभावीरूपसे, सुमेलपूर्वक परिणमन करते हैं, परन्तु प्रत्येक गुणकी स्वतंत्रता अबाधित है। ऐसा वस्तुस्वरूप है। दृष्टांतरूपसे प्रत्येक साधक जीवको 'धर्मका मूल' ऐसा सम्यक्दर्शन और उसका आश्रयभूत स्वतत्त्व एक सरीखा होने पर भी, सबका पुरुषार्थ एक सरीखा नहीं होता। जीवको खास करके पुरुषार्थकी स्वतंत्रताका गहराईसे गहन अभ्यास कर्तव्य है। (२०५३)



दूसरा श्रावण वदि-४

मुमुक्षुजीवको शुद्धताका ध्येय है - उसे हासिल करनेके लिए - पहुँचनेसे पहले बीचमें शुभ हो जाता है। इसलिए उसे शुभका आग्रह नहीं होता, तथापि शुभमें अटकना भी नहीं है। अंतर संशोधन करते हुए उत्पन्न हुआ शुभ, भावना प्रधान होनेसे हृदयको भीगा हुआ रखता है। पापसे तो भयभीत हो जाता है। (२०५४)



दूसरा श्रावण वदि-६

ज्ञानीके वचन अटल होते हैं - यानी कि लक्षका बोध होनेमें 'अचुक' निमित्त पड़ते हैं। जीवकी तैयारी होनी चाहिए। अहो! वीतराग स्वभावके (अवलंबनके) जोरमें से प्रगट हुई वाणी !! अमोघ ही हो ना ! (२०५५)



भादों वदि-४

अनुकूल संयोगमें जीव हर्षित होता है - जो कि पापभाव है। ऐसे हर्षको जीव इष्ट मानकर दुर्गतिको प्राप्त होता है। (२०५६)



भादों वदि-७

अनादिसे जीव रागका आधार लेकर परिणमन कर रहा है, इसलिए रागसे भिन्न पड़नेके लिए ज्ञानका आधार लेने पर ही रागसे भिन्नता हो सकती है। जिससे भिन्न होना है - ऐसा जो राग, इसका ही आधार लेने पर उससे भिन्नता कैसे हो सकती है ? (२०५७)



आश्विन सुदी-४

भेदज्ञान परमभावकी रुचि सहित होता है। दोनोंका (ज्ञान और रुचिका) मेल घनिष्ट है। इससे अनुभूति संपन्न होती है। ज्ञान आगे जाकर स्वरूपग्रहण करके स्वसंवेदनभावरूप परिणमन करता है और रुचि वृद्धिगत होकर स्वरूप-श्रद्धानभावरूप परिणमन करती है - साथ ही ज्ञान रागसे भिन्न पड़ता है। और रुचिकी अपेक्षासे रागकी अरुचि होती है। स्वकार्य निष्पन्न होनेमें यह नियत प्रकार है। अकेले ज्ञानसे या अकेली दृष्टिसे काम करना चाहे, तो वह मात्र कल्पना है। वह जीव वास्तविक विधिसे अनजान है। (२०५८)



आश्विन सुदी-६

संसार जीवकी विषय तृष्णा अनन्त है। अफीमके व्यसनकी माफिक जैसे तलब लगी ही रहती है - ऐसी परिस्थितिमें पूर्वकर्म अनुसार संयोगोंकी प्राप्ति होने पर जीवको उसका रस बढ़ जाता है। इस प्रकार ज़हरकी मात्रा बढ़ती जानसे जीव सहज अधोगतिमें चला जाता है। ऐसेमें सत्पुरुषका शरण ही मात्र उसको बचाता है। (२०५९)



संवत्-२०४२, कार्तिक वदि-२

अनादिकालसे चल रहे परिभ्रमणमें ज्ञानीपुरुषका योग होने पर भी जीवको पहचान नहीं हुई। ओघे-ओघे 'ये ज्ञानी है' ऐसा माना है। ओघे-ओघे बहुमान किया है, परन्तु पहचानपूर्वक महिमा नहीं आयी। पहचानपूर्वक यदि महिमा आये, तो ज़रूर तिर जाये। यह पहचान नहीं होनेका कारण तथारूप पात्रताका अभाव है - अर्थात् ज्ञानी मार्ग दिखलानेवाले हैं, परन्तु जो मार्गकी खोजमें हो, उसीको दिखानेवाले (जिस मार्गकी खोज स्वयंको है, उसे दिखाते हैं)

का कथन पहचानपूर्वक समझमें आता है। मार्गकी विधि ज्ञानियोंके वचनमें आती है, फिर भी विधिको खुद पकड़ नहीं सकता क्योंकि स्वयंकी खोज वहाँ नहीं होनेसे उसकी पहचान भी नहीं होती। (२०६०)



कार्तिक वदि-१२

आत्माका ज्ञान आगम द्वारा - द्रव्य, गुण, पर्यायसे, प्रमाण-नय द्वारा किया जाता है। उसमें जानकारी वस्तु-व्यवस्थाकी होती है। परन्तु अनादि भेदवासित बुद्धिका प्रायः उक्त भेदोंमें फँसना हो जाता है। नौ तत्त्वोंमें छीपी हुई चैतन्य ज्योतिको अलग करना - वह परमार्थ है, और उस परमार्थकी प्राप्ति होनेमें - गुप्त और प्रगट अर्थात् व्यक्तता और अव्यक्तता अवस्था भेदरूप होनेसे विकल्पका कारण बनता है, दोनों प्रकारके भेदको गौण करके 'एकरूप - एकरस चेतना स्वरूप मैं हूँ' - वैसे चेतना सामान्यमें अस्तित्वका ग्रहण होना, यह विधिका स्वरूप है। चेतना सामान्यमें द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा नहीं है - वह निश्चय निरपेक्षता है। (२०६१)



मार्गशीर्ष सुदी-५

स्वरूपमहिमा उत्पन्न होने पर पुरुषार्थ सहज है - स्वरूपकी महिमा, (अगर) स्वरूप सामान्य तत्त्व - परमभाव - ज्ञानमें निजरूपमें आये, तो उत्पन्न होती है - महिमावंत तत्त्वकी महिमा आनी सहज है। इस तरह ज्ञान ही मूलमें रुचि और पुरुषार्थका कारण है, अतः 'ज्ञानगुण' बिना प्राप्ति नहीं है - यह सिद्धांत है। (२०६२)



दर्शनमोहकी वृद्धि-हानिके कारण :-

(A) दर्शनमोहकी वृद्धिके कारण :-

- (१) वीतराग सर्वज्ञके अलावा अन्य देवका स्वीकार होना।
- (२) निर्ग्रथ भावलिंगी संतके अलावा अन्य गुरुका, गुरुके रूपमें स्वीकार होना।
- (३) वीतरागी - देव, गुरु और सम्यक्दृष्टि सत्पुरुष द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत अथवा बोधका अस्वीकार होना, अथवा कुदेव, कुगुरुके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रका स्वीकार होना।
- (४) सत्पुरुषसे विमुख होना अथवा उपेक्षा करना।
- (५) शुभभाव और शुभक्रियाकी रुचि बढ़ना।
- (६) पुण्यके फलकी वांछा हो - रहे, तदुपरांत अनुकूल संयोग प्राप्त होने पर या जुटानेके प्रयत्नमें रस - उत्साह होना - बढ़ना।

- (७) असरलता, जिद्दीपना होना या बढ़ना।
- (८) अन्यथा अथवा विपरीत तत्त्वके ग्रहणका आग्रह होना।
- (९) प्रमादका सेवन करना - अर्थात् निजहितमें उत्साहपूर्वक प्रवर्तन नहीं करना।
- (१०) बाह्यसाधन - क्रिया, भक्ति, संयम, स्वाध्याय, एकांतवास, त्याग, वैराग्य, दया, मानसिक शांति, शास्त्रज्ञान, तप, आदिमें संतुष्ट होना, अथवा उपरोक्त भावोंमें शुद्धताका भ्रम रहना।
- (११) खुदके दोषोंका पक्षपात / बचाव होना, तद्उपरांत खुदको जिसके प्रति ममत्व हो - राग हो उसके दोषका पक्षपात होना।
- (१२) प्रत्यक्ष उपकारी ज्ञानीके उपकारके प्रति कृतघ्नी होना।
- (१३) गुण व गुणवानके प्रति आदर न होना।
- (१४) उच्चकोटिके सूक्ष्म बोधके प्रति उपेक्षित होना, अथवा अनुभूतिकी ऐसी उच्चस्तरकी बात - इस कालमें या हमारे जैसे लोगके लिए योग्य नहीं, ऐसा अभिप्राय रहना - होना।
- (१५) ज्ञानीके वचनमें शंका होना।
- (१६) अनेक लोगोंका परिचय बढ़ानेकी वृत्ति अथवा लोकदृष्टिकी मुख्यता रहे, (जिससे परमार्थकी गौणता हो।)
- (१७) लौकिक मानकी तीव्रता रहा करे।
- (१८) परविषयमें सुखबुद्धिका दृढ़ होना - तीव्र होना, जगतके किसी भी पदार्थ अथवा प्रसंगमें सुखकी कल्पना होना।

(२०६३)



શ્રી વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૧. શ્રી ગુરુગુણ સંભારણા	
પૂ. બહિનશ્રી ચંપાબહેનના શ્રીમુખેશી સ્ફુરિત ગુરુભાષિત	૫.૦૦
૨. શ્રી જિજ્ઞાસાસણં સર્વં	
જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૮.૦૦
૩. શ્રી દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા - (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાર્યદેવ વિરચિત)	૨.૦૦
૪. શ્રી દ્રવ્યદષ્ટિપ્રકાશ (ભાગ-૩) પૂ. શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્યા	૪.૦૦
૫. શ્રી દશલક્ષણ ધર્મ - ઉત્તમ ક્ષમાદિ દશ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચન	૬.૦૦
૬. શ્રી ધન્ય આરાધના - પ. કૃ. દેવ શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર	
પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન	૧૦.૦૦
૭. શ્રી નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ - લે. પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ	૧૦-૦૦
૮. શ્રી પરમાત્મપ્રકાશ - શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત	૧૫.૦૦
૯. શ્રી પરમાગમસાર - પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત	૧૧.૨૫
૧૦. શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ખાસ પ્રવચનો	અનઉપલબ્ધ
૧૧. શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ખાસ પ્રવચનો	૨૫.૦૦
૧૨. શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ખાસ પ્રવચનો	૩૫.૦૦
૧૩. શ્રી પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧-૨) શ્રી પંચાસ્તિકાય સંગ્રહ પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો	૬૫.૦૦
૧૪. શ્રી પથપ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૬.૦૦
૧૫. શ્રી પ્રયોજન સિદ્ધિ - લે. પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ	૩.૦૦
૧૬. શ્રી વિધિ વિજ્ઞાન - વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૭.૦૦
૧૭. શ્રી ભગવાન આત્મા - દ્રવ્યદષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૭.૦૦
૧૮. શ્રી સમ્યક્જ્ઞાન દીપિકા - લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક	૧૫.૦૦
૧૯. શ્રી તત્વાનુશીલન (ભાગ ૧ થી ૩) લે. પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ	૨૦.૦૦
૨૦. શ્રી આધ્યાત્મિક પત્ર - પૂ. શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો	૨.૦૦
૨૧. શ્રી અધ્યાત્મ સંદેશ - પૂ. ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો	પ્રેસમાં
૨૨. શ્રી જ્ઞાનામૃત - શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત	૬.૦૦
૨૩. બીજું કાંઈ શોધ મા - પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન	૬.૦૦
૨૪. મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ - શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર - પત્રાંક - ૨૫૪ પર	
પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો	૧૫-૦૦
૨૫. સમ્યક્દર્શનના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો અમૃત પત્ર	
શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક - ૪૯૩ પર પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૨૬. આત્મયોગ - શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક - ૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર	
પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૨૭. પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન - શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક - ૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર	
પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૨૮. અનુભવ સંજીવની	૧૫૦.૦૦

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथका नाम एवं विवरण	मूल्य
१. श्री जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	८.००
२. श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश (तीनों भाग) पू. श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र व तत्त्वचर्चा	३०.००
३. श्री दूसरा कुछ न खोज - प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन	६.००
४. श्री दंसणमूलो धम्मो - सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार	६.००
५. श्री निर्भ्रात दर्शनकी पगडंडी - ले. पू. भाईश्री शशीभाई	१०.००
६. श्री परमागमसार - (पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	प्रेसमें
७. श्री प्रयोजन सिद्धि - ले. पू. भाईश्री शशीभाई	४.००
८. श्री मूलमें भूल - पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन	८.००
९. श्री विधि विज्ञान - विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन	१०.००
१०. श्री सम्यक्ज्ञान दीपिका - ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक	१५.००
११. श्री तत्त्वानुशीलन (भाग १-२-३) ले. पू. भाईश्री शशीभाई	२०.००
१२. श्री अनुभव प्रकाश - ले. दीपचंद्रजी कासलीवाल	प्रेसमें
१३. श्री ज्ञानामृत - श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमेंसे चयन किये गये वचनामृत	६.००
१४. श्री मुमुक्षुता आरोहण क्रम - श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक - २५४ पर पू. भाईश्री शशीभाईके प्रवचन	
१५. सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदका अमृत पत्र श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक - ४९३ पर पू. भाईश्री शशीभाईके प्रवचन	१८.००
१६. आत्मयोग - श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक - ५६९, ४९९, ६०९ पर पू. भाईश्री शशीभाईके प्रवचन	२०.००
१७. परिभ्रमणके प्रत्याख्यान - श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक - १९५, १२८, २६४ पर पू. भाईश्री शशीभाईके प्रवचन	२०.००
१८. अनुभव संजीवनी	१५०.००

अनुभव संजीवनी गुजराती / हिन्दी प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि

श्रीमती विमलादेवी हीरालाल जैन,	६६,६६६/-	श्रीमती केतकीबहन वोरा, भावनगर	४,०००/-
श्री धर्मेन्द्रभाई न्यालचंदभाई वोरा,	५९,०००/-	पल्लवी गंगवाल, भावनगर	३,०००/-
स्व. श्री घीसालालजी कोठारी, हैद्राबाद	३५,०००/-	श्रीमती कनकबाई, हैद्राबाद	३,०००/-
श्रीमती नंदिनीबहन जैन, भावनगर	२५,०००/-	श्रीमती रीता जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
एक मुमुक्षु, ह. निलेषभाई, भावनगर	२५,०००/-	श्रीमती मीता जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्री श्यामसुंदर चवाणावाले, अहमदाबाद	९५,०००/-	श्रीमती गीता जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्रीमति अनीताबहन जैन, हैद्राबाद	९९,०००/-	श्रीमती नीनु जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्री कनुभाई लक्ष्मीचंद शाह, अमदावाद	९९,०००/-	श्रीमती सविता जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्री परिचंद घोषाल, भावनगर	९९,०००/-	श्रीमती रेणु जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्रीमती वंदनाबहन घोषाल, भावनगर	९९,०००/-	श्रीमती कुसुम जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्री सुमतिभाई जैन, अहमदाबाद	९९,०००/-	श्रीमती कविता जैन, हैद्राबाद	३,०००/-
श्री हसमुखभाई अजमेरा, कलकत्ता	९९,०००/-	श्रीमती वदामीबहन कोठारी, हैद्राबाद	३,०००/-
श्री झवेरीभाई सावला, दादर-मुंबई	९९,०००/-	श्री अभिषेक गंगवाल, भावनगर	२,०००/-
श्री नगीनदास भायाणी, कलकत्ता	९९,०००/-	श्रीमती सकुन कोठारी, हैद्राबाद	९,५००/-
श्रीमती सुनिताबहन जैन, कलकत्ता	९९,०००/-	श्रीमती शोभा कोठारी, हैद्राबाद	९,५००/-
श्री महेन्द्रकुमारजी जैन, आग्रा	९०,०००/-	श्री वसंतभाई अजमेरा, भावनगर	९,९००/-
श्री चंद्रप्रकाशजी जैन, उदुपुर	७,०००/-	श्रीमती कंचनबाई, हैद्राबाद	९,०००/-
श्री शांतिलालजी जैन, कलकत्ता	५,०००/-	श्रीमती कविता जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्रीमति निशाबहन शाह, कोईम्बतुर	५,०००/-	श्रीमती कुसुमबहन जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
कु. रींकु कोठारी, कलकत्ता	५,०००/-	श्रीमती रेणु जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्रीमती भारतीबहन गांधी, कलकत्ता	५,०००/-	श्रीमती सविता जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्री हसमुखभाई कापडीया, भावनगर	५,०००/-	श्रीमती मीनु जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्री जयेन्द्रभाई कापडीया, भावनगर	५,०००/-	श्रीमती गीता जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्री महेन्द्रभाई शेट, कलकत्ता	५,०००/-	श्रीमती मीता जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्री खीमजीभाई गंगर, मुंबई	५,०००/-	श्रीमती रीता जैन, हैद्राबाद	९,०००/-
श्रीमती प्रेमलताबहन गंगवाल, भावनगर	५,०००/-	श्रीमती कंचनबाई, हैद्राबाद	९,०००/-
श्री न्यालचंदभाई वोरा, भावनगर	४,०००/-	श्री विपुल जैन, आग्रा	९,०००/-
श्री किशोरभाई वोरा, भावनगर	४,०००/-	श्रीमती नीरु नितीन जैन, आग्रा	६,००/-
श्रीमती नलिनीबहन वोरा, भावनगर	४,०००/-	श्रीमती अनिता जैन, हैद्राबाद	६,००/-
श्री निरवभाई वोरा, भावनगर	४,०००/-		

पाठकोंकी नोंधके लिये

पाठकोंकी नोंधके लिये
